आचार्य श्रीबदरीनाथशुक्लः

श्रीसदानन्दप्रणीतः

वेदान्तसारः

श्रीसदानन्द योगीन्द्र विरचित वेदान्तसार अद्वैत वेदान्त का अनुपम ग्रन्थ है। वेदान्त जैसे गम्भीर विषय को अत्यन्त सरलता से प्रतिपादन करने में सदानन्द अद्वितीय माने गये हैं।

इस ग्रन्थ पर प्राचीन एवं नवीन विद्वानों की कई टीकाएं प्रकाशित हैं—जैसे आचार्य नृसिंह सरस्वती की सुबोधिनी, आचार्य आपोदेव की बालबोधिनी। किन्तु इन सब में सरल एवं छात्रोपयोगी रामतीर्थ यति की विद्वन्मनोरञ्जनी टीका है जो प्रस्तुत कृति में संलग्न है।

इस संस्करण में वेदान्तसार का मूल पाठ, रामतीर्थ की मनोरञ्जनी टीका और इन पर आचार्य बदरीनाथ शुक्ल की हिन्दी व्याख्या है। ये तीनों परस्पर पूरक होकर वेदान्त के गूढ विषय को बोध कराने में सर्वथा समर्थ हैं।

हिन्दी व्याख्या में गूढार्थक पारिभाषिक शब्दों का विश्लेषण करते हुए व्याख्याकार ने प्रतिपक्षी मतों का सहेतुक खण्डन किया है, विशेषतः मीमांसकों में कुमारिल और प्रभाकर का, और नैयायिकों में गौतम का। और उन टीकाकारों के मन्तव्यों का भी जिन्होंने योगीन्द्र सदानन्द की एवं यति रामतीर्थ की आलोचना की है।

इस संस्करण में चालीस पृष्ठों की भूमिका दी है जिसमें अद्वैत वेदान्त के अध्यारोप, अपवाद, अध्यास, महावाक्य, जीवन्मुक्त आदि कठिन विषयों का विश्लेषण करते हुए आचार्य शुक्लजी ने अपनी अद्भुत मौलिकता का प्रदर्शन किया है।

मूल्य : रु० ४० (सजिल्द)
रु० २५ (अजिल्द)
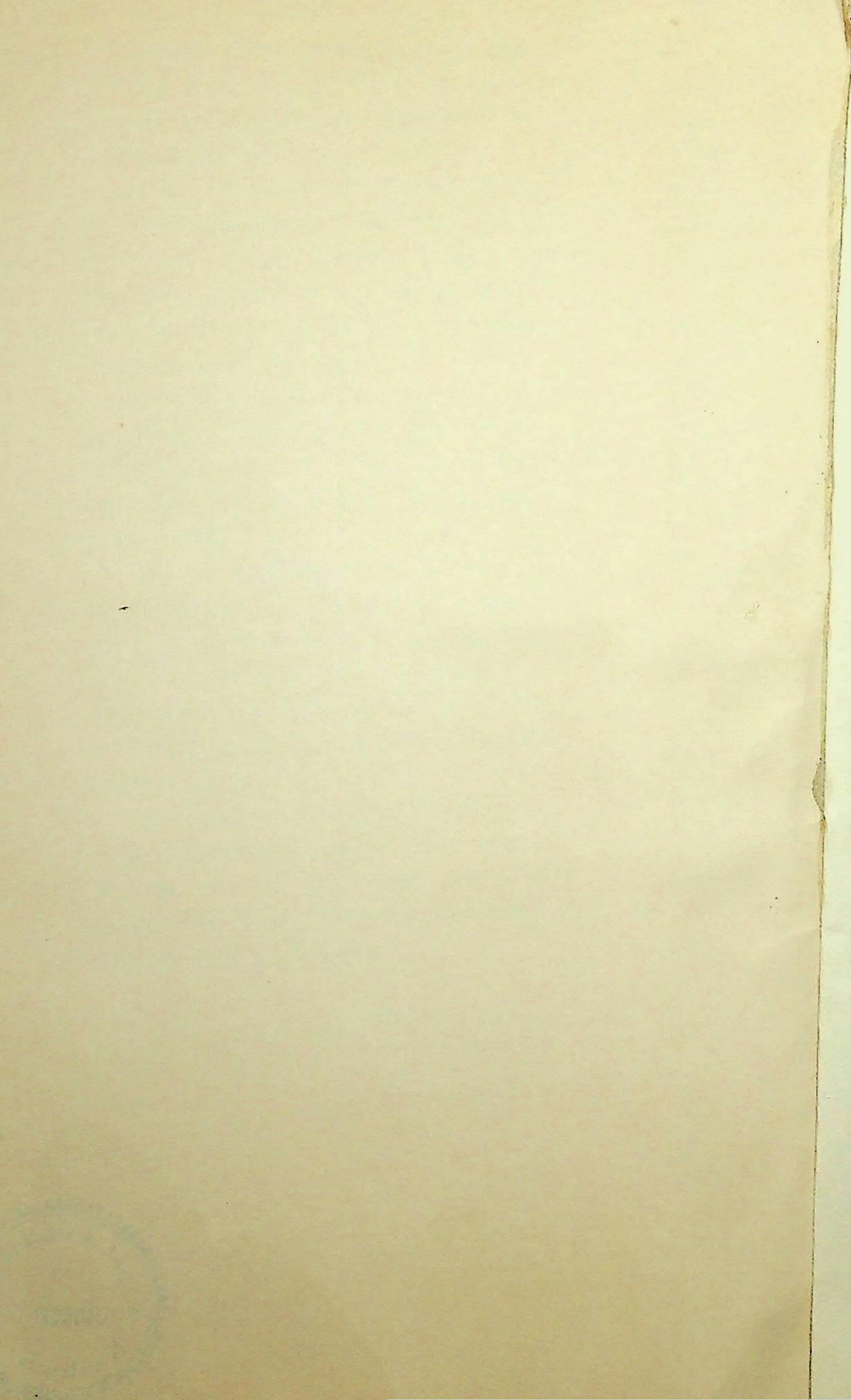
विद्वन्मनोरञ्जनीटीकासमन्वितः

श्रीसदानन्दप्रणीतः

वेदान्तसारः

हिन्दीव्याख्यासहितः

व्याख्याकारः
आचार्य श्रीबदरीनाथशुक्लः

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली : वाराणसी : पटना

भूमिका

दुर्बोध ग्रन्थ की भूमिका एक परम्परा का पालन ही नहीं है किन्तु शास्त्र में प्रवेशके लिए आवश्यक भी है। 'भूमिका' शब्द का अर्थ क्षुद्र भूमि होता है। भूमि शब्द का प्रयोग क्षेत्र के अर्थ में होता है। प्रशस्त उन्नत भूमि पर आरोहण करने के लिए अल्प भूमिस्वरूप सोपान या पादपीठ की आवश्यकता होती है। प्रमेय-बहुल गभीर ग्रन्थ के आसमाप्ति अध्ययन में प्रवृत्ति और कथित विषयों की अवगति की शक्ति के उत्पादन के लिए भूमिका ही सोपान का कार्य करती है।

किसी विस्तृत क्षेत्र में शस्य के उत्पादन की इच्छा होने पर किसी अल्प भूमि में बीज-वपन कर अंकुरित होने के बाद उसे अभीष्ट विस्तृत भूमि में आरोपण करने पर विपुल परिमाण में शस्य की उपलब्धि होती है, दुरूह तत्त्वबहुल किसी ग्रन्थ के अध्ययन से पूर्व उसकी भूमिका पढ़कर आसमाप्ति उस ग्रन्थ के अध्ययन में प्रवृत्ति और उस ग्रन्थ में कहे गये विषयों को अवगत करने की क्षमता की प्राप्ति होती है। इस दृष्टि से भूमिका क्षुद्र भूमि अर्थ का बोधक होती है।

अन्य दृष्टि से भूमिका शब्द का अर्थ भूमि या क्षेत्र होता है। 'भूमिरेव भूमिका'। अंकुरित बीज की फलोत्पादक पादप की परिणति के योग्य स्थान। शस्य आदि के उत्पादन के लिए क्षेत्र को तैयार करना पड़ता है। जंगल का परिष्कार, भूमिकर्षण और सेचन आदि क्रियायें करनी पड़ती हैं, इसी प्रकार विचार-बहुल दुर्बोध ग्रन्थ की आसमाप्ति अध्ययन में प्रवृत्ति के लिए तथा उसे समझने की शक्ति के उत्पादन के लिए भूमिका आवश्यक होती है। अतः प्रकृत भूमिका में ग्रन्थ, ग्रन्थकार, ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषयों का परिचय एवं ग्रन्थाध्ययन के फल का प्रतिपादन आवश्यक होता है। और उससे प्रवृत्ति के साधन बलवान् अनिष्ट के अजनकत्व और इष्टसाधनता ज्ञान की उत्पत्ति होती है। जिसके फलस्वरूप ग्रन्थ के अध्ययन में प्रेक्षाकारी की प्रवृत्ति होती है, इस प्रवृत्ति की उपपत्ति के लिये ही भूमिका में ग्रन्थ, ग्रन्थकार, ग्रन्थ प्रतिपाद्य विषय और ग्रन्थ के पाठ का फल, इन चार विषयों का सन्निवेश आवश्यक होता है। शास्त्रों में इसी हेतु अनुबन्ध चतुष्टय के उलेलख की अनादि परम्परा है।

द्वि इण् (इ) धातु से कर्तृवाच्य में क्त (त) प्रत्यय होने पर सिद्ध द्वीत शब्द का अर्थ होता है दो को प्राप्त करनेवाला और द्वीत शब्द से भाव अर्थ में अण् प्रत्यय करने से द्वैत शब्द सिद्ध होता है, न द्वैत-अद्वैत, इस व्युत्पत्ति से अद्वैत शब्द का अर्थ दो पदार्थों के अस्तित्व का अभाव या द्वितीयत्व का अभाव होता है। अथवा जो दो को प्राप्त नहीं करता है—वह अद्वैत है यह अर्थ निर्गत होता है।

अद्वैत वेदान्त और ऋक्संहिता :—

अद्वैत वेदान्त का साक्षात् सम्बन्ध वेद से है। ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि मन्त्रग्रन्थ, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत् आदि में विस्तार से अद्वैत की आलोचना उपलब्ध है। पाश्चात्य प्रभाव में पड़े विद्वानों का यह कहना है कि 'वेदान्त' शब्द वेद के अन्तिम भाग उपनिषद् का बोधक है अतः वेदान्त उपनिषन्मात्रप्रमाणक है, किन्तु सत्य यह है कि वेदान्त उपनिषन्मात्र में ही सीमित नहीं है, अपितु मन्त्रों में भी इसका पूर्ण विश्लेषण है। वेद का चरम प्रतिपाद्य मोक्ष होने से वेदान्त संज्ञा दी गई है।

ऋग्वेद के अस्यवामीय सूक्त में अध्यात्मविद्या की पराकाष्ठा उपलब्ध है। इस अस्यवामीय सूक्त का द्रष्टा अक्षपाद है। गोतमवंशीय आत्मानन्द ने इसकी व्याख्या की है।

गौतमेषु तदारभ्य सूक्तार्थः स्फुरति स्फुटम्।
तत्कुले विश्रुतो विष्णुस्ततो विष्णुप्रकाशकः ॥

इस सूक्त का चतुर्थ मन्त्र अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादक है।—

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति।
भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित् को विद्वांसमुपगात् प्रष्टुमेतत् ॥
(अ० वा० सू० म० ४)

इसका व्याख्यान करते हुए सायण ने कहा है—सभी का कारणभूत परमेश्वर अविषय है। सृष्टि से पूर्व अव्याकृत अवस्था में प्रथम भावविकार दुर्विज्ञेय को कौन देख सकता है? मन्त्र में अस्थन्वान् शब्द का अर्थ है अस्थियुक्त शरीर, जो कार्यमात्र का उपलक्षण है। शरीर उपलक्षण होने से कार्यभावापन्न वस्तुमात्र की अवगति हो रही है। और अनस्था शब्द का अर्थ है अशरीर पदार्थ अर्थात् सांख्य की प्रकृति और वेदान्त के अनुसार ईश्वरात्मभूता माया इससे कही गई। 'बिभर्ति' पद से यह सूचित होता है कि सभी भाव कार्यों को प्रकृति या माया प्रलय दशा में गर्भ के समान अन्तर्धारण करती है। जगत् की अव्याकृत अवस्था में अशरीर परमेश्वर ही समस्त अनभिव्यक्त विश्व को धारण करता है। मायाशबलित परमेश्वर ही जगत् का निर्माण करता है। जगत् की उत्पत्ति के समय देहादियुक्त किसी जीव का सत्त्व सम्भावित न होने से मन्त्र के आरम्भ में "को ददर्श" इसके द्वारा इस अवस्था को कौन देख सकता है—यह कहा गया है। 'भूम्याः' भूमि सम्बन्धी पार्थिव स्थूल शरीर, 'असुः'=प्राण, प्राणोपलक्षित सूक्ष्म शरीर, 'असृक्'=शोणित से उपलक्षित सप्त धातु अर्थात् स्थूल सूक्ष्म शरीरयुक्त चेतन कहीं नहीं है। सृष्टि के आरम्भ में किसी जीव की सम्भावना न होने से सृष्टि के कारण विशेष का किसी को ज्ञान नहीं है। इस प्रकार जगत् के कारण को अविज्ञेय कहते हुए परमेश्वर को भी अविज्ञेय कहा गया है।

इसी सूक्त का बीसवां मन्त्र :—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ २० ॥

इस मन्त्र को वेदान्त के सभी आचार्यों ने अपने सिद्धान्तों का समर्थन करते हुए उद्धृत किया है। यह मन्त्र मुण्डकोपनिषद् (३।१।१) श्वेताश्वतरोपनिषद (४।६) में कहा गया है, ब्रह्मसूत्र 'विशेषणाच्च' (ब्र० सू० १।२।१२) में उद्धृत है। "स्थित्यदनाभ्याञ्च" (ब्र० सू० १।३।७) तथा 'ईयदामननात्' (ब्र० सू० ३।३।३४) के भाष्यों में विचारित है। यह मन्त्र मूलतः अस्यवामीयसूक्त में कहा है, किन्तु इसको लोग उपनिषद् का ही मानते आए हैं।

इस मन्त्र का दार्शनिक दृष्टि एवं लौकिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है, अतः इसका विभिन्न प्रसङ्गों में किये गये व्याख्यानों को प्रस्तुत किया जा रहा है। मन्त्रद्रष्टा दीर्घतमा अर्थात् महर्षि गोतम ने लौकिक दो पक्षियों के दृष्टान्त द्वारा जीव और परमात्मा का व्याख्यान प्रस्तुत किया है।

सुन्दर गतियुक्त समान सम्बन्ध सम्पन्न समान रूप से प्रकाशमान् दो पक्षी एक ही वृक्ष का आश्रय ग्रहणकर अवस्थित हैं। इस मन्त्र में शरीर ही वृक्ष है। जीव और ईश्वर दो पक्षी हैं। जीवरूपी पक्षी कर्मफलों का भोग करता है और ईश्वर नामक पक्षी कुछ भी नहीं खाता है, किन्तु, वह भी प्रकाशमान है। समानसम्बन्ध-सम्पन्न इस कथन के द्वारा दोनों का तादात्म्य सम्बन्ध कहा गया है। परमात्मा ही जीवात्मा का पारमार्थिक स्वरूप है। अतः, वे दोनों सयुजौ अर्थात् एकस्वरूप हैं। सम्बन्धमात्र द्विष्ठ होता है, इसलिए जीव और ईश्वरस्वरूप पक्षिद्वय के भेद की अपेक्षा है। अतः, अभेद या तादात्म्य सम्भव नहीं है। इस मन्त्र में जीव के औपाधिक भेद और पारमार्थिक अभेद की अपेक्षा कर ही 'सखायौ' कहा गया है, अर्थात् समान प्रकाशसम्पन्न। किन्तु, दोनों में समानख्यान कथन से भी अर्थात् सखा शब्द के प्रयोग से दोनों में भेद ही प्रकाशित होता है। अतः, दोनों में अभेद या तादात्म्य कैसे सम्भव है? इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि जीव और ईश्वर का परस्पर दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभाव में निर्देश नहीं है, अपितु परमेश्वर का स्फुरण ही जीव का स्फुरण है— इस उद्देश्य से कहा गया है। जीव और ईश्वर एक प्रकाश स्वभाव के हैं इसी की अभिव्यक्ति 'सखायौ' शब्द से हो रही है। 'समानं वृक्षं परिषस्वजाते' इससे अन्य आश्रय का अभाव प्रतिपादित है। अतः, दोनों का एकाश्रयत्व प्रतिपादित है। फलतः, 'सयुजौ सखायौ' दोनों स्थलों में एकयोग और एकख्यानरूप अर्थ गृहीत है। वृश्च्यते छिद्यते इति वृक्षः देहः, वृक्ष के समान ही देह भी विनाशी है। शरीररूपी वृक्ष जीव और ईश्वर के लिए एक ही है। यह शरीर जीव के कर्मफल उपभोग और परमेश्वर की उपलब्धि के लिए है, अतएव दोनों को शरीराश्रित कहा गया है।

यदि यह कहा जाय कि जीव का वस्तुतः ईश्वरत्व सिद्ध होने पर जीव अपनी बुद्धि के अनुसार संसार और शोक का दर्शन क्यों करता है ? जीवगत संसार और शोक जीव के अज्ञान से है अर्थात् मोहप्रयुक्त है। इसीलिए मुण्डकोपनिषत् में कहा गया है—

समाने वृक्षे पुरुषोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥
(मु० ३।१।२)

इस उपनिषद् में पूर्वोक्त मन्त्र भी कहा गया है और दोनों के ऐक्य को सिद्ध करने के लिए द्वितीय मन्त्र को कहा गया है। द्वितीय मन्त्र का अभिप्राय यह है कि एक ही शरीर में पुरुष निगूढ़ होकर स्वयं ईश्वर होने पर भी जीव अपने अज्ञान से अनीशत्व ज्ञान से मोहित होकर मूढ़ के समान शोकाकुल होता है। मैं कर्ता हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ यह समझता है, जब जीव नित्यतृप्त संसारातीत ईश्वर का अपने से अभिन्न रूप में साक्षात्कार करता है तब जीव विगतशोक हो जाता है। जीव और ईश्वर के भिन्न रहने पर जीव ईश्वर का साक्षात्कार कर ईश्वर की महिमा नहीं प्राप्त कर सकता है। अतः, जीव और ईश्वर एक ही है, भेद अज्ञान प्रयुक्त है। जीव की संसारदशा में लौकिक अनुभव के अनुसार जीव और ईश्वर का भेद अवलम्बन कर ही यह मन्त्र लिखा गया है। इसीलिए जीव के विषय में "पिप्पलं स्वाद्वत्ति" अर्थात् स्वादु कर्मफलभोग करता है—यह कहा गया है। स्वोपार्जित कर्मफल का भोग होने से उसे स्वादु कहा गया है। उपार्जित अस्वादु क्यों होगा ? परमात्मा कर्मफल का भोग नहीं करता है, आप्तकाम होने से उसे भोगस्पृहा ही नहीं है। कर्मफल का भोग न करने से ही उसको सदा प्रकाशमान कहा गया है। अज्ञानकृत भेद के आधार पर जीवेश्वर बोधक पक्षिवाचक शब्द में द्विवचन का प्रयोग और जीव को ईश्वर से भिन्न कहा गया है। ईश्वर में अध्यस्त समस्त जगत् को साक्षी के रूप में जीवाभिन्न ईश्वर देखता है।

इस मन्त्र का ब्रह्मसूत्र के प्रथमाध्याय के तृतीय सूत्र में विशिष्ट विवरण उपलब्ध है। इस अधिकरण के १२वें सूत्र के भाष्य में इस मन्त्र का विश्लेषण करते हुए जीव और ईश्वर परत्व का प्रत्याख्यान किया गया है। भाष्यकार ने कहा है कि पैङ्गिरहस्य ब्राह्मण में इस मन्त्र की अन्य रूप में व्याख्या की गई है। इस ऋङ्मन्त्र को आचार्य शङ्कर ने जीव और ईश्वरपरक नहीं माना है। बुद्धि और जीव को ही इस मन्त्र का प्रतिपाद्य माना है, अचेतन जड़बुद्धि को अर्थात् सत्त्व को कर्मफल का भोक्ता कैसे कहा है ? इस शङ्का के उत्तर में आचार्य ने कहा है कि यह मंत्र अचेतन सत्त्व के भोक्तृत्व का प्रतिपादन नहीं करता है। किंतु यह चेतन क्षेत्रज्ञ का अभोक्तृत्व और ब्रह्मरूपता के प्रतिपादन के लिए प्रवृत्त हुआ है। इसीलिए पैङ्गिरहस्य ब्राह्मण में सुखादि क्रिया विशिष्ट सत्त्व में भोक्तृत्व का आरोप किया गया है। सत्त्व और क्षेत्रज्ञ का

कर्तृत्व और भोक्तृत्व नहीं है। क्योंकि सत्त्व अचेतन है और क्षेत्रज्ञ अविकारी है। इस मन्त्र के द्वारा जीव के असंसारित्व और ब्रह्मरूपता का प्रतिपादन किया गया है।

अद्वैतदीपिका के द्वितीय परिच्छेद में नृसिंहाश्रम सरस्वती ने भी यही व्याख्या इस मन्त्र की की है। नृसिंहाश्रम ने शङ्का की है कि "द्वा सुपर्णा" इस मन्त्र का जीव और ईश्वर के भेद में तात्पर्य है। इस शङ्का के उत्तर में कहा है कि इस मन्त्र का जीव और ईश्वर के लोकप्रसिद्ध भेद का अनुवादपूर्वक भेद निषेध कर असङ्ग उदासीन शोधित त्वम् पदार्थ के प्रतिपादन में तात्पर्य है। क्योंकि, मुण्डक उपनिषद् में "ब्रह्मैवेदम् अमृतं पुरस्ताद्" इस वाक्य में ब्रह्म की सर्वात्मकता निर्दिष्ट होने पर भी भोक्ता जीव के साथ ब्रह्म का अभेद कहा गया है, और ऐसा मानने पर ब्रह्म में भी भोक्तृत्व की आपत्ति हो सकती है। इस शङ्का के उत्तर में नृसिंहाश्रम ने कहा है कि पैङ्गिरहस्य ब्राह्मण में यह मन्त्र ब्रह्माभेद के अभिप्राय से व्याख्यात है, अतः यह मन्त्र जीव और ईश्वर के भेद का प्रतिपादक नहीं है। बिम्ब और प्रतिबिम्ब भाव में अवस्थित ईश्वर और जीव इस शरीर में अवस्थान करता है। बुद्धिप्रतिबिम्बित जीव बुद्धि के साथ अभेदाध्यास प्रयुक्त बुद्धि-धर्माभिमानी होकर कर्मफल का भोग नहीं करता है एवं स्वरूपभूत चैतन्य के द्वारा साक्षिरूप में सभी वस्तु को देखता है। इसी का कथन "अनश्नन् अभिचाकशीति" अंश से किया गया है। बिम्ब ईश्वर भोगरहित होकर प्रकाशमान् है। ईश्वर साक्षिरूप में सभी का द्रष्टा है। ईश्वर उदासीन और बोधरूप होने से ईश्वर साक्षिमात्र ही है। 'अनश्नन्' इस पद से ईश्वर के भोक्तृत्व का निषेध किया गया है। 'अहम्' अनुभव से जीवात्मा भोक्तृत्व रूप में अनुभूत होता है। जीव का भोग निषेध करने पर इस अनुभव का विरोध होगा। इसलिए जीव स्वभावतः अभोक्ता होने पर भी बुद्धि के साथ कल्पित तादात्म्य के कारण भोगवान् के समान हो जाता है। अतः, जो चेतन है वह भोक्ता है—इस प्रकार भोक्तृत्व के साथ चैतन्य का सामानाधिकरण्य प्रतीत होने पर कोई विरोध नहीं है[1]।

वामदेव ऋषि के द्वारा दृष्ट निम्नलिखित मन्त्र की चर्चा सर्वत्र अद्वैत वेदान्त में उपलब्ध होती है। अतः, इस मन्त्र का व्याख्यान भी आवश्यक प्रतीत होता है :—

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयन्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा॥

(ऋक् सं० ३।६।१५)

इस मन्त्र के भाष्य में सायण ने कहा है कि "अहं मनुरभवम्" इत्यादि सात मन्त्रों के द्रष्टा भगवान् वामदेव है। इनमें तीन मन्त्रों से वामदेव ने अपनी इन्द्र के रूप में स्तुति की है। माता के गर्भ में रहते हुए ही वामदेव तत्त्वज्ञानी

---

१. अ० दी० २ परि० पृ० ४२।

हो गये थे। इन्होंने अपनी ब्रह्मरूपता का अनुभव किया था और उसको व्यक्त करते हुए कहा था—सभी वस्तुओं का मननकर्ता प्रजापति मैं ही हूँ। सभी का प्रेरक सविता मैं ही हूँ। मेधावी कक्षीवान् दीर्घतमा का पुत्र मैं ही हूँ। आर्जुनी का पुत्र कुत्स मैं ही हूँ। कुत्सनामक ऋषि का मैं ही प्रसाधक हूँ। क्रान्तद्रष्टा उशना नामक कवि मैं ही हूँ। मानवों! मेरा सर्वात्मक स्वरूप तुम देखो, और मेरे ही समान तुम भी अपने स्वरूप का अनुभव करो। पारमार्थिक दृष्टि से सब मैं ही हूँ।

यही मन्त्र बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथम अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण में भी उद्धृत है "तद्वैतत्पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्चेति"। (ऋ० सं० ३।६।३५) इसके भाष्य में आचार्य शङ्कर ने लिखा है—ब्रह्म ही सभी जीव के रूप में अवस्थित है, इसीलिए वामदेव ने 'मैं ब्रह्म हूँ' इस रूप में प्रत्यक्ष किया है, और अपने आत्मा को ब्रह्म के रूप में जानकर सर्वात्मक ब्रह्मरूप में स्थिति प्राप्त की है। जीव ब्रह्मात्मकता अनुभव के द्वारा अविद्या की निवृत्ति कर सर्वात्मक ब्रह्मभाव प्राप्त करता है। इसीलिए 'अहं ब्रह्मास्मि' यह महावाक्य ही ब्रह्मविद्या का उपदेशस्वरूप है। इस ज्ञान का फल सर्वात्म ब्रह्मभाव की प्राप्ति है। उपनिषद् में अपने सिद्धान्त को दृढ़ करने के लिए ही मन्त्रों का उद्धार करती है। उपनिषद् 'तद्वैतत्' से ब्रह्मविद्या का परामर्श है और 'अहं मनुरभवं सूर्यश्च' इस मन्त्र से सर्वभाव प्राप्तिरूप फल का निर्देश किया गया है। "पश्यन्" के प्रयोग से दर्शन का यही चरम परम तत्त्व है—यह अवगत होता है। अहं शब्द का अर्थ प्रकृत में ब्रह्म होता है इसका अर्थ जीव, मनु या सूर्य नहीं है। इसीलिए "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्, तदात्मानमेवावदत्, अहं ब्रह्मास्मीति" कहा गया है। इसी प्रकार आचार्य शङ्कर ने "शास्त्रदृष्टचा तूपदेशो वामदेववत् (१।१।३०) इस सूत्र में 'वामदेववत्' इसकी व्याख्या में 'तद्वैतत्' इसको उद्धृत किया है।

अद्वैत प्रतिपादक कतिपय श्रुतियों का अर्थ :—

अद्वितीय ब्रह्म का प्रतिपादक प्रधान श्रुति "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" है। द्वैताभाव उपलक्षित निर्विकल्पक ब्रह्म निश्चय ही—इसका अर्थ है, चैतन्य ज्ञानमात्र इसका अर्थ नहीं है। कारण, चैतन्यज्ञानमात्र में श्रुति का तात्पर्य मानने पर स्वप्रकाश चैतन्य रूप ज्ञान नित्य है सिद्ध है, अतः, केवल नित्य सिद्ध वस्तु का प्रतिपादन करनेवाली यह श्रुति अनुवादिका होगी और अनुवादिका होने पर इसका अप्रामाण्य ही सिद्ध होगा। दूसरी बात यह है कि यह श्रुति पुरुषार्थ के लिये उपयोगी नहीं होगी, क्योंकि चैतन्यमात्र द्वैतभ्रमरूप अनर्थकीनिवृत्ति का साधन नहीं है। तृतीयबात यह है कि "यत्प्रसादादविद्यापि सिद्धयतीव दिवानिशम्"। वार्तिककार के इस कथन के अनुसार स्वरूपचैतन्य द्वैत का साधक है, बाधक नहीं। अतः द्वैतभ्रमरूप अनर्थ की निवर्तिका न होने से पुरुषार्थ साधिका नहीं होगी। इसलिए इस श्रुति का तात्पर्य द्वैतभाव-विशिष्ट ब्रह्मप्रतिपत्ति-पूर्वक द्वैताभाव-उपलक्षित ब्रह्मविषयकज्ञान में है। यह ज्ञान श्रुति के बिना सिद्ध नहीं

है, अतः, यह, अनुवादिका नहीं है, और अनर्थ जाल की निवर्तिका होने से मोक्ष-साधिका भी है। उपलक्षितबुद्धि विशिष्टबुद्धि-पूर्वक होती है, अतः, पहले विशिष्ट द्वैताभाव-ब्रह्म का ज्ञान उत्पन्न होता है और अनन्तर द्वैताभाव उपलक्षित ब्रह्मरूप धर्मी का बोध होता है।

प्रकृत में द्वैताभाव उपलक्षण है और ब्रह्मस्वरूप उपलक्ष्य है। उपलक्ष्य धर्मी के ज्ञान में उपलक्षणीभूत धर्म का विशिष्टज्ञान कारण होता है। जैसे 'काकवन्तो देवदत्तस्य गृहाः, इस वाक्य में काक उपलक्षण है और गृह उपलक्ष्य धर्मी है, काक उपलक्षित गृहमात्र की बुद्धि में काकविशिष्ट-गृहनिश्चय कारण होता है। कारण, उपलक्षित बुद्धि विशिष्ट बुद्धि पूर्वक होती है। अतः प्रकृत में भी द्वैताभाव उपलक्षित ब्रह्मनिश्चय में द्वैताभाव विशिष्ट ब्रह्म निश्चय द्वार होगा।

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इस श्रुति के द्वारा अवगत द्वैताभाव उपलक्षित ब्रह्मज्ञान में द्वार स्वरूप द्वैताभाव विशिष्ट ब्रह्मनिश्चय में द्वैतविशिष्ट ब्रह्म उद्देश्य है और द्वैताभाव विधेय है। उद्देश्य विधेयभाव स्थल में किसी प्रकार की बाधा न रहने पर अर्थात् बाधक प्रमाण न रहने पर उद्देश्यतावच्छेदक जो काल उस कालावच्छिन्न में उद्देश्य में विधेयधर्म भासमान होता है। अर्थात् द्वैतविशिष्टकाल में ही द्वैताभाव का भान होना चाहिए। जैसे 'धनवान् सुखी, इस वाक्य में धनवान् उद्देश्य है और सुख विधेय है। अतः, धनकालावच्छिन्न ही सुख की प्रतीति होती है।

प्रकृत में द्वैतकाल में द्वैताभावज्ञान में किसी प्रकार का बाध नहीं है। क्योंकि "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" इस पूर्व श्रुति के अनुसार 'इदं सत्' इस शब्द के द्वारा द्वैततादात्म्यापन्न ब्रह्म में द्वैतवत्त्वकाल में ही द्वैताभावबुद्धि होती है। इसीलिए द्वैत का मिथ्यात्व निश्चय होता है। द्वैतकाल में द्वैताश्रय में द्वैत का अभाव रहने से द्वैत के मिथ्यात्व की सिद्धि में बाधा नहीं है। "एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादि अद्वैतप्रतिपादक श्रुतियाँ द्वैतवस्तु का मिथ्यात्व सिद्ध करती हुई द्वैताभाव उपलक्षित ब्रह्म का निश्चय उत्पन्न करती हैं। अर्थात् अद्वैत ब्रह्म का ज्ञान उत्पन्न करती हैं। इसलिए अद्वैततत्त्व की प्रतिपादक श्रुतियाँ अद्वयब्रह्म में अपना मुख्य तात्पर्य और द्वैतमिथ्यात्व में अवान्तर तात्पर्य रखती हैं। अतः अद्वैतवाद—अद्वितीय ब्रह्म का प्रतिपादन ब्रह्मव्यतिरिक्त वस्तु का मिथ्यात्वप्रतिपादन भी है। अद्वयवाद का प्रतिपाद्य द्वैताभाव उपलक्षित ब्रह्मनिश्चय निर्विकल्पक निश्चय है, सविकल्पक नहीं।

द्वैताभावबुद्धि अभावबुद्धि है और अभावबुद्धि प्रतियोगिबुद्धिपूर्वक होती है। द्वैताभावविशिष्टबुद्धि में द्वैत प्रतियोगी रूप में है, इस द्वैतबुद्धि पूर्वक ही यह अभावज्ञान होगा। द्वैतविशिष्टज्ञान होने पर प्रतियोगिस्वरूप द्वैत की प्रसक्ति होगी और प्रसक्त का प्रतिषेध होने से द्वैताभाव विशिष्ट बुद्धि भी होगी। प्रसक्त का ही प्रतिषेध होता है, अप्रसक्त का प्रतिषेध उपहासास्पद होने से ही "प्रसक्तं हि प्रतिषिध्यते" यह अभियुक्तों ने स्वीकार किया है। पूर्वोक्त विश्लेषण से अद्वैत बोधक श्रुतियों से

द्वैताभावविशिष्टब्रह्मज्ञान होने से पूर्व द्वैतविशिष्टब्रह्म की उपस्थिति अवश्य माननी होगी। "एकमेवाद्वितीयम्" श्रुति से द्वैताभाव उपलक्षित ब्रह्मनिश्चय में द्वैतविशिष्टब्रह्म का उपस्थापन किस श्रुति के द्वारा होता है ? उपनिषद् में इस श्रुति से पूर्व "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" इस वाक्य से द्वैतसामान्य विशिष्ट ब्रह्म अर्थ का ज्ञान होता है। 'इदम्' द्वैतसामान्यतादात्म्य का बोधक है और 'सत्' शब्द ब्रह्म का बोधक है। यहाँ 'एकमेवाद्वितीयम्' श्रुति के विधेय द्वैताभाव का उद्देश्य द्वैतविशिष्टब्रह्म है। अग्र आसीत् शब्द का अर्थ है—द्वैतसामान्य तादात्म्यविशिष्टब्रह्म अग्रकालसत् और 'अद्वितीयम्' शब्द का अर्थ द्वैताभाववत् ये दोनों ही विधेय हैं अत: सदेव सौम्येदमग्र आसीत् और एकमेवाद्वितीयम् इस सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ, द्वैतसामान्यतादात्म्यापन्नसत् अग्रकालसत् एवं द्वैताभाववत् होता है। अग्रकालसत्त्व और द्वैताभाववत्त्व ये दो विधेय है और द्वैतसामान्यतादात्म्यापन्न सत् यह उद्देश्य है। एक उद्देश्य में दो विधेय का भान होने से इदमात्मकसत् अग्रकालसत्' यह एकवाक्य और 'इदमात्मकसत् द्वैताभाववत्' यह दूसरा वाक्य होता है। इस प्रकार उद्देश्यतावच्छेदक 'द्वैतकालीनत्व का द्वैताभावरूप विधेय में भान होने से द्वैतसामान्य के मिथ्यात्व की सिद्धि होती है और प्रथम वाक्यके द्वारा शून्यवाद का निरास होता है। क्योंकि प्रकृतमें स्वावच्छेदक-कालावच्छिन्न-स्वाश्रयवृत्तिस्वाभावकत्वही मिथ्यात्व है और द्वैताभाव द्वैतकालावच्छिन्न और द्वैताश्रयमें रहनेसे द्वैतका मिथ्यात्व स्पष्ट है। यह ज्ञातव्य है कि इदं पद उद्देश्यतावच्छेदक द्वैतका दृश्यत्वरूपसे बोधक है और अद्वितीयपदस्थ द्वितीयपद आत्मभिन्नत्वरूपसे द्वैतका बोधक है। अत: रूप भेदसे द्वैतका बोध होनेसे शाब्दबोधमें आहार्यत्व दोषकी आशङ्का नहीं हो सकती हैं।

विधेय में उद्देश्यतावच्छेदककालावच्छिन्नत्व का भान सार्वत्रिक नहीं है, ऐसी स्थिति में प्रकृत मे इसका भान क्यों हो रहा है ? उद्देश्यतावच्छेदककालावच्छिन्नत्व में श्रुति का तात्पर्य है, इसमें क्या प्रमाण है ? इन प्रश्नों का उत्तर यह है कि एकत्र एक समय प्रतियोगी और अभाव का निश्चय रहने पर ही द्वैतका मिथ्यात्व और अद्वैत का प्रामाण्य होगा। एवं अद्वितीय वाक्य का बिधेय में उद्देश्यतावच्छेदककालावच्छिन्नत्वबोध में तात्पर्य न मानने पर 'एकमेवाद्वितीयम्' यह श्रुति वाक्य व्यर्थ हो जायगा। क्योंकि, द्वैतकाल से भिन्न काल में "तरति शोकमात्मवित्" विद्वान् नामरूपाद्विमुक्त:" 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापै:', आदि श्रुतियों से अद्वैतभाव सिद्ध होने से उसी अर्थ को कहने वाली अद्वितीय श्रुति का व्यर्थ होना ही निर्विवाद है। प्रदर्शित श्रुतियों में "तरति शोकमात्मवित्" और "विद्वान् नामरूपाद्विमुक्त:" इन दो श्रुतियों में आत्मवेदन और ब्रह्मवेदन क्रम से उद्देश्यतावच्छेदक हैं, उद्देश्यतावच्छेदक ही विधेय का प्रयोजक होता है। धनी सुखी इस स्थल में भी उद्देश्यतावच्छेदक धन विधेय सुख का प्रयोजक है। यह सामान्य नियम है कि प्रयोजक पूर्व में रहता है एवं विधेय उत्तर में रहता है। अतः पूर्व एवं उत्तर रूप में प्रतीत उद्देश्यतावच्छेदक एवं विधेय एक काल में नहीं

रह सकता है। 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः' इस तृतीय श्रुति में 'ज्ञात्वा' में 'क्त्वा' प्रत्यय है, अतः 'क्त्वा' प्रत्यय से उद्देश्यतावच्छेदक ज्ञान के पूर्वकाल में होने की प्रतीति है। इसलिए विधेय में उद्देश्यतावच्छेदकसमानकालीनत्व की प्रतीति न होने से समान-कालीनत्व के प्रतिपादन के द्वारा 'एकमेवाद्वितीयम्' यह श्रुति सार्थक होती है।

"यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः", तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते"।

यह श्रुतिवाक्य भी अद्वैत के निर्विकल्पकनिश्चय का जनक है। वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादक वाक्य निर्विकल्पक निश्चय को उत्पन्न करता है। वस्तु के स्वरूपमात्र की जिज्ञासा में ही वक्ता स्वरूप लक्षण का कथन करता है। अतः, स्वरूपलक्षण-निर्विकल्पक ज्ञान का जनक माना जाता है। क्योंकि जिज्ञासित स्वरूप से अतिरिक्त प्रतिपादन करने पर अजिज्ञासिताभिधान दोष होगा। ब्रह्म की सर्वज्ञता एवं सर्व-कालीन सर्वोपादानता का बोधक सर्वज्ञ श्रुति लक्षण वाक्य रूप में निर्विकल्पक निश्चय का जनक है, अतः, इसकी सर्वद्वैततादात्म्यविशिष्टज्ञानपूर्वकता भी है, सकलद्वैत-तादात्म्य ही ब्रह्म में सर्वविषयकत्व है और सकल की उपादानता ही सकल जनकता है। उपलक्ष्यधर्मिविषयक बुद्धि में उपलक्षणीभूत धर्म का विशिष्टज्ञान कारण होता है, अतः, द्वैत उपलक्षित निर्विकल्पक निश्चय से पूर्व में द्वैततादात्म्य विशिष्टज्ञान अवश्य ही मानना होगा और ऐसा मानने पर ब्रह्म का द्वैततादात्म्य लब्ध होता है।

"यः सर्वज्ञः" इस ब्रह्म लक्षणवाक्य से सर्वज्ञत्व उपलक्षित ब्रह्म बुद्धि उत्पन्न होती है, और इस सर्वज्ञत्व उपलक्षित बुद्धि का कारण सर्वज्ञत्वविशिष्टबुद्धि है। क्योंकि वही इस स्थल में उपलक्षण बुद्धि का साधन होती है। प्रकृत में द्वैततादात्म्य-विशिष्ट बुद्धि सर्वज्ञत्व उपलक्षित बुद्धि का कारण नहीं है, अतः उपलक्षित बुद्धि के पूर्व द्वैततादात्म्यविशिष्टबुद्धि कैसे होती है? इसका समाधान यह कहा है कि सर्वतादात्म्य ही ब्रह्म में सर्वविषयकत्व है। ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है और उसमें ज्ञेय सर्ववस्तु का आरोप होने से सर्वद्वैततादात्म्य अक्षुण्ण है। यह सर्व विदित है कि ज्ञान के साथ ज्ञेय का आध्यासिक तादात्म्य सम्बन्ध वेदान्तमान्य है, इसी प्रकार ब्रह्म में सर्वोपादानत्व ब्रह्मतादात्म्यापन्न सर्वजनकत्वरूप है। यह प्रश्न हो सकता है कि सर्वद्वैततादात्म्यापन्न ब्रह्मका ज्ञान होने पर भी उसमें द्वैताभावबोधक पद न होने से उक्त वाक्य से जन्य बोध में द्वैतमिथ्यात्व-निश्चय पूर्वकत्व कैसे सम्भव है? इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि— "यः सर्वज्ञः" श्रुति "एकमेवाद्वितीयम्" इस श्रुति के सहकार में ही द्वैताभावोपलक्षित ब्रह्म का निर्विकल्पक निश्चय उत्पन्न करती है, केवल "यः सर्वज्ञः" यह श्रुति ब्रह्म का निर्विकल्पकबोध उत्पन्न नहीं करती है, किन्तु 'एकमेवाद्वितीयम्' इस श्रुति के सहकार में इस श्रुति के द्वारा निर्विकल्पक बोध उत्पन्न होने पर इसके पूर्व में द्वैतमिथ्यात्व का निश्चय हो जाता है। क्योंकि द्वैततादात्म्यविशिष्ट ब्रह्म में द्वैताभाव निश्चय करने में द्वैतमिथ्यात्वनिश्चयपूर्वकत्व होता ही है। इस प्रसङ्ग में यह जिज्ञासा हो सकती है

कि सर्वज्ञ श्रुति से निर्विकल्पक निश्चय एवं तदर्थ उसे अद्वितीय श्रुति की अपेक्षा करने का भी कोई प्रयोजन प्रतीत न होने से यह विश्लेषण असङ्गत प्रतीत होता है। इसके समाधान में यह कहना ठीक है कि यदि सर्वज्ञ श्रुति के द्वारा पहले द्वैततादात्म्यविशिष्ट-बुद्धि उत्पन्न होगी तब इसके बाद अद्वैत श्रुति के द्वारा कभी भी ब्रह्म के निर्विकल्पक निश्चय की सम्भावना नहीं होगी। क्योंकि सर्वज्ञ श्रुति से जो द्वैत प्रकारक बोध होता है, उसमें प्रकारीभूत द्वैत वस्तु का बाधग्रह न होने से अबाधित रूप में द्वैत का भान होगा, और यह अवाधित द्वैत प्रकारक भान, अद्वितीय-वाक्य-जन्य-बोध में भी दुर्वार होगा, ऐसी स्थिति में किसी स्थल में भी श्रुति से ब्रह्म का निर्विकल्पक निश्चय नहीं हो सकेगा। अतः, यह कहना आवश्यक है कि सर्वज्ञ श्रुति अद्वैत श्रुति की अपेक्षा करके ही बोध कराती है।

यदि यह कहा जाय कि अद्वितीय वाक्य-जन्य-बोध का प्रकारी भूत द्वैत के भान में तात्पर्य न होने से द्वैत भान नहीं होगा, अपितु उपलक्ष्य ब्रह्म स्वरूप मात्र का ही भान होगा। ऐसा मानने पर भी अद्वितीय श्रुति जन्य निर्विकल्पक निश्चय में अनर्थ निवृत्ति की हेतुता नहीं रहेगी, क्योंकि यद्विशिष्ट बुद्धि जिसकी विरोधी होती है, तद्विशिष्ट-बुद्धि-पूर्वक तदुपलक्षित-धर्मिमात्र-विषय निर्विकल्पक निश्चय में भी वह उसकी विरोधी होगी, इसलिए द्वैत भ्रम का विरोधी द्वैताभाव विशिष्ट ज्ञान होने से द्वैताभाव-विशिष्टबुद्धिपूर्वक द्वैताभावोपलक्षित ब्रह्म-निर्विकल्पक निश्चय भी द्वैत भ्रम का विरोधी होगा। द्वैतदिशिष्ट ब्रह्म बुद्धि द्वैत भ्रम रूप अनर्थ की प्रतिबन्धक नहीं है, अतः, द्वैतविशिष्ट ब्रह्म-बुद्धि-पूर्वक द्वैतोपलक्षित ब्रह्मस्वरूपमात्रविषयकनिर्विकल्पकनिश्चय के द्वारा अनर्थ निवृत्ति नहीं हो सकती है। इसलिये ब्रह्मनिर्विकल्पनिश्चय में अनर्थ निवृत्ति की हेतुता के सम्पादन के लिए सर्वज्ञ वाक्य में अद्वितीय श्रुति वाक्य-जन्य-द्वैताभाव बोध की अपेक्षा माननी होगी, ऐसा न मानने पर सर्वज्ञ श्रुति की अनर्थनिवृत्ति की हेतुता नहीं रह सकती है। अद्वितीय श्रुति निषेधार्थक होने से प्रतियोगिप्रमञ्जक सर्वज्ञश्रुतिजन्यबोध की अपेक्षा अद्वितीय श्रुति में है। अतः, सर्वज्ञ श्रुति और अद्वितीय श्रुति की परस्पर अपेक्षा रहने से उक्त दोनों वाक्यों में एकवाक्यता रहती है।

यदि यह कहा जाय "यः सर्वज्ञः" यह श्रुति "तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्य घटक तत्पदार्थ की शोधक होने से सर्वज्ञ श्रुति जन्य बोध में अनर्थ निवारण की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि "यः सर्वज्ञः" यह खण्ड वाक्य है, और खण्ड वाक्यार्थ बोध के द्वारा अनर्थ की निवृत्ति होने से अनर्थ निवृत्तिफलक महावाक्यार्थ बोध व्यर्थ होगा। इसके उत्तर में यह कहा गया है कि ऐसा मानने पर शोधित तत्पदार्थविषयक निर्विकल्पक बोध में सर्वज्ञ श्रुति के तात्पर्यग्रह के लिए अद्वितीय वाक्याधीन सर्वज्ञत्व का बाधग्रह न होकर सर्वज्ञत्व विशिष्ट चैतन्य में सर्वज्ञ श्रुति का तात्पर्य निराकरण सम्भावित नहीं है। सर्वज्ञ श्रुति का शुद्ध चैतन्य में तात्पर्यग्रह के लिए सर्वज्ञ श्रुति अद्वितीय वाक्य की अपेक्षा करती है। एकवाक्यता सम्भावित होने

पर वाक्यभेद करना असङ्गत होने से शुद्ध चैतन्य में तात्पर्य-ग्राहक अद्वितीय श्रुति के साथ सर्वज्ञ श्रुति की एकवाक्यता होने से खण्ड वाक्य भी अवान्तर तात्पर्य के द्वारा अवान्तर बोध का जनक होता है—यह स्वीकार करना होगा। सर्वज्ञ वाक्य के द्वारा चैतन्य में सर्व द्वैततादात्म्यप्रसक्तिपूर्वक निषेधार्थक अद्वितीय वाक्य में तत्पद का अध्याहार कर अर्थात् 'तत्' अद्वितीयम्=जो सर्व द्वैततादात्म्यविशिष्ट है वह अद्वितीय है। अवच्छिन्नवृत्तिकान्य जो द्वितीयाभाव तद्विशिष्ट है, इस प्रकार अद्वितीय श्रुति के साथ मिलकर सर्वज्ञ श्रुति का भी शाब्दबोध होगा, मिलित श्रुतिद्वय का प्रदर्शित शाब्दबोध ही उचित है।

"नेह नानास्ति किञ्चन" इस वाक्य में द्वैत विशिष्ट ब्रह्म रूप उद्देश्य प्रतिपादक "इह" पद का प्रयोग होने से उद्देश्यतावच्छेदक जो द्वैतवत्त्व उस द्वैतवत्त्व का अवच्छेदक जो देश और काल उसी देशकालावच्छेद में "इह" पदार्थ द्वैत विशिष्ट ब्रह्म में "नाना किञ्चन नास्ति" इस वाक्यांश के द्वारा अस्तित्व विशिष्ट द्वैताभाव का बोधक होने से द्वैत का मिथ्यात्व सिद्ध होता है। श्रुति में "नाना" पद का ब्रह्म भिन्न और 'किञ्चन' पद का अर्थ ब्रह्मभिन्न के साथ अन्वित वस्तु सामान्य होता है, अतः, "नाना किञ्चन" इस निपात से ब्रह्मभिन्न वस्तु सामान्य की अवगति हो रही है। यह ब्रह्मभिन्न वस्तु-सामान्य नञ् के अर्थ अभाव में अन्वित होगा। अतः अस्तित्व विशिष्ट ब्रह्मभिन्न वस्तु सामान्य का अभाव "न नानास्ति किञ्चन" इस वाक्य खण्ड से सिद्ध होता है, और विधेयार्थ उद्देश्य समपर्क "इह" पदार्थ के साथ अन्वित होकर द्वैततादात्म्य विशिष्ट ब्रह्म में उद्देश्यतावच्छेदक धर्म जो द्वैतवत्त्व उसका अवच्छेदकीभूत जो देश और काल उस कालावच्छेद में अस्तित्व विशिष्ट जो ब्रह्मभिन्न वस्तु सामान्य का अभाव उसकी विधेय रूप में प्रतीति होने से अर्थात् द्वैतकाल में द्वैतवद् ब्रह्मनिरूपित आधेयता द्वैताभाव में होने से द्वैत का मिथ्यात्व सिद्ध होता है। अतः, "नेह नानास्ति किञ्चन" इस वाक्य में अस्तित्व विशिष्ट जो ब्रह्म भिन्न वस्तु सामान्याभाव वह द्वैताकालावच्छिन्न द्वैतवद् ब्रह्म निरूपित आधेयताश्रय है—यह बोध होता है। यह बोध द्वैतमिथ्यावगाही होने से महावाक्यजन्य बोध द्वैतमिथ्यात्व निश्चय पूर्वक होता है। इसी प्रकार अन्य श्रुति का भी अर्थ समझना होगा। ग्रन्थ की व्याख्या में सम्बद्ध श्रुतियों का व्याख्यान समाविष्ट है।

व्याख्यान में प्रवृति :—

भारतीय मनीषी देश, काल, एवं वंश के परिच्छेद से परे भारत की सार्वभौम सत्ता को दृष्टि में रखते हुए सिद्धान्तों की परम्परा की दृष्टि से आचार्यदेव के रूप में अपने को उपस्थित करने में सन्तोष का अनुभव करते हैं। ज्ञानधारा में विद्यावंश का प्रवाह महत्त्वपूर्ण है। आचार्य शङ्कर के गुरु के नाम से सभी संस्कृतज्ञ परिचित हैं, क्योंकि आचार्य ने ग्रन्थ की पुष्पिका में गुरु का उल्लेख सभी ग्रन्थों में किया है। यही कारण है कि आचार्य के ग्रन्थों का व्याख्यान उनके जन्म से सम्बद्ध भारत

खण्ड से आबद्ध न रहा। उनका सिद्धान्त भारतीय रहा केरल और विशेषवंश से आबद्ध नहीं। सम्प्रदाय का परिच्छेदक ज्ञानवंश था जातिवंश या स्थान नहीं। यही कारण है कि भारत में चतुर्दिक संस्कृति की प्रतिष्ठा के लिए चार मठों की स्थापना चारों दिशा में की। भारत के पश्चिम भाग द्वारका में 'शारदा मठ', पूर्वभाग जगन्नाथपुरी में 'गोवर्द्धन मठ', उत्तर भाग बदरिकाश्रम में 'ज्योतिर्मठ', एवं दक्षिण में शृंगेरी मठ। सम्पूर्ण भारतवर्ष में ज्ञान के आधार पर संस्कृति को प्रतिष्ठित करने के लिए ही आचार्य का यह प्रयास था। 'मठाम्नाय' में कहा गया है--

शुचिर्जितेन्द्रियो वेदवेदाङ्गादिविशारदः।
योगज्ञः सर्व्वशास्त्राणामस्मदास्थानमाप्नुयात् ॥ ९ ॥

पवित्र, जितेन्द्रिय, वेदवेदाङ्गादिशारद, सभी शास्त्रों के प्रयोग में कुशल व्यक्ति इस मठ के आचार्य पद को प्राप्त करें।

आचार्य ने भारत को एक अखण्ड देश मानकर देशवासियों के हित की भावना से इन मठों की स्थापना की। आचार्य का देशप्रेम सराहनीय है। यातायात की असुविधा को नगण्य मानकर कष्टकर यात्रा कर भारतवर्ष की पदयात्रा करते हुए आचार्य ने धर्मरक्षा के लिए अत्यन्त महान् अनुष्ठान किया। एक साधनहीन सन्न्यासी के इस कार्य की ओर दृष्टिपात करने पर विस्मित होना पड़ता है। धन्य हैं आचार्य और धन्य है उनका देशप्रेम, जहाँ न जाति की सङ्कीर्णता है न वंश की न देश और न काल की।

आचार्य प्रणीत उपनिषद्भाष्य, गीताभाष्य और शारीरकसूत्रभाष्य की आलोचना करने पर श्रौत और स्मार्त धर्म में आचार्य की प्रगाढ़ श्रद्धा का सहज परिचय प्राप्त होता है। उपनिषद् और गीतावाक्यों की व्याख्या में आचार्य ने आनुपूर्वी का परिवर्तन नहीं किया है। जिस क्रम में पदों का सन्निवेश है, उसी क्रम में उनकी व्याख्या है। वेद के अपौरुषेय की मर्यादा को अक्षुण्ण रखते हुए ही यथावस्थित व्याख्या दीं गई है, पौर्वापर्य-परिवर्तन अपौरुषेयत्व की मर्यादा के रक्षण में समर्थ न होता।

आचार्य शङ्कर की शास्त्रश्रद्धा का प्रकृष्ट प्रमाण शारीरकसूत्र का देवताधिकरण है। आचार्य शङ्कर का सिद्धान्त वेदप्रमाणक अद्वयवाद है। यह अद्वैतवाद दार्शनिक चिन्ताधारा का चरम परम रहस्य है। "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च" अपनी प्रियतमा मैत्रेयी को यह उपदेश प्रदान कर महर्षि याज्ञवल्क्य ने पारिव्राज्य ग्रहण किया। भारतीय जनता का जीवन-प्रवाह एवं आशा-आकांक्षा यहीं पर्यवसित होती है। "एतावदरे खल्वमृतत्वम्"। इस चरम उपदेश का विश्लेषण करने के लिए भारतीय दर्शनप्रवाह का समग्र परिचय प्रदान करना सहस्र जीवन धारण में भी सम्भव नहीं है। अनादिकाल से दार्शनिक चिन्ता भारत वसुन्धरा को मुखरित कर रही है। क्या कतिपय वाक्यों में इसे शेष करना सम्भव है? इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है। "बहूनां जन्मनामन्ते"। आचार्य उदयन ने भी आत्मतत्त्वविवेक के उपसंहार में कहा है कि मोक्षजनक आत्मसाक्षात्कार का

साधन आत्मा का श्रवण, मनन और निदिध्यासन ही है उपनिषद् वाक्यों से आत्मा का श्रवण एवं श्रुत अर्थ का सम्भावितत्व प्रदर्शन के लिए श्रुति के अनुकूल युक्तियों से श्रुत अर्थ का मनन और मनन के द्वारा निदिध्यासन करने पर आत्म तत्त्व अपरोक्ष रूप में भासमान होता है, आत्मतत्त्व का अपरोक्ष साक्षात्कार ही मोक्ष है, जिसका चरम साधन निदिध्यासन है। इस आत्मतत्त्व के निदिध्यासन में प्रवृत्त व्यक्ति को समस्त जगत्प्रपञ्च आत्मा से अतिरिक्त रूप में प्रतीयमान होता है निदिध्यासन और इसी अवस्था की कर्ममीमांसा का आलम्बन कर कर्ममीमांसा शास्त्र की प्रवृत्ति एवं असाधारण उपयोगिता भी इसकी सिद्ध होती है। अर्थ दृष्टि की प्रबलता चार्वाक मत का उत्थापन करती है। "पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्" इसी को प्रेयोदृष्टि कहकर बन्धन का कारण कहा है। कठोपनिषद् की इस श्रुति से यह व्यक्त है कि अनात्मवस्तुग्रहण पटु इन्द्रियाँ विषय का ही दर्शन करती हैं, आत्मा का नहीं। इस दृष्टि को दूर करने के लिए श्रुति कहती है—"कर्मभिर्मृत्युमृषयो निषेदुः प्रजावन्तो द्रविणमृच्छमाना, अथापरे ऋषयो मनीषिणः परं कर्मभ्योऽमृतत्वमानशुः"। (वा० भा० ४।१।५९) आत्मोपासना की प्रकर्षता अर्थाकार में आत्मदर्शन कराती है और सर्वात्मभाव की प्राप्ति कराती है। इसी दृष्टि का अवलम्बन कर ब्रह्मपरिणामवाद त्रिदण्डि-सिद्धान्त का अभ्युत्थान है। विज्ञानवादी योगाचार इसी भूमि पर अवस्थित हैं। 'आत्मैवेदं सर्वम्' इस श्रुति का समन्वय इसी रूप में इनके यहाँ होता है। किन्तु, ज्ञानधारा बढ़ती रहती है, अर्थाकार आत्मस्वरूप का निषेध करती हुई "अगन्धमरसमचक्षुरश्रोत्रम्" श्रुति सम्मुख आती है। आत्मा की विषयाकारता का निषेध होने पर विषय के अभाव का ज्ञान होता है। यही प्रपञ्चरहित आत्मस्वरूप के भासमान की अवस्था है। यही उपनिषत्प्रमाणक वेदान्त की प्रथमावस्था है। इसी प्रथम अवस्था का विश्लेषण करते हुए आचार्य उदयन ने कहा—विषयरहित चिन्मात्र वस्तु सम्भावित नहीं है, अतः शून्यवादी माध्यमिक इस अवस्था का अवलम्बन कर अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन में तत्पर हो जाते हैं। इस नैरात्म्यवाद का समर्थन 'असदेवेदमग्र आसीत्' इस श्रुति से करते हैं। इस अवस्था से उद्धार पाने के लिए श्रुति कहती है—"अन्धं तमः प्रविशन्ति ये के चात्महनो जनाः"। फलतः विषय से आत्मा को विविक्त सिद्ध करते हुए सांख्य सिद्धान्त सम्मुख आता है। आत्मा के निर्लिप्त स्वरूप का समर्थन "प्रकृतेः परस्तात्" इत्यादि श्रुतिवाक्यों से होता है। इस विवेक दृष्टि का प्रत्याख्यान करती हुई श्रुति कहती है—"नान्यत् सत्" आत्म से भिन्न अन्य कोई भी पदार्थ सत् नहीं है, यह अवस्था केवल आत्मतत्त्व के प्रकाश का समर्थन करती है। यही अद्वैतमत का पर्यवसान है। इसके प्रतिपादन के लिए "यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह" यह श्रुति आती है। आत्ममात्र का प्रकाशन होने से विषयदर्शन नहीं रहता है, किन्तु, यह आत्मा का प्रत्याख्यान नहीं है। संक्षेपशारीरक में प्रतिपादित है—स्थिरमतिः पुरुषः पुनरीक्षते व्यपगतद्वितयं परमं पदम्"। (सं०

शा० २।८९) इस अवस्था में जीव के सभी संस्कार अभिभूत रहते हैं, अत: आत्मविषयक सविकल्पक ज्ञान का उदय न होकर आत्मविषयक निर्विकल्पक ज्ञान का उदय होता है। आत्ममात्र विषयक निर्विकल्पक ज्ञान ही मोक्षनगर में प्रवेश का श्रेष्ठतम द्वार है। न्याय और वेदान्त का यहीं चरम उपसंहार है। "निष्काम आप्तकाम: आत्मकाम: स ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति न तस्य प्राणा: उत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते। (वात्स्या० भा० ४।१।३९) इसकी व्याख्या में रघुनाथ शिरोमणि ने कहा—चरम वेदान्त में जो कहा गया है उससे अधिक कुछ वक्तव्य नहीं है। "शुद्ध-स्वप्रकाशचित्स्वरूपे ब्रह्मप्रतिपादकवेदान्तानामुपसंहार:, प्रतिपाद्यान्तरविरहात्"।

मैंने इसी दृष्टि से वेदान्तसार के व्याख्यान में प्रवृत्त होकर अद्वैत चिन्तामणि आप लोगों के सम्मुख उपस्थापित करने की चेष्टा की है। श्रीहर्ष ने भी कहा— "वस्तुतस्तु वयं प्रपञ्चसत्त्वव्यवस्थापनविनिवृत्ता: स्वत:सिद्धे चिदात्मनि ब्रह्मतत्त्वे केवले भरमवलम्ब्य चरितार्था: सुखमास्महे"। (ख० पृ० १३१)

दर्शन का अर्थ :—

दार्शनिक चिन्ता प्रस्तुत करने से पूर्व दर्शन शब्द के अर्थ की अवगति आवश्यक है।

दृश्यतेऽनेन इस व्युत्पत्ति के अनुसार दर्शन शब्द का अर्थ "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य:" (बृहदारण्यक उप० २।३।५) इस श्रुति वाक्य से उपदिष्ट आत्मसाक्षात्कार का हेतु या साधन ही दर्शन है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन ही आत्मदर्शन के हेतु के रूप में शास्त्र में उपदिष्ट होने से श्रवण मनन के साधनरूप शास्त्र दर्शन कहे जाते हैं।

आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:" बृहदारण्यकोपनिषद् के मैत्रेयी ब्राह्मण का वाक्य ही भारतीय दर्शन का सार या भूमिका है, 'द्रष्टव्य:' इस पद से ही भारतीय जीवन प्रवाह की आशा शत-शत धाराओं में प्रवाहित है। यही दर्शन का प्रेरणा स्रोत एवं दर्शन नामकरण का मूलाधार है। "एतावदरे खल्वमृतत्वम्" यही तो इसका उपसंहार वाक्य है। आत्मा का श्रवण, मनन और निदिध्यासन परमानन्द प्राप्ति का एक मात्र साधन है। प्रियतमा मैत्रेयी को यह उपदेश देकर ही याज्ञवल्क्य ने परिव्रज्या ग्रहण की थी। इसी उपदेश के विवरण के लिए भारतीय दर्शन असंख्य धाराओं में प्रवाहित हैं। भारतीय दर्शन के अधिकारी आदि की विवृति का यही मूलाधार है।

प्रियतमा मैत्रेयी को महर्षि ने कहा—अन्य आश्रम में मैं जाना चाहता हूँ, अत: तुम्हारी और कात्यायनी की भोग सामग्री बांट देता हूँ। मैत्रेयी ने, भोग सामग्री का परित्याग कर परमानन्द की प्राप्ति इन वित्तों से सम्भव नहीं है, अत:, परमानन्द-साधन आत्मतत्त्व का उपदेश ग्रहण किया। इस प्रसङ्ग से यह सुस्पष्ट है कि मैत्रेयी निम्नलिखित साधनचतुष्टय से सम्पन्न थी, और ब्रह्म ज्ञान की अधिकारिणी थी।

साधन-चतुष्टय का निरूपण—१–नित्यानित्यवस्तुविवेक। २–इहामुत्रार्थफलभोगविराग। ३–शम, दम, तितिक्षा उपरति, श्रद्धा इन पांचों का प्रकर्ष। ४–मुमुक्षुत्व। इन चारों में आचार्यों ने सर्वप्रथम प्रथम साधन के अर्थ निर्णय के लिए विस्तृत विचार किया है। नित्यवस्तु अर्थात् प्रत्यगात्मा, अनित्यवस्तु अर्थात् देह, इन्द्रिय विषय आदि इनका विवेक अर्थात् भेदज्ञान। प्रकृत में यह विचारणीय है कि यह प्रमारूप निश्चयात्मकज्ञान है, या भ्रमात्मक ज्ञान है या संशयात्मकज्ञान है ? यदि इसे निश्चयात्मकप्रमाज्ञान माना जाय, तब ब्रह्म जानने की इच्छा से लाभ ही क्या है ? नित्य अर्थात् ब्रह्म का ज्ञान तो प्रमाज्ञान से ही हो गया है। जिस ब्रह्मज्ञान का नित्यानित्यवस्तुविवेक साधन है, वह ज्ञान तो पूर्व में ही हो गया, ऐसा स्थिति में जिसके होने पर ब्रह्मजिज्ञासा और ब्रह्मज्ञान होता है और जिसके न होने पर यह ब्रह्मजिज्ञासा और ब्रह्मज्ञान नहीं होता है ऐसे साधन में नित्यानित्यवस्तुविवेक नहीं रह जाता है, कारण ब्रह्म ज्ञान तो इससे पूर्व ही हो गया। यदि उक्त विवेक को निश्चयात्मक भ्रम ज्ञान माना जाय अर्थात् नित्य जो प्रत्यगात्मा एवं अनित्य जो देह, इन्द्रिय, विषय आदि उनका जो विवेक अर्थात् परस्पर भ्रमात्मक निश्चय ज्ञान है, किन्तु ऐसा मानने पर उक्त ज्ञान वेदान्त की ब्रह्मजिज्ञासा का प्रयोजक नहीं हो सकता है, कारण शास्त्र नित्य जो प्रत्यगात्मा, उसीको नित्य कहकर निर्देश करता है। प्रकृत में विपरीत ज्ञान ही यदि निश्चयात्मक ज्ञान है, तब इस नित्यानित्यवस्तुविवेक से ब्रह्मजिज्ञासा में प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ? व्यवहार में शुक्तिका आदि में रजतादिभ्रम का निश्चय होने पर इच्छा का साधन वह नहीं होता है, कारण, आगे उसका बाध हो जाने से दृढ़तर इच्छा की साधनता उसमें नहीं है। यदि उक्त विवेक ज्ञान को सामान्य ज्ञान अर्थात् निश्चयात्मक नहीं माना जाय अर्थात् संशयात्मक ज्ञान माना जाय, तब संशयात्मक नित्यानित्यवस्तु के विवेक से वैराग्य कभी भी नहीं हो सकता है और वैराग्य न होने पर ब्रह्मजिज्ञासा का साधन ही उत्पन्न नहीं होगा, वैराग्य ही ब्रह्मजिज्ञासा का मुख्य साधन है। [वस्तुतः यह विवरण ग्रन्थ की छाया है] इसलिए संशयात्मक ज्ञान मानने पर भी कार्य नहीं चल सकता है, अतः, इस प्रधान साधन का अर्थ निम्नलिखित रूप में मानना होगा—सामान्यतया प्रकृत में इस प्रकार समास अवगत होता है नित्यञ्च अनित्यञ्च='नित्यानित्ये द्वन्द्वसमास' नित्यानित्ये वस्तुनी=नित्यानित्यवस्तुनी कर्मधारय, नित्यानित्यवस्तुनोः विवेकः=नित्यानित्यवस्तुविवेकः षष्ठीतत्पुरुष। इस प्रकार समास करने पर कौन वस्तु नित्य एवं कौन वस्तु अनित्य उनका स्वरूप निर्णय यह अर्थ होता है, किन्तु इस प्रकार अर्थ करने पर भी पूर्वोक्त दोष की आपत्ति है। अतः इस प्रकार का समास मानना होगा—नित्यञ्च अनित्यञ्च=नित्यानित्ये द्वन्द्वसमास, नित्यानित्ययोः वस्तूनि =नित्यानित्यवस्तूनि षष्ठीतत्पुरुष, नित्यानित्यवस्तूनां विवेकः=नित्यानित्यवस्तुविवेकः षष्ठीतत्पुरुष, यह समास मानने पर वस्तु शब्द का अर्थ धर्म होता है, क्योंकि, वस्तु

शब्द की व्युत्पत्ति "वसति यत् तत् वस्तु" यह मानने से वस्तु शब्द प्रकृत धर्म का बोधक होता है। कारण, धर्म धर्मी को आश्रय कर रहता है अर्थात् धर्मी में धर्म रहता है। नित्यानित्यवस्तुविवेक का अर्थ जो धर्म नित्य और अनित्य वस्तुओं का आश्रयण कर रहता है, उन धर्मों के परस्पर पार्थक्य अर्थात् भेद का निश्चयात्मक ज्ञान, इस प्रकार का अर्थ मानने पर पूर्वोक्त दोष नहीं होता है, कारण, पूर्व अर्थ के अनुसार नित्य ब्रह्म का स्वरूप ज्ञान एवं अनित्य देह, इन्द्रिय आदि का स्वरूप ज्ञान ही आवश्यक था। ब्रह्म और ब्रह्म से भिन्न का स्वरूपज्ञान होने पर ब्रह्म की जिज्ञासा आवश्यक नहीं रहती है, किन्तु इस अर्थ के अनुसार नित्य ब्रह्म एवं अनित्य ब्रह्म भिन्न वस्तु के धर्म नित्यत्व एवं अनित्यत्व के ज्ञान के द्वारा उनके धर्मी ब्रह्म और ब्रह्म भिन्न वस्तु का समान्यतः ज्ञान ही होता है। इन दोनों का वास्तविक स्वरूप ज्ञान नहीं होता। जैसे देवदत्त के स्वरूप ज्ञान से उसके सभी विशेष धर्मों के ज्ञान के साथ उसका ज्ञान अवगत होता है, किन्तु, मनुष्यत्व सामान्य धर्मपूर्वक ज्ञान होने से किसी एक विशेष धर्म के साथ उसका ज्ञान अपेक्षित होता है। फलतः प्रकृत में नित्यत्व अनित्यत्व रूप धर्म पूर्वक ब्रह्म और ब्रह्म भिन्न का ज्ञान उनका स्वरूप ज्ञान नहीं अपितु सामान्य रूप में उनका ज्ञान है, विशेष रूप में ज्ञान नहीं। सामान्य ज्ञान से ब्रह्म को विशेष रूप से जानने की इच्छा संभव हो सकती है। अतः वेदान्त श्रवण में प्रवृत्ति सम्भव है। क्योंकि ऐसा देखा जाता है कि अपेक्षित वस्तु का सामान्य ज्ञान होने पर उसको विशेष रूप में स्वरूप ज्ञान की इच्छा होती है, सामान्य ज्ञान के बिना विशेष ज्ञान की इच्छा नहीं होती है। नित्यानित्यवस्तुविवेक का यह अर्थ स्वीकार करने पर द्वितीय साधन अर्थात् वैराग्य की उत्पत्ति किस प्रकार हो सकती है ? नित्य शब्द का अर्थ सत्य है, वही प्रकृत सुख है यह सभी के लिये आस्था या श्रद्धा का विषय है; जो अनित्य है वह अनृत है वही प्रकृत दुःख है, अत. वह सभी विवेकी व्यक्तियों के लिये अनास्था या अश्रद्धा का विषय है। फलतः नित्यानित्यवस्तु-विवेक हाने से ही नित्यवस्तु के प्रति श्रद्धा एवं अनित्य वस्तु के प्रति अश्रद्धा होती है, अश्रद्धा ही वैराग्य है वैराग्य पूर्णमात्रा मे होने पर इहामुत्रार्थ-फलभोग-विराग उत्पन्न होता है। नित्यानित्यवस्तु विवेक होने पर भीविशुद्ध चित्त वाले व्यक्ति को ही वैराग्य होता है। चित्त की विशुद्धि विहित कर्मों का अनुष्ठान निषिद्ध कर्मों का परित्याग एवं संचित दुरदृष्टनाश का उपाय स्वरूप प्रायश्चित्तादि कर्मों के अनुष्ठान के विना सम्भव नहीं है। इतना सत्य है कि इन कर्मों का पूर्व जन्म में अनुष्ठान होने पर भी चित्त की शुद्धि सम्भव है। यह ध्यान देने योग्य है कि नित्यानित्यवस्तुविवेक आदि वैराग्य का जनक है तब अनेक व्यक्तियों को यह विवेक रहने पर भी वैराग्य की उत्पत्ति क्यों नहीं होती ? इसके समाधान में कल्पतरुकार ने कहा है कि नित्यानित्य-वस्तुविवेक होने पर भी उसका अभ्यास करते करते क्रमशः वैराग्य उत्पन्न होता है। उसको व्यक्त करने के लिये भामतीकार ने विशेष आयास किया है।

नित्यानित्यवस्तुविवेक शब्द का अर्थ सत्या-सत्य वस्तुविवेक मानने पर वास्तविक सत्य कोई पदार्थ है क्या ? क्योंकि जितने भी सत्य पदार्थ हैं, वे आपेक्षिक सत्य हैं, निरवच्छिन्न सत्य कोई भी पदार्थ नहीं हैं। शून्यवादी बौद्धोंने सबल युक्तियों के आधार पर सभी पदार्थों की शून्यता सिद्ध की है, इसका भी अपलाप सहज में नहीं किया जा सकता। शून्यवादियों के मत में शून्यता एक धर्म विशेष है, धर्म विशेष होने से ही वह धर्मी के विना नहीं रह सकता अतः शून्यता शून्य का धर्म है, शून्य को अवास्तव मानने पर उसका धर्म सत्य कैसे हो सकता है ? संसार में अधिष्ठान रहित भ्रम नहीं देखा गया है; रस्सी नहीं रहें और सर्पभ्रम हो जाय—यह कभी भी सम्भव नहीं है, अतः यह मानना पड़ेगा की शून्यवादियों के द्वारा सत्य वस्तु का अपलाप किसी प्रकार सम्भव नहीं है। फलतः अनुभव और उपपत्ति के द्वारा अच्छी तरह सत्यलोक से अवीचि नामक नरक पर्यन्त सर्वत्र प्राणियों का जन्म, मरण, जरा और व्याधि आदि होती है वहाँ सतत दुःखमय अवस्था देखकर मनुष्य को स्वभावतः नित्यानित्यवस्तु-विवेक होने पर ऐहिक और पारलौकिक फलों के भोग के प्रति वैराग्य होगा। वैराग्य का अर्थ भोग की इच्छा का त्याग रूप उपेक्षात्मक ज्ञान अर्थात् सभी विषयों के प्रति अनादर स्वरूप उपेक्षा बुद्धि है।

इस ऐहिक और पारलौकिक भोग-विराग से शमदम आदि साधनसम्पत् की उत्पत्ति होती है मन सदा आसक्तिरूप कषाय मदिरा से मत्त रहता है और विशृंखलित रूप में भिन्न-भिन्न विषयों में इन्द्रियों को प्रवर्तित कर पाप और पुण्य की जनक अनेक प्रवृत्तियों की सृष्टि करता है, इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप पुरुष अतिशय भयंकर अनेक दुख ज्वाला से जटिल संसाररूपी अग्नि में गिरता है, किन्तु नित्यानित्य-वस्तु विवेक-ज्ञान के अभ्यास से वैराग्य की प्राप्ति करने के बाद वैराग्य की दृढ़ भूमि हो जाने से मन की आसक्ति रूप कषाय मदिरा की मत्तता विनष्ट हो जाती है, मन की विजिता या वशीकृत अवस्था ही शम है शम का ही दूसरा नाम वशीकार है 'शम' की साधना के द्वारा मन के विजि होने पर मन तत्त्व विषय में विनियुक्त होने के योग्य होता है—यह योग्यता ही 'दम' का अर्थ है। 'शमदमादि' पद के द्वारा अन्य तीन साधनों का ग्रहण होता है—जैसे विषय-तितिक्षा, विषयोपरम एवं तत्त्वश्रद्धा। विषय-तितिक्षा से तात्पर्य शीतोष्णद्वन्द्वसहिष्णुता, विषयोपरम शब्द का अर्थ विषय भोग से निवृत्ति एवं तत्त्वश्रद्धा शब्द का अर्थ तत्त्वज्ञान के प्रति श्रद्धा है। श्रुति में भी कहा है—

"तस्मात् शान्तो दान्त उपरतः तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मनि एव आत्मानं पश्येत् सर्वमात्मनि पश्यति"।

इसलिए शान्त, दान्त उपरत, तितिक्षु, और श्रद्धावित्त होकर आत्मा में ही आत्मा को देखे। "इन पाँच प्रकार के साधनों का सम्यक् प्रकर्ष ही शमदमादिसाधन-सम्पत् है, इन साधनोंके होने पर पुरुषों को संसार रूपी बन्धन से मुक्त होने की इच्छा होती है। इसी इच्छा का नाम मुमुक्षुत्व है। इन साधनों की क्रमिक उत्पत्ति होते

हुए 'मुमुक्षुत्व की उत्पत्ति होने पर पुरुष गुरु के द्वारा 'श्रवण' करता है, नित्य शुद्ध बुद्ध और मुक्त स्वभाव ब्रह्म है और ब्रह्म का ज्ञान होने पर मोक्ष होता है, मोक्ष का कारण इस प्रकार से ब्रह्म ज्ञान ही है ऐसी स्थिति में ब्रह्म के विषय की जिज्ञासा होती है, ब्रह्मजिज्ञासा धर्म की जिज्ञासा से पूर्व और बाद में भी हो सकती है, अतः यह मानना पड़ेगा नित्यानित्य-वस्तु-विवेक, इहामुत्रार्थ-फल-भोग-विराग, शमदमादि-साधन-सम्पत् एवं मुमुक्षुत्व के अनन्तर ही ब्रह्मजिज्ञासा होती हैं, धर्मजिज्ञासा के बाद ही ब्रह्मजिज्ञासा होगी—ऐसा कोई नियम नहीं हैं ।

रत्नप्रभाकार ने छ साधनों का निर्देश किया हैं—१ शम अर्थात् लौकिक व्यापार से मन का उपरत होना, भामतीकार ने शम का अर्थ मनोविजय कहा है । २ 'दम' अर्थात् बाह्यकरणों से उपरत होना भामतीकार ने तत्त्व-विषय में विनियोग-योग्यता माना है ३. उपरति अर्थात् विहितकर्मों का ज्ञान के लिए त्याग, भामतीकार ने इसकी कोई व्याख्या नहीं की है । अतः निषिद्ध कर्मों का त्याग आवश्यक ही है । ४. शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुता, यही तितिक्षा है, इसकी व्याख्या भामतीकार ने नहीं की है । ५. समाधान, इसको भामतीकार ने नहीं माना है । रत्नप्रभाकार ने इसे स्वीकार किया है, इनके मत में इसका अर्थ निद्रा-आलस्य और प्रमाद-त्याग-सहकृत मनः-स्थिति है । इस प्रकार के मतभेद का कारण श्रुति के शाखाभेद और पाठभेद के अतिरिक्त नहीं है । भामतीकार ने इस निम्नलिखित पाठ के अनुसार अपनी व्याख्या की है—'तस्मात् शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मनि एव आत्मानं पश्येत् सर्वम् आत्मनि पश्यति'' बृह० ३४४२३) किन्तु इसका अन्यत्र ऐसा भी पाठ है—''तस्मात् एवंवित् शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा आत्मनि एव आत्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति। नृसिंहतापनी उपनिषद् के छठे खण्ड में भी ''शान्ता दान्ता उपरतास्तितिक्षवः, पाठ है, 'श्रद्धावित्त' पद वहाँ नहीं है । भामतीकार के द्वारा गृहीत पाठ एवं उद्धृत दोनों पाठों के ग्रहण करने पर ही छः साधनों को ग्रहण किया जा सकता है, अन्यथा पाँच ही । भामती का पाठ माध्यन्दिनी शाखा का पाठ है और उद्धृत बृहदारण्यक काण्वशाखा के अन्तर्गत है । शाखा के भेद से पाठ का भेद रहने पर भी 'गुणोपसंहार' न्याय के अनुसार उनकी एकवाक्यता उचित है । रत्नप्रभाकार के मत में पञ्चम साधन समाधान का ग्रहण किया गया है, भामतीकार ने इसका ग्रहण नहीं किया है, छठा साधन 'श्रद्धा' है रत्नप्रभाकार ने इसका अर्थ गुरु, वेदान्त आदि में श्रद्धा, किया है, भामतीकार ने इसका भी अर्थ स्वीकार नहीं किया है, इन साधनों की प्राप्ति ही रत्नप्रभाकार के मत में शमदमादि साधन सम्पत् है, किन्तु भामतीकार के मत में इनका प्रकर्ष ही उक्त साधन सम्पत् है । रत्नप्रभाकार ने सम्पत् का अर्थ 'प्राप्ति' किया है और भामतीकार ने सम्पत् का अर्थ 'प्रकर्ष' किया है । इस सम्बन्ध में आनन्दज्ञान के मत में—नित्यानित्यवस्तुविवेकशब्द का अर्थ आत्मा से अतिरिक्त सभी वस्तु कार्य होने से घट के समान अनित्य है, क्योंकि, जिसकी उत्पत्ति होती हैं, यह भाव पदार्थ है, इस प्रकार का निश्चय है । 'इहामुत्रार्थफलभोगविराग' का अर्थ

वर्तमान देह की रक्षा के लिए एवं अनिषिद्ध अन्नपानादि से भिन्न भोग्य वस्तुओं की इच्छा के प्रतिकूल दृढ़त्तर चित्त वृत्ति है। शमदमादिसाधन सम्पत्' शब्द का अर्थ शम, दम, उपरति, तितिक्षा और समाधान और श्रद्धा रूप छ साधनों की सम्पत्ति अर्थात् प्राप्ति होता है। 'शम' शब्द का अर्थ लौकिक बुद्धि व्यापार अपने अधिकार के अनुपयुक्त है, अतः निष्फल है, यह ज्ञान कर मन के द्वारा उन वस्तुओं का त्याग करना। 'दम' शब्द का अर्थ उक्त ज्ञान होने से बाह्यकरणों के व्यापारों का त्याग होता है। 'उपरति' शब्द का अर्थ चित्तशुद्ध होने पर नित्यकर्मों का भी विधिपूर्वक त्याग होता है। अर्थात् सन्न्यासाश्रम का ग्रहण। 'तितिक्षा' शब्द का अर्थ, जिससे जीवन नष्ट न हो एवं जो अपने अधिकार के लिए अपेक्षित है इस प्रकार के शीतोष्णादि की सहिष्णुता है। 'श्रद्धा' शब्द का अर्थ सर्वास्तिकता अर्थात् गुरु और वेदान्त वाक्य में विश्वास होता है। समाधान शब्द का अर्थ, विहित श्रवण मनन आदि के विरोधी निद्रा आदि का निरोध पूर्वक चित्त की अवस्थिति होता है। 'मुमुक्षुत्व' शब्द का अर्थ आत्मा के विषय में अज्ञान एवं उसके कार्य के सम्बन्ध रूप बन्धु के विच्छेद रूप मोक्ष की इच्छा होता है। विवरणकार ने आदि पद से उपरति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा से अतिरिक्त एक समाधान का ग्रहण किया है, इसका अर्थ गुरु के समीप गमन होता है, इस अर्थ की समर्थक श्रुति है "वरुणम् पितरमुपससार" तै. उ. ३।१।१। अतः इनके मत में छ की जगह सात साधन हो जाते हैं। वेदान्तसार में अधिकारी के विषय में कहा गया है:—— "अधिकारी तु विधिवदधीतवेदांगत्वेन आपाततोऽधिगताखिलवेदार्थः अस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरस्सरंनित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गत-निखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तः साधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता"। साधनचतुष्टय सम्पन्न होने पर ब्रह्म साक्षात्कार की इच्छा होती है अर्थात् ब्रह्म जिज्ञासा का अधिकारी होता है। इसका व्याख्यान अनुवाद में देखे।

इस प्रसङ्ग की ओर सूक्ष्म दृष्टिपात करने से यह सर्वथा सुस्पष्ट है कि सकल भोग के उपकरणों से सम्पन्न व्यक्ति ही पूर्वोक्त साधन-चतुष्टय-सम्पत्तिपूर्वक मोक्ष का अधिकारी है। अभाव में इन साधनों का समन्वय सम्भव नहीं है, लौकिक पारलौकिक सुख-भोग-विराग, वस्तु के सन्निधान में ही तो सम्भव है अभाव में नहीं। नित्यानित्य-वस्तु के विवेक के साथ वस्तु की उपस्थिति शमदमतितिक्षा उपरति आदि के द्वारा साधन है। अतः, संक्षेप में यह मानना ही होगा कि भोगोपकरण-सम्पन्नता भी अधिकारी के लिए अपेक्षित है। सर्वथा अभावग्रस्त व्यक्ति के लिए भोग विराग तितिक्षा, एवं मुमुक्षुत्व कैसे सम्भव है? यदि वस्तु ही नहीं तो त्याग या विराग कैसा? अतः, भोगोपकरण-सामग्री-सम्पत्तिपूर्वक साधनचतुष्टय सम्पन्न अधिकारी है। फलभोग-विरागादि से ही सम्पत्तिपूर्णता लभ्य है, अतः अन्यलभ्य होने से इसके अभिधायक वाक्य का प्रयोग नहीं होता है, क्योंकि अनन्यलभ्य ही शब्दार्थ होता है। भोगहेतु के सान्निध्य में ही त्याग सम्भव होने से वह भी तात्पर्य विषयीभूत अर्थ है।

वेदवाक्यों से आत्मा का श्रवण, श्रुत अर्थ का सम्भावितत्व प्रदर्शन के लिए श्रुति के अनुकूल तर्कों से श्रुत अर्थ का मनन एवं मनन के द्वारा सम्भावित अर्थ के साक्षात्कार के लिए निदिध्यासन की आवश्यकता है। आत्मतत्त्व का श्रवण, मनन और निदिध्यासन से आत्मतत्त्व का अपरोक्षावभासन होता है। आत्मतत्त्व का अपरोक्षावभास ही मोक्ष है।

ग्रन्थ का परिचय :—

इस ग्रन्थ का नाम "वेदान्तसार" है। यह अद्वैतवेदान्तका ग्रंथ है। अद्वैतवेदान्त का मूलाधार मन्त्र और ब्राह्मणात्मक वेद है। वेद से ही अद्वैत धारा प्रवाहित हुई है। वेद के प्रचार के अनुरूप ही इस सिद्धान्त के प्रसार में न्यूनता और बहुलता रही है। द्वापर के शेष में ज्ञानशक्ति के अवतार महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने वेद का विभाजनकर वेद का पुनः प्रचार किया, ब्रह्मसूत्र इतिहास, पुराण और स्मृति आदि शास्त्रों के द्वारा अद्वैतज्ञानभास्कर का प्रचण्ड प्रताप व्याप्त हुआ। बादरायणसूत्रों के आधार पर ही इस तथ्य का भी उद्धार होता है कि व्यासदेव से पूर्व काशकृत्स्न, औडुलोमि, कार्ष्णाजिनि, आत्रेय, जैमिनि, आश्मरथ्य, बादरि और बादरायण आदि महर्षियों ने वेदान्तदर्शन ग्रन्थों की रचना की थी। इसी वेदान्त का यह सरल बोधगम्य विश्लेषण है।

वेदान्त सूत्र में आये हुए आचार्यों के सिद्धान्तों का सामान्य परिचय।

कार्ष्णाजिनिः—पूर्वमीमांसा एवं उत्तरीमीमांसा दोनों में इनका नाम उल्लिखित है। मीमांसा में कार्ष्णाजिनि के मत को पूर्वपक्ष के रूप में गृहीत किया है, अतः, इस मत का खण्डन भी किया गया है। ब्रह्मसूत्रकार ने अपने अद्वैतसिद्धान्त के समर्थन के प्रसङ्ग में प्रमाणस्वरूप इस मत को उद्धृत किया है। "चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः"। (ब्र० सू० ३।१।९) छान्दोग्य उपनिषद् के प्रथम अध्याय में (५।१०।६) कहा गया है कि जो 'रमणीयचरण' अर्थात् उत्तम कार्यों का अनुष्ठान करते हैं, वे ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि कुलों में जन्मग्रहण करते हैं और जो "कपूयचरण" अर्थात् कुत्सित कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, वे कुत्ता सुअर आदि निकृष्ट योनियों में जन्मग्रहण करते हैं। उपनिषद् में प्रयुक्त चरण शब्द आचरण, आचार, शील या चरित्र को अवगत कराता है। प्रकृत श्रुति का तात्पर्य यह है कि अच्छा या खराब आचरण ही मनुष्य के जन्मान्तर का कारण है। कर्मों के अनुष्ठान से उत्पन्न पापपुण्यों से शुभाशुभ अदृष्ट सञ्चित होते हैं और वे अन्य जन्मों की प्राप्ति के कारण होते हैं। इस आशङ्का के उत्तर में अपने मत के परिपोषण की दृष्टि से आचार्य कार्ष्णाजिनि के मत को उद्धृत किया है। इनके मत में 'चरण' शब्द का अर्थ अनुशय या शुभाशुभ अदृष्ट होता है। किन्तु, चरण शब्द के द्वारा मुख्य रूप में चरित्र आचार या शील अर्थ की अवगति होती है, अतः इस प्रधान अर्थ का परित्याग कर 'अनुशय' अर्थ का ग्रहण क्यों होगा? क्या आचार और चरित्र निष्फल है? इसके उत्तर में कार्ष्णाजिनि ने

कहा है—आचार या चरित्र निष्फल नहीं है। आचारहीन वैदिक यागयज्ञ सर्वथा निष्फल व्यर्थ आडम्बरमात्र है। आचार पूर्वक अनुष्ठित होकर ही वेदोक्त क्रियायें फलप्रद होती हैं। आचार और अनुष्ठान में परस्पर अविच्छेद्य सम्बन्ध है। "आचारहीनं न पुनन्ति वेदा:" यह कहते हुए पक्षान्तर में असदाचार की निन्दा की गई है। अशेष पवित्र वैदिक अनुष्ठान सदाचार-सापेक्ष है। सदाचार अनुष्ठान के अङ्ग के रूप में अनुष्ठान की पूर्णता का साधन करता है। अतः, आचार या चरित्र निष्फल नहीं है। आचार-सापेक्ष अनुष्ठान ही शुभाशुभ फलों का उत्पादन कर जीवन के जन्मान्तर का कारण होता है[1]।

बादरिः—पूर्वोक्त विश्लेषण से यह अवगत होता है कि आचार्य कार्ष्णाजिनि के मत का समर्थन सूत्रकार ने भी किया है। कार्ष्णाजिनि के मत के समर्थन के लिए सूत्रकार ने अन्य वेदान्ताचार्य बादरि के मत की अवतारणा की है। आचार्य बादरि ने भी 'चरण' शब्द का अर्थ शुभ और अशुभ कर्मों को माना है। इस मत में 'चरण' अनुष्ठान और कर्म ये समानार्थक है। ("सुकृत दुष्कृत एवेति बादरिः"। (ब्र० सू० ३।१।११) बादरिस्त्वाचार्यः सुकृत दुष्कृत एव चरणशब्देन प्रत्याय्यते इति मन्यते। चरणमनुष्ठानं कर्मेत्यनर्थान्तरम्। तस्मात् रमणीयचरणाः प्रशस्तकर्माणः कपूयचरणाः निन्दितकर्माण इति निर्णयः। (शां० भा० ३।१।११)

आचार्य बादरि का मत विभिन्न स्थलों पर सूत्रकार ने अपने सिद्धान्त की परिपुष्टि के लिए उद्धृत किया है। चतुर्थाध्याय के तृतीयपाद में भी कहा है कि देवयान से गमन करने वाला व्यक्ति सूर्य और चन्द्रकिरणों की सहायता से सूर्यलोक और चन्द्रलोक अतिक्रमण कर ऊर्ध्वतम दिव्यलोक की यात्रा क्रम में द्युलोक में ब्रह्मलोकस्थ ज्योतिर्मय अमानव पुरुष आकर उसको ब्रह्मलोक ले जाता है। और ब्रह्म की प्राप्ति कराता है। आदित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः। स एनान् ब्रह्म गमयति, एष देवयानः पन्था इति। (छा० ५।१०।२)

प्रकृत श्रुति में ब्रह्मप्राप्ति कही गई है। यह सगुण ब्रह्म की प्राप्ति है या निर्गुण परम ब्रह्म की प्राप्ति कही गई है? आचार्य जैमिनि ने परमब्रह्म की प्राप्ति ही कही है। कारण श्रुति और स्मृति में ब्रह्मज्ञ पुरुषों को अमृतत्व की प्राप्ति की चर्चा अनेक स्थलों में कही गई है। अमृतत्वप्राप्ति परमब्रह्म की प्राप्ति से ही सम्भव है, "परं जैमिनिर्मुख्यत्वात्"। (ब्र० सू० ४।३।१२) 'स्मृतेश्च' (ब्र० सू० ४।३।११) "दर्शनाच्च"। (ब्र० सू० ४।३।१३)

जैमिनिस्त्वाचार्यः स एनान् ब्रह्म गमयति इति मन्यते। कुतः? मुख्यत्वात्। परं हि ब्रह्म ब्रह्मशब्दस्य मुख्यमालम्बनं गौणमपरम्। मुख्यगौणयोश्च मुख्ये सम्प्रत्ययो भवति। (ब्र० सू० शां० भा० ४।३।१२)

---

१. ४।३।१६, ४।३।१८, ६।७।३५–३६ मीमांसासूत्र।

जैमिनि का यह प्रदर्शित सिद्धान्त आचार्य को अभिप्रेत नहीं है, इसीलिए आचार्य ने बादरि के मत का उद्धरण देकर अपने मत को प्रमाणित किया है। इस मत में 'स एनान् ब्रह्म गमयति' (छा० ४।१५।६) इस वचन के अनुसार देवयान के पथिक को सगुण ब्रह्म की प्राप्ति ही कही गई है निर्गुण ब्रह्म की नहीं। सत्यलोकस्थ ब्रह्म प्राप्ति में अप्राप्त की प्राप्ति या गति है। निर्गुण ब्रह्मज्ञानी का किसी भी तरह गमनागमन सम्भव नहीं है। वह आत्मस्वरूप ब्रह्म का प्रत्यक्ष कर ब्रह्म रूप ही हो जाते हैं। उनकी उत्क्रान्ति या गमनागमन निरुक्ति सम्भव नहीं है। पूर्वोक्त श्रुति के अनुसार ब्रह्मवादी के शरीर से जीवात्मा का उत्क्रमण या गमनागमन निषिद्ध है। अतः, देवयानी जीव को ब्रह्मप्राप्ति सगुण ब्रह्म की प्राप्ति ही है। कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः (ब्र० सू० ८।३।२)

सगुण ब्रह्मज्ञानी की इच्छाशक्ति अप्रतिहत हो जाती है और वह अपनी इच्छा के अनुरूप ही योग्य वस्तु का लाभ करता है। ब्रह्मज्ञानी पुरुष के भोगसाधन मन, शरीर और इन्द्रियां रहती हैं या नहीं ? इस प्रसङ्ग में जैमिनि के मत का खण्डन करते हुए आचार्य बादरि के मत का प्रदर्शन सूत्रकार ने किया है। आचार्य बादरि के मत में ब्रह्मज्ञानी पुरुष के शरीर और इन्द्रियाँ नहीं रहती हैं, किन्तु मन रहता है। मन की सहायता से ब्रह्मज्ञानी सङ्कल्प करता है—यही कहा गया है, शरीर और इन्द्रिय का उल्लेख नहीं है। शरीर और इन्द्रिय के रहने पर उनका उल्लेख अवश्य ही उपलब्ध होता। आचार्य बादरि की इस आलोचना के प्रसङ्ग में जैमिनि का कथन है कि मुक्त पुरुष के मन के समान ही शरीर और इन्द्रियों की भी विद्यमानता माननी होगी, क्योंकि, एक हुआ तीन हुआ और बहुत हुआ' इत्यादि श्रुतियों से एक ही पुरुष की अनेक शरीर ग्रहण की चर्चा की गई हैं। अतः इन्द्रिय और शरीर का अस्तित्व मानना ही पड़ेगा। 'अभावं बादरिराह ह्येवम्'। (ब्र० सू० ४।४।१०)। 'भावं जैमिनिर्विकल्पमननात्', (ब्र० सू० ४।४।११) इन विरुद्धमतों का सामञ्जस्य करते हुए बादरायण ने कहा है—मुक्त पुरुषों की अप्रतिहत इच्छा शक्ति होने पर सशरीर और अशरीर दोनों ही रूप सम्भव है। "द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः"। (ब्र० सू० ४।४।१२)

अनन्त भूमा के परिमाण की व्याख्या में आचार्य बादरि के मत को सूत्रकार ने अपने अनुकूल उद्धृत किया है। अतः, अद्वैतवेदान्ती आचार्यों में ही बादरि थे—यह सिद्ध होता है। आचार्य जैमिनि ने भी बादरि के मत का पूर्वमीमांसा में खण्डन किया है[1]।

आचार्य बादरि के मत में वैदिक कार्यों में सभी का अधिकार स्वीकार किया है। मीमांसक के मत में शूद्रादि का वैदिक याग में अधिकार नहीं है, अतः, बादरि का सर्वाधिकारवाद जैमिनि के मत में पूर्वपक्ष हो जाता है।

१, १।१।५, ५।२।१९, ६।२।८, १०।८।१४, ११।१।१४, मी० सू०

आचार्य आश्मरथ्यः—

आश्मरथ्य वेदान्त मत के समर्थक आचार्यों में है । अनिरुप्तेऽभ्युदिते प्राकृतीभ्यो निर्व्वपेदित्याश्मरथ्यस्तण्डुलभूतेष्वपनयात् ६।५।१६ सूत्र में जैमिनि ने आश्मरथ्य के मत का उल्लेख कर आगे के सूत्र में इस मत का खण्डन प्रस्तुत किया है । ब्रह्मसूत्र में दो बार इनके मत का उल्लेख मिलता है । ब्रह्मसूत्र के प्रथमाध्याय के चतुर्थ पाद के वाक्यान्वयाधिकरण में आश्मरथ्य के मत का उल्लेख मिलता है । वाचस्पति मिश्र ने आश्मरथ्य को विशिष्टाद्वैतवादी आचार्य माना है । बृहदारण्यक के सुप्रसिद्ध मैत्रेयी ब्राह्मण में ऋषि याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी प्रियतमा मैत्रेयी को आत्मतत्त्व का उपदेश दिया है । वाक्यान्वयाधिकरण में इसी का विचार किया गया हैं । याज्ञवल्क्य ने जीवात्मा को प्रियतम कहा है या परमात्मा को प्रियतम कहा है । यही विचार का विषय है । सूत्रकार ने अपना सिद्धान्त प्रदर्शित करते हुए आश्मरथ्य के मत का विश्लेषण किया है । "प्रतिज्ञासिद्धे लिङ्गमाश्मरथ्यः" । (१।४।२०) आश्मरथ्य के मत में एक को जानने से सभी को जानने की बात जो वेदान्त में कही गई है इस प्रतिज्ञा को सार्थक करने के लिए जीवात्मा और परमात्मा के भेद को हटाना पड़ेगा । याज्ञवल्क्य ने जीवात्मा और परमात्मा के ऐक्य का निर्देश किया है, यह ऐक्य जीवात्मा को परमात्मा का अंश मान कर आंशिक भाव में ऐक्य कहा गया है । वह्नि का विस्फुलिङ्ग जिस तरह अग्नि से अत्यन्त भिन्न भी नहीं और अत्यन्त अभिन्न भी नहीं है, इसी तरह जीवात्मा परमात्मा का आंशिक है, दोनों चित्स्वरूप है, अतः न तो वे दोनों अत्यन्त भिन्न हैं और न अत्यन्त अभिन्न ही । यथा हि वह्नेर्विकारा व्युच्चरन्तो विस्फुलिङ्गाः न वह्नेरत्यन्तं भिद्यन्ते तद्रूपनिरूपणत्वात, नापि ततोऽत्यन्तमभिन्ना वह्नेरिव परस्परव्यावृत्त्यभावप्रसङ्गात्; तथा जीवात्मनोऽपि ब्रह्मविकारा न वह्नेरत्यन्तं भिद्यन्ते चिद्रूपत्वाभावप्रसङ्गात्, तस्मात् कथञ्चिद् भेदो जीवात्मनामभेदश्च । भा० १।४।२०।

"तस्मात् प्रतिज्ञासिद्धार्थं विज्ञानात्मपरमात्मनोरभेदांशेनोपक्रममित्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते" । शा० भा० १।४।२०।

औडुलोमिः—इस प्रश्न के समाधान में आचार्य औडुलोमि के मत को उद्धृत किया गया है । "उत्क्रमिष्यत एवं भावादित्यौडुलोमिः" । (ब्र. सू. १।४।२१) आचार्य औडुलोमिके मत में जीवात्मा जब तक संसार की आविलता में देहेन्द्रियादि के बन्धन में आबद्ध रहता है, तब तक परमात्मा के साथ उसका भेदज्ञान अवश्यम्भावी है, जब ज्ञानालोक में अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है, तब आत्मा देहेन्द्रियादि के बन्धन से विमुक्त हो जाता है तब आत्मा, देहेन्द्रिय आदि के बन्धन से विमुक्ति के बाद मुक्त आत्मा का परमात्मा के साथ किसी प्रकार का भेद नहीं रहेगा, संसार दशा तक ही भेद है, मुक्ति की ओर उन्मुख आत्मा का परमात्मा के साथ अभेद ही वेदान्त में प्रतिपादित होता है । याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी को अद्वैत का ही उपदेश दिया था । अतः यह सिद्ध होता है कि आचार्य औडुलोमि भेदाभेदवादी आचार्यों में हैं ।

("विज्ञानात्मन एव देहेन्द्रियमनोबुद्धिसङ्घातोपाधिसम्पर्कात्कलुषीभूतस्य ज्ञानध्यानादिसाधनानुष्ठानात् सतसम्पन्नस्य देहादिसङ्घातादुत्क्रमिष्यत: परमात्मैक्योपपत्तेरिदमभेदेनोपक्रमणमित्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते") ब्र. सू. शा. भा. १।४।२०।

औडुलोमि का मत आत्रेय के मत के खण्डन के प्रसङ्ग में सूत्रकार ने उद्धृत किया है।

"स्वामिन: फलश्रुतेरित्यात्रेय:। (ब्र. सू. ३।४।४४) आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिचीयते। (ब्र. सू. ३।४।४५) श्रुतेश्च। (ब्र. सू. ३।४।४६)

इस पाद में शङ्का उत्थापित है कि यागयज्ञादि कर्मों को यजमान स्वयं करेगा या पुरोहित करेगा? इस प्रश्न के उत्तर में कहा है कि यजमान यज्ञ फल का भोग करता है, अत: यजमान को ही करना चाहिये। आत्रेय के इस सिद्धान्त का सूत्रकार ने खण्डन करते हुए अपने मत के परिपोष के रूप में आचार्य औडुलोमि के मत को उद्धृत किया है। यज्ञाङ्ग उपासनादि पुरोहित का ही कर्तव्य है यजमान का नहीं है। इसी प्रकार जैमिनि के मत खण्डन करते हुए आचार्य औडुलोमि के द्वारा उसके खण्डन को उद्धृत किया है।

जैमिनि के मत में मुक्त आत्मा पापलेशशून्य, अनन्तज्ञान, ऐश्वर्य और शक्ति का आलम्बन करता है। किन्तु, आचार्य औडुलोमि का मत इसके विपरीत है। इनके मत में मुक्त आत्मा में कोई गुण या धर्म नहीं रहता है• वह चैतन्य स्वरूप हो जाता है। चैतन्य स्वरूप ही आत्मा है और मुक्त आत्मा का इसी स्वरूप में अवस्थान होता है। बादारायण ने भी औडुलोमि के मत के साथ सामञ्जस्य किया है। आत्मा नित्य, निर्गुण, असङ्ग, चिन्मय और आनन्द धन है। कर्तृत्व भूतपतित्व, गुणाधीशत्व आदि मायिक रूप है यथार्थ नहीं। पारमार्थिक रूप सच्चिदानन्द और व्यावहारिक रूप ईश्वर है, इन दोनों में कोई विरोध नहीं है।

आत्रेय:—आचार्य औडुलोमि के मत के विश्लेषण प्रसङ्ग में यह अवगत हुआ कि आत्रेय का मत वेदान्तसिद्धान्तानुरूप नहीं है। अत:, इनको मीमांसक आचार्य मानना ही श्रेयस्कर है।

काशकृत्स्न:—आचार्य काशकृत्स्न अद्वैत वेदान्ती आचार्य थे। इनके विषय में ऐतिहासिकों ने यह भी प्रतिपादन किया है कि पूर्व मीमाँसा का सङ्कर्षण काण्ड या देवता काण्ड इन्हीं की रचना है। मैत्रेयी ब्राह्मण का सिद्धान्त जीवात्मा और परमात्मा का अभेद स्थापन है। इस सिद्धान्त के समर्थन के लिये सूत्रकार ने काशकृत्स्न के मत को उद्धृत किया है।

आचार्य शङ्कर ने काशकृत्स्न के मत का विवरण देते हुये यह सिद्ध किया है कि परमात्मा ही जीवभाव में अवस्थान करता है–यह काशकृत्स्न का मत है। अत: मैत्रेयी ब्राह्मण का अभेद में तात्पर्य है–यहा सर्वथा समीचीन है। "अस्यैव परमात्मनोऽनेनापि विज्ञानात्मभावेनावस्थानादुपपन्नमिदमभेदनोपक्रमणमिति काशकृत्स्न आचार्यो मन्यते"। शा. भा., १।४।२२)

भर्तृप्रपञ्च

भर्तृप्रपञ्च प्राचीन वेदान्ती हैं। 'तत्वप्रपञ्चभाष्य' का प्रणयन इन्होंने किया था। वृहदारण्यक भाष्य के आरम्भ में आचार्य शङ्कर ने "अल्पग्रन्था वृत्ति" के नाम से निर्देश किया है। भर्तृप्रपञ्च भेदाभेदवादी थे। जीव और संसार ब्रह्म का परिणाम माना है। परमात्मराशि हिरण्य गर्भ है और जगदात्मा है। यह प्रथम परिणाम है। जीव विज्ञानमय, कर्ता, भोक्ता ज्ञाता एवं द्रष्टा है। जीव परमात्मा का अंश है। अपनी प्रज्ञा, कर्म और कर्म फल के अनुसार देह भोग करता है। जगत् भोग का साधन है। यथार्थ ज्ञान के उदय होने पर 'अहं ब्रह्मास्मि' यह बोध होने पर अविद्या की निवृत्ति होती है। आसक्ति और अविद्या दो बन्धन की शृङ्खलाएँ हैं। निष्काम कर्म से आसक्ति क्षय होने से विद्या से अविद्या की निवृत्ति से मुक्ति का अधिकारी होता हैं। ज्ञान-कर्म-समुचय से मुक्ति होती है। सभी तत्त्व ब्रह्म में लय प्राप्त करता है। भर्तृप्रपञ्च के ब्रह्म-परिणामवाद को द्वैताद्वैतवाद कहा जाता है।

आचार्य सुन्दर पाण्डया—

तत्तु समन्वयात् (१।१।४) सूत्र में आत्मा ज्ञाता नहीं हैं ज्ञान स्वरूप है, इसका ज्ञातृत्व मिथ्या है, अहं ब्रह्मास्मि यह ब्रह्म ज्ञान ही सत्य है। इसके प्रामाण्य के लिए आचार्य ने ब्रह्म वेत्ता की गाथा उद्धृत की है, सूत संहिता के टीकाकार माधवाचार्य ने सुन्दरपाण्डया की उक्ति मानी है। आचार्य कथित पद्य को उद्धृत करते हुए माधवाचार्य ने कहा है

तथा च सुन्दरपाण्डयावार्तिकमपि—

देहात्मप्रत्ययो यद्वत् प्रमाणत्वेन कल्पितः।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात् ॥

सूतसंहिता टीका पृ० २७९

आचार्य बोधायन या उपवर्ष

बोधायन ने ब्रह्मसूत्र की विस्तृत वृत्ति ग्रन्थ की रचना की थी। आचार्य रामानुज ने बोधायन के मत का अनुवर्तन कर श्रीभाष्य का प्रणयन किया था। भगवद्-बोधायनकृतां विस्तीर्णां ब्रह्मसूत्रवृत्तिं पूर्वाचार्याः संचिक्षिपुः तन्मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्यवस्थाप्यन्ते।" (श्रीभाष्योपक्रमणिका) इससे अवगत होता है कि यह विशिष्टाद्वैत मत के आचार्य थे और कृतकोटि नामक विस्तृत भाष्य की रचना इन्होंने उभयमीमांसा पर की थी। आचार्य उपवर्ष ने इस भाष्य को संक्षिप्त किया था। यह वृत्तिकार के नाम से परिचित है। कुछ लोगों ने इनको अभिन्न भी माना हैं। वेङ्कटनाथ ने इनको अभिन्न माना है। वृत्तिकारस्य बोधायनस्यैव हि उपवर्ष इति स्यान्नाम। (तत्त्वटीका)

द्रमिडाचार्य—

यह विशिष्टाद्वैतसम्प्रदाय के प्राचीन आचार्य थे। आचार्य रामानुज ने सिद्धित्रय भाष्यकार के रूप में श्रद्धा पूर्वक इनका नाम लिया है। (पृ० ५–६)। प्राप्त विवरण के अनुसार यह छान्दोग्योपनिषद पर विस्तृत भाष्य के रचयिता थे। आचार्य ने छान्दोग्योपनिषद के ३।८–१० मन्त्र में सूर्य के उदयास्त समय निरूपण में पुराण के साथ विरोध उपस्थित होने पर द्रमिडाचार्य का मत उद्धृत किया है। कुछ लोगों ने द्रविडाचार्य से इनको भिन्न माना है। रामानुज ने द्रविडाचार्य से इनको भिन्न माना है।

नवधा पठित तत्त्वमसि आदि श्रुतियों के अर्थ में आचार्यों का मतभेदहोने से विभिन्न दार्शनिक मत :—

इस तत्त्वमसि वाक्य से भी केवल अभेद का ही प्रतिपादन नहीं होता है, अपितु भेद के भी प्रतिपादित होने का अवसर रहता है।–तत् और त्वं दोनों को प्रथमा विभक्ति का प्रयोग मानने पर दोनों में अभिन्न रूप का निर्देश है किन्तु ऐसा भी देखा जाता है कि यथाश्रुत अर्थ में ही विभक्ति का प्रयोग हो ऐसी बात नहीं है। जैसे 'ऋजवः सन्तु पन्थाः' (मार्ग सरल हों) इस स्थल में एकवचनान्त 'पन्थाः' शब्द की विभक्ति को बहुवचन में परिणत करना पड़ता है। 'गायत्रीं छन्दसां माता इसमें गायत्री में द्वितीया विभक्ति रहने पर भी उसको प्रथमा विभक्ति माना जाता है। कारण छन्दोमाता और गायत्री अभिन्न है। प्रकृत में तत् पद में प्रथमा विभक्ति रहने पर भी उसको चतुर्थी विभक्ति मानना पड़ता है, क्योंकि वेद में ब्रह्मणे त्वा महस ॐ इत्यात्मानं युञ्जीत' इस श्रुति में ब्रह्म में चतुर्थी विभक्ति है, अतः उसी के अनुरूप तत्त्वमसि में भी चतुर्थी विभक्ति है। इसलिए अर्थ होता है कि तुम उसके लिए हो अर्थात् जीव परमेश्वर की सेवा के लिए नियुक्त होगा, फलतः अद्वैत अर्थ इस वाक्य से सिद्ध नहीं होता है। इसलिए, मुक्ति से पूर्व देहादि के सम्बन्ध से आतमा को दुःख रहता है। यही भक्ति पक्ष की व्याख्या है। या तत्त्वमसि इसमें प्रथमा विभक्ति पञ्चमी विभक्ति के अर्थ में है, अतः, इसका अर्थ है उससे तुम हो। यह शुद्धाद्वैत मत की व्याख्या है। तत्त्वमसि में तत्पद की प्रथमा विभक्ति षष्ठी के अर्थ में है, उसके तुम हो अर्थात् वह स्वामी है और तुम सेवक हो, जीव ईश्वर का सेवक है। यह माध्व सम्प्रदाय का अर्थ है। तत्त्वमसि में प्रथमा विभक्ति सप्तमी के अर्थ में है उसमें ही तुम हो अर्थात् परमात्मा का आश्रयण कर जीव रहता है। यह द्वैतवाद ही तत्त्वमसि इस वाक्य से अवगत है, आत्यन्तिक अभेद का बोध नहीं है, किन्तु जीव और ब्रह्म देह और देहिभाव रूप अभेद है। परमात्मा जीवात्मा का शरीर है, यह विशिष्टाद्वैत की व्याख्या है। तत्त्वमसि से पूर्व एक अकार है, तुम वह नहीं हो स आत्मा तत्त्वमसि'' यह वेद वाक्य है इसमें आत्मा अतत्त्वमसि यह विग्रह में दीर्घ सन्धि है। जीव भोक्ता है और ईश्वर द्रष्टा है। अतः भ्रान्ति को दूर करने के लिए वेदान्त की व्याख्या करनी चाहिए। साधारण कृषक भी आत्मा

के रूप में ब्रह्म को जानता है। सभी को अहं की प्रतीति होती है—'किसी कोभी'। 'मैं हूँ' इस ज्ञान से अतिरिक्त ''मैं नहीं हूँ, यह ज्ञान नहीं होता है। 'मैं हूँ' इस ज्ञान का विषय आत्मा है, इसमें क्या प्रमाण है? यदि इस ज्ञान का विषय आत्मा न हो तो आत्मा का अस्तित्व प्रसिद्ध न रहने पर 'मैं हूँ' यह अवगत नहीं करता, अहं का आश्रय जीव है यह नहीं जानता तो 'मैं' के रूप में उसका ज्ञान न होता।

यदि आत्मा का अस्तित्व प्रसिद्ध न होता तो मैं हूँ इस रूप में ज्ञान नहीं होता अहं के आश्रय जीवात्मा को नहीं समझता तो 'मैं' के रूप में उसका ज्ञान भी नहीं होता। अहं के रूप में आत्मा को ही जानता है, इससे ब्रह्म कैसे प्रसिद्ध होता है? इसके उत्तर में भाष्यकार ने कहा है—'आत्मा च ब्रह्म'। अहङ्कारास्पद के रूप में प्रसिद्ध आत्मा ही ब्रह्म है, अतः, ब्रह्म का अस्तित्व प्रसिद्ध है। क्योंकि, तत्त्वमसि, इस महावाक्य में तत्पद और त्वं पद का सामानाधिकरण्य ही है, और सामानाधिकरण्य के कारण ही जीवात्मा की ब्रह्म के रूप में अवगति होती है। किन्तु ब्रह्म को प्रसिद्ध मानने पर, प्रसिद्ध वस्तु जिज्ञास्य नहीं होती है, अतः, ब्रह्म की जिज्ञासा नहीं होगी।

ब्रह्म की प्रसिद्धि अर्थात् ज्ञान रहने पर भी सामान्य रूप से ज्ञान होने से विशेष विषय में अनेक प्रकार का विरुद्ध ज्ञान होता है। इसमें साधक-बाधक प्रमाण न होने से ब्रह्म के स्वरूप के विषय में संशय उत्पन्न करा देगा, और संशय होने पर ब्रह्म क्यों नहीं जिज्ञास्य होगा? कोई क्षणिक विज्ञान को आत्मा मानता है और कोई स्थिर भोक्ता को आत्मा कहता है? इस स्थल में आत्मा विधेय है और क्षणिक विज्ञान एवं स्थिर भोक्तृत्वरूप दो वस्तु उद्देश्य धर्मी या विशेष्य हैं। उद्देश्य का भेद होने पर विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती है, फलतः संशय भी नहीं होगा, घड़ा नीला है, कपड़ा पीला है—यह कहने पर विप्रतिपत्ति नहीं होती है। प्रकृत में भी इसी प्रकार विप्रतिपत्ति नहीं होगी। किन्तु प्रकृत में विप्रतिपत्ति होती है, कारण, क्षणिक विज्ञान और स्थिर भोक्तृ पदार्थ ये उद्देश्य नहीं है, ये विधेय हैं एवं आत्मा उद्देश्य है, अतः, एक उद्देश्य और दो विधेय होने से विरुद्ध होने से विप्रतिपत्ति होती है। आत्मा को कोई भी अस्वीकार नहीं करता है, यह सर्वतन्त्र-सिद्धान्त-सिद्ध पदार्थ है। प्रकृत में विरुद्ध दो प्रतिपत्तियाँ अर्थात् दो विधेय का एक ही आश्रय या धर्मी आत्मा है। धर्मी या आश्रयभूत आत्मा वेदान्तशास्त्र में शुद्धत्वादि धर्म को पुरस्कार कर 'तत्त्वमसि' के तत्पद, के द्वारा निर्दिष्ट होता है।

लोक या शास्त्र दृष्टि से त्वं पद जीवस्वरूप में प्रसिद्ध है। इसी आत्मा को आश्रयण कर विरुद्ध ज्ञान में कौन आभास है अर्थात् भ्रमात्मक है और कौन यथार्थ है, किस ज्ञान का विषय कौन धर्म वस्तुतः आत्मा में रहता है और कौन नहीं यह संशय हो सकता है, और संशय होने से ब्रह्म की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। इस प्रकार ब्रह्मविषयक जिज्ञासा के हेतुभूत संशय की सम्भावना प्रदर्शित कर संशय की निवृत्ति के लिए विचार वेदान्त में प्रदर्शित किया है। आत्मरूप धर्मी लोकदृष्टि से त्वं पद वाच्य

रूप में प्रसिद्ध एवं शास्त्र दृष्टि से शुद्ध बुद्धत्व आदि धर्म से विशिष्ट तत्पद वाच्य रूप में प्रसिद्ध है, अत:, इस संशय का दो प्रकार हो सकता है एक त्वं पदार्थ विषयक और दूसरा तत्पदार्थ विषयक। त्वं-पदार्थ-विषयक संशय का प्रदर्शन करते हुए कहा 'चैतन्य विशिष्टोऽयमात्मा इति प्राकृता जना लोकायतिकाश्च प्रतिपन्ना' इत्यादि। इस प्रकार त्वं पदवाच्य जीवात्मा को लक्ष्य कर संसार में इस प्रकार का मतभेद या विप्रतिपत्ति होती है। आत्मा को देह, इन्द्रिय, मन या क्षणिक विज्ञान के रूप में अवगत करने पर तत्पदार्थ के धर्म नित्यत्व आदि के साथ सम्बन्ध नहीं है। कारण, देहादिरूप आत्मा कभी भी नित्य नहीं हो सकता है। शून्य मानने पर सभी प्रकार के नाम और रूप से अतीत स्वरूप होने से उसके साथ तत्पदार्थ का सम्बन्ध ही सम्भव नहीं है। त्वं पदार्थ के साथ तो उसके सम्बन्ध की चर्चा कहाँ है, किन्तु त्वं पदार्थ के स्वरूप निर्णय के लिए ही यह निर्देश किया है। जो आत्मा को कर्त्ता और भोक्ता के स्वरूप में मानते हैं उस मत में कर्तृत्व भोक्तृत्व रूप परिणाम का आश्रय ही आत्मा है, अत: तत्पदार्थ नित्यत्व आदि धर्म के साथ उसका सम्बन्ध कभी भी सम्भव नहीं है। आत्मा को अकर्ता किन्तु भोक्ता मानने पर भी आत्मा परिणामी होगा, कारण, भोक्तृत्व रूप परिणाम होता है। यद्यपि सांख्य मत में भोक्तृत्व रूप परिणामित्व क्रियात्मक नहीं है कारण वह चैतन्य का ही स्वरूप है, अत: आत्मा परिणामी नहीं है, क्योंकि चिद्वनो भोग:" (चैतन्य का ही स्वरूप भोग है) माना है। किन्तु तत्पदप्रतिपाद्य आत्मा का ऐक्य सम्भव नहीं है। कारण सांख्य मत में आत्मा का बहुत्व अर्थात् देहभेद से आत्मा का भेद माना है। एक जातीय बहुत्व मानने पर अद्वैत नहीं हो सकता है। इस प्रकार त्वं पद वाच्य की विप्रतिपत्ति प्रदर्शित की है।

तत्पद वाच्य की विप्रतिपत्ति दिखाते हुए कहा है किसी ने कोई जीव विलक्षण सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान् एक ईश्वर को माना है, इसके द्वारा ईश्वर शरीर से ही भिन्न नहीं वरन् जीव से भी भिन्न है और वह संसार का स्वामी है 'आत्मा स भोक्ता इत्यपरे' इसके द्वारा भी तत्पदवाच्य आत्मा में विप्रतिपत्ति प्रदर्शित की गई है। 'भोक्ता:' का अर्थ अविद्योपाधिक जीवात्मा 'स' पद का अर्थ ही तत्पद का अर्थ अर्थात् ईश्वर रूप आत्मा होता है, फलत: जीवात्मा और ईश्वर का अभेद बोधित होता है। अत:, यह तत्पद वाच्य आत्म विषयक विप्रतिपत्ति ही है। अत: विरुद्ध मत तत्पद वाच्य आत्मा में विद्यमान है।

इस प्रकार संशय होने से ब्रह्ममीमांसा होती है, किन्तु ब्रह्ममीमांसा का प्रयोजन क्या है? अत:, संशय एवं प्रयोजन दोनों के द्वारा शास्त्रारम्भ प्रदर्शन करने के लिए कहा है। इन विप्रतिपत्तियों के हेतु भूतमतों में कौन मत ठीक है, यह विचार किये विना किसी एक का अवलम्बन करने पर नि:श्रेयस की प्राप्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि तत्त्वज्ञान से ही नि:श्रेयस् की प्राप्ति होती है मिथ्या ज्ञान से नहीं। अत:, शास्त्रारम्भ प्रयोजनीय है। इसलिए वेदान्त जिज्ञासा

प्रदर्शन के द्वारा वेदान्त के अविरोधी तर्क की सहायता से निःश्रेयस लाभ के लिए वेदान्त वाक्य का विचार करना चाहिए। फलतः, ब्रह्म प्रसिद्ध होने से ही जिज्ञास्य नहीं हो सकता है—यह बात नहीं है, प्रसिद्ध होने पर भी विशेष विषय में विप्रतिपत्ति होने से वह विचार्य, वह जिज्ञास्य होगा। इस प्रकार के वेदान्तसार में प्रतिपाद्य विषयों का विश्लेषण सार्थक है। व्याख्या के द्वारा आत्मा के विषय के मतभेदों का विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करें।

परिणाम और विवर्त

(अध्यारोप एवं अपवाद मूलक विवेचन)

वेदान्तसार में आचार्य सदानन्द ने परिणाम और विवर्त के रूप में निर्देश न कर विकार और विवर्त शब्दों में भेद प्रदर्शन किया है। सुबोधिनी एवं विद्वन्मनोरञ्जनी में भी परिणाम शब्द न लिखकर, विकार शब्द ही लिखा है। बाद के टीकाकारों ने विकार के स्थान पर परिणाम शब्द का प्रयोग किया है। वस्तुतः परिमलकार अप्पय-दीक्षित ने ही परिणाम और विवर्त शब्द दिया है। "तत्त्वतोऽन्यथाभावः परिणामः, अतत्त्वतोऽन्यथाभावो विवर्तः" (ब्र० सू० १।२।२१) दही के रूप में परिणाम विकार के अपर पर्याय के रूप मे आया है। इस प्रसङ्ग में यह कहना है कि परिणाम विवर्त कीभूमि का है। वेदान्तसार का अध्यारोप और अपवाद मूलक विवरण का आशय भी यही है।

बादरायण सूत्र के प्राचीनटीकाकार उपवर्ष ने ब्रह्म परिणामवाद का अवलम्बन कर इस पर वृत्ति की रचना की थी। एके आत्मनः शरीरे भावात्। (ब्र० सू० ३-३-५३) इस अधिकरण के भाष्य में आचार्य शङ्कर ने चार्वाक मत का प्रत्याख्यान करने के प्रसङ्ग में देहादि से अतिरिक्त आत्मा का समर्थन किया है। अनन्तर भाष्यकार ने कहा है कि जैमिनि सूत्र के प्रथमाध्याय के प्रथम पाद में भाष्यकार शबरस्वामी ने इस ब्रह्मसूत्र के इस अधिकरण का अवलम्बन कर देहातिरिक्त आत्मा की सिद्धि की है। कारण आचार्य जैमिनि ने देहातिरिक्त आत्मा के प्रतिपादक किसी सूत्र को नहीं दिया है। इसी प्रसङ्ग में पुनः आचार्य ने कहा है कि पूर्वोत्तरमीमांसा के वृत्तिकार भगवान् उपवर्ष ने कहा है कि देहातिरिक्त आत्मा का अस्तित्व शारीरक सूत्र के व्याख्यान में प्रतिपादित किया जायगा।

शबरस्वामी के इसी प्रसङ्ग पर भट्टपाद कुमारिल ने कहा है—भाष्यकार शबरस्वामी ने देहातिरिक्त आत्मा के उसी स्वरूप का प्रकाश किया है, जिसकी अवगति से मनुष्य की नास्तिकता नहीं रह सके। किन्तु आत्मा के यथार्थ स्वरूप का उद्घाटन करने का प्रयास वे नहीं करते हैं, वेदान्तशास्त्र का अनुशीलन करने पर आत्मा के निष्कूटस्थ स्वरूप का दृढ़ विज्ञान होगा।

इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदन्त्र युक्त्या।
दृढत्वमेतद्विषयस्तु बोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन ॥

(श्लो० वा० १४८)

इस विवरण से आत्मतत्त्व के जानने के लिए वेदान्तदर्शन की आलोचना का उपदेश भट्टपाद ने भी किया है। इसके आधार पर भट्टपाद को वेदान्त का समर्थक कहा जा सकता है।

भगवान् उपवर्ष ब्रह्म परिणामवादी थे। २।१।१४ सूत्र के भाष्य में आचा शङ्कर ने ब्रह्म परिणामवाद का खण्डन किया है। यह परिणामवाद अतिप्राचीन है और इसका समर्थन भर्तृप्रपञ्च आदि आचार्यों के द्वारा किया गया है। आचार्य शङ्कर के बाद भट्टभास्कर ने परिणामवाद की स्थापना विवर्तवाद का खण्डन कर किया है। भट्टभास्कर ने शङ्कराचार्य पर आक्षेप करते हुए ब्रह्म परिणामवाद में ही सूत्रकार का तात्पर्य है यह सिद्ध करने का प्रयास किया है। "आत्मकृतेः परिणामात् (१।४।२६) "योनिश्च हि गीयते" (१।४।२७) इन दो सूत्रों के अनुसार ही परिणामवाद का समर्थन किया गया है।

छान्दोग्योपनिषद् के वाक्यकार ने भी वृत्तिकार के सम्प्रदायानुसार ब्रह्म परिणामवाद का ही समर्थन किया है। वाक्यकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है जगत् प्रपञ्च भी दुग्ध का दधि के रूप में परिणाम के समान ही ब्रह्म परिणाम है। शाङ्कर सिद्धान्त को प्रच्छन्नबौद्ध या मायावाद माना है। (भट्ट भा० पृ० ८५) अमलानन्द ने कल्पतरु में कहा है—भास्करस्तु इह बभ्राम, योनिरिति परिणामादिति च सूत्रनिर्देशात्, छान्दोग्यवाक्यकारेण ब्रह्मनन्दिना परिणामस्तु स्यादित्यभिधानाच्च परिणामवादो वृद्धसम्मत इति। योनिशब्द और परिणाम शब्द का प्रयोग सूत्र में रहने से भास्कर को भ्रान्ति हुई है। भामतीकार ने भी कहा—इयञ्चोपादानपरिणामादिभाषा न विकाराभिप्रायेण, अपितु यथा सर्पस्योपादानं रज्जुः, एवं ब्रह्म जगदुपादानं द्रष्टव्यम्। नखलु निष्कलस्य ब्रह्मणः सर्वात्मना एकदेशेन वा परिणाम सम्भवति नित्यत्वोदकदेशत्वादित्युक्तम् (भाम० पृ० ४२९) परिणाम शब्द का प्रयोग विकार के अभिप्राय से नहीं है। कार्यवस्तु की अनिर्वचनीयता के समर्थन में ब्रह्मनन्दी का तात्पर्य है, अर्थात् परिणाम अर्थ है मिथ्या परिणाम। ब्रह्मनन्दी के वाक्य को भास्कर ने देखा नहीं है ऐसी बात नहीं है, किन्तु ब्रह्मोपासन के प्रति करुणापरायण होकर ही अर्थ को समझते हुए भी सूत्र का तात्पर्य सगुणब्रह्म में किया है। बृहदारण्यकोपनिषद् में भी भर्तृप्रपञ्च ने जगत् का सत्यत्व प्रतिपादन के लिए ब्रह्म का द्वैताद्वैत रूप प्रतिपादन किया है। सुरेश्वराचार्य ने आचार्य शङ्कर भाष्य में उद्धृत मत को भर्तृप्रपञ्च का मत कहा है। "पूर्णम दः पूर्ण मिदम्" आदि पञ्चमाध्याय के प्रथम ब्राह्मण के प्रारम्भिक मन्त्र की व्याख्या करते हुए भर्तृप्रपञ्च ने कहा है--पूर्ण से पूर्ण कार्य उत्पन्न होता है। कारण के समान कार्य भी परमार्थ पूर्ण सत्य है। फलस्वरूप एक ही ब्रह्म की द्वैताद्वैत भावरूपता सिद्ध होती है। इसके समर्थन में कहा है--एक ही समुद्र जल, तरङ्ग, फेन आदि के रूप में अनेकात्मक है और समुद्र जल के समान फेन आदि भी समुद्र के आत्मभूत हैं, आविर्भाव तिरोभावादि विशिष्ट तरङ्ग आदि समुद्र लोक पृथक् नहीं हैं और ये परमार्थ सत्य हैं।

इसी आधार पर कर्मकाण्ड प्रतिपादक वेदभाग की अप्रमाणता निषिद्ध की है। इस प्रकार ये सब ब्रह्मपरिणामवादी है।

वस्तुत विचार करने पर अद्वैतवाद का विरोधी यह ब्रह्मपरिणामवाद नहीं है। २।१।१३ सूत्र के भाष्य में आचार्य शङ्कर ने प्रपञ्च को परिणाम के रूप में प्रदर्शित कर २।१।१४ सूत्र में प्रपञ्च के परिणामित्व का निषेध कर प्रपञ्च को ब्रह्मविवर्त सिद्ध किया है। उपसंसहार अधिकरण में २।१।२४ सूत्र में एवं २।१।२६ सूत्र में प्रपञ्च को ब्रह्म परिणाम मानने में सम्भावित दोषों का परिहार कर इसको निर्दुष्ट सिद्ध किया है। जगत् को ब्रह्म का परिणाम की ? सगुण ब्रह्म की उपासना को दृष्टि में रखकर आवश्यक समझा है। संक्षेपशारीरककार ने कहा है—आरम्भवाद, सङ्घातवाद परिणामवाद और विवर्तवाद—ये चार वाद हैं, इनमें किसी एक का अवलम्बन कर वादियों ने अपना आशय व्यक्त किया है। आरम्भवाद और सङ्घातवाद का परित्याग कर परिणामवाद और विवर्तवाद को सूत्रकार ने परिगृहीत किया है। निष्प्रपञ्च ब्रह्म के प्रतिपादन के लिए अन्य उपाय न होने के कारण प्रथमतः अनेक रूप में परिणत प्रपञ्च के परिणामी उपादान के रूप में ब्रह्म का निर्देश किया। केवल ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति में आरम्भवाद और सङ्घातवाद की सम्भावना नहीं है, आरम्भक और संहत केवल नहीं हो सकता है। अनेक कारणों की अपेक्षा इसमें अपरिहार्य है। साथ ही ब्रह्म से उत्पत्ति कहकर उसी समय प्रपञ्च का मिथ्यात्व और विवर्तवाद सम्भव नहीं है। अतः, श्रुति के द्वारा सप्रपञ्च ब्रह्म निरूपित होने के बाद ब्रह्म के निष्प्रपञ्च स्वभाव की प्रतिपादक श्रुतियाँ 'नेतिनेत्यात्मा, एकमेवाद्वितीयम्, नेह नानास्ति किञ्चन, नात्र काचन भिदास्ति, आदि श्रुतियाँ प्रपञ्च की ब्रह्म रूप उपादानता का निषेध कर निष्प्रपञ्च ब्रह्म का निरूपण करती हैं। यही ब्रह्मसिद्धि में भी कहा है—"भेदप्रपञ्चविलयद्वारेण च निरूपणम्"", (ब्र० सि० ब्र० का० २ श्लो०) अपने उपादान में प्रसक्त प्रपञ्च का सर्वदा अभाव प्रतिपादन कर श्रुति प्रपञ्च का मिथ्यात्व ही सिद्ध करती है।

यही कारण है कि वेदान्तसार में भी अध्यारोप और अपवाद के रूप में ही ब्रह्म का निरूपण किया है। पूर्वाचार्य की उक्ति भी प्रसिद्ध है—

अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्चयते।
नान्यत्र कारणात् कार्यं न चेत् तत्र क्व तद्भवेत्॥

अतः परिणामवाद के बाद ही विवर्तवाद कहा जा सकता है। यह सिद्ध होता है कि परिणामवाद विवर्तवाद की पूर्व भूमि है। अधिकारी की परिणामवाद में व्यवस्थिति के बाद विवर्तवाद स्वभावतः आ जाता है।

विवर्तवादस्य हि पूर्वभूमिर्वेदान्तवादे परिणामवादः।
व्यवस्थितेऽस्मिन् परिणामवादे स्वयं समायाति विवर्तवादः॥

(संक्षे० २।६९)

प्रपञ्चवासित बुद्धिवालों के सम्मुख ही ब्रह्मपरिणामवाद को कह कर संसार से विरक्ति की स्थिति में ब्रह्मविवर्त स्थिर होता है। परिणाम श्रवण पूर्वक जिसकी बुद्धि स्थिर है वह परिणाम या विवर्त कुछ भी नहीं समझता है। एकमात्र शुद्ध परम पद को अवगत करता है।--

कृपणधीः परिणाममुदीक्षते क्षपितकल्मषधीस्तु विवर्त्ततंताम्।
स्थिरमतिः पुरुषः पुनरीक्षते व्यपगतद्विवतयं परमं पदम्॥
(संक्षे० २।८९)

उपसंहार में संक्षेप शारीरक में कहा है--

उपायमातिष्ठति पूर्वमुच्चैरुपेयमाप्तुं जनता यथैव।
श्रुतिर्मुनीन्द्रश्च विवर्त्तसिद्धौ विकारवादं वदतस्तथैव॥ २।६२।

अतः, ब्रह्म परिणामवाद के समर्थक द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि विवर्त्तवाद के समीपस्थ है।

अध्यास

अध्यास शब्द अधि उपसर्ग असु धातु से घञ् प्रत्यय कर निष्पन्न है। अध्यारोप, मिथ्याभूत ज्ञान, भ्रम, आदि इसके पर्याय है। अद्वैतवेदान्त अध्यास की सिद्धि पर निर्भर करता है। वेदान्त दर्शन की अध्यापन परम्परा में पाँच ख्यातियाँ प्रसिद्ध हैं। आत्मख्याति, असत्ख्याति, अख्याति, अन्यथाख्याति, और अनिर्वचनीयख्याति।

आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिरन्यथा ।
तथाऽनिर्वचनख्यातिरित्येतत् ख्यातिपञ्चकम्॥

किन्तु विचार करने पर अतिरिक्त ख्यातियाँ भी दृष्टिगोचर होती है। जैसे सत्ख्याति। रामनुजाचार्य की दार्शनिक परम्परा सत्ख्याति की ही समर्थक है। भोजराज ने तत्त्वप्रकाशिका में अलौकिक ख्याति के रूप में एक ख्याति का निर्देश किया है। विज्ञान भिक्षु ने सदसत्ख्याति के रूप में एक ख्याति का निर्देश किया है। वैज्ञानिक दृष्टि से विभाग करने पर सत्ख्याति, असत्ख्याति, सदसत्ख्याति और अनिर्वचनीयख्याति। सत्ख्याति का अन्यथाख्याति, अख्याति, आत्मख्याति रामानुजाचार्य सम्मत सत्ख्याति और अलौकिकख्याति के रूप में विभाग किया जा सकता है। भ्रम में भासमान वस्तु अन्य स्थान में सत् है, जैसे अन्यथाख्याति और असत्ख्याति। किसी मत में जहाँ अध्यस्त वस्तु भासमान होता है वही अध्यस्त वस्तु सत् (तत्रैव सत्) यही रामानुज की सत्ख्याति है। शुक्ति में रजत की प्रतीति दशा में पञ्चीकरण प्रक्रिया के अनुसार शुक्ति में ही रजतांश है, केवल दोष के कारण शुक्ति में जो अरजतांश है, उसका ग्रहण न होकर शुक्तिगत रजतांश मात्र गृहीत होता है। अतः, रामानुज मत में भ्रम में भासमान वस्तु 'तत्रैव सत्' और आत्मख्यातिवाद में भ्रम में भासमान वस्तु 'विज्ञाने सत्'। इसी प्रकार अलौकिकख्याति के मत में ज्ञान में भासमान वस्तु अलौकिक होने पर भी सद्वस्तु है। अतः, सत्ख्यातिवादियों का प्रदर्शित

भेद अवान्तर भेद है। अनिर्वचनीयख्याति की दृष्टि से इन ख्यातियों का खण्डन करना पड़ेगा। माध्यमिक और माधव मत में भ्रम में भासमान वस्तु अत्यन्त असत् है (असत्ख्याति) सत्ख्याति और असत्ख्याति का खण्डन करने पर सदसद् विलक्षण अर्थात् अनिर्वचनीयख्याति में पर्यवसान होता हैं। विज्ञान भिक्षु की सदसत्ख्याति तो सम्भव नहीं है। तात्पर्यपरिशुद्धि में उदयन ने कहा है—सत् और असदात्म के रूप में वस्तु की प्रतीति प्रवृत्ति के उपयोगी नहीं है, अतः सदसत्ख्याति मानने पर किसी भी स्थल में भ्रान्त पुरुष की प्रवृत्ति नहीं होगी। इसलिये सत्ख्याति और असत्ख्याति का निराकरण करने पर अनिर्वचनीयख्याति में पर्यवसान होता है। "स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः" इस अनिर्वचनीयख्याति के लक्षण के व्याख्यान में कल्पतरुकार ने कहा है—

अथवाऽसन्निधानेन सत्ख्यातिरिह वारिता।
अवभासादसत्ख्यातिः नृशृङ्गे तददर्शनात्॥ (कल्पतरु पृ. १९)

अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार अनिर्वचनीयख्याति ही मानी गई है आरोप में आरोप्य और आरोप विषय ये दो वस्तुएँ रहती हैं। शुक्ति में रजत का आरोप में शुक्ति आरोप का विषय और रजत आरोप्य हैं। इन दोनों को सत् मानने पर अद्वैतवाद नहीं हो सकता है। इस ख्याति में आरोप का विषय ही सत्य है। आरोप्य वस्तु सदसद् विलक्षण होने से मिथ्या है। अन्य वस्तु के मिथ्या एवं एक वस्तु के ही सत्य सिद्ध होने पर अद्वैतवाद होगा द्वैतवाद नहीं होगा। आरोप विषय की सत्यता तो अपरिहार्य है, क्योंकि आरोप विषय ही अधिष्ठान है और अधिष्ठान की सत्यता तो अपेक्षित ही है, निरधिष्ठान भ्रम नहीं हो सकता है! शून्यवादी माध्यमिक निरधिष्ठान भ्रम मानते है। किन्तु माध्व मत में असत्ख्याति स्वीकार करने पर भी उनके मत में सदधिष्ठान असत्ख्याति मानी गयी है। इसलिये आरोप्य विषय मिथ्या होने से अद्वैत सिद्धान्त में अद्वैत सिद्धि के अनुकूल अनिर्वचनीख्याति स्वीकार की गई है। सर्व शून्यवादी माध्यमिक के मत में जगत् की शून्यता में पर्यवसान होने के लिए आरोप्य और अरोप विषय दोनों को ही असत् माना है। इसको निरधिष्ठान भ्रम कहा है।

यह अद्वैत सिद्धि के प्रतिकूल होने से इसका असत्ख्यातिवाद विशेष में खण्डन किया है। मध्व मत में आरोप्य वस्तु की अत्यन्त सत्ता मान कर सदधिष्ठान असत् ख्याति माना है। यद्यपि इस मत में अद्वैत सिद्धि का व्याघात नहीं होता है, तथापि असत् आरोप्य वस्तु का प्रत्यक्ष असम्भावित होने से यह पक्ष अनुभव विरुद्ध है। माध्वमत एवं असत्ख्यातिवादी बौद्धमत में असत् वस्तु को प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय स्वीकार किया गया है। इन मतों में असद् वस्तु को प्रत्यक्ष ज्ञान का विषयत्व स्वीकृत है। किन्तु यह दुर्युक्तिपूर्ण है शशविषाण और वन्ध्यापुत्र आदि अत्यन्त असत् वस्तु है, अतः वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता है। प्रत्यक्ष में प्रत्यक्ष का जनक विषय ही होता हैं। विषय-जन्य-ज्ञान ही प्रत्यक्ष है अलीक को ज्ञान-जनक मानने पर वह अलीक ही नहीं रहेगा। सर्व सामर्थ्य शून्य वस्तु ही अलीक होती है। अतः, अत्य-

न्तासत्ख्याति सर्वथा दुर्युक्ति पूर्ण है, (रजत भ्रम में रजत का प्रत्यक्ष सभी को होता है। अतः, माध्वसम्मत असत्ख्याति भी भ्रम में नहीं मानी गई है। ब्रह्मसिद्धि में प्रभाकर मत के खण्डन में आपात दृष्टि से अन्यथाख्याति समर्थित किया है। प्रभाकर ने भ्रमज्ञान नहीं माना है। प्रवृत्ति और व्यवहार आदि का अन्यधर्मावभास मानना ही पड़ेगा। अन्य की अन्यधर्मावभासता स्वीकार करने से अनिर्वचनीयख्याति अनिवार्य रूप में आती है। भ्रम ज्ञान मानने पर अनिर्वचनीयख्याति अपरिहार्य्य है। आचार्य शङ्कर ने कहा है—"सर्वथापि तु अन्यस्य अन्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति" इस भाष्य के विवरण में भामती ने कहा है—"अन्यस्य अन्यधर्मावभासता अनृतता, सा च अनिर्वचनीयता सर्वतन्त्रसिद्धान्तः"। अत एव सभी ख्यातियों को अनिर्वचनीय ख्याति में अद्वैतवादियों ने पर्यवसित किया है इसीलिये भाष्यकार ने कहा है—"अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिरित्यवोचाम"।

अध्यास का संक्षिप्त लक्षण अवभास है। अवभास शब्द का अर्थ अवसन्न या अवमत ज्ञान होता है। ज्ञान का अवमान या अवभास दूसरे ज्ञान से बाध होता है, अन्य अर्थसे बाधित होने वाला ज्ञान ही अवभास या अध्यास है। समीचीन ज्ञान का अन्य ज्ञान से बाध नहीं होता है। "स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः" यह अध्यास का विस्तृत स्वरूप है।

भामती के अनुसार अर्थ:—

स्मृतिरूप=स्मृति के रूप के समान है रूप जिसका असन्निहित विषयकत्व स्मृति रूप का अर्थ होता है। 'परत्र' शब्द का अर्थ परमार्थ सत् रूप अधिष्ठान होता है, ब्रह्म से भिन्न किसी की भी परमार्थिक सत्ता नहीं मानी गई है। दृश्यवस्तु ब्रह्म में कल्पित है। रस्सी में सर्प के भ्रमस्थल में रस्सी को सर्प का अधिष्ठान कहा जाता है, किन्तु, रस्सीगत इदन्तांशावच्छिन्न चैतन्य ही वस्तुतः अधिष्ठान है। 'पूर्वदृष्टावभास' में 'अवभास' शब्द का अर्थ स्फुटतर ज्ञान है। पूर्वदृष्ट' शब्द का अर्थ पूर्व में दृष्ट होता है, पूर्व की पारमार्थिक सत्ता अर्थ नहीं है, इसीलिए, आचार्य ने दृष्ट शब्द का प्रयोग किया है। अध्यस्त रजत, सर्प आदि की दृष्टमात्रता अपेक्षित है, पारमार्थिक सत्ता नहीं भ्रम में भासमान रजतादिकी इदं वस्तु में स्थिति न होने पर भी देशान्तर में है यह प्रतीत होता है, किन्तु, आरोप्य वस्तु देशान्तर में नहीं वरन् यहीं पर अनिर्वचनीय रजत के रूप में उत्पन्न होता है। भ्रम में भासमान रजत को सत् मानने मात्र से रजत असन्निहित विषय नहीं होता है और भ्रममें भासमान रजत को असत् मानने पर इसका अवभास ही नहीं होता। सत् और असत् विरुद्ध होने से भासमान रजत सदसदात्मक नहीं हो सकता, अतः, भ्रम में भासमान वस्तु न सत् न असत् और न सदसत् है, इसीलिये आरोप्य वस्तु को अनिर्वचनीय माना है। इसीलिए अद्वैतवेदान्ती अनिर्वचनीयख्यातिवादी है। रजत और रजतज्ञान दोनों ही अध्यास हैं। प्रकृत लक्षण में ज्ञान को ही अध्यास कहा गया है। किन्तु, ज्ञान का अध्यास रहने पर विषय का

अध्यास तो निश्चित ही रहेगा। विषय में इस लक्षण का समन्वय करने पर स्मर्यमाणरूप: परत्र पूर्वदृष्टावभास:, यह लक्षण मानना होगा। परोक्ष एवं अपरोक्ष दोनों प्रकार का अध्यास होता है। भाष्यवार्तिककार नारायण सरस्वती ने इसकी व्याख्या की है। वेदान्तपरिभाषाकार ने परोक्ष भ्रम को अन्यथा ख्याति माना है। यह रजत है और रजत यह है—इन दोनो अनुभूतियों को दृष्टि में रखकर अन्योऽन्याध्यास माना गया है। नैयायिकों ने ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष से ही शुक्ति में रजत भ्रम के समय में बाजार में स्थित रजत के मेरी आँख का सम्बन्ध करता है। आशय यह है कि चन्दन के प्रत्यक्ष के समय चक्षु के द्वारा चन्दन का प्रत्यक्ष होता है एवं घ्राणेन्द्रिय से सौरभ का प्रत्यक्ष होता है। अन्य समय में चन्दन के प्रत्यक्ष के समय चक्षु के द्वारा ही ज्ञान लक्षण सन्निकर्ष से सौरभ का भी प्रत्यक्ष होता है।

वेदान्त में यह नहीं माना है, कारण, ज्ञान को सन्निकर्ष मानने पर पर्वत में वह्नि की अनुमिति न होकर प्रत्यक्ष ही होगा, प्रकृतस्थल में सौरभ का प्रत्यक्ष भ्रम ही है, या सौरभज्ञान को प्रकृत में अनुमान कहा जा सकता है। प्रत्यक्ष भ्रम में रजत विशेष्य एवं इदं विशेषण और रजत विशेषण और इदं विशेष्य ये अनुभव सिद्ध दोनों भ्रम ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष से सम्भव नहीं है। अत:, अन्यथाख्याति सङ्गत न होकर अनिर्वचनीयख्याति ही सङ्गत है।

विवरणकार के मत में अध्यास दो प्रकार का है १—ज्ञानविशिष्ट अर्थ का अध्यास। २—अर्थ विशिष्ट ज्ञान का अध्यास प्रथमपक्ष में स्मर्यमाणसदृश अन्यवस्तु अन्यरूप में अवभास्यमान होने पर अध्यास होता है। स्मर्यमाण रूप पूर्वदृष्ट का अवभास्यमान वस्तु ही अध्यास है। ज्ञानाध्यास का विवरण भामती के अनुरूप है।

अध्यास का कारण, संस्कार, सम्प्रयोग एवं दोष है। 'स्मृतिरूप' पद के द्वारा संस्कारजन्यत्व प्रदर्शित होता है। 'परत्र' पद के द्वारा सम्प्रयोग—अधिष्ठान का प्रकाश, और पूर्वदृष्टावभास से दोषजन्यत्व, कहा जाता है। इन तीनों से अध्यास को मिथ्याज्ञान या अनिर्वचनीयख्याति ही कहा गया है। दोष तीन प्रकार के हैं—प्रमाणदोष, प्रमेयदोष, प्रमातृदोष। प्रमाणदोष काचकामलादि है, प्रमेयदोष—सादृश्यदूरत्व आदि है, प्रमाता का दोष-राग, द्वेष आदि है। भ्रम पांच प्रकार का है—जीव और ईश्वर का भेदज्ञान, आत्मा का शरीर सम्बन्ध विशिष्ट ज्ञान, कर्म और फल के साथ आत्मा युक्त है यह ज्ञान, आत्मा का कर्तृत्व वास्तव है—यह ज्ञान। इस भ्रम की निवृत्ति के लिए घटाकाशादि एवं जल में सूर्यादिका प्रतिबिम्ब कहा है। ब्रह्म का विकारित्वज्ञान। इनकी निवृत्ति के लिए कटककुण्डल आदि उदाहरण है।

एक वस्तु में अन्य वस्तु के भ्रम का नाम अध्यास होने से जिसमें भ्रम होता है. वह अधिष्ठान है और जिसका भ्रम उसको आरोप या आरोप्य कहा जाता है। रस्सी में सांप के भ्रम में रस्सी से अवच्छिन्न चैतन्य अधिष्ठान है एवं सांप आरोप या आरोप्य है। यह अध्यास आदि और अनादि के भेद से दो प्रकार का है। रस्सी में

सांप का भ्रम सादि है और ब्रह्म में अज्ञान या उसके धर्म जगत्प्रपञ्चभ्रम अनादि है। अनादि भ्रम दो प्रकार का है—स्वरूप से अनादि, प्रवाहरूप से अनादि। जो जन्य नहीं रहता है वह स्वरूपत: अनादि है। जैसे ब्रह्म या अविद्या। जन्यवस्तु में प्रवाहरूप से अनादित्व हैं। जैसे-जगत्प्रपञ्च। अद्वैतवेदान्त में छ अनादि है—जीव, ईश, विशुद्ध-चैतन्य, जीव और ईश्वर का भेद, अविद्या, अविद्या और चैतन्य का सम्बन्ध। स्वरूपाध्यास या तादात्म्याध्यास, संसर्गाध्यास और आहार्य्याध्यास के भेद से भी अध्यास तीन प्रकार का है। यह, मैं, मैं मनुष्य आदि तादात्म्याध्यास है। मेरा शरीर आदि संसर्गाध्यास है। शास्त्रीयविधि के द्वारा अध्यारोप उद्भावित होकर इच्छा प्रयुक्त साधित होने पर—आहार्य्याध्यास कहा जाता है शालग्राम में शिलाबुद्धि। अध्यास का पुन: तीन भेद माना है—धर्म का अध्यास धर्मी का अध्यास, संस्कार का अध्यास। मैं मोटा हूँ, मैं दुबला हूँ, इत्यादिज्ञान धर्माध्यास है। इस अध्यास में स्थूलत्व और कृशत्व धर्म आत्मा में अध्यस्त हैं। इसी प्रकार जवापुष्प के सन्निहित स्फटिक में लाल रङ्ग का भान, इस स्थल में जवा का लौहित्य धर्म स्फटिक में अध्यस्त है। धर्मी का अध्यास—शुक्ति का रजत, रस्सी का सांप, अन्त:करण का साक्षि चैतन्य में अध्यास कर "अहं ज्ञान"। सम्बन्धाध्यास धर्मी के अध्यास के समय ही होता है। 'मेरा शरीर' इस स्थल में सम्बन्ध का अध्यास है। अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यास के भेद से अध्यास दो प्रकार का है। अर्थाध्यास भी दो प्रकार का है—प्रातीतिक और व्यावहारिक। आगन्तुक दोष से जन्य शुक्ति रजत आदि प्रातीतिक अध्यास है और आकाशादि घटान्त संसार व्यावहारिक अध्यास है। अर्थाध्यास को छ प्रकार का कहा जा सकता है।

१. केवल सम्बन्धाध्यास—अनात्मा में आत्मा का अध्यास होने पर अनात्मा आत्मा के तादात्म्य सम्बन्ध का अध्यास होता है, आत्मा का स्वरूप अध्यस्त नहीं होता है।

२. सम्बन्ध के साथ सम्बन्धी का अध्यास—आत्मा में देहादि अनात्मा के सम्बन्ध और स्वरूप दोनों ही अध्यस्त होते हैं, इसी को सम्बन्ध के साथ सम्बन्धी का अध्यास कहा जाता है।

३. केवल धर्मी का अध्यास—आत्मा में स्थूल देह के धर्म श्यामत्व, गौरत्व आदि एवं इन्द्रिय के धर्म, श्रवण, दर्शन को केवल धर्मी का अध्यास कहा जाता है, इसमें स्वरूपाध्यास नहीं होता है।

४. धर्म के साथ धर्मी का अध्यास—अन्त:करण के धर्म कर्तृत्व आदि और स्वरूप दोनों आत्मा में अध्यस्त है। ऐसी स्थिति पर धर्म के साथ धर्मी का अध्यास माना गया है।

५. अन्योऽन्याध्यास—तपे हुए लोहे के समान आत्मा में अनात्मा एवं अनात्मा में आत्मा के अध्यास को अन्योऽन्याध्यास कहा है।

६. अन्यतराध्यास--अनात्मा में आत्मा का स्वरूप अध्यस्त नहीं होता है, किन्तु आत्मा में अनात्मा का स्वरूप अध्यस्त होता है, दो में एक का अध्यास होने से अन्यतराध्यास है।

ज्ञानाध्यास--जिस वस्तु में जो नहीं है उस वस्तु में उसका ज्ञान होना। जैसे--शुक्ति में रजत जब अध्यास का विषय होता है तब उसको अर्थाध्यास और शुक्ति में रजत का ज्ञान अध्यस्त विषयक ज्ञान होने से ज्ञानाध्यास कहा जाता है। आत्मा में अनात्म ज्ञान ज्ञानाध्यास है।

भ्रम का ही दूसरा नाम अज्ञान या अविद्या है इसी को मूलाज्ञान या मूलाविद्या, तूलाज्ञान या तूलविद्या कहा जाता है। ये ही व्यवहार के साधन है।

यह सत्य है कि अद्वैत वेदान्त में अध्यास या भ्रान्ति का आधार सत्य है किन्तु इसमें इसका आरोप किया जाता है, यह मिथ्या है, किन्तु आरोप वस्तु वन्ध्यापुत्र के समान असत् या अलीक नहीं है। असत् मानने पर सर्प की और रजत की प्रतीति नहीं हो सकती है। इसीलिए आरोप्य या आरोपतत्त्व अनिर्वचनीय है।

वेदान्तसार के अध्ययन से यह प्रमाणित है कि जगत् मिथ्या एवं ब्रह्म सत्य है और ब्रह्म में जगत् की भ्रान्ति है। आकाश में रूप न रहने पर आकाश में नीलिमा का भ्रम होता है वैसे ही जगत् की वास्तविक सत्यता न रहने पर ब्रह्म में जगत् का भ्रम है।

वेदान्तसार में प्रमेय का अतिशय सरल विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। व्याख्या के व्याज से मैंने इन्हें सुस्पष्ट करने का प्रयास भी किया है। प्रमाण अंश का विश्लेषण नहीं है। भूमिका में इसका विश्लेषण के साथ अवच्छेदवाद, प्रतिबिम्बवाद आभासवाद के विवरण प्रस्तुत करने की इच्छा थी किन्तु, भूमिका का कलेवर, अपेक्षित श्रुतियों, अध्यारोप और अपवाद एवं अद्वैतवेदान्त के मूलाधार अध्यास के सामान्य विश्लेषण में बृहत् हो गया है। अतः, अवसर की प्रतीक्षा में यही कहकर विरत हो रहा हूँ। यह भूमिका जिज्ञासा की उत्थापना में समर्थ रही तो मैं अपना श्रम सर्वथा सफल मानूँगा।

सदानन्द योगीन्द्रः—

ईशा के सोलहवें शतक के प्रारम्भ में अद्वयानन्द सरस्वती के शिष्य श्री सदानन्द योगीन्द्र ने अपने आविर्भाव से भारत को अलंकृत किया। अद्वैतसिद्धान्त के प्रतिपादक महान ग्रन्थों का प्रणयन महामनीषी शास्त्रव्यसनी आचार्यों की प्रतिभा से सम्पन्न किये जा चुके थे। प्रबुद्ध अधिकारियों की ऊहापोह कुशल मति के द्वारा उसके विषयों की अवगति सम्भव थी किन्तु सुकुमारमति एवं अल्पकाल में विशिष्ट ज्ञान सम्पादक ग्रन्थों का अभाव था। योगीन्द्र ने शास्त्रों के निगूढ़ तत्त्वों को सरलतम रूप में प्रतिपादन की आवश्यकता का अनुभव किया और 'वेदान्तसार' की रचना की। यह सरल था प्रतिपादन की दृष्टि से किन्तु विषय का सहज-गाम्भीर्य इसमें अनुस्यूत था।

अतः इसकी अनेक टीकायें परवर्ती विशिष्ट आचार्यों ने की और इसकी दुरूहता पुनः सुरक्षित हो गई। काल:—आचार्य के स्थान एवं जन्मवंश के परिचय में यही कहा जा सकता है कि योगीन्द्र जी भारतीय हैं और इनके विद्या गुरु अद्वयानन्द सरस्वती हैं और कार्यक्षेत्र आपका काशी था।

वेदान्तसार के प्रसिद्ध टीकाकार नृसिंह सरस्वती ने सोलहवें शतक के उत्तरार्द्ध में सुबोधिनी टीका का प्रणयन किया है। इस टीका की समाप्ति में सरस्वती जी ने लिखा है—

जाते पञ्चशताधिके दशशते संवत्सराणां पुनः
सञ्जाते दशवत्सरे प्रभुवरश्रीशालिवाहे शके।
प्राप्ते दुर्म्मुखवत्सरे शुभशुचौ मासेऽनुमत्यान्तिथौ
प्राप्ते भार्गववासरे नरहरिटीकाञ्चकारोज्ज्वलाम् ॥

इस पद्य से 'सुबोधिनी' टीका का प्रणयन काल १५१८ शकाब्द सुनिश्चित है। सोलहवें शकाब्द का प्रारम्भ काल १६वीं शताब्दी का अन्तभाग अर्थात् १५८८ ई० शतक होता है। वेदान्तसार के अन्य टीकाकार मीमांसक आपोदेव ने सतरहवें शतक में इसको बोधगम्य करने के लिए 'बालबोधिनी' नाम की टीका की।

कृष्णतीर्थ एवं जगन्नाथ आश्रम के शिष्य नृसिंहाश्रम के सतीर्थ्य रामतीर्थ ने 'विद्वन्मनोरञ्जनी' नाम की टीका की। इनका समय भी सतरह शतक है। क्योंकि 'अद्वैतसिद्धि' के मङ्गलाचरण "श्रीरामविश्वेश्वरमाधवानाम्" में 'राम' शब्द से रामतीर्थ जी को ही विद्यागुरु के रूप में आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने नमस्कार किया है। कतिपय आचार्यों ने सरस्वती जी के परमगुरु के रूप में इनको नहीं माना है किन्तु श्रीरामसरस्वती नामक किसी अन्य विशिष्ट विद्वान् की उपलब्धि उस शतक में न होने से परमगुरु के रूप में इनको न रखने में कोई समीचीन आधार नहीं है। इन मनीषियों की टीका ही इस ग्रन्थ के महत्त्व का ख्यापन कर रही है।

इन टीकाओं के प्रणेतृवर्ग सोलहवे शतक के अन्तिम भाग से सतरहवें शतक के मध्यभाग के आगे के नहीं है, अतः सदानन्द योगीन्द्र के काल की आगे की सोलह शतक के प्रारम्भ से आगे नहीं हो सकती है।

पूर्व सीमा की ओर दृष्टि देने पर इनको विद्यारण्य का परवर्ती मानना होगा कारण, 'वेदान्तसार' में पञ्चदशी का वाक्य उद्धृत है और विद्यारण्य चौदहवीं शती के हैं। अतः चौदहवी शती के बाद का समय होना चाहिए। प्रो० ए० बी० कीथ, पी० सी० दीवान ने इस ग्रन्थ की रचना का समय १५०० से पूर्व माना है। श्री सत्यनारायण श्रीवास्तव्य ने इनको पन्द्रहवीं शताब्दी का माना है। महामहोपाध्य डा० गोपीनाथ कविराज ने इसकी रचना का समय १६वें शतक का प्रारम्भ ही माना है। सोलहवें शतक के प्रारम्भ में इसकी रचना मानने में यह भी कारण है कि अप्पयदीक्षित ने 'सिद्धान्त-

लेशसंग्रह' में इनका या इनके मत का उल्लेख नहीं किया है। जब कि पन्द्रहवीं शताब्दी के आनन्दगिरि जी के ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है।

सोलह शतक के प्रारम्भ में इसका प्रणयन मानने का अन्य कारण यह भी है कि सदानन्द योगीन्द्र ने 'शङ्कर विजय' नाम के ग्रन्थ की भी रचना की है।[1] इस रचना के आधार पर भी यह पन्द्रह शतक के नहीं माने जा सकते हैं।

अप्पयदीक्षितविरचित 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' में आनन्दगिरिकृत 'शङ्करविजय' की चर्चा है किन्तु सदानन्दरचित 'शङ्करविजय' की चर्चा नहीं है, अतः इनका समय सोलह शतक का प्रारम्भ ही मानना उचित है।

राजेन्द्रनाथ घोष एवं प्रज्ञानन्द ने भी इसी मत का समर्थन किया है।[2]

सदानन्द और सदानन्द योगीन्द्रः—

भारत में अनेक व्यक्ति सदानन्द नाम से प्रसिद्ध हैं और जिनके रचित ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। सदानन्द या सदानन्द योगीन्द्र ने १—वेदान्तसार और २—शङ्करविजय, इन दो ग्रन्थों का प्रणयन किया है।

वेदान्तसार की पुष्पिका में 'सदानन्द' नाम ही लिखा गया है, किन्तु, उनके प्रशिष्य नृसिंह सरस्वती ने 'सदानन्दयोगीन्द्र' नाम से इनको अभिहित किया है। अतः ये दोनों एक ही व्यक्ति हैं।

इस ग्रन्थ के महत्त्व के विषय में अधिक कहने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हो रही है, क्योंकि विशिष्ट टीकाकार ही इसके वैशिष्ट्य ख्यापन के लिए पर्याप्त है।

व्याख्या समय पर पर्याप्त पूर्व मुद्रित हो चुकी थी, किन्तु कुलपति पद दायित्व सम्भालने पर व्यस्तता के कारण भूमिका नहीं लिखी जा सकी, अतः पुस्तक के प्रकाशन में जो विलम्ब हुआ, उसके लिए पाठकों के समक्ष अपनी त्रुटि मुझे स्वीकार्य है।

हमारे विश्वविद्यालय में दर्शन विभाग के आचार्य एवं अध्यक्ष डॉ० श्री महाप्रभु लालगोस्वामी के प्रयत्न प्रेरणा और कौशल से भूमिका की पूर्ति होकर इस वेदान्तसार का प्रकाशन सम्भव हो सका इसके लिए मैं डा० श्री गोस्वामी का आभारी हूँ।

—बदरीनाथ शुक्ल

---

१. द्रष्टव्य शङ्करदिग्विजयभूमिका पृ० ८।

(क) माधवरचित शङ्करदिग्विजय।

(ख) आनन्दगिरिरचित 'शङ्करविजय'।

(ग) चिद्विलासरचित 'शङ्करविजयविलास'।

(च) सदानन्दविरचित 'शङ्करविजय'।

२. वेदान्तदर्शने (इतिहास—प्रज्ञानन्द सरस्वती (पृ० ७२४)

(ख) अद्वैतसिद्धिभूमिका। राजेन्द्रनाथ घोष।

वेदान्तसारविषयानुक्रमणिका

अनुवाद के विशिष्ट विषयों की अनुक्रमणिका

वेदान्तसारः

अखण्डं सच्चिदानन्दमवाङ्मनसगोचरम् ।
आत्मानमखिलाधारमाश्रयेऽभीष्टसिद्धये ।। १ ।।

विद्वन्मनोरञ्जनी

श्रीरामतीर्थयतिविरचिता

ॐसकलब्रह्मविद्यासम्प्रदायप्रवर्तकाचार्येभ्यो नमः ।

सत्यं ज्ञानमनन्तं परिपूर्णानन्दविग्रहं रामम् ।
प्रत्यञ्चमनृतविश्वसृष्टिस्थित्यव्ययं वन्दे ।।१।।
वाणीकायमनोभिः श्रीगुरुविद्यागुरून्नमस्कृत्य ।
वेदान्तसारटीकां कुर्वे श्रद्धावशाद्यथाबुद्धि ।।२।।

चिकीर्षितस्य ग्रन्थस्याविघ्नपरिसमाप्तिप्रचयगमनशिष्टाचारपरिपालनफलं विशिष्टशिष्टाचारानुमितस्मृतिपरिकल्पितश्रुतिबोधितकर्तव्यताकं स्वाभिमत-देवतातत्त्वानुसन्धानात्मकं मङ्गलमाचरत्यखण्डेत्यादिश्लोकेन । आत्मानमाश्रय इत्यन्वयः । यद्यपि ग्रन्थकरणादिकार्यारम्भे गणेशसरस्वत्यादिदेवताभेदं

हिन्दी व्याख्या

अनुवाद—

(मैं सदानन्द) अभीष्ट की सिद्धि के लिये अखण्ड, सत्, चित्, आनन्द स्वरूप, वाणी और मन के अविषय, सम्पूर्ण जगत् के आधार आत्मा का आश्रय लेता हूँ ।

व्याख्या—

प्रस्तुत पद्य में ग्रन्थकार ने अपने आप को आत्मा के आश्रयण का कर्त्ता बताया है पर प्रश्न यह होता है कि इस पद्य में कौन सा ऐसा शब्द है जिससे ग्रन्थकार का बोध होता है, इसका उत्तर यह है कि वह शब्द है 'आश्रये' पद से आक्षिप्त अहम् पद । आशय यह है कि 'आश्रये' यह उत्तम पुरुष का एकवचनान्त क्रिया पद है, क्रियापद कार्यपद में नियत रूप से साकाङ्क्ष होता है क्योंकि क्रिया कर्त्ता के बिना नहीं होती, अतः कर्त्ता को छोड़ कर क्रियापद से केवल क्रिया का बोध नहीं होता । उक्त क्रियापद यतः उत्तम पुरुष का एकवचनान्त है अतः उससे उत्तम पुरुष के एकवचनान्त 'अहम्' इस कर्तृपद का आक्षेप होता है, अहम् पद जहाँ उच्चरित होता है वहाँ उस पद से उसके स्वतन्त्र उच्चारण कर्ता का बोध होता है, जैसे यदि राम 'अहं गच्छामि' इस वाक्य का प्रयोग करता है तो इसमें 'अहं' पद से उसके उच्चारणकर्त्ता राम का बोध होता है

विघ्नविघातविचारस्फूर्तिप्रदत्वेन प्रसिद्धमनुसन्धानं कुर्वन्ति शिष्टास्तथापि "एष उ ह्येव सर्वे देवा" इति श्रुतेरात्मन एव सर्वदेवतात्मकत्वावगमादात्मानुसन्धाने सति सर्वदेवतानुसन्धानं सम्भवतीति मन्यते ग्रन्थकारः। आत्मानं विशुद्धचिद्रूपं त्वम्पदलक्ष्यं तुरीयमाश्रये शास्त्राचार्यप्रसादाभिव्यक्तमनुसन्दधे। अस्यात्मनस्तत्पदलक्ष्यपरमात्मानन्यत्वं वाक्यार्थं कथयितुं तत्पदार्थं शोधयति—अखण्डसच्चिदानन्दमिति। "आनन्दादयः प्रधानस्य" इतिन्यायेन "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म", "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इति श्रुत्योः परस्परैकवाक्यतामभिप्रेत्याखण्डेत्यादिमिरानन्दपदस्य समासः। अखण्डशब्दोऽनन्तपदपर्यायः। स चाविद्याध्यस्तदेशकालवस्तुभ्यः परमात्मनः परिच्छेदं व्यावर्तयत्येव नञ्पदयोगात्। तदुक्तम्—

और उस वाक्य से राम की गति का ज्ञान होता है किन्तु जिस वाक्य में 'अहं' पद का प्रयोग नहीं रहता, किन्तु उत्तम पुरुष के एकवचनान्त क्रियापद का प्रयोग रहता है और उससे 'अहं' पद का आक्षेप होता है, उस वाक्य में आक्षिप्त अहं पद से उक्त क्रियापद के उच्चारणकर्त्ता का बोध होता हैं, क्योंकि 'अस्मत्' पद की शक्ति उसके तथा उसके आक्षेपक क्रियापद के उच्चारणकर्त्ता में होती है। इस पद में 'आश्रये' इस 'अहं' पद के आक्षेपक क्रियापद के उच्चारणकर्त्ता सदानन्द हैं, अतः इस क्रिया पद से आक्षिप्त 'अहं' पद से उनका बोध न्यायप्राप्त है।

आत्मानम् आश्रये —

पद्य के 'आत्मानम् आश्रये' इस अंश से यह बताया गया है कि सदानन्द ने प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना का आरम्भ करने के पूर्व आत्मा का आश्रय लिया है, यहाँ आत्मा का आश्रय लेने का एक विशेष अर्थ है, वह है आत्मा का—अपने आप का उस रूप में स्मरण, जिस रूप में उन्होंने गुरु के उपदेश, वेदान्तशास्त्र के अभ्यास और चिन्तन-मनन से अपने आप को समझा है, वह है अपनी आत्मा और ब्रह्म का ऐक्य। 'तत्त्वमसि'—'तुम ब्रह्म हो' इस महावाक्य से उन्होंने समझा है 'अहं ब्रह्मास्मि—मैं ब्रह्म हूँ।' इस लिये उन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ रचना के पूर्व इसी रूप में आत्मा का स्मरण किया है।

अभीष्टसिद्धये—

उक्त रूप में आत्मा के स्मरण का प्रयोजन बताया गया है, अभीष्ट की सिद्धि, वक्ता के अभीष्ट का अर्थ होता है, जो वस्तु उसे जिस रूप में ज्ञात है, ठीक उसी रूप में दूसरों के प्रति उसका अवबोधन। प्रकृत वक्ता को ज्ञात है जीव और ब्रह्म के ऐक्य में सम्पूर्ण वेदान्त का तात्पर्य, अतः वह इस ग्रन्थ से अध्येता को यही तथ्य बताना चाहता है और चाहता है कि इस कार्य में उससे भूल न हो, इस विषय का प्रतिपादन करते समय उसे वेदान्त वाक्यों के वास्तव अर्थ का अज्ञान, विपरीत अर्थ का ज्ञान अथवा उनके अर्थ के विषय में संशय न हो तथा अध्येता को ब्रह्म और जीव का सत्य स्वरूप अवगत हो सके। वह यह भी चाहता है कि इस ग्रन्थ से अध्येता को वह सारी

"तत्रानन्तोऽन्तवद्वस्तुव्यावृत्त्यैव विशेषणम्" इति।

इतराणि तु पदानि स्वार्थापरित्यागेनैव स्वविरोध्यर्थव्यावृत्तं ब्रह्म लक्षयन्ति। तदुक्तम्—

"स्वार्थार्पणप्रणाड्या च परिशिष्टौ विशेषणम्" इति।

परिशिष्टौ (सत्यज्ञानशब्दावित्यर्थः। अखण्डमपि तदनृतं शून्यं वा स्यादित्यत आह–सदिति। सदनृतशून्यव्यावृत्तं बाधाभावोपलक्षितस्वरूपसत्तात्मकमिति यावत्। ब्रह्मणोऽप्यनृतत्वे निरधिष्ठानारोपप्रसङ्गात्। शून्यस्य ससाक्षिकत्वे तु सर्वशून्यवादानुपपत्तेरसाक्षिकत्वे तदसिद्धेः स्वप्रकाशत्वे च ब्रह्मण एव नामान्तरत्वापत्तेर्न ब्रह्मानृतं शून्यं वेत्यर्थः। अखण्डं सदपि तत्तमोवज्जडं किं न स्यादित्यत आह—चिदिति। चिज्ज्ञानं ज्ञप्तिरिति पर्यायः। श्रुतौ ज्ञानं ब्रह्मेति सामानाधिकरण्याद्गुणत्वे तस्य तदनुपपत्तेः। न च शुक्लो घट इतिवत्तत्स्यादिति वाच्यं निर्धर्मकत्वप्रतिपादकास्थूलादिश्रुतिविरोधात्। किञ्च

प्रक्रिया भी संक्षेप से ज्ञात हो सके जो वेदान्त वाक्यों से ब्रह्म और जीव के ऐक्यज्ञान के लिये अपेक्षित है, स्पष्ट है कि इस अभीष्ट की सिद्धि तभी सम्भव है जब ग्रन्थकार को ग्रन्थरचना के पूर्व उसका यथोचित अनुसन्धान हो।

इस पद्य के सन्दर्भ में यह शंका स्वभावतः उपस्थित होती है कि ग्रन्थकार को ज्ञात अर्थ के यथोचित अवबोध स्वरूप अभीष्ट की सिद्धि ग्रन्थ की समाप्ति पर निर्भर है और उसके लिये विघ्न का अभाव अत्यन्त अपेक्षित है क्योंकि ग्रन्थकार को ग्रन्थरचना के समय विवक्षित अर्थ का पूरा अनुसन्धान तथा ग्रन्थरचना के अन्य समस्त कारणों के होते हुए भी विघ्न उपस्थित हो जाने पर ग्रन्थनिर्माण का कार्य अवरुद्ध हो जाता है और ग्रन्थ की समाप्ति न हो सकने से विवक्षित अर्थ का प्रतिपादन असम्भव हो जाता है, अतः विघ्न के निवारणार्थ प्रस्तुत ग्रन्थकार को भी अन्य आस्तिक ग्रन्थकारों के समान इष्ट देवता का स्मरण, वन्दन आदि मंगल करना चाहिये था, अतः उसे न कर केवल विवक्षित अर्थ के अनुसन्धान से अभीष्ट सिद्धि की आशा करना दुराशा मात्र है।

इस शङ्का का उत्तर यह है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रतिपाद्य अर्थ का अनुसन्धान ब्रह्म का अनुसन्धान रूप होने से सर्वोत्तम मङ्गल है क्योंकि 'एष ह्येव सर्वे देवाः' (बृह० १।४।६) इस श्रुति के अनुसार आत्मा-ब्रह्म ही सम्पूर्ण देव है, अतः उसके स्मरण में सम्पूर्ण देवों का स्मरण समाहित है, दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि जब गणेश आदि सीमित शक्ति वाले देवताओं के स्मरण में विघ्न का विनाश होता है तो आत्मा जो सम्पूर्ण शक्ति का केन्द्र है, जिसमें सभी देवता अविद्या द्वारा कल्पित हैं, जो 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' (तैत्ति० ३।१।१) इस श्रुति के अनुसार पूरे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण है, उसका स्मरण होने पर विघ्न की कल्पना ही कैसे हो सकती है, अतः यह पद्य ही सर्वश्रेष्ठ मङ्गल पद्य है।

ज्ञानस्य नित्यत्वेऽग्न्युष्णवत्सवितृप्रकाशवच्च ब्रह्मस्वभावानतिरेकात्। अनागमापायिधर्मस्य धर्मिणः परमार्थतो भिन्नत्वे प्रमाणाभावात् अनित्यत्वे ज्ञानानवस्थाप्रसङ्गात्। कार्यस्य सतो ज्ञानस्यापि कार्यान्तरवत्स्वोपादानागोचरपरोक्षज्ञानजन्यत्वात्। ज्ञानोपादानब्रह्मगोचरस्यापि ज्ञानस्य कार्यत्वे तस्यापि पूर्वसमानयोगक्षेमतया कथं नानवस्था। अजन्यत्वे प्रथमे कः प्रद्वेषः। तथा च सिद्धा ब्रह्मणो ज्ञानस्वभावता। एतेन जीवात्मनोऽपि ज्ञानस्वभावता व्याख्याता वेदितव्या। स्वप्रकाशं चैतद्ब्रह्मौष्ट्व्यमप्रकाशजडविलक्षणत्वनिर्देशसामर्थ्यात्। "तदेव ज्योतिषां ज्योतिः", "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" इत्यादिश्रुतेः। नन्वेवमखण्डसच्चिद्रूपमपि ब्रह्म न प्रेक्षावत्प्रेप्सागोचरं सुखदुःखाभावतत्साधनानामन्यतमत्वाभावात्। न तावत्स्वसुखदुःखाभावसाधनं ब्रह्म स्वस्मिन्सुख-

अखण्डम्—

आत्मा को इस पद्य में अखण्ड कहा गया है, अखण्डता को किसी विशेष अर्थ में सीमित नहीं किया गया है, अतः इस शब्द से आत्मा की सर्वविध अखण्डता बोधित होती है, जिसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि आत्मा में धर्म-धर्मीरूप में, गुण-गुणी रूप में, अवयव-अवयवी रूप में, कार्य-कारण रूप में, अंश-अंशी रूप में, व्यष्टि-समष्टि रूप में किसी भी प्रकार का खण्ड—विभाग या भेद नहीं है, वह पूर्ण निर्धर्मक, पूर्ण निर्गुण, नितान्त निरवयव, अकार्य-अकारण, सर्वथा निरंश तथा किसी भी प्रकार के भेद या आस्पद होने की सम्भावना से अतीत है।

सच्चिदानन्दम्—

सच्चिदानन्द शब्द से आत्मा को सत्, चित् और आनन्द स्वरूप कहा गया है, और यह इस लिये कि केवल 'अखण्ड' कहने से उसकी वास्तविकता नहीं ज्ञात हो सकती, क्योंकि अखण्ड तो शून्य, तम और दुःखात्मक भी हो सकता है, फिर वह किसी भी विवेकी के लिये आश्रयणीय कैसे हो सकेगा, अतः इस शब्द से यह बताया गया कि आत्मा सत् है, भावात्मक तत्त्व है, वह अभावात्मक अथवा बौद्धों के शून्य जैसा सत्, असत्, सदसत् और 'नो सदसत्' इन चार कोटियों से मुक्त अनिर्वाच्य रूप नहीं है। सत् का अर्थ है जिसकी सत्ता का कभी विच्छेद न हो, जो त्रिकालाबाध्य हो, भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीनों कालों में कभी जिसका बाध-अभाव न हो। इस प्रकार आत्मा सदा अमर है, एक स्वभाव है, उसमें कोई ह्रास-विकास नहीं होता, उसके पैदा होने, बढ़ने-घटने, रोगी होने, दुर्बल होने के कारणों की कल्पना नितान्त मूढ़ता है।

चित् का अर्थ है चेतना या चैतन्य, आत्मा को चित् कहने का अर्थ है कि वह चैतन्य रूप है, उसमें किसी प्रकार की जड़ता नहीं है, उसे तम की छाया भी कभी नहीं छू सकती, वह सारे जगत् का प्रकाशक है और स्वयं अपने आप प्रकाशमान है, उसे स्वयं प्रकाशित करने के लिये किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं होती। 'तदेव ज्योतिषां ज्योतिः' (बृह० ४।४।१६) 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (कठ १।१५)

दुःखयोर्नित्यनिवृत्तत्वात् "अशरीरं वा न सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशत" इति श्रुतेः। नाप्यन्यगतसुखादिसाधनं ब्रह्म। अन्येषां दृष्टादृष्टसुखदुःखप्राप्तिपरिहारयोर्लौकिकवैदिकसाधनेभ्य एव सिद्धेः। तस्मान्न सुखादिसाधनं ब्रह्म। नापि दुःखाभावरूपं भावात्मस्वभावताविरोधात्। नापि सुखात्मकं तथात्वे प्रमाणाभावादित्यत आह—आनन्दमिति। आनन्दं सुखरूपम्। न च ब्रह्मण आनन्दात्मत्वे प्रमाणाभावः "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म", "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" "आनन्दरूपममृतं यद्विभाति", "को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" इत्यादिश्रुतेः प्रमाणत्वात्। न चानन्दब्रह्मणोर्धर्मधर्मिताशङ्काप्यवकाशं लभते श्रुतिस्वारस्यभङ्गप्रसङ्गात्। न च ब्रह्मण ईश्वरस्य

ये श्रुतियाँ अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में उसे सब प्रकाशों का प्रकाश बताती हुई उसके प्रकाश से सारे विश्व का प्रकाशित होना बताती हैं।

आत्मा आनन्दरूप है, आनन्द का अर्थ है आ-आसमन्तात्-चतुरस्रम् नन्दति-समृद्ध्यति-जो सब प्रकार से समृद्ध हो, जिसमें कोई कमी न हो जो सर्वथा पूर्ण हो, वह आनन्द है। आनन्द को सुख कहा गया है, सुख का अर्थ है 'सुष्ठु खं यस्मात् तत् सुखम्।' ख का अर्थ है आकाश, यह अन्य सभी भूतों का उपलक्षण है, अतः सुख का अर्थ होता हैं वह तत्त्व जिससे आकाश आदि सभी भूत भौतिक पदार्थ सुष्ठु सुन्दर-आनन्दानुभावक हो जाते हैं, वह तत्त्व है आत्मा, जैसा कि 'तस्यैवानन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' यह श्रुति अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में उद्घोषित करती है। सुख शब्द इस अर्थ के साम्य से ही सुष्टु-शोभनानि-प्रसन्नानि खानि-श्रोत्रप्रभृतीनि इन्द्रियाणि यस्मात्, इस व्युत्पत्ति के आधार पर वैषयिक सुख का भी बोधक है जिसकी अनुभूति होने पर मनुष्य की इन्द्रियाँ प्रसन्न-स्फूर्तिसम्पन्न हो उठती हैं।

आशय यह है कि आत्मा ही वास्तव में आनन्द है, सुख है, क्योंकि आनन्द और आत्मा में मनुष्य का निरुपधि अन्याद्वारक सीधा प्रेम होता है, अतः इस स्वतन्त्र प्रेम का विषय होने से दोनों में ऐक्य है। दूसरी बात यह है कि मनुष्य को सुषुप्ति के बाद जागने पर नई शक्ति और स्फूर्ति का अनुभव होता है, यह स्फूर्ति केवल विश्राम मिल जाने मात्र से नहीं हो सकती, जैसे विभिन्न कार्यों में लगा मनुष्य जब कुछ देर विश्राम कर लेता है तब उसकी थकान तो अवश्य दूर हो जाती है, पर उतने से ही उसमें नई शक्ति या स्फूर्ति नहीं आती, यह आती तब है जब उसे विश्राम के साथ कुछ शक्ति वर्धक रुचिकर आहार मिल जाता है, उसी प्रकार यह मानना ही बुद्धिसंगत हो सकता है कि सुषुप्ति के समय मनुष्य को विश्राम के साथ आनन्द की भी अनुभूति होती है, जिससे सुषुप्ति के बाद उसमें नवीनता आ जाती है और जब ऐसी बात है तब यही मानना होगा कि उस समय उसे आत्मानन्द की ही अनुभूति होती है क्यों कि उस समय मनुष्य की सभी इन्द्रियाँ और मन विषयों से बहिर्मुख होते हैं, जगत के विषय सुषुप्त के लिये असत्कल्प होते हैं, अतः उस समय विषयानन्द की कोई सम्भावना ही नहीं हो

सुखित्वं परैरपीष्यतेऽत आनन्दो विद्यतेऽस्मिन्नित्यानन्दं ब्रह्मेति परेषां श्रुति-व्याख्यानमुपहासास्पदमेव । न च ब्रह्मण्यानन्दशब्दो दुःखाभावपरः "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" इति भावरूपब्रह्मसामानाधिकरण्यनिर्देश-विरोधात् । न च प्रियास्पर्धित्वश्रुतिविरोधस्तस्याः श्रुतेर्वैषयिकप्रीतिनिषेध-परत्वादिति भावः । यद्यप्यात्मपदमेवेह शेषिपदं तथापि श्रुत्युपरोधात्पदार्थ-शोधनार्थतया च ब्रह्मपदमध्याहृत्य विशेष्यं बोद्धव्यम् । एवं सत्यखण्डं सच्चि-दानन्दं ब्रह्मात्मानमाश्रय इति ब्रह्मात्मपदयोः सामानाधिकरण्येन तत्त्वम्पदार्थ-योरैक्यवाक्यार्थोऽब्रह्मत्वपारोक्ष्यनिवृत्त्या परिपूर्णतया निरूपितः स्यादन्-न्यथा । एतेषां च पदानां ब्रह्मपदेन प्रत्येकं प्रथममन्वितानां पश्चात्सामाना-धिकरण्येन परस्परमपि सम्बन्धसिद्धिः । "अरुणया पिङ्गाक्ष्या गवैकहायन्या सोमं क्रीणाति" इत्यत्र क्रयवाचिपदान्वितानामरुणादिपदानामिव परस्परा-

सकती । सुप्तोत्थित मनुष्य को 'मैं बड़े सुख से सोया' इस प्रकार होने वाला सुख-स्मरण भी सुषुप्ति के समय मनुष्य को आनन्दानुभव होने में प्रमाण है, क्यों कि यदि उसे सुषुप्ति में सुख का अनुभव न होगा तो जागने पर उसे उस समय के सुख का स्मरण कैसे हो सकेगा, क्यों कि स्मरण बिना पूर्वानुभव के नहीं होता ।

इस विषय को अवगत करने के लिये इस वस्तुस्थिति पर भी ध्यान देना आवश्यक है कि संसार की कोई भी वस्तु तभी प्रीतिकर होती है जब उसमें मनुष्य की आत्मा का सम्पर्क होता है, जैसे अत्यन्त सुन्दर भी कोई बालक या बालिका, परम रमणीय भी भवन, उद्यान, वाहन, सुन्दर से सुन्दर, मूल्यवान् से भी मूल्यवान् कोई मणि, रत्न आदि मनुष्य को सुखप्रद तभी होता है जब उनमें उसकी ममता होती है, बालक मेरा होता है, बालिका मेरी होती है, भवन, उद्यान, वाहन, मणि, रत्न आदि मेरे होते हैं, तब उनसे हमें सुख मिलता है और यदि ये उत्तमोत्तम वस्तुयें मेरी न होकर पराये की होती हैं, उनमें मेरा ममत्व मेरे आत्मानन्द का सम्पर्क नहीं होता तो वे कितनी भी सुन्दर, स्थिर और उपयोगी क्यों न हों, उनसे हमें सुख नहीं मिलता, अतः स्पष्ट है कि संसार के विषय मनुष्य के आत्मानन्द से सम्पृक्त होने पर ही आनन्दात्मक होते हैं, अन्यथा नहीं ।

इन सबसे अतिरिक्त आत्मा की आनन्दरूपता में सबसे प्रबल प्रमाण हैं अनेकों श्रुतिवचन जैसे 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३।९।२८) 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तै० ३।६।१) 'आनन्दरूपममृतं यद् विभाति' (मु० २।२।७) इत्यादि ।

'सच्चिदानन्द' शब्द के विषय में यह प्रश्न हो सकता है कि यह एक समस्त शब्द है अथवा सत्, चित्, आनन्द यह तीनों असमस्त शब्द हैं । समस्त मानने पर उसमें तीन पदों का कर्मधारय मानना होगा, और उसमें आनन्द पद को विशेष्यबोधक और सत्, चित् पदों को विशेषणबोधक मान कर उन दोनों पदों का आनन्द पद के साथ कर्मधारय समास स्वीकार करना होगा, अथवा सत् पद को केवल विशेषणपरक और

न्वयः । न चैकार्थत्वे सत्यादिपदानां पर्यायतापत्तिरयौगपद्यं चेति वाच्यं प्रवृत्तिनिमित्तभेदाद्व्यावर्त्यभेदाच्चोक्तदोषानवतारात् । एवमन्योऽपि वाक्य-विचारोपयोगी न्याय ऊहनीयो विस्तरभयान्नेह लिख्यते। एवं विधिमुखेन परिच्छिन्नानृतजडदुःखरूपानात्मतद्धर्मविलक्षणं ब्रह्मेति निरूप्येदानीं "नेति नेति", "अस्थूलं", "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इत्यादि-श्रुतिमाश्रित्य निषेधमुखेन सकलनिषेधावधिभूतं सत्यस्य सत्यं ब्रह्मेति दर्शयति—अवाङ्मनसगोचरमिति। वाक् च मनश्च वाङ्मनसे तयोर्गोचरो वाङ्मनसगोचरो न वाङ्मनसगोचरोऽवाङ्मनसगोचरस्तदिति विग्रहः।"नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं

आनन्द शब्द को केवल विशेष्यपरक तथा चित् पद को विशेष्य, विशेषण उभयपरक मान कर सत् पद का चित् पद के साथ और चित् पद का आनन्द पद के साथ एक कर्मधारय समास मानना होगा। पहले पक्ष में सत् चित् दोनों पदों के अर्थों का आनन्द पदार्थ के साथ अभेद सम्बन्ध से अन्वय करने पर समस्त शब्द का अर्थ होगा सत् और चित् से अभिन्न आनन्द तथा दूसरे पक्ष में अर्थ होगा सत् से अभिन्न चित् और चित् से अभिन्न आनन्द। पहले पक्ष में युक्त शब्द से होने वाले बोध में आनन्द पदार्थ में सत्प-दार्थनिष्ठ प्रकारता एवं चित्पदार्थनिष्ठ प्रकारता, इन दोनों से निरूपित एक विशेष्यता होगी, तथा दूसरे पक्ष में उक्त शब्द से होने वाले बोध में चित्पदार्थ में सत्पदार्थनिष्ठ-प्रकारतानिरूपित विशेष्यता और आनन्दपदार्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपित प्रकारता, ये दो विषयतायें होंगी, इन दोनों पक्षों में पहले पक्ष में स्पष्ट लाघव है क्योंकि उस पक्ष में उक्त शब्द से होने वाले बोध में तीन विषयतायें हैं, जैसे सत्पदार्थ और चित्पदार्थ में एक-एक प्रकारता तथा आनन्दपदार्थ में उन दोनों प्रकारतावों से निरूपित एक विशे-ष्यता, किन्तु दूसरे पक्ष में उक्तशब्दजन्य बोध में चार विषयतायें है, जैसे सत्पदार्थनिष्ठ प्रकारता एवं उससे निरूपित आनन्दपदार्थनिष्ठ विशेष्यता, तथा चित्पदार्थनिष्ठ प्रकारता एवं उससे निरूपित आनन्दपदार्थनिष्ठ विशेष्यता।

उक्त तीनों पदों को असमस्त मानने पर तीनों पदों के अर्थों का आत्मपदार्थ में अभेद सम्बन्ध से अन्वय होने से 'सच्चिदानन्दम् आत्मानम्' इस भाग का अर्थ होगा सत्, चित् और आनन्द से अभिन्न आत्मा, अतः इस भाग से जन्य बोध में सत्पदार्थ, चित्प-दार्थ और आनन्दपदार्थ में रहने वाली बिभिन्न तीन प्रकारतायें तथा आत्म पदार्थ में उन तीनों से निरूपित एक विशेष्यता, इस प्रकार इस बोध में चार विषयतायें होंगी, किन्तु समास मानने पर पहले पक्ष में उक्तभागजन्य बोध में पाँच विषयतायें होंगी, जैसे पूर्वोक्त तीन विषयतायें, आनन्दपदार्थनिष्ठ प्रकारता और उससे निरूपित आत्मनिष्ठ विशेष्यता, ये दो विषयतायें और दूसरे पक्ष में उक्त भाग जन्यबोध में छः विषयतायें होंगी, जैसे पूर्वोक्त चार विषयतायें तथा आनन्दपदार्थनिष्ठ प्रकारता और उससे निरूपित आत्मपदार्थनिष्ठ विशेष्यता ये दो विषयतायें। अतः उक्त तीनों पदों में समास की अपेक्षा असमास में स्पष्ट लाघव है।

शक्यो न चक्षुषा", "अस्तीत्येवोपलब्धव्य" इति च काठकश्रुतेः। एवं विधि-निषेधाभ्यां ब्रह्मणःस्वरूपलक्षणमभिधाय लक्षितं स्वरूपं तटस्थलक्षणेन सम्भावयति –अखिलाधारमिति। अखिलस्याकाशादिप्रपञ्चस्याधार आश्रयस्तदिति विग्रहः। आश्रयशब्दःसृष्टिप्रलययोरप्युपलक्षणार्थः।तथाच श्रुतिः-"यतो वा इमानि भूतानि

अब प्रश्न यह होता है कि उक्त सभी पक्षों में एक समान दोष है और वह यह कि सत्, चित् आनन्द और आत्म शब्द क्रम से सत्त्व, चित्त्व, आनन्दत्व और आत्मत्व-विशिष्ट के वाचक हैं अतः इन पदार्थों का परस्पर में अभेदान्वय बोध न हो सकेगा क्योंकि विशेष्य, विशेषण से भिन्न विशिष्ट में कोई प्रमाण न होने से विशेष्य, विशेषण दोनों में रहनेवाला पदार्थ ही विशिष्ट में रह सकता है, अतः सत्त्व, चित्त्व, आनन्दत्व और आत्मत्व इन धर्मों में अभेद होने पर ही इनमें एक विशिष्ट में अन्य विशिष्ट का अभेद सम्बन्ध से अन्वय हो सकता है, किन्तु है इन रूपों में भेद। यदि यह कहा जाय कि सत्त्व का अर्थ है त्रिकालबाध्यत्वाभाव, चित्त्व का अर्थ है जडत्वाभाव, आनन्दत्व का अर्थ है दुःखात्मकत्वाभाव और आत्मत्व का अर्थ है, माया और मायिक एतदन्यत-रत्वरूप अनात्मत्व का अभाव, अतः अभाव के अधिकरणात्मक होने से ये सभी धर्म एक आत्मा से अभिन्न होने के कारण 'तदभिन्नाभिन्न तद् से अभिन्न होता है' इस न्याय से परस्पर अभिन्न ही हैं अतः उक्त दोष सम्भव नहीं है, तो यह ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि उस स्थिति में सत्, चित् आदि सभी पद पर्याय हो जायंगे क्योंकि जिन पदों का प्रवृत्ति-निमित्त एक होता है और आनुपूर्वी-घटक वर्णों का पौर्वापर्य भिन्न होता है वे पर्याय होते हैं जैसे घट, कुम्भ, कलस आदि पद, और पर्याय पदों के अर्थों में अभे-दान्वय होता नहीं, फलतः उक्त सभी पद परस्पर में अनन्वितार्थ हो जायंगे, इस प्रश्न के उत्तर में अद्वैतवेदान्त पक्ष से यह कहा जा सकता है कि सत्त्व, चित्त्व आदि सभी धर्म आत्मा में कल्पित हैं और परस्पर में भिन्न हैं, तथा उनमें एक विशिष्ट का अपर-विशिष्ट में अन्वय न मान कर एक से उपलक्षित का अपर से उपलक्षित में अन्वय मान्य है, उपलक्ष्य और उपलक्षण दोनों में रहनेवाला धर्म ही उपलक्षितवृत्ति होता है, ऐसा नियम नहीं है, अतः एकोपलक्षित का अपरोपलक्षित में अभेदबोध होने में कोई बाधा नहीं है।

उक्त उत्तर के विषय में पुनः यह प्रश्न हो सकता है कि आत्मा में सत्त्व आदि धर्मों की कल्पना माया के सम्बन्ध से ही हो सकती हैं और माया का सम्बन्ध विशुद्ध आत्मा में हो नहीं सकता क्योंकि 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इस श्रुति के अनुसार विशुद्ध आत्मा असङ्ग है, अतः अविशुद्ध आत्मा में ही माया का सम्बन्ध मानना होगा, और आत्मा की अविशुद्धि माया के सम्बन्ध से ही सम्भव है, अतः मायासम्बन्ध के लिये आत्मा को अविशुद्धि की और उसके लिये मायासम्बन्ध की अपेक्षा होने से अन्योन्याश्रय दोष होगा, और यदि मायासम्बन्ध की ही अविशुद्धि कहा जायगा तो, मायासम्बन्ध में मायासम्बन्ध को ही अपेक्षा होने से आत्माश्रय दोष होगा, इस प्रश्न के उत्तर में भी

जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्-ब्रह्मेति" इति। ततश्च जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणं ब्रह्मेत्युक्तं भवति। अत इदं फलितम्। सत्यज्ञानानन्तानन्दैकरसं ब्रह्म तत्पदलक्ष्यमिति। आत्मपदादेव

यह कहा जा सकता है कि यह प्रश्न तब हो सकता है जब आत्मा के साथ माया का सम्बन्ध सादि हो किन्तु आत्मा और माया का सम्बन्ध अनादि है और अनादि के विषय में यह प्रश्न अस्वाभाविक है कि वह कब हुआ और कैसे हुआ।

दूसरी बात यह है कि सत्त्व आदि कल्पित धर्मों के आधार पर दिये गये उत्तर से अतिरिक्त भी एक उत्तर दिया जा सकता है और वह यह कि उक्त पद्य में सत्, चित् आदि पदों का अर्थ है वाच्यतासम्बन्ध से सत्, चित् आदि पदों से विशिष्ट। अतः इन पदों में भेद होने से उक्त पद्य में आये सत्, चित् आदि पदों के प्रवृत्तिनिमित्त में भेद होने से पर्यायता की आपत्ति नहीं हो सकती और वाच्यता सम्बन्ध से एक पद से उपलक्षित में वाच्यता सम्बन्ध से अन्य पद से उपलक्षित के अभेदान्वयबोध में कोई बाधा भी नहीं हो सकती क्योंकि उपलक्षितवृत्तित्व में उपलक्ष्य और उपलक्षणवृत्तित्व का नियम है, क्योंकि कुरु वर्तमान नहीं है किन्तु कुरुक्षेत्र आज भी वर्तमान है। इस उत्तर में भी उसी प्रकार का संकट है, जैसे शुद्ध आत्मा में सत्, चित् आदि पदों का वाच्यता सम्बन्ध न होने से अशुद्ध-उपहित आत्मा में ही उक्त पदों की वाच्यता माननी होगी और आत्मा के उपहितत्व में मायासम्बन्ध की और मायासम्बन्ध में उपहितत्व की अपेक्षा होने से अन्योन्याश्रय की आपत्ति होगी, अतः इस उत्तर का भी समर्थन आत्मा और माया के सम्बन्ध को अनादि बता कर ही करना होगा।

अवाङ्मनसगोचरम्—

वाक् च मनश्च वाङ्मनसे, तयोः गोचरः वाङ्मनसगोचरः, न वाङ्मनसगोचरः, अवाङ्मनसगोचर इस व्युत्पत्ति से इस शब्द का अर्थ है जो वाणी और मन का विषय न हो, जिसका वाणी से वर्णन और मन से चिन्तन न हो सके। इस प्रकार इस शब्द से आत्मा को वाणी और मन की पहुँच से परे बताया गया है, जैसा कि आत्मा के विषय में श्रुतियों का स्पष्ट उद्घोष है, 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तै० २।४।१) 'नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा' (कठ० ६।१२)।

आत्मा को वाणी और मन का अगोचर कहने पर यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि यदि आत्मा वाणी से परे है तो उसके बोधनार्थ शास्त्रों और ग्रन्थों की रचना तथा आचार्योपदेश आदि व्यर्थ हैं क्योंकि ये सब वाणीरूप हैं और वाणी की वहाँ पहुँच नहीं है, इसी प्रकार उसके मनन, उपासन आदि के उपदेश भी व्यर्थ हैं क्योंकि ये सब मन से ही साध्य हैं और मन की वहाँ पहुँच नहीं है, 'तं तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामः' इत्यादि वचनों में उसे औपनिषद कहना भी संगत नहीं हो सकता, क्योंकि औपनिषद का अर्थ होता है उपनिषद् मात्र से वेद्य, किन्तु उपनिषद् के वाणी रूप होने से आत्मा

त्वम्पदार्थशुद्धिः। "आत्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति" इतिश्रुता-वात्मशब्दस्य निर्विशेषप्रत्यक्चैतन्यमात्रनिष्ठताया निर्धारितत्वात्। तथा च ब्रह्मात्मपदयोः सामानाधिकरण्यादैक्यवाक्यार्थसिद्धिरित्युक्तं तदेव वाक्यार्थ-

उससे वेद्य नहीं हो सकता, और यदि उपनिषद् का अर्थ अविद्या का सादन-उन्मूलन करने वाली विद्या हो तो भी उसे औपनिषद् कहना सम्भव नहीं हो सकता क्योंकि वह विद्या भी मन की विशेष वृत्ति ही हो सकती है, अतः वहाँ मन की पहुँच न हो सकने से वह उस विद्या का भी विषय नहीं हो सकता।

अद्वैतवेदान्त की ओर से इस प्रश्न के कई उत्तर दिये जा सकते हैं, जैसे वाणी का अगोचर होने का तात्पर्य है, अभिधावृत्तिद्वारा वाणी से बोध्य न होना, वेदान्त के अनुसार शब्दों की अभिधा विभिन्न उपाधियों से विशिष्ट आत्मा में होती है, जैसे घट, पट आदि शब्दों की अभिधा घट, पट आदि से उपहित चैतन्य में होती है, सत्, चित् आदि शब्दों की अभिधा सत्त्व, चित्त्व आदि काल्पनिकधर्मों से उपहित चैतन्य में होती है, अतः शब्दों से सोपाधि आत्मा का ही बोध हो सकता है, शुद्ध आत्मा का नहीं। इस प्रकार वाणी से अभिधा द्वारा बोध्य न होने से आत्मा वाणी का अगोचर कहा जाता है। इसी प्रकार मन का अगोचर होने का अर्थ है मलिन मन से बोध्य न होना, मन का मालिन्य है मन की वह पापात्मिका वृत्ति, जिससे वह आत्मोन्मुख न होकर संसार के विषयों की ओर ही उन्मुख होता है, उस पापात्मिका वृत्ति के रहते मन से शुद्ध आत्मा का बोध नहीं हो सकता, किन्तु मन जब काम्य, निषिद्ध कर्मों के त्याग और नित्य, नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से निर्मल हो जाता है, तभी उससे शुद्ध आत्मा का बोध हो सकता है। निर्मल मन से शुद्ध आत्मा का बोध होता है, इस तथ्य का उद्घोष स्वयं श्रुति ही करती है, जैसे 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया' इस श्रौत वचन में 'बुद्धि' का अर्थ है मन और 'अग्र्या' का अर्थ है उत्कृष्टा, मन की उत्कृष्टता का अर्थ है मलहीनता।

एक अन्य उत्तर के अनुसार वाणी के अगोचर का अर्थ है शब्द से होने वाले परोक्ष ज्ञान का अविषय, वेदान्त के अनुसार वह सभी ज्ञान परोक्ष हैं जो माया वा माया के परिणामभूत किसी वस्तु को विषय करता है, क्योंकि 'साक्षाद् अपरोक्षाद् ब्रह्म' इस श्रुति के अनुसार ब्रह्म आत्मा ही अपरोक्ष है, अतः केवल आत्मा को विषय करने वाला ज्ञान ही अपरोक्ष ज्ञान है। तत्पदार्थ सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व आदि धर्मों से विशिष्ट आत्मा-ब्रह्म और त्वम्पदार्थ अल्पज्ञत्व, अल्पकर्तृत्व आदि धर्मों से विशिष्ट आत्मा-जीव, जब इन दोनों पदार्थों का शोधन होने से उक्त सभी धर्मों से मुक्त आत्मा दोनों पदों के अर्थ रूप में उपस्थित होता है तब 'तत् त्वम् असि' इस महावाक्य से ऐसा बोध उत्पन्न होता है, जिसमें माया वा किसी भी मायाकल्पित का भान न होकर केवल आत्मा का ही भान होता है, यह बोध ही अपरोक्षज्ञान है, इस ज्ञान का विषयभूत शुद्ध आत्मा शब्द से होने वाले परोक्षज्ञान का विषय नहीं होता, इसी अर्थ में उसे वाणी का अगोचर कहा जाता है।

अर्थतोऽप्यद्वयानन्दानतीतद्वैतभानतः ।
गुरूनाराध्य वेदान्तसारं वक्ष्ये यथामति ॥ २ ॥

भूतमात्मानमाश्रये। किमर्थम्। अभीष्टसिद्धये। अभीष्टं शास्त्रार्थाप्रतिपत्त्यन्यथाप्रतिपत्तिविप्रतिपत्तिनिरासलक्षणं यथाशास्त्रमर्थसङ्ग्रहसामर्थ्यलक्षणं च। तस्य सिद्धिः सम्पत्तिस्तस्यै तदर्थमित्यर्थः ॥ १ ॥

एवं शास्त्रप्रतिपाद्यपरदेवतातत्त्वानुस्मरणलक्षणं मङ्गलं विधायेदानीं "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ" इत्यादिशास्त्राद्देवताभक्तिवद्गुरुभक्तेरपि विद्याङ्गत्वप्रतीतेः "देवमिवाचार्यमुपासीत" इत्यादिस्मृतेश्च गुर्वाराधनोक्ति-

---

अखिलाधारम्—

इस शब्द से आत्मा को अखिल ज्ञेय का आधार कहा गया है, इससे आत्मा की आश्रयणीयता की पुष्टि होती है, क्योंकि जब वह अखिल का आधार है तो निश्चय ही वह ग्रन्थकार के अभीष्ट का भी आधार है, अतः इसका आश्रय लेने से अभीष्ट का सिद्धि सम्भव हो सकती है, यतः आधार में ही आश्रित की प्राप्ति न्याय प्राप्त है। इससे अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि इस शब्द से आत्मा के तटस्थ लक्षण का निर्देश किया गया है जो अत्यावश्यक है क्योंकि सच्चिदानन्द शब्द से उसके स्वरूप लक्षण मात्र का निर्देश किया गया है और किसी वस्तु के पूर्ण बोध के लिए स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षण दोनों की आवश्यकता होती है स्वरूप लक्षण का अर्थ होता है लक्ष्यस्वरूप-लक्ष्याभिन्न लक्षण और तटस्थ लक्षण का अर्थ है लक्ष्य स्वरूप से बहिर्भूत लक्षण ॥ १ ॥

अनुवाद—

(मैं सदानन्द केवल नाम से ही नहीं, अपितु) अद्वैतसाक्षात्कार के कारण अर्थ से भी अद्वय-आनन्दस्वरूप पूज्य गुरु की आराधना कर (अपनी) बुद्धि के अनुसार वेदान्त (शास्त्र) का सार-निष्कृष्ट अर्थ कहूँगा।

व्याख्या—

प्रस्तुत पद्य से बताया गया है कि ग्रन्थकार ने ग्रन्थ रचना आरम्भ करने के पूर्व अपने गुरु की आराधना की है, यह आराधना निःसीम श्रद्धा और भक्ति के साथ गुरु का स्मरण, वन्दन और स्तवनरूप है, क्योंकि ग्रन्थरचना के समय सर्वत्र ग्रन्थकर्त्ता के गुरु का शरीरतः सन्निधान सम्भव नहीं होता, अतः उक्त आराधना ही ग्रन्थरचना से पूर्व ग्रन्थकार के लिये सम्भव होती है।

ग्रन्थरचना से पूर्व गुरु की आराधना ग्रन्थकार ने क्यों की ? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि इष्टदेव की आराधना के समान गुरु की आराधना भी विद्याप्राप्ति का अङ्ग है, विद्या का अर्थ है शास्त्रों के प्रतिपाद्य अर्थ का यथार्थ बोध, यह शास्त्रों के निष्ठापूर्वक निर्विघ्न अध्ययन से प्राप्त होता है, अध्ययन में निष्ठा उसी मनुष्य की होती है जिसका मन निर्मल-निष्पाप होता है, मन की निर्मलता इष्टदेव की कृपा से ही होती है, जो इष्टदेव की आराधना से प्राप्त होती है, अतः शास्त्रों में इष्टदेव की आराधना को विद्याप्राप्ति का अङ्ग कहा गया है।

पूर्वकं स्वचिकीर्षितं प्रतिजानीते—अर्थत इति श्लोकेन। वेदान्तो वक्ष्यमाण-लक्षणस्तस्य सारो मथितार्थस्तं वक्ष्ये। तच्च यथामति स्वमत्यनुसारेण।

वेदानुग्रह से मन के निष्पाप होने पर भी शास्त्र का अर्थबोध तब तक नहीं प्राप्त हो सकता जब तक शास्त्र का उपदेश देनेवाले शास्त्रतत्त्ववेत्ता सद्गुरु का अनुग्रह न प्राप्त हो, अतः गुरु का अनुग्रह प्राप्त करने के लिये गुरु की आराधना आवश्यक होती है, इसीलिये शास्त्रों में देवाराधना के समान गुरु-आराधना को भी विद्याप्राप्ति का अङ्ग कहा गया है। जैसे—

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

(श्वेता० ६।२३)

जिसकी देवता में उत्कृष्ट भक्ति होती है तथा देवता के समान ही गुरु में भी उत्कृष्ट भक्ति होती है उस महात्मा—निर्मलमना मनुष्य को शास्त्र में कहे गये अर्थ स्फुरित—स्पष्टरूप में परिज्ञात होते हैं।

'देवमिवाचार्यमुपासीत' (आपस्तम्बसूत्र, १।६।१३)

देवता के समान आचार्य की उपासना करनी चाहिये।

गुरूनाराध्य—

'गुरून्' शब्द गुरुशब्द से द्वितीया बहुवचन विभक्ति से निष्पन्न है, इस विभक्ति से बहुत्व संख्या का बोध अभिमत नहीं है, क्योंकि इस पद्य में 'अद्वयानन्द' नाम के एक गुरु का ही निर्देश है, अतः 'पूजायां बहुवचनम्' इस शब्दशास्त्रीय अनुशासन के अनुसार उसका अर्थ है पूज्यत्व, और उसका अन्वय होता है गुरु शब्द के अर्थ गुरु में, अतः 'गुरून्' शब्द का अर्थ है पूज्य गुरु। द्वितीया विभक्ति कर्मकारक विभक्ति है, अतः उसका अर्थ है 'कर्मत्व'। उसमें गुरुशब्दार्थ का निष्ठत्व सम्बन्ध से तथा उसका निरूपकत्व सम्बन्ध से 'आ' उपसर्गयुक्त 'राध्' धातु के अर्थ आराधना में अन्वय होता है।

'आराध्य' शब्द आ–'राध्' धातु से 'क्त्वा' के स्थान में 'ल्यप्' होने से निष्पन्न हुआ है, धातु का अर्थ कहा जा चुका है, 'ल्यप्' का अर्थ है समान कर्तृकत्व और अव्यवहितोत्तरत्व, इन दोनों में धात्वर्थ का और धात्वर्थ से अन्वित इन दोनों अर्थों का अन्वय 'वक्ष्ये' शब्द के अन्तर्गत 'वच्' धातु के अर्थ 'कथन' के साथ होता है, अतः 'गुरूनाराध्य वक्ष्ये' का अर्थ हो जाता है गुरुकर्मक आराधना का समानकर्तृक और अव्यवहितोत्तर कथन, इससे सूचित होता है कि गुरु का आराधना करनेवाला और वेदान्तसार का कथन करनेवाला व्यक्ति एक है और वेदान्तसार का कथन गुरु की आराधना के ठीक बाद में हुआ है।

गुरु—गुरु का अर्थ है सिद्धिदाता, पापादाहक विष्णु, जैसा कि ब्रह्मवैवर्तपुराण काशीरहस्य परिशिष्ट के प्रथम अध्याय मे गुरु तत्त्व का निरूपण करते हुए कहा गया है—

अनन्तशाखाप्रविततस्यातिगम्भीरार्थस्य वेदान्तस्यार्वाग्बुद्धिभिरपरिच्छेदात् । तदुक्तमभियुक्तैः—

"गुरुचरणसरोजसन्निधानादपि वयमस्य गुणैकलेशभाजः ।
अपि महति जलार्णवे निमग्नाःसलिलमुपाददते मितं हि मीनाः" इति ।।

गकारः सिद्धिदः प्रोक्तो रेफः पापस्य दाहकः ।
उकारो विष्णुरव्यक्तस्त्रितयात्मा गुरुः परः ।। ६२ ।।
गणेशो वाग्निना युक्तो विष्णुना च समन्वितः ।
वर्णद्वयात्मको मन्त्रश्चतुर्वर्गफलोदयः ।। ६३ ।।
गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुरेव परः शिवः ।
शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन ।। ६४ ।।
गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुरेव परं तत्त्वं तस्माद् गुरुमुपाश्रयेत् ।। ६५ ।।

वेदान्तसारं वक्ष्ये—

'वेद' का अर्थ है वह व्यवस्थित शब्द राशि, जिससे मनुष्य की अनिष्टनिवृत्ति और इष्टप्राप्ति का वह उपाय बताया जाता है जिसका ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान आदि अन्य प्रकारों से नहीं होता ।

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा वस्तूपायो न बुध्यते ।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ।।

वेद की वेदता यही है कि लोग उससे ऐसे उपाय का ज्ञान प्राप्त करते हैं जो प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से अवगत नहीं होता ।

इस वेदात्मक शब्दराशि के सम्बन्ध में विभिन्न दर्शनों के विभिन्न मत हैं । जसे—

न्याय और वैशेषिक दर्शन का मत है कि वेद भगवान् की वाणी है, भगवान् यद्यपि अशरीर होने से बोल नहीं सकते और बोले बिना किसी वाणी को अस्तित्व लाभ नहीं हो सकता तथापि सृष्टि की रचना कर लेने के बाद मनुष्यों को उनके इष्ट साधन और अनिष्ट परिहार का उपाय बताने के लिये भगवान् उपदेष्टा और उपदेश ग्रहीता शरीरों की रचना कर और उनमें स्वयं प्रविष्ट हो कर उपदेष्टा शरीर से उच्चारण द्वारा वेद को जन्म देते हैं और उपदेशग्रहीता शरीर से वेदार्थ का अनुष्ठान कर मनुष्य को वेद और वेदार्थ की शिक्षा प्रदान करते हैं, जैसा कि महामनीषी उदयनाचार्य ने कहा है—

स्वत्वं यस्य निजं जगत्सु जनितेष्वादौ ततः पालनं,
व्युत्पत्तेः करणं हिताहितविधिव्यासेधसम्भावनम् ।।
भूतोक्तिः सहजा कृपा निरुपधिर्यत्तत्परतदर्थात्मकः,
तस्मै पूर्वगुरूत्तमाय जगतामीशाय पित्रे नमः ।। आत्मतत्त्वविवेक ।

एतच्च गर्वपरिहारोक्तिवचनं न पुनर्वादिभयनिमित्तं यथाशास्त्रमर्थसङ्ग्रहादित्यर्थः। किं कृत्वा। गुरूनाराध्य। भक्तिश्रद्धातिशयस्तुतिनमस्कारादिना देवमिव पूजयित्वा। गुरूनित्येकस्मिन्बहुवचनं पूजार्थम्। किंनामानो गुरव इत्यपेक्षायां स्वस्य साम्प्रदायिकत्वज्ञापनार्थं तान्नामतो निर्दिशति—अद्वयानन्दानिति। नाम्नो डित्थादिवत्संज्ञामात्रत्वं व्यावर्तयति—अर्थत इति।

जगत् का सर्व प्रथम उत्पादन करने से जो उसका सहज स्वामी है, जिसने उसके पालन की व्यवस्था की है, जगत् की रचना हो जाने पर जिसने आदेष्टा और आदेश्य शरीर धारण कर तदानीन्तन मनुष्य को तत्तद् अर्थों में तत्तद् शब्दों के संकेत का ज्ञान प्रदान किया है और उसे उसके कर्तव्य-अकर्तव्य की शिक्षा दी है, जिसकी वेदरूपा वाणी नितान्त सत्य है जिसकी मनुष्यजाति पर सहज कृपा है, और जो तदनुसार निःस्वार्थ भाव से उसके हित सम्पादन में निरन्तर प्रयत्नशील है, जो सभी गुरुजनों में सर्वश्रेष्ठ है और जो सम्पूर्ण जगत् का अधीश्वर है वह हम सब का वन्दनीय है।

महर्षि कणाद ने वेद को ईश्वर के वचन रूप में प्रमाण माना है—'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' आम्नाय-वेद ईश्वर का वचन होने से प्रमाण है।

महामुनि गौतम ने आप्त-परमात्मा के प्रामाण्य से वेद का प्रामाण्य बताते हुये उसे भगवान् का वचन होने में अपना अभिप्राय प्रकट किया है—

'मन्त्रायुर्वेदवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्'

जिस प्रकार सर्प आदि के विष का शमन करने वाला मन्त्र, विभिन्न रोगों के शामक उपचार बताने वाला आयुर्वेद अपने आप्त वक्ता के प्रमाण होने से प्रामाणिक है उसी प्रकार पारलौकिक फलों के साधन का प्रतिपादन करने वाला वेद भी अपने आप्तवक्ता के प्रमाण होने से निस्सन्देह प्रामाणिक है। आशय यह है कि ऐहिक फल के साधन बताने वाले मन्त्रशास्त्र और आयुर्वेद शास्त्र मूलतः जिस आप्त पुरुष ईश्वर से रचित हैं उसी आप्त पुरुष से पारलौकिक फल के साधन बताने वाले वेद भी रचित हैं, अतः मन्त्र और आयुर्वेद से ऐहिक फल की प्राप्ति होने से जब उनकी प्रामाणिकता सिद्ध है तब उसी प्रकार अन्य वेद को भी प्रामाणिक मानना न्यायप्राप्त है क्योंकि यह सम्भव नहीं है कि किसी आप्त पुरुष की एक बात सत्य हो और दूसरी बात असत्य हो।

सांख्य दर्शन के अनुसार कपिलमुनि एक सहज सिद्ध पुरुष हैं, वे आदि विद्वान्—सृष्टि के प्रथम विद्वान् हैं, उन्हों ने ही वेदों का निर्माण किया है। उनके यथार्थ सर्वज्ञ होने से उनसे रचित वेद निर्विवाद रूप से प्रमाण है।

पातञ्जल योग दर्शन में ईश्वर को वेद का निर्माता कहा गया है, जिसका निर्देश उदयनाचार्य ने न्याय कुसुमाञ्जलि के आरम्भ में इस प्रकार किया है।

निर्माणकायमधिष्ठाय सम्प्रदायप्रद्योतकोऽनुग्राहकश्चेति पातञ्जलाः

ईश्वर सृष्टि की रचना हो जाने पर वेद निर्माण के उपयुक्त शरीर को धारण कर वेदों को प्रकट करता है और इस प्रकार सम्पूर्ण मानव जाति पर अनुग्रह करता है।

पूर्वमीमांसा दर्शन में वेद को अपौरुषेय माना गया है जिसका आशय यह है कि वेद किसी पुरुष का बनाया हुआ नहीं है यहाँ तक कि वह ईश्वर का भी बनाया हुआ नहीं है, किन्तु जिस रूप में वह उपलब्ध होता है उसी रूप में वह अनादि नित्य है, वह न कभी किसी से प्रादुर्भूत हुआ है और न कभी उसका नाश होगा, संसार अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में अनादि अनन्त है, उसमें अनादि गुरुशिष्यपरम्परा से वेदों का अध्ययन-अध्यापन प्रचलित है, अध्ययन-अध्यापन में शिथिलता आने पर उसके अंश की उपलब्धि अवरुद्ध हो जाती है किन्तु अनुपलब्ध वेदभाग भी स्वरूपतः बना रहता है, जो वेदभाग अनुपलब्ध हो जाता है वह भी कालान्तर में योग, तप आदि के अनुष्ठान से विशेष शक्ति अर्जित करने वाले विशिष्ट पुरुषों को उपलब्ध हो सकता है।

उत्तरमीमांसा-वेदान्त दर्शन में भी वेद को अपौरुषेय माना गया है किन्तु मीमांसादर्शन को सम्मत अपौरुषेयता से वेदान्तसम्मत अपौरुषेयता में भेद है, वेदान्त दर्शन का मत है कि संसार का प्रवाह अनादि अवश्य है पर अविच्छिन्न नहीं है, किन्तु यथासमय पूर्व संसार का उच्छेद होकर कालान्तर में नये संसार का उदय होता है, पूर्व संसार के उच्छेद के साथ उस समय के वेद का भी उच्छेद हो जाता है और जब नया संसार बनता है तब ईश्वर पूर्व संसार में स्थित वेद का स्मरण कर ठीक उसी के समान नये वेद का निर्माण करता है, इस प्रकार उत्पत्ति की दृष्टि से वेद पौरुषेय है, किन्तु नये वेद में पूर्व वेद की अपेक्षा किंचित् भी वैलक्षण्य करने में ईश्वर को स्वातन्त्र्य नहीं प्राप्त है, इस दृष्टि से वेद अपौरुषेय है, वेदान्ती विद्वानों का आशय यह है कि पौरुषेय उसी को कहा जाता है जिसे कर्तुम् अकर्तुं अन्यथाकर्तुं पुरुष स्वतन्त्र होता है, वेद की रचना में ईश्वर को यह स्वतन्त्रता नहीं है कि वह चाहे तो वेद की रचना करे और न चाहे तो न करे अथवा जैसा चाहे वैसी रचना करे अपितु वह नवीन सृष्टि के आरम्भ में पूर्व सृष्टि के वेद के समान ही वेद रचना करने को नियतितन्त्र है।

वेद—

वेद के अन्य भी अनेक नाम हैं जैसे श्रुति[1] अनुश्रव[2] त्रयी[3] छन्द[4] आम्नाय[5] तथा समाम्नाय निगम[6] आगम[7] आदि।

---

१. श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः (मनु २।१०)

२. अनुश्रवो वेदः (वाच० मि०, सां-का० २)

३. अग्नेः ऋचः, वायोः यजूंषि, सामानि आदित्यात्, स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत् (छान्दो० १।१७, १।१०)

४. देवा वै मृत्योर्बिभ्यतः त्रयीं विद्यां प्राविशन् ते छन्दोभिराच्छादयन्, यदेभिराच्छादयन्, तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् (छान्दो० ३।४।२)

५. आम्नायसमाम्नायौ वेद एव रूढौ (नागेश, लघु० श० शे० व्याख्या इति माहेश्वराणि सूत्राणि)

६. भागवत श्रीधरी व्याख्या १।१।३

७. आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि (श्लो० वा०, कु-भ०)

अपिशब्दः शब्दार्थयोः समुच्चयार्थः । न केवलं शब्दतः किन्त्वर्थतोऽपीति। तत्र हेतुः–अतीतद्वैतभानत इति । अतीतं द्वैतं यस्मात्तदतीतद्वैतं प्रत्यगात्मतत्त्वं तस्य भानं साक्षात्कारस्तस्मादतीतद्वैतभानतः । 'अतीतद्वैतभावत' इति पाठे तत्त्वज्ञानविध्वस्तनिखिलभेदब्रह्मत्वादित्यर्थः ॥ २ ॥

इन नामों से जिस शब्दराशि को अभिहित किया जाता है उसके दो रूप हैं 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् (आप० परि०)

जिस वेदभाग का कर्मकाल में विनियोग होता है उसे मन्त्र और जिस वेदभाग में कर्मों का विधान और उनका स्तवन होता है उसे ब्राह्मण कहा जाता है, जैसा कि षड्गुरु शिष्य की सर्वानुक्रमणीवृत्ति भूमिका में कहा गया है—

मन्त्रब्राह्मणयोराहुर्वेदशब्दं महर्षयः ।
विनियोक्तव्यरूपो यः स मन्त्र इति चक्षते ।
विधिस्तुतिपरं शेषं ब्राह्मणं कथयन्ति हि ॥

वेद विभाग—

भारद्वाज के अनुसार 'अनन्ता वै वेदा:' वेद अनन्त और विभक्त हैं। महर्षि व्यास ने उनमें से कुछ को ग्रहण कर स्वरूप और उपयोगिता की दृष्टि से चार भागों में विभक्त किया ऋक्, यजुस्, साम और अथर्व, पद्यात्मक वेद को ऋक्, गद्यात्मक वेद को यजुष्, गीत्यात्मक वेद को साम तथा शान्ति, पुष्टि आदि कर्मों के प्रतिपादक वेद को अथर्व कहा जाता है । अथर्व में पूर्व तीनों वेदों के ही मन्त्रों का सोद्देश्य संकलन होने से उसकी पृथक् गणना कर बहुत्र वेदत्रयी का ही उल्लेख प्राप्त होता है ।

वेदान्त—

वेदों का अन्त चरम भाग 'वेदान्त' शब्द से अभिहित होता है, उसे वेदों का शिरोभाग भी कहा जाता है, उसका दूसरा प्रसिद्ध नाम है 'उपनिषद्', परवर्तीकरण में ब्रह्मसूत्र, उपनिषद्; भगवद्गीता और उसका भाष्य, यह सब वेदान्त शब्द से व्यवहृत होने लगे । प्रस्तुत ग्रन्थकार की दृष्टि में तो वेदान्त की परिधि में वे सभी ग्रन्थ भी आ गये, जो उनके समय तक उपर्युक्त ग्रन्थों के आधार पर रचित होकर प्रामाणिक रूप में प्रसिद्धि पा चुके थे ।

वेदान्तसार—

वेदान्तसार का अर्थ है वेदान्त शब्द से प्रसिद्ध सभी ग्रन्थों का श्रवण-मनन द्वारा मन्थन करने पर उन सबों के समन्वय से प्राप्त होने वाला निष्कृष्ट अर्थ, वह है मुख्य रूप से सत्, चित्, आनन्द स्वरूप अद्वय ब्रह्म और गौण रूप से उसकी अवगति के अङ्ग भूत ईश्वर, जीव, माया, अविद्या, अज्ञान, अध्यारोप, अपवाद. एवं अन्तःकरण आदि आन्तर और आकाश आदि वाह्य जगत्प्रपंच, बन्ध, मोक्ष तथा उसके साधन ।

यथामति वक्ष्ये—

ग्रन्थकार ने उक्त शब्द से वेदान्त शास्त्र के सारभूत अर्थ को अपनी बुद्धि के अनुसार कहने की प्रतिज्ञा की है । इस प्रतिज्ञा से यह सूचित किया गया है कि वेदों के

सहस्रों शाखावों के विस्तृत होने के कारण वेदान्त का भी महान् विस्तार है अतः उसके गम्भीरतम अर्थ रहस्य का अवगम दुष्प्राप्य होने से उसका अविकल प्रतिपादन दुष्कर है, अतः ग्रन्थकार को उसका जितना ज्ञान हो पाया है। उसी के अनुसार वे प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना कर रहे हैं, इसलिए उसके द्वारा वेदान्त सिद्धान्त के वर्णन में यदि कोई भूल अथवा कमी प्रतीत हो तो उसे सिद्धान्तगत न समझ कर ग्रन्थकारगत समझना चाहिये क्योंकि उन्होंने अपनी बुद्धि की सीमित क्षमता के अनुसार ही वेदान्त को समझा है और तदनुसार ही उसका वर्णन किया है और यही स्वाभाविक भी है, जैसा कि संक्षेप शारीरक (१।९) में अंकित है—

गुरुचरणसरोजसन्निधानादपि वयमस्य गुणैकलेशभाजः।
अपि महति जलार्णवे निमग्नाः सलिलमुपाददते मितं हि मीनाः॥

विनीत गुरुभक्तों का कहना है कि, जैसे जल के महान् समुद्र में भी गोते लगानेवाली जल की मछलियाँ अपने शरीर के अनुरूप उसका अत्यन्त सीमित ही जल ग्रहण कर पाती हैं, ठीक उसी प्रकार—वे सर्वज्ञ-कल्प गुरुदेव के चरणकमलों के सन्निधान में रहकर उनके सर्वार्थबोधक उपदेश को सुनकर भी अपनी बौद्धिक सीमा के कारण उनके अगाध ज्ञानगुण के किञ्चित् अंश को ही प्राप्त कर पाते हैं।

अथवा, 'यथामति' का अर्थ है यथाप्राप्त मति, और यथाप्राप्ति के साथ 'गुरून् आराध्य' का सम्बन्ध है, जिससे ग्रन्थकार का यह निवेदन विदित होता है कि उन्होंने गुरु की आराधना का जैसा बोध प्राप्त किया है, उसी के अनुसार वे वेदान्तसार का वर्णन करेंगे, इस कथन से वे यह बताना चाहते हैं कि, उनका वेदान्तसार गुरुप्रसाद से लभ्य होने के कारण साम्प्रदायिक परम्परा प्राप्त और यथार्थ है तथा उसके वर्णन में उन्हें अपनी स्वतन्त्र कल्पना से कुछ जोड़ना नहीं है। अतः वेदान्तसार के जिज्ञासु अध्येता को पूर्ण आस्था और प्रामाणिकता के साथ इस ग्रन्थ का अध्ययन करना चाहिये।

वक्ष्ये—

'वक्ष्ये' वच् धातु के लृट् लकार, उत्तम पुरुष, एक वचन, आत्मनेपद 'इट्' प्रत्यय का रूप है। इसमें धातु का अर्थ है—कथन, प्रतिपादन, और उसका अर्थ है, बोधजनक-शब्द का प्रयोग। लृट् के स्थान में आये उक्त प्रत्यय का अर्थ है भविष्यत्काल, कृति और एकत्व। इनमें कृति में भविष्यत्काल का तथा धात्वर्थ शब्द या शब्द प्रयोग का अन्वय होता हैं, और कृति का एवं एकत्व का अन्वय 'वक्ष्ये' इस क्रिया पद से आक्षिप्त कर्तृपद 'अहं' के अर्थ ग्रन्थकर्त्ता में होता है। अतः 'वेदान्तसारं वक्ष्ये' का अर्थ होता है—एकः (अहं सदानन्दः) वेदान्तसारकर्मककथन—वेदान्तसार-बोधकशब्दप्रयोगानुकूल भविष्यत्कालिक-कृतिमान्-(मैं सदानन्द) अकेला वेदान्तसार-के बोधक शब्द का प्रयोग करूँगा। इस कथन से यह बताया गया है कि, भविष्यत्काल में अर्थात् ग्रन्थरचना का इस प्रतिज्ञा के ठीक उत्तर काल में ऐसे शब्दों का प्रयोग

किया जायगा, जिससे श्रोता-अध्येता को वेदान्तसार का बोध होगा और उन शब्दों का प्रयोग अकेले ग्रन्थकार का ही प्रयोग होगा। एकवचन के प्रयोग से यह सूचित किया गया है कि, वेदान्तसार ग्रन्थ की रचना एक-मात्र सदानन्द की ही कृति है, कई विद्वानों की सम्मिलित कृति नहीं है।

श्लोक के पूर्वार्ध में गुरु के नाम का, और उनके उत्कर्ष के ज्ञापक उनकी उपलब्धि का उल्लेख है। यह उल्लेख गुरु के परिचय और उनकी कीर्ति के विस्तार के लिये किया गया है, ग्रन्थकार का कहना है कि उनके गुरु का नाम है 'अद्वयानन्द' और वे केवल नाम से ही अद्वयानन्द नहीं हैं अपितु अर्थ से भी अद्वय आनन्द हैं। आशय यह है कि वे 'अद्वयानन्द' इस साङ्केतिक नाम मात्र को नहीं धारण करते किन्तु उस नाम के योगार्थ को भी धारण करते हैं, क्योंकि उन्हें अतीतद्वैतभान प्राप्त हो चुका है। अतीतद्वैतभान के कई अर्थ हैं. जैसे अतीतं द्वैतभानं तस्मात् द्वैतभान—भेदबुद्धि के निवृत्त हो जाने से, अथवा अतीतं द्वैतं यस्मात् तस्य भानतः-जो द्वैत-सर्वविध भेद से शून्य है, उस ब्रह्म के साक्षात्कार से, किंवा अतीतं द्वैतं यस्मात्, एवम्भूताद् भानतः जो साक्षात्कार अविद्या तथा आविद्यक पदार्थ रूप द्वैत से मुक्त है अर्थात् ब्रह्मानन्द का अखण्ड साक्षात्कार।

तात्पर्य यह है कि जिस मनुष्य की भेदबुद्धि समाप्त हो जाती है, जिसे ब्रह्म से भिन्न किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता, जो सब प्रकार के भेदों से शून्य ब्रह्मानन्द का अनुभव करने लगता है, जिसके अन्तःकरण में ऐसे साक्षात्कार का उदय हो जाता है जो अविद्या तथा आविद्यक किसी वस्तु को ग्रहण न कर एक मात्र अखण्ड ब्रह्मानन्द मात्र को ही विषय करता है, वह मनुष्य 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म ही हो जाता है, इस श्रुति के अनुसार ब्रह्म बन जाता है। ग्रन्यकार सदानन्द के गुरु अद्वयानन्द ने अखण्ड अद्वय ब्रह्मानन्द का साक्षात्कार कर अद्वय आनन्दरूपता को प्राप्त कर लिया था। अतः वे नाममात्र के अद्वयानन्द नहीं थे किन्तु यह नाम उनमें अन्वितार्थक था, वह वास्तव में अद्वय आनन्द थे।

वेदान्तसार के कुछ संस्करणों में 'अतीतद्वैतभावतः' पाठ प्राप्त होता है, 'अतीतं द्वैतं यस्मात् सः अतीतद्वैतः, तस्य भावस्तस्मात्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार उसका अर्थ है—द्वैतमुक्तता, द्वयोर्भावः द्विता, द्विता एव द्वैतम्, इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'द्वैत' का अर्थ है दो का धर्म द्वित्व, यह द्रव्यों में संख्या रूप और द्रव्यभिन्न में 'दो द्रव्यभिन्न वस्तुओं को विषय करने वाली बुद्धि का विषयत्व रूप, अथवा विषयता सम्बन्ध से उक्त बुद्धि रूप' होता है और स्व-प्रतियोगित्व, स्वानुयोगित्व-अन्यतर सम्बन्ध से भेद का समनियत होता है, जैसे दो घटों के परस्पर भेद का एक घट प्रतियोगी और दूसरा अनुयोगी एवं घट पट के परस्पर भेद का घट अथवा पट प्रतियोगी अथवा अनुयोगी होता है।

वेदान्त मत में एक मात्र ब्रह्म की ही सत्ता है, अन्य किसी वस्तु की सत्ता नहीं है। अतः उसमें संख्यारूप द्वित्व अथवा बुद्धि-विशेषरूपद्वित्व नहीं हो सकता क्योंकि द्वित्व

वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च ।

ब्रह्मात्मप्रतिपत्तिपरेषु श्रुतिसूत्रेषु विद्वन्निर्मितनिबन्धेषु चाविशेषेण वेदान्तशब्दस्य लोके प्रयोगदर्शनात्सर्वत्र मुख्यवृत्तितः प्रतीतिं वारयन्मुख्य-गौणभेदेन वेदान्तशब्दं व्युत्पादयति—वेदान्तो नाम इत्यादिना। उपनिष-च्छब्दो ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारविषयः। उपनिपूर्वस्य क्विप्प्रत्ययान्तस्य षद्लृ-विशरणगत्यवसादनेष्वित्यस्य धातोरुपनिषदिति रूपम्। तत्रोपशब्दः सामी-प्यमाचष्टे तच्च सङ्कोचकाभावात्सर्वान्तरे प्रत्यगात्मनि पर्यवस्यति। निशब्दो निश्चयवचनः। सोऽपि तत्तत्त्वमेव निश्चिनोति तन्नैकट्यवाच्युपशब्दसामाना-

---

का व्यापक भेद, उसमें नहीं रहता। किन्तु अनादि काल से उसकी इस द्वित्व-शून्यता एवं भेदशून्यता का अज्ञान है, जिसने ब्रह्म में द्वित्व और भेद के भ्रम को भी अपना अनादि सहवर्त्ती बना रखा है। यह अज्ञान और भ्रम ही जीव और जगत् का मूल है। इसी ने मनुष्य जीवन को विविध प्रकार से दीन-हीन बना रखा है। अतः मनुष्य का कर्तव्य है कि वह उक्त अज्ञान और भ्रम से अपने आप को मुक्त कर अपने पारमार्थिक अद्वितीय ब्रह्मानन्द-भाव को प्राप्त करे। ग्रन्थकार का कहना है, कि उनके गुरु को अद्वयानन्द नाम प्राप्त होने पर अपने वास्तव स्वरूप का संकेत मिला और उन्होंने उसके लिये अपेक्षित साधना कर द्वैतमुक्त हो अपना अद्वय-आनन्द नाम रूप पा लिया।

प्रश्न हो सकता है कि ग्रन्थकार ने वेदान्तसार के प्रतिपादन की प्रतिज्ञा तो की, पर यह नहीं बताया कि प्रतिज्ञा के बाद जिस वाक्यसमूह का उन्होंने प्रयोग किया है वही प्रतिज्ञात प्रतिपादन है। अतः उसके श्रवण में वेदान्ततत्त्व-जिज्ञासु की प्रवृत्ति कैसे होगी। इसका उत्तर है कि प्रतिज्ञा के उत्तर विहित होने से ही प्रतिज्ञोत्तर प्रयुक्त वाक्यसमूह में प्रतिज्ञात प्रतिपादन-रूपता का ज्ञान हो जाता है क्योंकि आप्त-पुरुष का यह स्वभाव होता है कि, वह जिसकी प्रतिज्ञा करता है, प्रतिज्ञा के अनन्तर उसे अवश्य करता है। उसके इस स्वभाव के अनुसार ही यह नियम है कि 'यत् प्रतिज्ञाय यत् क्रियते तत् तदात्मकं भवति' जिस कार्य की प्रतिज्ञा कर जो कार्य किया जाता है, वह प्रतिज्ञात कार्य स्वरूप होता है।' यदि यह नियम न हो तो प्रतिज्ञा करना ही व्यर्थ होगा क्योंकि प्रतिज्ञा का उद्देश्य ही यही होता है कि, लोग प्रतिज्ञा से कर्तव्य को जान सकें और तदनुसार प्रवृत्त हो सकें॥ २॥

अनुवाद—

उपनिषद्-प्रमाण और उसके उपकरण शारीरक सूत्र आदि वेदान्त हैं।

व्याख्या—

दूसरे पद्य से ग्रन्थकार ने वेदान्त के सारभूत अर्थ के प्रतिपादन की प्रतिज्ञा की है किन्तु पद्य से वेदान्त का कोई परिचय नहीं प्राप्त होता और जब तक अध्येता को

धिकरण्यात्। तस्माद् ब्रह्मविद्यास्वसंशीलिनां संसारस्मारतामतिं सादयति विषादयति शिथिलयतीति वा परमश्रेयोरूपं प्रत्यगात्मानं सादयति गमयतीति वा दुःखजन्मप्रवृत्त्यादिमूलाज्ञानं सादयत्युन्मूलयतीति वोपनिषत्पदवाच्या। सैव प्रमाणम्। तस्याः प्रमारूपायाः करणभूतः सर्वशाखासूत्तरभागेषु पठ्यमानो ग्रन्थराशिरप्युपचारात्प्रमाणमित्युच्यते। तथा चोपनिषदः प्रमाणं प्रसाकरणमुपनिषत्प्रमाणं वेदान्त इत्यर्थः। तदुपकारीणि वेदान्तार्थविचारानुकूलानीति यावत्। तदनुकूलत्वं वेदान्तवाक्यप्रमेयासम्भावनापोहद्वारा न तु प्रमित्युत्पत्तौ तत्फले वा साक्षाद्विचारशास्त्रस्याङ्गभावस्तथा सति वेदान्तवाक्यानां सापेक्षताप्रसङ्गात्। तदुक्तमभियुक्तैः—

वेदान्त का परिचय नहीं होगा, तब तक उसे उसके अर्थ की जिज्ञासा नहीं होगी, फलतः जिज्ञासा के अभाव में ग्रन्थकार के प्रतिपादन को सुनने में अध्येता की प्रवृत्ति न होने से ग्रन्थ-रचना का श्रम निरर्थक होगा, अतः प्रस्तुत ग्रन्थभाग से ग्रन्थकार ने वेदान्त का परिचय देते हुए कहा है कि, वेदान्त वही है, जिसे विद्वन्मण्डली वेदान्त शब्द से जानती और व्यवहृत करती है। वह है उपनिषद्-रूप प्रमाण और उसके सहायक शारीरक-सूत्र आदि विविध ग्रन्थ।

वेदान्त शब्द का अर्थ है वेदों का अन्त—उत्तर भाग, जिसे उपनिषद्, वदशिरस् आदि शब्दों से अभिहित किया जाता है। उपनिषद् शब्द 'उप' और 'नि' उपसर्गों से युक्त 'षद्' धातु से क्विप् प्रत्यय होने से निष्पन्न है। इसमें 'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु' इस वचन के अनुसार 'षद्' धातु का अर्थ है विशरण—विशीर्ण करना-शिथिल करना, गति-प्राप्ति कराना और अवसादन-उन्मूलन करना, 'उप' का अर्थ है समीप-समीपस्थ; 'नि' का अर्थ है निर्बाध निस्संशय, नितराम् आदि, क्विप् (लुप्त) का अर्थ है-कर्ता, अतः उपनिषद् शब्द का अर्थ है–समीपस्थ को शिथिल करने वाली। मनुष्य के सर्वाधिक समीप होता है उसकी आत्मा, अतः समीपस्थ-आत्मस्थ है ब्रह्म का अनादि कालिक अज्ञान, उसे जो निर्बाध, निस्संशय नितान्त रूप में शिथिल करे–वह है उपनिषद्। इसी प्रकार उप-ब्रह्मणः सामीप्यं जीवं निस्संशयं सादयति गमयति—जो जीव को ब्रह्म के समीप निस्संशय पहुँचाये वह है, उपनिषद्। जीव को ब्रह्म के समीप पहुँचाने का अर्थ है ब्रह्म और जीव के बीच दूरी पैदा करने वाले ब्रह्म-जीव के ऐक्य के अज्ञान और तन्मूलक भ्रम को दूर कर जीव में ब्रह्मैक्य का सम्पादन, इस कार्य को करने वाले का नाम है उपनिषद्। अथवा उप-उपजातम् अनादिकालात् प्रवृत्तं आत्म-संसार-सम्बन्धं नितरां सादयति-अवसादयति या सा उपनिषद्—जो अनादिकाल से प्रवर्त्तमान आत्म-संसार सम्बन्ध का नितराम् अवसादन–पुनः प्रादुर्भाव विरोधी उन्मूलन करे, वह उपनिषद् है। इन सभी अर्थों के अनुसार उपनिषद् का अर्थ होता है ब्रह्मविद्या, ब्रह्मविद्या का अर्थ है, ब्रह्माद्वैत का–द्वैतमुक्त ब्रह्म का साक्षात्कार, क्योंकि उसी से ब्रह्म के

"स्वाध्यायवन्न करणं घटते विचारो
नाप्यङ्गमस्य परमात्मधियः प्रसूतौ ।
सापेक्षतापतति वेदगिरस्तथात्वे
ब्रह्मात्मनः प्रमितिजन्मनि तन्न युक्तम्" ।। इति ।।

शरीरमेव शरीरकं तत्र भवो जीवः शारीरकः स सूत्र्यते याथातथ्येन निरूप्यते यैस्तानि शारीरकसूत्राणि "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इत्यादीनि। यद्वा शारीरकस्य सूत्राणि तद्याथात्म्यवादिवेदान्तार्थसङ्ग्रहवाक्यानि। आदिशब्दो भाष्यादिसङ्ग्रहार्थः। चशब्दो वेदान्तशब्दानुषङ्गार्थः। तथाच वेदानामन्तोऽवसानभागो वेदान्त इति व्युत्पत्तियोगान्मुख्यो वेदान्तशब्दो वेदभागभेदेषु शारीरकादौ तूपचरित इति व्युत्पादितः। ननु किं पुनरस्य ग्रन्थस्यारम्भे निमित्तम्। न खलु निर्निमित्ता प्रेक्षावत्प्रवृत्तिरिति चेत्को भावः। निमित्तमात्राक्षेप इति चेन्न। अशनायाद्यनेकोर्मिमालाकुलसमुद्भूतक्षोभहतविवेकविज्ञानपाथसि दृढतरकामक्रोधाद्युत्तुङ्गशैलजालविषमे सुतदुहितृकलत्रबान्धवाद्यनेकमकरनक्रचक्राकुले नरमृगपशुपक्षिदेवादिस्थानभोगफेनबुद्बुदे संसारसागरेऽनवरतमध ऊर्ध्वं तिर्यग्वा मज्जनोन्मज्जनादिविवशानतिवितत-

---

अज्ञान का शिथिलीकरण, जीव का ब्रह्मीभाव तथा आत्मा के साथ संसार के अनादि सम्बन्ध का उन्मूलन होता है, वह विद्या यथार्थ होने से प्रमा अथवा प्रमाण कही जाती है, उस विद्या का साधक होने से वेदों का उत्तराङ्ग वेदान्त भी उपनिषद् कहा जाता है। उपनिषद् शब्द से व्यवहृत वेदों का उत्तर भाग ही मुख्य वेदान्त है, शारीरक सूत्र आदि ग्रन्थ उपनिषद्—वेदान्त से अवगत होने वाले जीव-ब्रह्मैक्य के विषय में उत्पन्न होने वाली असम्भावना, विपरीत भाव और संशय आदि के निरासक होने से उसके उपकारक होते हैं, अतः उनमें वेदान्त शब्दका प्रयोग गौण है।

शारीरक सूत्र में 'शरीरे भवं शरीरकं, शरीरकमेव शारीरकम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार शारीरक शब्दका अर्थ है—शरीर में होने वाला। शरीर में होने का अर्थ है शरीराभेदभ्रम का विषय होना, इसके अनुसार शारीरक का अर्थ है आत्मा—ब्रह्म, उसमें सभी उपनिषदों के तात्पर्य के निर्णायक सूत्रात्मक ग्रन्थ का नाम है—शारीरकसूत्र या ब्रह्मसूत्र। इसकी रचना की है वादरायण व्यास ने। शारीरक सूत्रादि में आदि शब्द से विवक्षित है, शारीरक सूत्र, उपनिषदों और गीता पर लिखे गये भाष्य आदि, इस प्रकार उपनिषद् की साक्षात् अथवा पारम्परिक व्याख्या के रूप में जितने प्रामाणिक ग्रन्थ वेदान्तसार रचयिता के पूर्व लिखे जा चुके थे, वे सब प्रकृत में वेदान्त शब्द से ग्रन्थकार को अभिमत हैं, इन सबों के सम्बन्धात्मक अध्ययन से जो इनका निष्कृष्ट अर्थ बुद्धिगत हुआ है, इसी को वेदान्तसार के रूप में इस ग्रन्थ में प्रतिप्रादित किया गया है।

अस्य वेदान्तप्रकरणत्वात्तदीयैरेवानुबन्धैस्तद्वत्तासिद्धेर्न ते पृथगालोचनीयाः। तत्रानुबन्धो नामाधिकारिविषयसम्बन्धप्रयोजनानि ॥ ३ ॥

गम्भीरार्थानेकशाखवेदान्तविचारमहाद्रुमावलम्बनासमर्थान् दुःखिनो लोकानालोक्य सञ्जातकरुणाया निमित्तत्वोपपत्तेः।

अथ निमित्तविशेषाक्षेपश्चेत्तत्राह—अस्येति।

"शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः" ॥

इति हि प्रकरणलक्षणं वदन्ति। तथा च यच्छास्त्रैकदेशसम्बद्धं यत्प्रकरणं तत्तच्छास्त्रीयैरेवानुबन्धैरनुबन्धवद्युक्तम्। अन्यथा शास्त्रप्रकरणयोर्भिन्न-

---

अनुवाद—

यह ग्रन्थ वेदान्त का प्रकरण है, अतः उसके अनुबन्धों से ही इसकी अनुबन्धवत्ता सिद्ध हो जाती है, अतः उनका पृथक् प्रदर्शन आवश्यक नहीं हैं।

व्याख्या—

प्रत्येक शास्त्र तथा ग्रन्थ के आरम्भ में अनुबन्धों का प्रदर्शन होता है, अनु स्वज्ञानाद् अनन्तरं बध्नन्ति—शास्त्रे ग्रन्थे वा आसज्जयन्ति-प्रवर्तयन्ति ये ते अनुबन्धाः, इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिनका ज्ञान होने पर किसी शास्त्र या ग्रन्थ के अध्ययन में ज्ञाता की प्रवृत्ति होती है, उन्हें अनुबन्ध कहा जाता है। अनुबन्ध चार होते हैं—अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन। इन अनुबन्धों को शास्त्र अथवा ग्रन्थ के आरम्भ में ही बता दिया जाता है, जिससे प्रारम्भ में ही इनका ज्ञान हो जाय, जिससे शास्त्र अथवा ग्रन्थ के अध्ययन में अध्येता की प्रवृत्ति हो सके। किन्तु इस ग्रन्थ में अनुबन्धों का प्रदर्शन नहीं किया गया है, अतः प्रश्न हो सकता है कि अनुबन्ध-ज्ञान न होने से इस ग्रन्थ के अध्ययन में अध्येता की प्रवृत्ति कैसे होगी? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि, ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ के अध्ययन में प्रवर्तक अनुबन्धों का संकेत अपने दूसरे पद्य में कर रखा है, जैसे वेदान्तशास्त्र के सारभूत अर्थ का जिज्ञासु, इस ग्रन्थ के अध्ययन का अधिकारी है, वेदान्त का सारभूत निर्गुण ब्रह्म इसका विषय है, ग्रन्थ के साथ विषय का प्रतिपादकत्व सम्बन्ध है, और वेदान्त का सारबोध इसका प्रयोजन है। उक्त संकेतित अनुबन्धों ने समान यह ग्रन्थ जिस शास्त्र से सम्बद्ध है, उस शास्त्र के अनुबन्ध भी इस ग्रन्थ के अध्ययन में प्रवर्तक हो सकते हैं, अतः उनका भी प्रदर्शन उपर्युक्त वाक्य से कर दिया गया है।

आशय यह है कि प्रस्तुत ग्रन्थ वेदान्तशास्त्र का प्रकरण है, प्रकरण की परिभाषा है—

शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः ॥

विषयादिमत्त्वेन शास्त्रासम्बद्धत्वप्रसङ्गादसम्बद्धप्रलपितमिदमापद्येत। अतोऽस्य ग्रन्थस्य वेदान्तशास्त्रीयप्रकरणत्वाद्वेदान्तशास्त्रसिद्धैरेवानुबन्धैस्तद्वत्तासिद्धेर्न तेऽनुबन्धाः पृथगालोचनीया इत्यर्थः ।।

ननु महाविषयादेरिह शास्त्रीयत्वेऽप्यवान्तरविषयादेः पृथगालोचनमुचितमितरथा शास्त्रं परित्यज्य प्रेक्षावतोऽत्र प्रवृत्त्ययोगादितिचेद्वाढं प्रकरणत्वेनैवावान्तरसङ्गतेः सुलभालोचनत्वात्पृथगिह निर्देशानपेक्षणात्। तथाहि सारग्रहणेच्छुरवान्तराधिकारी। सगुणनिर्गुणरूपविषयभेदं परित्यज्य निर्गुणसारमात्रमिह विषयः। तन्मात्रावधारणमवान्तरप्रयोजनम्। सम्बन्धोऽपि विषयानुरूप इति भावः। ननु शास्त्रीयोऽनुबन्धः शास्त्रविद्भिरेव विज्ञायते न व्युत्पित्सुभिस्तत्कथमिह तेषां शास्त्रीयविषयाद्यनभिज्ञानां प्रवृत्तिरित्याशङ्क्य शास्त्रीयमेवानुबन्धं संक्षेपतो व्युत्पादयितुमुपक्रमते—तत्रानुबन्धो नाम इत्यादिना। तत्र वेदान्तशास्त्रे। स्वार्थप्रतिपत्तारमनाश्रित्य शास्त्रस्य प्रवृत्त्ययोगादादावधिकार्यनुबन्धापेक्षा। तस्य च विषयबोधमन्तरेणाप्रवृत्तेर्विषयस्य तदानन्तर्यम्। विषयस्य च शक्यप्रतिपाद्यत्वसिद्धये सम्बन्धस्य विषयानन्तर्यम्। प्रयोजनस्य चरमत्वं प्रसिद्धमित्युद्देशपाठक्रमो विवक्षितः। तथाच शारीरकसूत्रं "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इति ।। ३ ।।

जो ग्रन्थ किसी शास्त्र के एक भाग से सम्बद्ध होता है तथा शास्त्र का ही कार्य अंशतः करता है, विद्वान् उस ग्रन्थ को प्रकरण कहते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ वेदान्त-शास्त्र के एकदेश जीव-ब्रह्मैक्य से सम्बद्ध है और वेदान्तशास्त्र के ही कार्य जीव की मुक्ति के उपाय का प्रतिपादन अंशतः करता है। अतः यह वेदान्तशास्त्र का प्रकरण ग्रन्थ है और यह नियम है कि, जिस शास्त्र के जो अनुबन्ध होते हैं, वही उस शास्त्र के प्रकरण-ग्रन्थ के भी अनुबन्ध होते हैं, अतः अंगी शास्त्र वेदान्त के अनुबन्ध ही इस ग्रन्थ के अनुबन्ध हैं। अतः वेदान्त शास्त्र के अनुबन्धों से भिन्न अनुबन्धों का अन्वेषण अनावश्यक है।

अनुबन्ध—

अनुबन्ध, जिसके ज्ञान से शास्त्र अथवा ग्रन्थ के अध्ययन में अध्येता की प्रवृत्ति होती है, चार होते हैं–अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन। अधिकारी का अर्थ है–शास्त्र अथवा ग्रन्थ के अध्ययन के लिये अपेक्षित योग्यता से सम्पन्न व्यक्ति। विषय का अर्थ है—वह वस्तु जिसका शास्त्र अथवा ग्रन्थ में वर्णन है। सम्बन्ध का अर्थ है—शास्त्र अथवा ग्रन्थ के साथ विषय का सम्बन्ध और वह है प्रतिपादकत्व, शास्त्र में अथवा ग्रन्थ में वर्णित वस्तु रूप विषय शास्त्र अथवा ग्रन्थ का प्रतिपादक होता है और ग्रन्थ उसका प्रतिपाद्य होता है। विषय का प्रतिपादकत्व ही शास्त्र अथवा ग्रन्थ के साथ विषय का सम्बन्ध है। प्रयोजन का अर्थ है कार्य, जो शास्त्र अथवा ग्रन्थ के अध्ययन से प्राप्तव्य होता है ।। ३ ।।

अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेनापाततोऽधिगताखिल-वेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरं नित्य-नैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तः साधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता ।

तत्र यथोद्देशक्रममधिकारिणं निरूपयति—अधिकारी त्विति। धर्म-जिज्ञासाधिकारिणोऽस्य वैलक्षण्यसूचनार्थस्तुशब्दः। प्रमाताधिकारीत्यन्वयः। लौकिकवैदिकव्यवहारेष्वभ्रान्तो जीवः प्रमातेह विवक्षितः। जीवमात्रस्य पक्षे भ्रमसम्भवेन शास्त्रार्थप्रतिपत्तृत्वायोगात्। तस्य तुशब्दसूचितं विशेषमाह—साधनचतुष्टयसम्पन्न इति। वक्ष्यमाणसाधनचतुष्टयविशिष्ट इत्यर्थः। अयं भावः—न तावद्वेदाध्ययनं ब्रह्मजिज्ञासाधिकारहेतुस्तस्य धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः साधारणत्वात्तन्मात्रेणेह नियमेन प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। नापि धर्मविचारः। प्रागपि धर्मविचारादधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः। नापि धर्मानुष्ठानमिह जिज्ञासाहेतुर्विनापि धर्मानुष्ठानं ब्रह्मचर्यादेव विरक्तस्य ब्रह्मजिज्ञासादर्शनात्। श्रुतिश्च भवति विविदिषोः सन्न्यासविधायिनी "यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्" इत्यादिका ॥

अनुवाद—

जो पुरुष वेदों और वेद के अङ्गभूत शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन कर सम्पूर्ण वेदार्थ का आपातज्ञान प्राप्त कर लेता है तथा इस जन्म में अथवा पूर्वजन्म में काम्य निषिद्ध कर्मों का त्याग करते हुये नित्य, नैमित्तिक कर्म; प्रायश्चित्त और उपासना के अनुष्ठान से समस्त कलमष को निवृत्त कर अपने अन्तःकरण को नितान्त निर्मल बना लेता है एवं (ब्रह्मविचार के लिये अपेक्षित शम, दम आदि) साधन चतुष्टय से सम्पन्न होता है ऐसा प्रमाता पुरुष ही (वेदान्तशास्त्र और उसके प्रकरण ग्रन्थ वेदान्तसार के अध्ययन का तथा ब्रह्मविद्या का) अधिकारी होता है ।

व्याख्या—

वेदान्त विद्या का अधिकारी होने के लिये यह आवश्यक है कि, मनुष्य सर्व-प्रथम प्रमाता हो । प्रमाता होने का अर्थ है लौकिक और वैदिक व्यवहारों में अभ्रान्त होना, यथार्थ ज्ञान के आधार पर ही लौकिक और वैदिक व्यवहारों का सम्पादन करना । किन्तु यह ध्यान रखना है, कि वेदान्त विद्या का अधिकार प्राप्त करने के लिये केवल प्रमाता होना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु ब्रह्मविचार के लिये अपेक्षित शम, दम आदि वक्ष्यमाण चार साधनों से सम्पन्न होना भी आवश्यक है । और यह तभी सम्भव हो सकता है, जब मनुष्य का मन नितान्त निर्मल हो और यह निर्मलता भी तभी हो सकती है, जब मन के वे सभी मल पूर्ण रूप से निवृत्त हो जायँ, जिनके कारण

ननु "जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारी वास्ति" इति श्रुतेः।

"ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानः पतत्यधः"॥

इति स्मृतेश्चर्णत्रयापाकरणमन्तरेण मोक्षशास्त्रविचारप्रवृत्त्ययुक्तताया गम्यमानत्वात्कथं धर्ममननुष्ठाय सन्न्यासपूर्वकब्रह्मविचारे प्रवृत्तिरिति चेत्। उच्यते। श्रुतिस्तावत् "हृदयस्याग्रेऽवद्यत्यथ जिह्वाया अथ वक्षस" इति पश्ववदानत्रयविधिमुपक्रम्य "तदवदानैरेवावदयते तदवदानानामवदानत्वं"

मनुष्य नित्य-अनित्य वस्तुओं का विवेक नहीं कर पाता, सांमारिक विषयों में अनासक्त नहीं हो पाता, शम, दम आदि सद्गुणों का विकास नहीं कर पाता तथा जगत् के उपद्रवों को सह सकने की क्षमता नहीं प्राप्त कर पाता।

मन के ऐसे मलों को दूर करने का साधन है नित्य-नैमित्तिक कर्मों का, पाप-कर्मों के प्रायश्चित्तों का तथा उपासनाओं का अनुष्ठान, पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इन अनुष्ठानों से भी मन के मलों का निराकरण एवं मन का निर्मलीकरण तब तक नहीं हो सकता, जब तक मनुष्य काम्य और निषिद्ध कर्मों से विरत नहीं हो जाता। अत: यह आवश्यक है कि, उक्त अनुष्ठानों के पूर्व काम्य और निषिद्ध कर्मों का परित्याग कर दिया जाय।

किन्तु उक्त दोनों बातें-काम्य आदि कर्मों का परित्याग और नित्य आदि कर्मों का अनुष्ठान–उन कर्मों की जानकारी के बिना नहीं हो सकता और उनकी जानकारी वेदों और वेदाङ्गों के अध्ययन द्वारा वेदार्थ का ज्ञान प्राप्त किये बिना नहीं हो सकती। अत: आवश्यक है कि, मनुष्य सर्वप्रथम वेदों और वेदाङ्गों का विधिवत् अध्ययन कर वेदार्थ का ज्ञान प्राप्त करे।

इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि वेदाध्ययन, वेदार्थ ज्ञान और काम्य निषिद्ध कर्मों का त्याग करते हुये नित्य, नैमित्तिक आदि कर्मों का अनुष्ठान, यह सब कार्य वर्तमान जन्म में उसी मनुष्य के लिये आवश्यक होते हैं, जो पूर्व जन्म में इन कार्यों का सम्पादन नहीं किये होता, किन्तु जो व्यक्ति इन कार्यों को पूर्व जन्म में ही सम्पन्न कर लिये होता है, वर्तमान जन्म में उसे इन कार्यों की अपेक्षा नही होती, यहीं कारण है कि जिन मनुष्यों को वर्तमान जीवन में द्विजकुल में जन्म न होने से वेदाध्ययन और वैदिक कर्मों का अधिकार नहीं होता किन्तु सांसारिक विषयों में अनासक्ति आदि से उनकी पूर्वजन्मार्जित मन:शुद्धि प्रमाणित होती है, वे वेदाध्ययन एवं वैदिक कर्मों के अनुष्ठान के विना ही सीधे ब्रह्मज्ञान के अधिकारी हो जाते हैं, महाभारत काल के विदुर आदि इसी प्रकार के अधिकारी थे।

जिन मनुष्यों का चित्त सहज शुद्ध नहीं होता, संसार की विभिन्न उपलब्धियों

इत्यवदाननिर्वचनेनोपसंहारादवदानत्रयविध्यर्थवादत्वान्न स्वार्थपरा। अतः सा "ब्रह्मचर्यादेव" इति श्रुत्यानन्यपरया बाध्यते। यदि ब्रह्मचर्यादिभिरपाकरणीयमृणत्रयमपि "अवदानैरेवावदयत" इत्यवदानश्रुतौ ब्रह्मचर्यादेरृणत्रयापाकरणहेतुत्ववचनं स्वार्थपरमेवेति मतं तथापि जातमात्रस्यर्णत्रयसम्बन्धे प्रमाणाभावादधिकारी जायमानो गृहस्थो वा जायमान इति वा व्याख्यानमुचितम्। स्मृतिस्त्वविरक्तविषयतया व्याख्येया। एतेन "यज्ञायुधी यजमानः", "जरया वास्मान्मुच्येरन्", "वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयत" इत्यादिश्रुतयः "ऐकाश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद् गार्हस्थ्यस्य" इत्यादि-

के लिये जिनका चित्त सांसारिक विषयों में ही चक्कर काटता रहता है, उन्हें चित्त-शुद्धि के लिये उक्त उपायों का अनुष्ठान अनिवार्य रूप से अपेक्षित होता है, अतः उन्हें अधिकारानुसार वेद, वेदाङ्ग के अध्ययन द्वारा वेदार्थ ज्ञान का अर्जन और काम्य निषिद्ध कर्मों का त्याग तथा नित्य नैमित्तिक आदि कर्मों का अनुष्ठान कर चित्त शुद्धि का सम्पादन करना आवश्यक होता है।

यह तथ्य भी दृष्टि में रखना आवश्यक है कि वेद-वेदाङ्ग का समुचित अध्ययन और वेदार्थ का यथोचित ज्ञान विधिवत् अध्ययन से ही सम्पन्न हो सकता है। विधिवत् अध्ययन का अर्थ है ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य कुल में उत्पन्न व्यक्ति द्वारा उपनयन संस्कार के बाद वेद-वेदाङ्गविद् चारित्र्य-सम्पन्न गुरु के निकट रहकर ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करते हुए वेद, वेदाङ्ग का अध्ययन। यह अध्ययन द्विजकुल में उत्पन्न मनुष्यों के लिये ही सम्भव है। क्योंकि शूद्र आदि के ऊपर समाज सेवा के महान् कार्य का दायित्व होता है, ब्राह्मण आदि को भी अपने कार्यों में उनके श्रम सहयोग की अपेक्षा होती है। अतः उन्हें उपनयन, वेदाध्ययन और वैदिक कर्मकाण्ड के भार से मुक्त रखा गया है। फलतः शूद्र आदि में उन्हीं व्यक्तियों को ब्रह्मज्ञान के मार्ग पर चलने की अनुमति है जिनका चित्त पूर्व जन्म में शास्त्रोक्त रीति से निर्मल हो चुका रहता है और वर्तमान जन्म में निसर्ग निर्मल होने के कारण जिनका चित्त सांसारिक महत्त्वाकाङ्क्षाओं और विषयभोगों से स्वभावतः विरक्त होता है।

इस प्रसङ्ग में एक तथ्य और समझ लेना आवश्यक है, वह यह कि उपनिषदों में ब्रह्म को औपनिषद पुरुष कहा गया है, औपनिषद का अर्थ होता है—उपनिषद् मात्र से वेद्य, इसके अनुसार ब्रह्म का वेदन उपनिषद् के विना नहीं होता और निर्मल मन, शम-दम आदि साधन तथा वेदान्तार्थ-विचार का संवलन होने पर उपनिषदों से ब्रह्म का वेदन अवश्य होता ही है, अतः शङ्कराचार्य का मत है कि पूर्व जन्म में शास्त्रोक्त कर्मों के अनुष्ठान से चित्त का शोधन हुये रहने पर वर्तमान जन्म में मनुष्य को नित्यादि कर्मों का अनुष्ठान भले आवश्यक न हो, एवं हो सकता है कि वह प्रारब्ध-कर्मवश काम्य निषिद्ध कर्मों का परित्याग भी न कर सके, किन्तु ब्रह्मज्ञान के लिये उसे वेद-वेदाङ्ग का अध्ययन और वेदान्त विचार तो करना ही होगा। अतएव

स्मृतयश्च व्याख्याता वेदितव्याः। "ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्", "यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्", "अथ पुनरव्रती वा व्रती वा", "किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे", "किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मेति", "याज्ञवल्क्यः प्रवव्राज", "ये प्रजामीषिरे ते श्मशानानि भेजिरे। ये प्रजां नेषिरे तेऽमृतत्वं हि भेजिरे" इत्यादिश्रुतिस्मृत्यविरोधात्। तस्मान्न धर्मानुष्ठानं ब्रह्मजिज्ञासाहेतुः। अतो ब्रह्मजिज्ञासा जायमाना यस्मिन्सत्येव नियमेन जायते, यस्मिन्नसति नैव जायते तदेव तस्याः साधनमेषितव्यम्। तच्च वक्ष्यमाणं साधनचतुष्टयमेवेति। कस्मात्पुनः साधनसम्पन्नस्तत्राह—नितान्त इति। नितान्तमत्यन्तं निर्मलं शुद्धं स्वान्तमन्तःकरणं यस्य स तथा। कुतः स्वान्तस्य नैर्मल्यं प्रतिबन्धकरागादिवासनानिवृत्त्येत्याह—निर्गत इति। रागादिवासनारूपकल्मषनिवृत्तिरपि कुतस्तत्राह—नित्य इति। काम्यकर्मभिरतुल्यानुष्ठीयमानमपि नित्यादि न साक्षात्कल्मषनिवृत्तिहेतुः कामवासनया शुद्धिप्रतिबन्धसम्भवात्तथा निषिद्धावर्जने पापेन प्रतिबन्धादित्यभिप्रेत्य नित्यानुष्ठानं विशिनष्टि—काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरमिति। एवं नित्याद्यनुष्ठानस्य शुद्धेश्चैकभविकत्वनियमं व्यावर्तयति—अस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वेति।

इस कार्य के सौविध्य के लिये उन्होंने सन्न्यास को आवश्यक बताया है। इसमें ब्राह्मण को ही अधिकृत माना है क्योंकि ब्राह्मण के ऊपर समाज के अध्ययन आदि जिन कार्यों का दायित्व है, उनमें अनेकों का सम्पादन वह सन्न्यास आश्रम में रहकर भी कर सकता है। अतः उनके अनुसार विदुर आदि के ब्रह्म ज्ञान का जो वर्णन महाभारत आदि ग्रन्थों में प्राप्त होता है, उसका तात्पर्य मनोनैर्मल्य तथा शम, दम आदि साधनों की प्रशंसा में है, जिससे मनुष्य को यह बोध हो सके कि, जब वेदाध्ययन आदि के बिना भी विदुर आदि ब्रह्मज्ञानी जैसे मान्य होते हैं, तो जिन्हें वेदाध्ययन आदि सुलभ है उन्हें मनोनैर्मल्य आदि होने पर वेदान्त विचार से ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति तो निर्विवाद रूप से हो ही सकती है।

इस सन्दर्भ में यह बात भी दृष्टि में रखना आवश्यक है कि वेद, वेदाङ्ग के विधिवत् अध्ययन से जो वेदार्थ-ज्ञान प्राप्त होता है, वह सुविचारित नहीं होता। वह केवल आपात ज्ञान होता है। अतः वेदावगत अर्थ के सम्बन्ध में असम्भावना, विपरीतभावना, संशय आदि के होने की पर्याप्त सम्भावना रहती है, इसलिये इस सम्भावना की निवृत्ति के लिये वेदार्थ का विचार अनिवार्य है और वह विचार मनुष्य के निर्मल मानस में ही पनप सकता है। अतः वेदविद् विद्वान् का मन यदि अनायास अध्यात्मउन्मुख नहीं होता, तो उसे मलिन मान कर उसको निर्मल बनाने के लिये निष्ठापूर्वक वेदोक्त कर्मों का अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये।

वेद के विधिवत् अध्ययन का इस रूप में उल्लेख किया जा चुका है कि द्विजकुल में उत्पन्न व्यक्ति द्वारा उपनयन के बाद गुरु के निकट रहकर ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करते हुये शास्त्रोक्त रीति से वेद का अध्ययन ही विधिवत् अध्ययन है।

"अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्"।
"न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति"॥

इत्यादिस्मृतेर्जन्मान्तरानुष्ठितस्यापि जन्मान्तरोपकारकत्वसम्भवादिति भावः। एवं काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरमिह जन्मनि जन्मान्तरे वानुष्ठित-नित्यादिक्षपितकल्मषस्य विवेकादिसाधनचतुष्टयसम्पत्तौ कारणमाह—आपातत इति। आपाततो विचारेणेदमित्थमेवेति पर्यवधारणमन्तरेणाधिगतोऽखिलो वेदार्थो येन स तथा। वेदशब्दो वेदान्तविषयः। वेदार्थज्ञाने हेतुमाह—विधिवदिति। "ब्राह्मणेन षडङ्गो वेदो निष्कारणोऽध्येयो ज्ञेयश्च" इति-वचनान्नित्याध्ययनविध्युपस्थापितवेदान्तवचोभिर्निरुक्तव्याकरणाद्यङ्गोपकरणैर-नवबुद्धतात्पर्यलिङ्गैरधिगताखिलवेदान्तार्थ इत्यर्थः। एतदुक्तं भवति। वस्तु-तश्चित्सदानन्दब्रह्मस्वभावोऽप्यात्माऽनाद्यनिर्वाच्याविद्यासम्बन्धलब्धजीवभा-वोऽविद्याकामकर्मवशंगतः काम्यनिषिद्धाद्यनवरतमाचरंस्तत्फलभूतस्वर्गनरकौ

किन्तु इससे अतिरिक्त भी विधिवत् अध्ययन का एक अर्थ है और वह है विधि वचन से प्रयुक्त वेदाध्ययन। कहने का आशय यह है कि, वेदाध्ययन के प्रयोजक दो वचन माने गये हैं। एक है 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः-स्वाध्याय-वेद का अध्ययन करना चाहिये' और दूसरा है 'अष्टवर्षं ब्राह्मणम् उपनयीत तमध्यापयीत आचार्यकामः—जिसे आचार्य होने की कामना हो, वह आठ वर्ष वय के ब्राह्मण का उपनयन करे और उसका अध्यापन करे। पहला वचन साक्षात् अध्ययन विधि है और दूसरा वचन साक्षात् अध्यापन विधि है। पहला वचन उपलभ्यमान वेद में श्रुत है। दूसरा वचन श्रुत नहीं है किन्तु 'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः, सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते-'जो द्विज शिष्य का उपनयन कर उसे कल्प और रहस्य सहित वेद का अध्यापन करता है, उसे बुधजन आचार्य कहते हैं—इस स्मृति वचन से अनुमित है।

सुप्रसिद्ध मीमांसक प्रभाकर का मत है कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इसे अध्ययन विधि मानना सम्भव नहीं है क्योंकि विधि वही होती है, जो कार्य में प्रवृत्त करे। इस वाक्य से वेदाध्ययन की कार्यता ज्ञात होती है। पर उस कार्य में नियोज्य का श्रवण नहीं होता। अतः नियोज्य का अभाव होने से यह वाक्य प्रवर्तक न हो सकने के कारण विधि रूप नहीं हो सकता। अतः उनके मतानुसार उक्त अध्यापन विधि ही अध्ययन में प्रयोजक है क्योंकि उक्त वाक्य के अनुमापक उक्त स्मृति वचन में 'उपनीय' शब्द के घटक ल्यप् प्रत्यय से उपनयन में अध्यापन की अङ्गता ज्ञात होती है। अतः उसकी उपपत्ति के लिये यह मानना आवश्यक है कि यह वचन उपनीत के अध्ययन का प्रयोजक है क्योंकि उपनीत यदि अध्ययन न करेगा तो उपनयन मात्र अध्यापन का अङ्ग-अध्यापकत्व का सम्पादक न हो सकेगा। इस प्रकार यह अध्यापन विधि ही उपनयन द्वारा अध्ययन का प्रयोजक है।

वेदोद्धारक कुमारिल का मत इससे भिन्न है। उनका कहना है कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस वचन को विधि रूप मानने में कोई बाधा नहीं है। इसमें

भुञ्जानस्तद्भोगवासनावासितस्तदनुरूपं पुनः कर्म पुनः फलमित्येवं घटीयन्त्रवत्कुलालचक्रवद्वोर्ध्वाधस्तिर्यग्भ्रमणमविश्रममनुभवन् हृष्टः कृतार्थो मूढो दुःखी वेत्यात्मानं मृषैव मन्यते। स पुनः—

"एकः काम्योऽपरो नित्यस्तथा नैमित्तिकः परः।
प्राधान्येन फलं शुद्धिरार्थिकी काम्यकर्मणः।
प्राधान्येन मनःशुद्धिर्नित्यस्य फलमार्थिकम्।
केवलं प्रत्यवायस्य निवृत्तिरितरस्य तु"॥

इत्यादिपुराणवचनादतीतानेकजन्मसुकृतयादृच्छिकपुण्यपुञ्जपरिपाकोदयवशात् काम्यफलेषु जातदोषबुद्धिराध्यात्मिकाद्दुःखत्रयं च निषिद्धाचरणफलमाकलयन् काम्यनिषिद्धे परित्यजन्नीश्वरार्पणबुद्ध्यानुष्ठितनित्यादिक्षपितकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तोऽधीतसाङ्गवेदार्थापातालोचनया लब्धविवेकादिसाधनसम्पन्नः स्वात्मयाथात्म्यजिज्ञासुर्वेदान्ताधिकारीति॥

जो नियोज्य का अभाव बताया गया, वह संगत नहीं है क्योंकि इस वाक्य में श्रूयमाण विधि प्रत्यय के बल से ही नियोज्य का लाभ हो जाता है। आशय यह है कि उक्त वाक्य से अध्ययन रूप कार्य का बोध होता है। कार्य किसी कर्त्ता से ही साध्य होता है, कर्ता के विना कार्य की कल्पना ही नहीं हो सकती। अतः कार्य की अन्यथानुपपत्ति से वेदार्थज्ञानकाम रूप नियोज्य की कल्पना की जा सकती है।

दूसरी बात यह कि उक्त वाक्य में कार्य उक्त है, कर्त्ता उक्त नहीं है और 'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत, ग्रीष्मे राजन्यम्, शरदि वैश्यम्' इन वचनों से ब्राह्मण आदि को उपनीत करने का विधान है। अतः उपनीतों को कर्तव्य की आकाङ्क्षा है कि ब्राह्मण आदि उपनीत होकर क्या करें? और 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस वाक्य को वेदाध्ययन के कर्ता की अपेक्षा है। अतः उक्त वाक्य सन्निधान, परस्परापेक्षा और योग्यता से युक्त होने से यह बोध प्रदान करता है कि उपनीत त्रैवर्णिक को अर्थ ज्ञान के लिये वेदाध्ययन करना चाहिये। इस प्रकार यह अध्ययन विधि ही वेदाध्ययन का प्रयोजक है।

कुमारिल के मतानुसार अध्यापन विधि अध्ययन का प्रयोजक नहीं हो सकती क्योंकि उपनयन अध्येता माणवक का संस्कार होने से अध्ययन का अन्तरङ्ग है। अतः वह उसी का अङ्ग हो सकता है, बहिरङ्ग अध्यापन का नहीं। अतः जब उपनयन अध्यापन का अङ्ग ही नहीं हो सकता, तब अध्यापन उसके द्वारा अध्ययन का प्रयोजक कैसे हो सकता है?

अध्ययन के विना अध्यापन अनुपपन्न है इस अनुपपत्ति ज्ञान के द्वारा भी वह वेद के वैध अध्ययन का प्रयोजक नहीं हो सकता। क्योंकि लौकिक अध्ययन से भी अध्यापन की उपपत्ति हो सकती है। अतः उपनीत त्रैवर्णिक द्वारा अर्थ ज्ञान के लिये वेदाध्ययन की कर्त्तव्यता के बोध की उपपत्ति के लिये 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस वचन को ही अध्ययन का प्रयोजक मानना उचित है।

काम्यानि स्वर्गादीष्टसाधनानि ज्योतिष्टोमादीनि। निषिद्धानि नरकाद्यनिष्टसाधनानि ब्राह्मणहननादीनि। नित्यान्यकरणे प्रत्यवायसाधनानि सन्ध्यावन्दनादीनि। नैमित्तिकानि पुत्रजन्माद्यनुबन्धीनि जातेष्टयादीनि प्रायश्चित्तानि पापक्षयसाधनानि चान्द्रायणादीनि। उपासनानि सगुणब्रह्मविषयमानसव्यापाररूपाणि शाण्डिल्यविद्यादीनि।

काम्यादिपदार्थान् कथयति—काम्यानीत्यादिना। फलोद्देशेन विधीयमानानि कर्माणि काम्यानि। न च "विश्वजिता यजेत" इत्यादावव्याप्तिस्तत्रापि "स स्वर्गः स्यात्सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात्" इतिन्यायेन स्वर्गफलोद्देशेन विधेः साधितत्वात्। ज्योतिष्टोमशब्द ऐकाहिकविषयः। आदिशब्दोऽहीनसत्रसङ्ग्रहार्थः। भ्रमावगतेष्टसाधनतानिषेधकनञ्पदयोगिवाक्यगम्यानि निषिद्धानि। लिङ्गाद्यनुषक्तनञ्योगिवाक्यगम्यानि वा। नरकादीत्यादिपदादैहिकदुःखग्रहः। ब्राह्मणहननादीत्यादिपदात्सुरापानादिग्रहः। प्रत्यवायशब्देनागामिदुःखमुच्यते। येषामकरणे विज्ञायमाने तत्साध्यते ज्ञाप्यते तानि

अनुवाद—

स्वर्ग आदि इष्ट के जनक ज्योतिष्टोम आदि काम्य हैं।

नरक आदि अनिष्ट के जनक ब्रह्महत्या—ब्राह्मण वध आदि निषिद्ध हैं।

न करने पर पाप के जनक सन्ध्यावन्दन आदि नित्य हैं।

पुत्र-जन्म आदि निमित्त से किये जाने वाले जातेष्टि आदि नैमित्तिक हैं।

पापक्षय के जनक चान्द्रायण आदि प्रायश्चित्त हैं।

सगुण ब्रह्म के विषय में किये जाने वाले मनोव्यापाररूप शाण्डिल्य-विद्या आदि उपासना है।

व्याख्या—

यह कहा जा चुका है कि काम्य एवं निषिद्ध कर्मों का परित्याग कर नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त और उपासना के अनुष्ठान से मनुष्य के सम्पूर्ण कलमषों की निवृत्ति हो जाने से उसका मन नितान्त निर्मल हो जाता है। अब प्रस्तुत पङ्क्तियों से त्याज्य और अनुष्ठेय कर्मों का परिचय देना है।

त्याज्य कर्म दो प्रकार के होते हैं। एक काम्य और दूसरा निषिद्ध। 'कामाय हितानि काम्यानि' इस व्युत्पत्ति के अनुसार उन कर्मों को काम्य कहा जाता है, शास्त्रों में जिनका विधान किसी फल की कामना की पूर्ति के लिये किया गया है। कामना की पूर्ति कामना के विषयभूत फल के उत्पादन से होती है, फलतः जो कर्म शास्त्रानुसार काम्य फल के उत्पादक होते हैं, वे ही काम्य कर्म कहे जाते हैं। जैसे परलोक में स्वर्ग और इस लोक में पुत्र, कलत्र, धन, धान्य आदि मनुष्य को काम्य होते हैं,

नित्यानि इत्यर्थः। अकरणे प्रत्यवायलक्षणानि नित्यानीति यावत्। निर्निमित्तमुपात्तदुरितक्षयार्थानि नित्यानीति नित्यकर्मलक्षणं न त्वकरणे प्रत्यवायोत्पादकानि नित्यानीति। ननु "अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्। प्रसज्जंश्चेन्द्रियार्थेषु नरः पतनमृच्छति"॥ इति स्मृतौ शतृप्रत्ययादकरणस्य प्रत्यवायहेतुत्वमवगम्यते तत्कथमकरणस्य प्रत्यवायानुत्पादकत्वमिति चेन्न। "लक्षणहेत्वोः क्रियाया" इति पाणिनिना शतुर्लक्षणार्थेऽपि विधानात्। अत एव नित्याद्यनुष्ठानकाले निद्रालस्यादिपरवशं नरमालोक्य शिष्टैर्लक्ष्यते यद्यस्य यथावन्नित्यनैमित्तिकानुष्ठानमभविष्यत्तदा सञ्चितदुरितक्षयोऽभविष्यन्नचायं विहितमकार्षीदतः प्रत्यवायी भविष्यतीति। तथा च "त्रिचिकित्सञ्छ्रोत्रिय" इतिवच्छतृप्रत्ययस्यान्यथाप्युपपत्तेर्न तद्बलादभावस्य हेतुत्वाशङ्का युक्ता। तदुक्तम्—

शास्त्रों में जिन कर्मों को इन काम्य वस्तुओं का जनक बताकर उनके अनुष्ठान की कर्तव्यता बतायी गयी है, वे कर्म काम्य हैं। शास्त्र में ज्योतिष्टोम को स्वर्ग का साधक बताकर उसे स्वर्गकाम का कर्तव्य बताया गया है। 'ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः'—जिस मनुष्य को स्वर्ग की कामना हो, वह ज्योतिष्टोम नामक यज्ञ से अपने इष्ट का साधन करे। शास्त्र का आशय स्पष्ट है कि, ज्योतिष्टोम स्वर्ग का जनक है, अतः जिसे स्वर्ग जाने की इच्छा हो, वह ज्योतिष्टोम यज्ञ का अनुष्ठान करे।

ज्योतिष्टोम—

वेदों में सोमयाग का विधान है, जिस यज्ञ के साधक द्रव्यों में सोम नाम की लता और उसके प्राप्त न होने पर उसके प्रतिनिधि पूतीक नाम की लता का रस प्रधान होता है, उस यज्ञ को सोमयाग कहा जाता है, त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश और एकविंश ये ज्योतिष नामक चार स्तोम जिस सोमयाग में प्रयुक्त होते हैं उसे 'ज्योतींषि-स्तोमा यत्र' इस व्युत्पत्ति के अनुसार ज्योतिष्टोम कहा जाता है। स्तोम का अर्थ है सामवेद के मन्त्रों से की जाने वाली स्तुति। ऐसी स्तुतियों में जो त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश और एकविंश स्तोम होते हैं, उन्हें ज्योतिष कहा जाता है। इनसे सम्बद्ध सोमयाग को ज्योतिष्टोम कहते हैं।

त्रिवृत्स्तोम—

'तिस्रो वृतः त्रिरूपावयवा यस्य स्तोमस्य स त्रिवृत्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार तीन-तीन ऋचाओं के तीन सूक्तों के तीन पर्यायों में किये जाने वाले गान को त्रिवृत् स्तोम कहा जाता है, तात्पर्य यह है कि 'उपास्मै' इत्यादि तीन ऋचाओं का एक सूक्त, 'दविद्युतत्या' आदि तीन ऋचाओं का दूसरा सूक्त और 'पवमानस्य ते' इत्यादि तीन ऋचाओं का तीसरा सूक्त है, प्रत्येक सूक्त को ऋचात्मक सूक्त कहा जाता है, इन सूक्तों का तीन पर्यायों में गान होता है, प्रथम पर्याय में पहले की तीन ऋचाओं का, दूसरे पर्याय में दूसरे की तीन ऋचाओं का और तीसरे पर्याय में तीसरे की तीन

"नित्यानामक्रिया यस्माल्लक्षयित्वैव सत्वरा।
प्रत्यवायक्रियां तस्माल्लक्षणार्थे शता भवेत्" ॥ इति ॥

ननु हेत्वर्थेऽपि शतुर्विधानस्य तुल्यत्वे कथं लक्षणार्थावगम इति चेदभावाद्भावोत्पत्तेरनुपपत्तेरिति वदामः। भावरूपस्य हि कार्यस्य भावरूपं कारणमिति प्रत्यक्षादिभिरवधारितं तेन शतृप्रत्ययादभावस्य भावहेतुताभ्युपगमो विरुध्यते। नन्वेवं सति कथं तवाप्यकरणस्य प्रत्यवायलक्षकत्वसिद्धिरिति चेन्नैष दोषः। नास्माभिरकरणस्य स्वरूपेण प्रत्यवायलक्षकत्वमिष्यते किन्तु तज्ज्ञानस्य। न च तस्यैव प्रत्यवायजनकत्वमपीति वाच्यं, नित्याकरणाज्ञाने प्रत्यवायाभावप्रसङ्गात्। ननु कथं तर्हि भाट्टैरनुपलम्भस्याभावप्रमितिहेतुत्वमिष्यते तार्किकैश्च प्रतिबन्धकाभावस्य तत्तत्प्रागभावस्य च कारणत्वमिष्यत इति चेद् भ्रान्त्येति ब्रूमः। तथाहि न तावद्योग्यानुपलब्धेः स्वरूपसत्तामात्रेणाभावप्रमितिहेतुता युक्ता। तथा सत्यज्ञानकरणत्वेऽनाभावज्ञानस्य प्रत्यक्षान्तर्भाव-

---

ऋचाओं का गान होता है। इस प्रकार नव ऋचाओं के तीन पर्यायों में होने वाला गान त्रिवृत्स्तोम कहा जाता है।

पञ्चदशस्तोम—

उक्त तृचात्मक सूक्तों में जब पहली ऋचा को तीन बार और दूसरी एवं तीसरी ऋचा को एक बार पढ़ा जाता है, तब पहला सूक्त पाँच ऋचाओं का हो जाता है, इसी प्रकार दूसरे और तीसरे सूक्त को भी पहली-पहली ऋचा को तीन-तीन बार और अन्य दो ऋचाओं को एक-एक बार पढ़ने पर दूसरा और तीसरा सूक्त भी पाँच-पाँच ऋचाओं का हो जाता है, फलतः त्रिवृत् के तीन सूक्त ही उक्त रीति से तीन पर्यायों में पढ़े जाने पर पञ्चदशस्तोमरूप बन जाते हैं।

सप्तदशस्तोम—

उक्त रीति से निष्पन्न हुये पञ्चदश स्तोम में जब पन्द्रहवीं ऋचा अर्थात् त्रिवृत् के तीसरे सूक्त की अन्तिम ऋचा को जब दो बार और पढ़ दिया जाता है, तब सप्तदशस्तोम बन जाता है।

एकविंशस्तोम—

उक्त तृचात्मक सूक्त जब तीन पर्यायों में इस रीति से पढ़े जायँ कि, प्रथम पर्याय में प्रथम सूक्त का एक बार पाठ हो और दूसरी तीसरी ऋचाओं का तीन बार पाठ हो, एवं द्वितीय पर्याय में द्वितीय सूक्त की प्रथम ऋचा का एक बार और अन्य दो ऋचाओं का तीन-तीन बार, इसी प्रकार तृतीय पर्याय में तृतीय सूक्त की प्रथम ऋचा का एक बार और अन्य दो ऋचाओं का तीन-तीन बार पाठ हो तो प्रति पर्याय में प्रत्येक तृचात्मक सूक्त के सप्त ऋचात्मक हो जाने से तीन पर्यायों में त्रिवृत्स्तोम के तृचात्मक तीन सूक्त हो एकविंश हो जाते हैं, फलतः उक्त तृचात्मक सूक्त उक्त

प्रसङ्गाज्ज्ञाताया एवानुपलब्धेरभावप्रमाहेतुत्वे तज्ज्ञानस्यैव भावरूपस्याभाव-ज्ञानकारणता बलादायास्यतीति। प्रतिबन्धकाभावः कारणमिति पक्षे स किं दृष्टकारणकलापकुक्षौ निक्षिप्तः किं वाऽदृष्टकारणकलापकुक्षौ। आद्ये दाहादि-कार्यार्थिनः काष्ठादिसमवधानाधिगम इव प्रतिबन्धकाभावसमवधानाधिगमे सत्येव वह्निप्रज्वलनादौ प्रवृत्तिः स्यान्न च तथा प्रवर्तमानो दृश्यते। अन्यथा

रीति से तीन-तीन पर्यायों में चार बार जिस सोमयाग में पढ़े जाते हैं, यह सोमयाग ज्योतिष् नामक उक्त चार स्तोमों से युक्त होने से ज्योतिष्टोम नाम से व्यवहार्य हो जाता है।

चार संस्थायें—

ज्योतिष्टोम में चार संस्थायें होती हैं, अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी और अतिरात्र। संस्था का अर्थ है समाप्ति, 'यज्ञायज्ञिय' नामक अग्निष्टोम साम से समाप्त होनेवाले ज्योतिष्टोम को अग्निष्टोम संस्थाक ज्योतिष्टोम कहा जाता है।

अग्निष्टोम के बारह स्तोमों के परवर्ती तीन स्तोम 'उत्थाप्यते सोमोऽनेन' इस व्युत्पत्ति के अनुसार उक्थ्य कहे जाते हैं, अग्निष्टोम तथा उक्थ्य स्तोमों से समाप्त होने वाले ज्योतिष्टोम को उक्थ्य-संस्थाक ज्योतिष्टोम कहा जाता है।

अग्निष्टोम और उक्थ्य के पन्द्रह स्तोम तथा उक्थ्य के किसी एक स्तोम की एक आवृत्ति कर सोलह स्तोमों से समाप्त किये जाने वाले ज्योतिष्टोम को षोडशिसंस्थाक ज्योतिष्टोम कहा जाता है।

षोडशिस्तोम के परवर्ती स्तोम अतिरात्र कहे जाते हैं, षोडशिस्तोमों सहित अतिरात्र नामक स्तोमों से समाप्त होने वाले ज्योतिष्टोम को अतिरात्र-संस्थाक ज्योतिष्टोम कहा जाता है।

इस यज्ञ का अनुष्ठान पाँच दिनों में सम्पन्न होता है, वसन्त ऋतु में किसी शुभ दिन इसका प्रारम्भ किया जा सकता है, किन्तु प्रचलन के अनुसार वसन्त ऋतु की किसी शुद्ध एकादशी को आरम्भ कर पूर्णिमा में इसका समापन होता है।

स्वर्ग—

ज्योतिष्टोम को स्वर्ग का साधक कहा गया है, 'स्वः गम्यते यत्र' इस व्युत्पत्ति के अनुसार स्वर्ग का अर्थ है—वह विशेष स्थान जहाँ स्वः—उस विलक्षण सुख की प्राप्ति अनायास होती है, जो बिना प्रयास के संकल्प मात्र से उपगत होता है तथा जो आदि, मध्य अथवा अन्त में कभी भी दुःख से अनुविद्ध नहीं होता। जैसे—

'यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत् सुखं स्वःपदास्पदम्॥

स्वर्ग के इस स्वरूप-वर्णन से ज्ञात होता है कि, ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ के अनुष्ठान से मृत्यु के बाद मनुष्य को ऐसे शरीर की प्राप्ति होती है, जिससे उसे दुःख नहीं

सत्यपि प्रतिबन्धकसमवधाने तदभावनिश्चयेन प्रवर्तमानस्य कदाचित्कार्यानुदयो न भवेत्। ननु सति प्रतियोगिनि तदभावनिश्चयो भ्रम इति चेत्तर्हि प्रतिबन्धकस्यायोग्यत्वेन तदभावोऽप्ययोग्य एवेति न तस्य दृष्टकारणकलापकुक्षिनिक्षेपः। नापि द्वितीयः। अस्मदाद्यप्रत्यक्षाणामीश्वरतज्ज्ञानेच्छाप्रयत्न-

होता, ऐसे शरीर की सिद्धि केवल शास्त्र से ही नहीं अपितु अनुमान से भी होती है, अनुमान का प्रयोग इस प्रकार हो सकता है।

जो जाति एक काल में उत्पन्न होनेवाले अनेक पदार्थों में नहीं रहती और शरीर में रहती है, ऐसा जातित्व (पक्ष) दुःख के अनवच्छेदक में रहने वाली जाति में रहता है (साध्य) क्योंकि वह दुःख के अवच्छेदक में रहने वाली जाति में रहता है (हेतु) यह नियम है कि, जो जिसके अवच्छेदक में रहने वाली जाति में रहता है, वह उसके अनवच्छेदक में रहने वाली जाति में भी रहता है। जैसे ज्ञेयत्व आदि धर्म कपिसंयोग के अवच्छेदक शाखा में रहने वाली शाखात्व जाति में रहता है तो साथ ही उसके अनवच्छेदक मूल में रहने वाली मूलत्व जाति में भी रहता है। (दृष्टान्त) अतः जो बात ज्ञेयत्व आदि धर्मों के सम्बन्ध में है, वह उक्त प्रकार के जातित्व के सम्बन्ध में भी होनी चाहिये, अर्थात् उक्त प्रकार का जातित्व यतः दुःख के अवच्छेदक चैत्र आदि मर्त्य शरीर में रहने वाली चैत्रत्व आदि जातियों में रहता है अतः उसे दुःख के अनवच्छेदक में रहने वाली जाति में भी रहना आवश्यक है। कहने का आशय यह है कि जैसे चैत्रत्व, मैत्रत्व आदि जातियां चैत्र, मैत्र आदि के क्रमोत्पन्न बाल, कुमार, तरुण और वृद्ध शरीर में ही रहने से एक काल में उत्पन्न अनेक पदार्थों में न रहने वाली और शरीर में रहने वाली जातियाँ हैं, उसी प्रकार शरीर में रहने वाली कोई ऐसी दूसरी भी जाति होनी चाहिये, जो उक्त जातियों के समान ही एक काल में उत्पन्न होने वाले अनेक पदार्थों में न रहे पर वह दुःख के अवच्छेदक में न रह कर दुःख के अनवच्छेदक में रहे, जिससे उक्त प्रकार का जातित्व दुःख के अनवच्छेदक में रहने वाली जाति में रह सके और यह तभी सम्भव है जब कोई ऐसा शरीर हो, जिसमें अवस्थित आत्मा में दुःख का उदय न हो सके, ऐसा शरीर वही हो सकता है, जो धर्म के ही फलभोग का सम्पादन करे। ऐसा शरीर मृत्युलोक में सम्भव नहीं हो सकता क्योंकि मर्त्यलोक की रचना जीवात्मा को धर्म-अधर्म दोनों का फलभोग प्रदान करने के लिये ही होती है। अतः ऐसे शरीर की उत्पत्ति के लिये ऐसे लोक का अस्तित्व मानना आवश्यक है, जहाँ जीवात्मा को धर्म का ही फलभोग प्राप्त करने के लिये शरीर की प्राप्ति हो सके, ऐसे लोक को ही स्वर्गलोक कहा जाता है; जहाँ मनुष्य को दुःख से सर्वथा मुक्त सुख का ही उपभोग प्राप्त होता है।

इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों का अनुष्ठान करने पर मनुष्य को तत्काल स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती किन्तु यज्ञानुष्ठान से अनुष्ठाता

प्राण्यदृष्टानां देशकालयोश्च सूर्यादिग्रहचारक्रियायाश्च भावरूपतया प्रतिबन्धकाभावत्वायोगात्तदतिरिक्तस्य कस्यचित्सर्वकार्यसाधारणकारणस्य कल्पकाभावात्। किञ्च सत्यपि प्रतिबन्धक उत्तेजकसमवधाने कार्यदर्शनान्न प्रतिबन्धकाभावस्य कारणता। उत्तेजकाभावविशिष्टप्रतिबन्धकाभावस्य

मनुष्य की आत्मा में एक विशेष जाति का धर्म-पुण्य उत्पन्न होता है, जो मनुष्य के वर्तमान जीवन का अन्त होने पर स्वर्ग का प्रापक होता है, उस धर्म के प्रभाव से स्वर्गलोक में यज्ञकर्त्ता के लिये दिव्य शरीर की रचना होती है और उस शरीर के साथ यज्ञकर्ता जीव का योग-सम्पादनक्षम विशेष प्रकार का सम्बन्ध होता है, जिसके फलस्वरूप उसे उस शरीर से विशुद्ध सुख का उपभोग प्राप्त होता है।

निषिद्ध—

त्याज्यकर्म का दूसरा भेद है निषिद्ध, निषिद्ध का अर्थ है निषेध किया गया। शास्त्रों में जिन कर्मों का निषेध किया गया है, जिन कर्मों को न करने का आदेश दिया गया है, वे कर्म निषिद्ध कहे जाते हैं। ऐसे कर्म वही होते हैं जो नरक आदि अनिष्ट वस्तुओं के जनक होते हैं, जो वस्तु मनुष्य को इष्ट नहीं होती जैसे दुःख और दुःख के साधन, वे जिन कर्मों से उत्पन्न होती हैं, शास्त्र उन कर्मों को न करने का आदेश देता है। ब्रह्महत्या, गोहत्या, मद्यपान, परस्त्रीगमन, असत्यभाषण आदि ऐसे ही कर्म हैं।

मनुष्य को जो वस्तुयें अनिष्ट होती हैं, उनमें सबसे प्रधान है नरक, नरक शब्द का अर्थ है–ऐसा घोर दुःख, जिसमें सुख का किञ्चिन्मात्र भी सम्पर्क नहीं होता, ऐसा दुःख जिस स्थान में प्राप्त होता है उसे भी नरक कहा जाता है, नरक शब्द की व्युत्पत्ति है कुत्सितो नरो यस्मात्, जिससे मनुष्य कुत्सित हो जाता है, मनुष्य को कुत्सित करने वाला होता है सुख-हीन दुःख और उस दुःख-भोग का स्थान, यह जिन ब्रह्महत्या आदि कर्मों से प्राप्त होता है वे निषिद्ध कोटि के त्याज्य कर्म कहे जाते हैं।

'विद्वन्मनोरञ्जनी' में निषिद्ध की व्याख्या करते हुये कहा गया है 'भ्रमावगतेष्टसाधनतानिषेधकनञ्पदयोगिवाक्यगम्यानि निषिद्धानि' इस यथाश्रुत वाक्यके अनुसार वे कर्म निषिद्ध होते हैं, जिनका ज्ञान ऐसे शास्त्र वचन से होता है, जो उन कर्मों में भ्रमवश ज्ञात इष्टसाधनता के निषेध बोधक नञ् पद से घटित होते हैं, जैसे 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' आदि शास्त्र वचन। विद्वन्मनोरञ्जनी का आशय यह है कि, मनुष्य भ्रमवश ब्राह्मण-वध आदि कर्मों को इष्ट साधन समझ कर उन कर्मों में प्रवृत्त होता है और उससे पाप-भागी हो कालान्तर में उन कर्मों के अनिष्ट फलों का भोग करने को विवश होता है, इस संकट से उसे उबारने के लिये शास्त्र के उक्त वचन अपने घटक नञ् पद से उन कर्मों में भ्रमवश ज्ञात इष्टसाधनता के अभाव का बोध उत्पन्न करते हैं। इष्टसाधनता के अभावबोध से इष्टसाधनता के भ्रमाधीन बोध का बाध हो जाने से

कारणत्वे तादृक्प्रतिबन्धकाज्ञाने तदभावाग्रहान्न तस्य कारणतासिद्धिः। न चानन्यथासिद्धिनियतपूर्ववर्तित्वमपि प्रतिबन्धकाभावस्य तदन्वयव्यतिरेकयोर्विरोधिसंसर्गाभावविषयतयान्यथासिद्धत्वात्। तर्हि विरोधिसंसर्गाभावत्वेनैव कारणतेति चेन्न। सत्येवोत्पत्तिहेतुकलापसमवधाने स्थितिहेतुसमवधाने

उन कर्मों में मनुष्य की प्रवृत्ति रुक जाती है, फलतः मनुष्य पाप भागी होने और उन कर्मों के अनिष्ट फल का भोग करने से बच जाता है। किन्तु थोड़ा ध्यान देने पर यह आशय उचित नहीं प्रतीत होता। इसके कई कारण हैं। एक तो यह कि ब्राह्मणवध आदि कर्मों में इष्टसाधनता का बोध न तो भ्रम है और न भ्रमवश उत्पन्न ही होता है क्योंकि यदि किसी धनवान् ब्राह्मण के धन प्राप्त करने की इच्छा से ब्राह्मणवध किया जाता है, तो ब्राह्मणवध के धनप्राप्ति रूप इष्ट का साधन होने से उसमें इष्टसाधनता का बोध यथार्थ ही होगा, भ्रमात्मक नहीं होगा। इसी प्रकार यह बोध भ्रम-जन्य भी नहीं है क्योंकि इसका जनक कोई भ्रम नहीं है किन्तु 'स्वाभीष्टं साधयेद् धीमान्, येन केनापि कर्मणा' बुद्धिमान् मनुष्य को जिस किसी भी कर्म से अपने अभीष्ट की सिद्धि करनी चाहिये। मनुष्य यह चिन्तन संस्कार तथा धनस्वामी के जीवन व उसके धनहरण में बाधक है और धनी ब्राह्मण का वध रूप कार्य के जनक बाधकाभाव का साधक है। स्पष्ट है कि, यह ज्ञान भ्रम नहीं-किन्तु प्रमा है क्योंकि ब्राह्मणवध से बाधक ब्राह्मण का अभाव साधित होता है।

उक्त आशय के ठीक न होने का दूसरा कारण यह है कि 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' आदि वाक्यों में प्रविष्ट नञ् पद से ब्राह्मणवध आदि में इष्टसाधनता के निषेध का बोध नहीं माना जा सकता क्योंकि उक्त रीति से ब्राह्मणवध आदि कर्मों में इष्टसाधनता के विद्यमान होने से उन कर्मों में इष्टसाधनता का निषेध बाधित है। अतः बाधित अर्थ के बोधक होने से शास्त्रवचन अप्रमाण हो जायेंगे।

उक्त आशय के असंगत होने का तीसरा कारण यह है कि, उक्त शास्त्र-वचनों का तात्पर्य उक्त कर्मों के बोधन में नहीं है किन्तु उन कर्मों से मनुष्य को निवृत्त करने में है, अतः कर्मों को उन वाक्यों से बोध्य नहीं माना जा सकता।

अतः निषिद्ध का यही अर्थ मानना उचित है कि, शास्त्र वचन द्वारा न करने को आदिष्ट, निषिद्ध का यह अर्थ स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है क्योंकि 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' आदि वचन ब्राह्मण-वध आदि कर्मों को न करने का स्पष्ट आदेश देते हैं, जिसे इस प्रकार अवगत किया जा सकता है।

मनुष्य जिन कर्मों को बलवान् अनिष्ट का असाधन और इष्ट का साधन तथा अपनी कृति से साध्य समझता है, उन कर्मों में ही प्रवृत्त होता है, वह विषमिश्र पायस के भक्षण को बुभुक्षा की निवृत्तिरूप इष्ट का साधन और अपनी कृति से साध्य समझता है। फिर भी उसमें प्रवृत्त नहीं होता क्योंकि विषमिश्र पायस

वोत्पत्तेः स्थितेर्वा विघटकभावस्य विरोधित्वप्रसिद्धेर्न तदभावस्य सामग्र्यन्त-र्भावो विरोधिसंसर्गाभावस्य तत्प्रवेशे तत्प्रतियोगिनो विरोधित्वासिद्धिः। तस्मिंश्च सति तत्संसर्गाभावस्य सामग्रीप्रवेश इत्यन्योन्याश्रयस्य दुरुद्धारत्वा-दित्यलमतिकर्दमेन। प्रागभावस्यापि नियतप्राक्कालवर्तित्वेन कारणत्वेऽभाव-

भक्षण के मृत्यु का जनक होने से उसे वह बलवान् अनिष्ट का असाधन नहीं समझता। तैरने में कुशल भूखा मनुष्य नदीतरण को बलवान् अनिष्ट का असाधन और अपनी कृति से साध्य समझता है फिर भी नदीतरण में प्रवृत्त नहीं होता क्योंकि वह उसे अपने इष्ट भूख की निवृत्ति का साधन नहीं समझता। घोर शीत से पीड़ित मनुष्य सूर्यबिम्ब के आनयन को बलवान् अनिष्ट का असाधन और शीत-निवृत्ति रूप इष्ट का साधन समझता है, फिर भी उसके आनयन में प्रवृत्त नहीं होता क्योंकि उसे वह अपनी कृति से साध्य नहीं समझता। अतः यह निर्विवाद है कि, प्रवृत्ति में बलवान् अनिष्ट की असाधनता, इष्ट की साधनता और अपनी कृति की साध्यता इन तीनों का अप्रामाण्य ज्ञान से अनास्कन्दित निश्चय कारण है। यह निश्चित है कि, मनुष्य जब ब्राह्मणवध आदि कर्मों में प्रवृत्त होता है, तब उसे उन कर्मों में उक्त तीनों बातों का ज्ञान अवश्य रहता है और उक्त कर्मों में यह ज्ञान इष्टसाधनता और कृति-साध्यता अंश में यथार्थ और बलवान् अनिष्ट की असाधकता अंश में भ्रमात्मक होता है उक्त शास्त्र वचनों में प्रविष्ट नञ् पद से उक्त कर्मों में बलवान् अनिष्ट की असाधनता के अभाव का बोध होता है। अतः उक्त कर्मों में दोषवश जो उसे बलवान् अनिष्ट की असाधनता का बोध हुआ रहता है, उसमें अप्रामाण्य का ज्ञान हो जाता है। अतः उक्त तीनों बातों का अप्रामाण्य ज्ञानास्कन्दित निश्चय रूप कारण का अभाव हो जाने से उक्त कर्मों में मनुष्य की प्रवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार उक्त शास्त्रवचनों से ब्राह्मण-वध आदि कर्मों के न करने को आदिष्ट होने का अर्थ है---उक्त कर्मों का उक्त शास्त्र-वचनों द्वारा मनुष्य की प्रवृत्ति का विषय होने से वञ्चित होना।

निषेध के प्रस्थानत्रय—

शास्त्रवचनों द्वारा जिस रीति से कर्मों का निषेध होता है, उसके सम्बन्ध में दार्शनिकों के तीन प्रस्थान प्रसिद्ध हैं, एक मीमांसक कुमारिल का, दूसरा मीमांसक प्रभाकर का और तीसरा नैयायिकों का। कुमारिल-प्रस्थान का आशय यह है कि, शास्त्रों के विधायक वचनों से प्रवर्त्तना—प्रवृत्ति-जनक-व्यापार का और निषेधक वचनों से निवर्तना—निवृत्ति-जनक-व्यापार का बोध होता है। 'स्वर्गकामो यजेत' यह एक विधि वाक्य है। इसमें 'यजेत' शब्द यज् धातु और विधि प्रत्यय लिङ् से बना है। लिङ् के दो धर्म हैं, एक तिङ्त्व और दूसरा लिङ्त्व, इन दोनों धर्मों से वह प्रवर्तना का बोधक होता है, क्योंकि प्रवर्तना का अर्थ है प्रवृत्तिजनकव्यापार, उसमें प्रवृत्ति का बोध तिङ्त्व धर्म द्वारा और व्यापार का बोध लिङ्त्व धर्म द्वारा होता है, प्रवृत्ति

विशेषणस्य कालस्यात्माश्रयताप्रसङ्गो न च प्रागभावत्वेनैव कारणत्वं तावन्मात्रे कारणलक्षणाभावात्। किञ्च कारणत्वं नाम धर्मो भावात्मक उताभावात्मकः। उभयथापि नाभावनिष्ठत्वं तस्य सम्भवति विरोधिनोर्भावाभावयोराधाराधेयभावानुपपत्तेः। अभावस्य निर्विशेषत्वान्निरतिशयत्वाद्वा। तस्मान्नाभावाद्भावोत्पत्तौ दृष्टान्तः। तन्तुनाशात्पटनाश इत्यपि स्वप्रक्रियामात्रमित्यास्तां

को मीमांसा के शब्दों में आर्थी भावना और व्यापार को शाब्दी भावना कहा जाता है। प्रवृत्ति प्रवर्तनीय पुरुष में रहती है और उसका जनक व्यापार शब्द में रहता है, शब्द में रहने से ही उसे शाब्दी भावना कहा जाता है। उक्त विधिवाक्यजन्य बोध में स्वर्गकाम का आधेयता सम्बन्ध से और यज् धातु के अर्थ भाग का प्रवृत्ति में विषमता सम्बन्ध से अन्वय होता है। अत: उक्त वाक्य का अर्थ होता है—स्वर्गकामनिष्ठ यागविषयक प्रवृत्तिजनकव्यापार। इस अर्थ के बोध के बाद यह ज्ञात होता है कि, स्वर्गकामनिष्ठ प्रवृत्ति में यागविषयकत्व अथवा यागविषयक प्रवृत्ति में स्वर्गकामनिष्ठत्व, याग में स्वर्ग-साधनता, स्वर्गकाम की कृतिसाध्यता और स्वर्गरूप इष्ट की अपेक्षा बलवान् अनिष्ट की असाधनता के विना बोध अनुपपन्न है, इस अनुपपत्ति ज्ञान का सन्निधान होने पर उक्त वाक्य से ही अथवा अनुमान से याग में उक्त तीनों धर्मों का ज्ञान होता है और उस ज्ञान से याग में स्वर्गकाम मनुष्य की प्रवृत्ति होती हैं, क्योंकि उक्त तीनों धर्मों का ज्ञान ही किसी कर्म में मनुष्य का प्रवर्तक होता है।

प्रवर्तक ज्ञान के विषयभूत उक्त तीन धर्मों को विधि प्रत्यय का अर्थ न मान कर 'प्रवर्तना' को उसका अर्थ मानने का कारण है—विधि वाक्य सुनने पर 'यह वाक्य अमुक कार्य में मेरा प्रवर्तन कर रहा है' इस बोध का होना। क्योंकि विधिवाक्य में यदि प्रवर्तना न होगी तो उक्त बोध सम्भव न होगा और यदि उसे वाक्यगत मानते हुए भी विध्यर्थ न माना जायगा, तो विधि वाक्य का श्रवण होने पर उसकी उपस्थिति न हो सकने से उसका बोध न हो सकेगा।

इसी प्रकार 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादि निषेधक वाक्यों से ब्राह्मण-वध की 'निवर्तना' का बोध होता है। निवर्तना-बोध के दो प्रकार हैं—एक यह कि उक्त वाक्य में प्रविष्ट नञ् पद का अर्थ है निवर्तना। उसमें विधि प्रत्यय तव्यत् के प्रवर्तना रूप अर्थ का विरोध-सम्बन्ध से अन्वय होकर उस वाक्य का अर्थ होता है 'ब्राह्मण-वध विषयक प्रवर्तना विरोधिनी निवर्तना—ब्राह्मण वध विषयक प्रवृत्ति जनक व्यापार विरोधी निवृत्ति जनक व्यापार।' प्रवृत्ति और निवृत्ति में विरोध होने से उनके जनक व्यापारों में भी विरोध अनिवार्य है। दूसरा प्रकार यह है कि निषेधक वाक्य में विधि प्रत्यय का प्रवर्तना अर्थ न होकर निवर्तना ही उसका अर्थ है। नञ् पद उस अर्थ में विधि प्रत्यय के तात्पर्य का ग्राहक है, विधायक वाक्य में निवर्तना में विधि प्रत्यय के तात्पर्य ग्राहक नञ् पद के न होने से उस वाक्य में प्रविष्ट विधि प्रत्यय से प्रवर्तना का ही बोध होता है।

विस्तरः। अस्तु वा कचिदभावस्यापि कारणत्वं, तथापि न प्रत्यवायस्याकरण-हेतुत्वं प्रत्यवायशब्दवाच्यस्य पापादृष्टस्य तज्जन्यागामिदुःखस्य वा निषिद्धक्रिया-जन्यत्वात् "पापकारी पापो भवति", "अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्" इति च श्रुतेः। तस्मादकरणे प्रत्यवायसाधनानि प्रत्यवायज्ञापकानि नित्यानीति व्याख्यानं सुव्याख्यानमिति॥

निवर्तना के भी विधि प्रत्यय का अर्थ इसीलिये मानना पड़ता है कि निषेध वाक्य को सुनने पर मनुष्य को यह बोध होता है कि, अमुक वाक्य अमुक कर्म से मेरा निवर्तन करता है।

निषेधक वाक्य से जब निवर्तना का बोध होता है तब ब्राह्मणवध में बलवान् अनिष्ट की साधनता के बिना निवर्तना में ब्राह्मणवध विषयक प्रवर्तना का विरोध अथवा निवर्तना में ब्राह्मणवध विषयकत्व किं वा ब्राह्मणवध में निवर्तना विषयत्व अनुपपन्न है, इस प्रकार अनुपपत्ति ज्ञान होता है, उसके अनन्तर इस ज्ञान के सहकार से उक्त वाक्य से ही अथवा अनुमान से ब्राह्मणवध से बलवान् अनिष्ट की साधनता का ज्ञान होता है और उस ज्ञान से ब्राह्मणवध से मनुष्य की निवृत्ति होती है, क्योंकि जिस कर्म से जिस इष्ट की सिद्धि सम्भव है वह कर्म यदि इष्ट से बलवान् अनिष्ट का साधक होता है और मनुष्य को इस बात का ज्ञान होता है, तो उस कर्म से मनुष्य निवृत्त हो जाता है।

प्रभाकर प्रस्थान का आशय यह है कि विधि प्रत्यय का अर्थ होता है 'अपूर्व', अपूर्व का अर्थ है शाब्दबोध से पूर्व अज्ञात, यज्ञ आदि कर्मों से उत्पन्न होने वाला पुण्य और ब्राह्मणवध आदि से उत्पन्न होने वाला पाप, 'स्वर्ग कामो यजेत' 'ब्रह्मघाता नरक-मश्नुते' इत्यादि वाक्यों के अर्थबोध से पूर्व ज्ञात नहीं होता किन्तु उक्त वाक्यों से यज्ञ में स्वर्ग-साधनता तथा ब्राह्मणवध में नरक-साधनता का बोध होने पर स्वर्गप्राप्ति के अव्यवहित पूर्व तक यज्ञ के किसी व्यापार के अस्तित्व के बिना याग में स्वर्ग-साधनता अनुपपन्न है क्योंकि याग स्वयं स्वर्ग प्राप्ति के अव्यवहित पूर्व तक नहीं रहता, इसी प्रकार नरक प्राप्ति के अव्यवहित पूर्व तक ब्राह्मणवध के किसी व्यापार के अस्तित्व के बिना ब्राह्मणवध में नरक-साधनता अनुपपन्न है क्योंकि नरक प्राप्ति के अव्यवहित पूर्व में ब्राह्मणवध स्वयं नहीं रहता, यह ज्ञान होता है और इस ज्ञान के बल पर यह मानना आवश्यक होता है कि यज्ञ आदि सत्कर्मों और ब्राह्मणवध आदि असत्कर्मों से कर्ता में कोई अतिशय उत्पन्न होता है जो उन कर्मों के शास्त्रोक्त स्वर्ग, नरक आदि फलों की उत्पत्ति के अव्यवहित पूर्व तक रहता है। इस प्रकार यज्ञादिजन्य अतिशय एवं ब्राह्मणवधादिजन्य अतिशय शास्त्राधीन शाब्दबोध के पूर्व ज्ञात न होने से अपूर्व शब्द से व्यवहृत होते हैं। यज्ञादिजन्य अपूर्व को पुण्य और ब्राह्मणवधादिजन्य अपूर्व को पाप कहा जाता है, अतः पुण्य और पाप अपूर्व एवं कार्य हैं अतः उनके अभाव को भी अपूर्व-प्रतियोगिक एवं कार्य-प्रतियोगिक होने से अपूर्व शब्द एवं कार्य

शब्द से उपचरित किया जाता है। अपूर्व यतः शाब्दबोध के पूर्व ज्ञात नहीं होता अतः उसे उसके असाधारण रूप पुण्यत्व आदि से विधि प्रत्यय का अर्थ न मान कर घटानयन, जलाहरण आदि लौकिक कार्यों में इष्टकार्यत्व रूप साधारण धर्म से विधि प्रत्यय का अर्थ माना जाता है। अतः 'स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य से यज्धात्वर्थ याग में स्वर्गकाम का नियोज्यत्व सम्बन्ध से और विधि प्रत्यय लिङ् के अर्थ कार्य में धात्वर्थ याग का जन्यत्व सम्बन्ध से अन्वय होकर 'कार्यं स्वर्गकामनियोज्यक-यागजन्यम्—कार्य स्वर्गकाम से अनुष्ठेय याग से जन्य है' इस प्रकार का बोध होता है, इस बोध के बाद याग में स्वर्ग रूप की साधनता, बलवान् अनिष्ट की असाधनता और स्वर्ग काम की कृतिसाध्यता के बिना याग में स्वर्गकामनियोज्यकत्व अनुपपन्न है यह ज्ञान होता है, उसके अनन्तर इस अनुपपत्तिज्ञान के सहकार से उक्त वाक्य से ही याग में उक्त तीनों धर्मों के ज्ञान रूप प्रवर्तकज्ञान के सम्पन्न होने से याग में स्वर्गकाम पुरुष की प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इस निषेधक वाक्य से प्रथमान्त ब्राह्मण शब्द से उपस्थापित ब्राह्मणकर्मकत्व का हन्-धात्वर्थ वध में और ब्राह्मण-कर्मक वध का प्रतियोगिता सम्बन्ध से नञ् पदार्थ अभाव में और विधि प्रत्यय तव्यत् से कार्यत्वरूप से उपस्थापित पापाभाव में ब्राह्मणवधाभाव का जन्यत्व सम्बन्ध से अन्वय हो कर 'कार्यं ब्राह्मणवधाभावजन्यम्-कार्य पापाभाव ब्राह्मणवधाभाव से जन्य है' इस प्रकार का बोध होता है। पापाभाव का प्रतियोगी पाप कार्य है अतः कार्यप्रतियोगिक होने से पापाभाव भी उपचार से कार्य कहा जाता है, ब्राह्मणवध होने पर उससे पाप की उत्पत्ति हो जाने से पापाभाव निवृत्त हो जाता है, किन्तु ब्राह्मणवध न होने पर पापाभाव बना रहता है अतः पापाभाव में ब्राह्मणवधाभाव का परिपाल्यत्व रूप जन्यत्व होता हैं। इसलिये पापाभाव में जन्यत्वसम्बन्ध से ब्राह्मणवधाभाव का अन्वय होने में कोई बाधा नहीं होती। उक्त निषेधवाक्य से पापाभाव में ब्राह्मणवधाभाव-जन्यत्वका बोध होने पर ब्राह्मणवध में बलवान् अनिष्ट नरक-प्रापक पाप की जनकता के बिना पापाभाव में ब्राह्मणवधाभावजन्यत्व अनुपपन्न है क्योंकि कारणाभाव से ही कार्याभाव होता है इस प्रकार अनुपपत्ति ज्ञान होता है और इस ज्ञान के सहकार से उक्त वाक्य से ही ब्राह्मणवध में बलवान् अनिष्ट की जनकता का ज्ञान होता है और इस ज्ञान से ब्राह्मणवध से मनुष्य की निवृत्ति होती है क्योंकि प्रवर्तक ज्ञान के विषयभूत उक्त तीनों धर्मों में किसी भी एक धर्म के अभाव का ज्ञान जिस कर्म में होता है उस कर्म से मनुष्य की निवृत्ति होती है।

नैयायिकों के प्रस्थान का आशय यह है कि जब कर्म में मनुष्य की प्रवृत्ति के लिये उक्त तीनों धर्मों का ज्ञान अनिवार्य ही है तब तो उचित यही है कि उक्त तीनों धर्मों को ही विधि प्रत्यय का अर्थ माना जाय जिससे विधिवाक्य से सीधे ही प्रवर्तक ज्ञान का उदय हो सके क्योंकि प्रवर्तना अथवा कार्य को विधि प्रत्यय मानने पर विधि-वाक्य से सीधे प्रवर्तना ज्ञान न होने से उक्त अनुपपत्ति ज्ञान द्वारा उसका सम्पादन

सन्ध्यावन्दनादीनि इत्यादिपदात्पञ्चमहायज्ञादिग्रहः। निमित्तमात्रमासाद्यावश्यकर्तव्यतया विहितानि नैमित्तिकानि। एतदाह—पुत्रेति। जातेष्टिर्नाम "वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्पुत्रे जाते" इति विहिता। आदिपदात् "यस्याहिताग्नेर्गृहान्दहत्यग्निरग्नये क्षामवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्" इत्यादिनोक्तानां क्षामवत्यादीनां ग्रहः। उपरागस्नानादि च स्मार्तमुदाहरणीयम्। यद्यपि जातेष्टिवाक्यशेषे "यस्मिन् जात एतामिष्टिं निर्वपति पूत एव

करने में क्लिष्ट कल्पना होती है, निषेधवाक्य में भी निवर्तना अथवा पापाभाव को विधिप्रत्यय का अर्थ मानने में निवर्तना ज्ञान के लिये उक्त अनुपपत्ति-ज्ञान की अपेक्षा करनी होती है, अतः उस वाक्य में भी उक्त तीनों धर्मों को ही विधिप्रत्यय का अर्थ मान कर नञ् पद से स्थल के अनुसार उन्हीं धर्मों में किसी एक धर्म के अभाव का बोध मानना उचित है क्योंकि उक्त धर्मों में किसी एक के भी अभाव ज्ञान से निवृत्ति की उपपत्ति हो सकती है।

प्रवर्तना तथा निवर्तना को विध्यर्थ मानने में जो यह युक्ति दी जाती है कि उक्त को विध्यर्थ न मानने पर विधि वाक्य को सुनने पर जो यह बोध होता है कि यह वाक्य अमुक कर्म में मेरा प्रवर्तन करता है और निषेध-वाक्य को सनने जो यह बोध होता है कि यह वाक्य अमुककर्म से मेरा निवर्तन करता है और निषेध वाक्य को सुनने पर जो यह बोध होता है कि यह वाक्य अमुक कर्म से मेरा निवर्तन करता है उसकी उपपत्ति न होगी, नैयायिकों की दृष्टि से यह युक्ति ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त वाक्यों के प्रवर्तक और निवर्तक ज्ञान का जनक होने से उनमें प्रवर्तकत्व और निवर्तकत्व की उक्त बुद्धि होने में कोई बाधा नहीं हो सकती, अतः उक्त बुद्धि के अनुरोध से प्रवर्तना और निवर्तना में विधिप्रत्ययार्थत्व की कल्पना नहीं की जा सकती।

नित्यकर्म उन कर्मों को कहा जाता है जिनके न करने पर पाप होता है, संध्यावन्दन आदि कर्म इसी श्रेणी के कर्म हैं, 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' इस वचन से सन्ध्योपासन को प्रत्यह का कर्त्तव्य बताया गया है। अतः उसका त्याग करने पर उक्त कर्म का अधिकारी व्यक्ति पापभागी होता है और अन्य द्विजोचित कर्मों के अधिकार से वंचित हो जाता है जैसा कि मनु ने कहा है—

नानुतिष्ठति यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।

स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥ १०३॥ (अ० २ मनु०)

अतः पाप से बचने के लिए नित्य कर्मों का अनुष्ठान अनिवार्य है।

विद्वन्मनोरञ्जनी में नित्यकर्म की उक्त परिभाषा में मूलग्रन्थ का तात्पर्य न मान

तेजस्व्यन्नाद इन्द्रियावी पशुमान्भवति'' इति पुत्रगाम्यवान्तरफलश्रवणान्न वक्ष्यमाणकर्तृगामिद्विविधफलानुकूलं जातेष्ट्युदाहरणं तथापि नैमित्तिकस्वरूपमात्रव्युत्पादनायोदाहरणं न दुष्यतीति द्रष्टव्यम्। विहिताकरणप्रतिषिद्धसेवारूपनिमित्तविशेषानुबन्धीनि प्रायश्चित्तानि। पापक्षयमात्रोद्देशेन विहितानीति वा। आदिपदात्कृच्छ्रादिग्रहः। शास्त्रबोधिते सगुणे ब्रह्मणि दीर्घ-

---

कर इस परिभाषा में माना गया है कि जो कर्म न करने से प्रत्यवाय—आगामी दुःख के ज्ञापक होते हैं वे नित्य कहे जाते हैं। नित्य कर्म के अकरण से आगामी दुःख होने के ज्ञान को अनुमानजन्य कहा गया है। अनुमान का प्रयोग इस प्रकार अङ्कित किया गया है कि 'यह मनुष्य दुःख भागी होगा क्योंकि इसने नित्यकर्म नहीं किया है, जब कि भावी दुःख के परिहारार्थ नित्यकर्मों का अनुष्ठान आवश्यक था।'

नित्यकर्म की पूर्वपरिभाषा को अस्वीकार करने में यह कारण बताया गया है कि नित्यकर्मों का न करना एक अभाव है अतः उससे भावात्मक पाप की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती, इस कथन के समर्थन में अनुपलब्धि, प्रागभाव, प्रतिबन्धकाभाव आदि की कारणता का खण्डन भी किया गया है।

किन्तु किञ्चित् विचार करने पर विद्वन्मनोरञ्जनी की बातें उचित नहीं जान पड़ती क्योंकि नित्यकर्म के अकरण को आगामी दुःख का अनुमापक तभी माना जा सकता है जब उनमें हेतु-हेतुमद्भाव हो, अन्यथा नित्यकर्म का अकरण हो किन्तु भविष्य में दुःख न हो इस शङ्का से नित्यकर्म के अकरण में दुःखोत्पत्ति की व्याप्ति का निश्चय हो सकने से उक्त अनुमान न हो सकेगा, और जब उन दोनों में हेतुहेतुमद्भाव होगा तो उस शंका का निरास इस तर्क से हो जायगा कि यदि नित्यकर्म अकरण भावी-दुःख का व्यभिचारी होगा तो वह भावी दुःख का हेतु न हो सकेगा। अतः स्पष्ट है कि नित्यकर्म का अकरण भावी दुःख का हेतु होने पर ही उसका अनुमापक हो सकेगा, यदि यह कहा जाय कि नित्यकर्म के अकरण से भावी दुःख का अनुमान नहीं होता। किन्तु, अक्षीणपापत्व का अनुमान होता है और अक्षीणपापत्व से भावी दुःख का अनुमान होता है। इस प्रकार भावी दुःख के अनुमापक का अनुमापक होने से भावी दुःख का लक्षक होता है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि नित्यकर्म के अकरण से पापक्षयाभाव का अनुमान तभी हो सकता है जब नित्यकर्म पापक्षय का जनक हो, क्योंकि कारण का अभाव ही कार्याभाव का अनुमापक होता है, किन्तु नित्यकर्म पाप का नाशक होता है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है, प्रत्युत इसके विरुद्ध यह तर्क है कि यदि नित्यकर्म पाप का नाशक होगा तो उसी से समस्त पापों की निवृत्ति सम्भव हो जाने से नित्यकर्म के अनुष्ठाता को जो दुःख होता है उसकी उपपत्ति न हो सकेगी। यदि कहा जाय कि नित्यकर्मों से प्रमादवश हुए पापों का ही नाश होता है अतः अन्य पापों से नित्यकर्मानुष्ठाता के दुःख की उपपत्ति और प्रमादकृत पापों से सम्भावित दुःखों से मुक्ति

कालादरनैरन्तर्योपेतमनोवृत्तिस्थिरीकरणलक्षणानि उपासनानि। निदिध्यासनाद्भेदमाह—सगुणेति। उपासनानां ज्ञानोद्भेदं दर्शयति—मानसव्यापाररूपाणीति। शाण्डिल्यविद्या नाम "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्युपक्रम्य "स क्रतुं कुर्वीत मनोमयः प्राणशरीरो भारूप" इत्यादिना छान्दोग्ये

की उपपत्ति हो सकती है तो इस कथन से भी नित्यकर्म के अकरण को भावी दुःख का लक्षक नहीं सिद्ध किया जा सकता, क्योंकि नित्यकर्म के अकरण से प्रमादकृत पापों के क्षयाभाव का ही अनुमान होगा न कि पाप का, और दुःख का जनक पाप होता है न कि पापक्षयाभाव, क्योंकि पापक्षयाभाव पाप की उत्पत्ति के पूर्व भी रहता है पर उस समय दुःख नहीं होता।

अतः नित्यकर्मों के सम्बन्ध में यह मानना ही उचित है कि नित्यकर्मों के अकरण से जो पाप सम्भावित है उस पाप की उत्पत्ति के परिहारार्थ ही नित्यकर्मों का अनुष्ठान होता है अतएव नित्यकर्म की यह परिभाषा ही ठीक है कि जो कर्म किसी निमित्त विशेष से विहित नहीं होते और जिनके न करने से पाप होता है वे कर्म ही नित्यकर्म होते हैं।

नित्यकर्म के अकरण को अभावात्मक होने से जो पाप का अजनक कहा गया है वह ठीक नहीं है क्योंकि अनेक युक्तियों से अभाव में कारणता सिद्ध है, जैसे जलाशय में वह्नि के अभाव का निश्चय रहने पर वह्नि के अनुमापक परामर्श का उदय होने पर जलाशय में वह्नि की अनुमिति का परिहार करने के लिए वह्नि की अनुमिति में वह्न्यभाव के निश्चयाभाव को कारण मानना आवश्यक होता है, एवं उत्पन्न पदार्थ की अन्य समग्र कारणों के रहने पर पुनः उत्पत्ति के परिहारार्थ प्रागभाव को कारण मानना आवश्यक होता है तथा उत्तेजक मणि के अभाव में चन्द्रकान्त मणि के रहने पर दाह का परिहार करने के लिए दाह के प्रति उत्तेजकाभावविशिष्ट चन्द्रकान्त को प्रतिबन्धक मानकर दाह के प्रति उत्तेजकाभावविशिष्ट चन्द्रकान्त मणि के अभाव को कारण मानना पड़ता है।

इस सन्दर्भ में अभाव की प्रमा में अनुपलब्धि की कारणता को निरस्त करने के लिए यह युक्ति दी गई है कि अनुलब्धि को स्वरूप सत् कारण मानने पर अभाव-प्रमा ज्ञानात्मक करण से जन्य न होने से प्रत्यक्ष में अन्तर्भूत हो जायगी जो अनुपलब्धि को अभाव-ग्राहक स्वतन्त्र प्रमाण मानने वाले भाट्ट मीमांसकों को इष्ट नहीं हो सकता, और ज्ञात अनुपलब्धि को करण मानने पर अर्थतः अनुपलब्धि ज्ञान के करण होने से अनुपलब्धि रूप अभाव में अभाव-प्रमा की कारणता नहीं सिद्ध हो सकती, किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि अनुपलब्धि को स्वरूपसत् कारण मानने पर ज्ञानाकरणक होने से अभाव-प्रमा में प्रत्यक्षत्व का आपादन नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक ज्ञानाकरणक ज्ञानत्व नहीं है किन्तु इन्द्रियसामान्यजन्यज्ञानत्व है जो अभाव-प्रमा में नहीं

विहिता। वाजिनामग्निरहस्याख्येऽपि काण्डे "स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरं" इत्यादावुक्ता। बृहदारण्यके च "मनोमयोऽयं पुरुषो भाःसत्य" इत्यादौ प्रत्यभिज्ञाता विद्या। आदिशब्दाद्दहरवैश्वानरादिविद्यान्तरग्रहः।

है। यदि जन्य, नित्य, उभयविध प्रत्यक्ष में प्रत्यक्षत्व के प्रयोजक की विवक्षा हो तो जन्यत्व, इन्द्रियाजन्यत्वोभयाभाव को प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक माना जा सकता है। जन्य प्रत्यक्ष में इन्द्रियाजन्यत्व के अभाव से और नित्य में जन्यत्व के अभाव से, जन्य-नित्य दोनों में उक्त उभयाभाव रह सकता है अभाव-प्रमा में उक्त दोनों के विद्यमान होने से उसमें उक्त उभयाभाव के न रहने से प्रत्यक्षत्व का आपादन नहीं हो सकता। प्रतिबन्धकाभाव की कारणता को निरस्त करने के लिए यह युक्ति दी गई है कि प्रतिबन्धकाभाव को दृष्ट अथवा अदृष्टरूप में सब कार्यों का कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि उसे दृष्ट कारण मानने पर उसके सन्निधान का निश्चय होने पर ही कार्य-सम्पादन में मनुष्य की प्रवृत्ति होनी चाहिए पर ऐसा नहीं होता, क्योंकि यदि ऐसा होता तो मनुष्य का प्रयत्न कभी व्यर्थ नहीं होता, इसी प्रकार उसे अदृष्ट कारण भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि समस्त कार्यों के जो अदृष्ट कारण हैं वे सब भावात्मक हैं जैसे ईश्वर, उसका ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न प्राणी के अदृष्ट, दिक्, काल, तथा सूर्य क्रिया-रूप खण्ड काल। इनसे अतिरिक्त कोई भावात्मक अदृष्ट पदार्थ समस्त कार्यों के कारण रूप में प्रसिद्ध नहीं है, किन्तु यह युक्ति ठीक नहीं है क्योंकि दृष्ट प्रतिबन्धक के अभाव को दृष्ट कारण तथा अदृष्ट प्रतिबन्धक के अभाव को अदृष्ट कारण माना जा सकता है, दृष्ट प्रतिबन्धक के अभाव का निश्चय होने पर भी कार्य सम्पादनार्थ होने वाली मनुष्य की प्रवृत्ति जो यदा कदा व्यर्थ हो जाती है वह अदृष्ट प्रतिबन्धक के कारण होती है क्योंकि अदृष्ट प्रतिबन्धक के अभाव का पूर्व में निश्चय नहीं हो पाता।

प्रतिबन्धकाभाव की कारणता के विरुद्ध दूसरी युक्ति यह दी गई है कि कार्य के समस्त कारणों का सन्निधान रहने पर जिससे कार्य की उत्पत्ति अवरुद्ध हो जाय वही कार्य का प्रतिबन्धक होता है। प्रतिबन्धक की यह परिभाषा प्रतिबन्धकाभाव को कारण मानने पर नहीं बन सकती, क्योंकि प्रतिबन्धकाभाव को कारण मानने पर कार्य के समस्त कारणों का सन्निधान प्रतिबन्धकाभाव के सन्निधान में ही होगा और उस स्थिति में उसके प्रतियोगी का सन्निधान सम्भव न होने से उससे कार्योत्पत्ति की अव-रुद्धता का निश्चय न हो सकने के कारण उसमें प्रतिबन्धकता की सिद्ध न हो सकेगी, और जब प्रतिबन्धक ही नहीं सिद्ध होगा। तब प्रतिबन्धकाभाव में कारणता भी नहीं सिद्ध हो सकेगी, किन्तु यह युक्ति ठीक नहीं है। क्योंकि प्रतिबन्धक की परिभाषा यह है कि जिन दृष्ट कारणों से जिस कार्य की उत्पत्ति कहीं प्रमाण सिद्ध है उन सभी कारणों का सन्निधान होने पर भी कहीं अन्यत्र यदि उस कार्य का जन्म नहीं होता तो यह

जन्याभाव जिसके सन्निधान से होता है वह उस कार्य का प्रतिबन्धक होता है जैसे अग्नि, शुष्क इन्धन और वायु के होने पर इन्धन के दाह का होना सिद्ध है किन्तु उनके साथ चन्द्रमणि का भी यदि सन्निधान होता है तो दाह नहीं होता, अतः उक्त परिभाषा के अनुसार चन्द्रकान्त मणि में दाह की प्रतिवन्धकता सिद्ध होती है, और यदि दाह के उक्त कारणों के होने पर तथा चन्द्रकान्त आदि जैसे दृष्ट पदार्थ का सन्निधान न होने पर भी कभी दाह नहीं होता तो उस समय किसी ऐसे अदृष्ट पदार्थ के सन्निधान की कल्पना आती है जिसके कारण दाह का अवरोध हो जाता है ऐसे स्थलों में अदृष्टपदार्थ में कार्य की प्रतिबन्धकता सिद्ध होती है। अतः उक्त रीति से प्रतिबन्धकता का ज्ञान सम्भव होने से प्रतिबन्धकाभाव में कारणता के निश्चय में कोई बाधा नहीं हो सकती।

प्रागभाव की कारणता का खण्डन करने के लिए यह युक्ति दी गई है कि प्रागभाव को नियत प्राक्कालवृत्ति होने से ही कारण माना जा सकता है, और नियत प्राक्कालवृत्ति मानने में आत्माश्रय होगा, क्योंकि नियत प्राक्कालवृत्ति का अर्थ है कार्य प्रागभाव के अधिकरण काल में नियतवृत्ति, अतः प्रागभाव में प्रागभावाधिकरण कालवृत्तित्व के ज्ञान में काल में प्रागभावाधिकरणत्व ज्ञान की अपेक्षा होने से आत्माश्रय स्पष्ट है, और यदि नियत प्राक्कालवृत्ति हुए बिना ही केवल प्रागभाव होने से ही कारण मानने का साहस किया जायगा तो वह व्यर्थ होगा, क्योंकि नियतप्राक्काल-वृत्ति हुए बिना उसमें कारण का लक्षण ही न जा सकेगा, क्योंकि कार्य नियतप्राक्-कालवृत्तित्व ही कारण का लक्षण है, किन्तु यह युक्ति भी ठीक नहीं है क्योंकि नियत-प्राक्कालवृत्ति का कार्य प्रागभावाधिकरण कालनियतवृत्ति अर्थ न कर कार्यकालध्वंस के अनधिकरण और कार्य के अनधिकरण काल के पूर्वत्वानधिकरण, काल में नियतवृत्ति अर्थ कर देने से यह दोष नहीं हो सकता, क्योंकि कार्य जन्म के बाद सभी काल कार्य कालध्वंस के अधिकरण होते हैं और कार्य जन्मकाल कार्य का अधिकरण होता है अतः कार्यकालध्वंस के अनधिकरण और कार्य के अनधिकरण कालों में कार्य जन्म के पूर्व-काल ही आयेंगे, उनमें भी जो काल कार्य जन्म से व्यवहित होंगे वे उक्त काल के पूर्वत्वाधिकरण ही होंगे अतः उक्तकाल के पूर्वत्वका अनधिकरण काल कार्य जन्म का अव्यवहित पूर्वक्षण ही होगा। प्रागभाव में उक्त क्षण वृत्तित्व के ज्ञान में उक्त क्षण में प्रागभावाधिकरणत्व ज्ञान की अपेक्षा न होने से आत्माश्रय न होगा, अतः प्रागभाव को कारण मानने में कोई बाधा नहीं हो सकती।

अभाव मात्र में कारणता का खण्डन करने के लिए एक युक्ति यह दी गई है कि कारणता भावात्मक अथवा अभावात्मक किसी भी रूप में अभावनिष्ठ नहीं हो सकती, क्योंकि कारणता यदि भावात्मक होगी तो भाव और अभाव में परस्पर विरोध होने से वह अभाव में न रह सकेगी क्योंकि अभाव यदि भाव का आश्रय होगा तो अभाव ही न रह जायगा क्योंकि भाव के अनाश्रय को अभाव कहा जाता है। इसी प्रकार

कारणता यदि अभावात्मक होगी तो भी अभाव में न रह सकेगी क्योंकि अभावों में कोई भेदक न होने से आधाररूप में अभिमत अभाव और आधेयरूप में अभिमत अभावों में भेद न होने से आधाराधेय भाव न हो सकेगा, किन्तु यह युक्ति भी ठीक नहीं है, क्योंकि कारणता भावात्यक होने पर भी अभावनिष्ठ हो सकती है, क्योंकि अभाव शब्द का अर्थ भाव मात्र का आश्रय नहीं है किन्तु सत्ता जातिरूप भाव का अनाश्रय है, अतः सत्ता से भिन्न कारणता रूप भाव का आश्रय होने पर भी अभावत्व की हानि नहीं हो सकती, इसी प्रकार कारणता अभावात्मक होने पर भी अभाव में रह सकती है क्योंकि प्रतियोगी, प्रतियोगितावच्छेदक धर्म, प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध आदि के भेद से अभावों में भी भेद होना सर्वमान्य है।

अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती, यह कथन भी अभाव की कारणता में बाधक नहीं हो सकता, क्योंकि उस कथन का अभिप्राय अभाव की उपादान कारणता के निषेध में है, न कि कारणता मात्र के निषेध में। अतः नित्यकर्म के अकरण को अभावात्मक होने पर भी प्रत्यवाय का निमित्त कारण मानने में कोई बाधा नहीं है। निषिद्ध कर्म ही पाप का जनक होता है यह शास्त्र सिद्धान्त है, अतः नित्यकर्म का अकरण पाप का जनक नहीं हो सकता यह कथन भी अयुक्त है, क्योंकि "अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितञ्च समाचरन्। प्रसज्जँश्चेन्द्रियार्थेषु नरः पतनमृच्छति" इत्यादि वचनों से निषिद्ध कर्म के समान विहित धर्म के अकरण से भी पाप की उत्पत्ति बताई गई है। निष्कर्ष यह है कि नित्यकर्मों के करने से कोई पुण्य तो नहीं होता किन्तु न करने से पाप होता है अतः अकरणजन्य पाप से मुक्त रहने के लिए नित्यकर्मों का अनुष्ठान परमावश्यक है।

ग्रन्थकार ने संध्यावन्दन आदि को नित्यकर्म कहा है, आदि शब्द से ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ इन पाँच यज्ञों जैसे प्रत्यह करणीय कर्मों की ओर संकेत किया है। ब्रह्मयज्ञ का अर्थ है ब्रह्म—वेद के लिए किया जाने वाला यज्ञ, यह है वेद का अध्ययन-अध्यापन, पितृयज्ञ का अर्थ है, मृत पिता आदि के लिए किया जाने वाला यज्ञ, वह है पितृजनों का तर्पण जलदान आदि। देवयज्ञ का अर्थ है देवों के लिये किया जानेवाला यज्ञ, वह है देवताओं के उद्देश्य से मंत्र द्वारा अग्नि में घृत आदि द्रव्यों का हवन, भूतयज्ञ का अर्थ है भूतों के लिए किया जानेवाला यज्ञ, वह है बलि वैश्वदेव। बलि का अर्थ है भोजन करने से पूर्व पशुपक्षियों के लिए भोज्य पदार्थ का त्याग, और वैश्वदेव का अर्थ है विश्वेदेवों के नाम से भोज्य पदार्थ का त्याग,। नृयज्ञ का अर्थ है मनुष्यों के लिए किया जाने वाला यज्ञ वह है अतिथि-सत्कार।

इन यज्ञों का विधान गृहस्थों को चूल्हा, चक्की, झाड़ू, उखल-मूसल और पानी का घड़ा इन पात्रों से उत्पन्न होने वाले पापों से बचाने के लिए किया गया है जैसा कि मनु ने कहा है—

पञ्चसूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ।
कण्डनीं चोदकुम्भश्च वध्यते यास्तु वाहयन् ॥
तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः ।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥
अध्यानं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो 'दैवो बलिर्भूतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥
पञ्चैतान् यो महायज्ञान् न हापयति शक्तितः ।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते ॥

मनु का यह स्पष्ट आशय है कि पञ्च महायज्ञों के अभाव में उक्त वस्तुओं से होने वाली हिंसा से पाप होता है, और उक्त पञ्चयज्ञों का अनुष्ठान करने पर पाप नहीं होता। अतः पञ्चयज्ञों का अभाव उक्त हिंसा जन्य पाप के जनन में उक्त हिंसा का सहकारी है।

नैमित्तिक का अर्थ है निमित्तमूलक, निमित्त विशेष के उपस्थित होने पर जिन कर्मों को शास्त्र ने अवश्यकरणीय बताया है, वे कर्म नैमित्तिक कर्म कहे जाते हैं। जातेष्टि एक लघु याग है, पुत्र जन्म होने पर शास्त्र द्वारा उसका विधान किया गया है। जातेष्टि का विधायक वाक्य है—'वैश्वानरं द्वादशकमालं निर्वपेत् पुत्रे जाते-पुत्र उत्पन्न होने पर बारह कपालों में पुरोडाश रखकर वैश्वानर देवता को प्रदान करे'। कपाल का अर्थ है किञ्चित् गहरे ताँवा जैसा मृत्पात्र और पुरोडाश का अर्थ है यव के आटे की बनी रोटी, इस इष्टि को जातपुत्र निमित्तक होने से जातेष्टि कहा जाता है।

ग्रन्थकार ने जातेष्टि आदि को नैमित्तिक कर्म कहा है, आदि शब्द से क्षामवद् याग आदि श्रौत कर्मों तथा राहूपराग-मूलक स्नान आदि स्मार्त कर्मों का संकेत किया गया है। क्षामवद् याग का विधायक वाक्य है—'यस्याहिताग्नेर्गृहान् दहत्यग्निरग्नये क्षामवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्'—अग्नि जिस आहिताग्नि पुरूष के गृह का दाह कर दे वह आठ कपालों में पुरोडाश रखकर अतृप्त अग्नि को प्रदान करे'। राहूपराग-मूलक स्नान का विधायक वचन है 'राहूपरागे स्नायात्'-सूर्य अथवा चन्द्र के साथ राहु का सम्बन्ध होने पर स्नान करे'।

उक्त सभी कर्म क्रम से पुत्रजन्म, गृहदाह, ग्रहण आदि निमित्त विशेष उपस्थित होने पर विदित होने से नैमित्तिक हैं।

प्रमाद मनुष्य का स्वभाव है, जिसके कारण उससे विहित कर्मों का त्याग और निषिद्ध कर्मों का आचरण होता रहता है और उनसे उत्पन्न पापों से मनुष्य का मन मलिन होकर सन्मार्ग की ओर उन्मुख नहीं हो पाता, और कालान्तर में मनुष्य को उन पापों के कुफल भोगने पड़ते हैं। अतः मनुष्य के इन पापों का नाश करने के लिए शास्त्रों में कुछ कर्मों का विधान किया गया है। इन्हीं कर्मों को प्रायश्चित्त कहा जाता

है। चान्द्रायण व्रत आदि इस श्रेणी के कर्म होने से प्रायश्चित्त कहे जाते हैं। मनुस्मृति में इस बात को इस प्रकार कहा है—

अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः॥

(११।४४)

विहित कर्म को न करने वाला, निन्दित कर्म को करने वाला तथा इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होने वाला मनुष्य प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

याज्ञवल्क्यस्मृति में यह बात और स्पष्ट रीति से कही गई है, जैसे—

विहितस्याननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात्।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति॥
तस्मात्तेनेह कर्त्तव्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये।

विहित कर्म के न करने से, निषिद्ध कर्म के करने से तथा इन्द्रियों की रोक-थाम न करने से मनुष्य पाप का भाजन बनता है। अतः उसे वर्तमान शरीर के रहते ही पापों के विनाश के लिए प्रायश्चित्त करना चाहिए।

पापों की गुरुता और लघुता तथा पाप से मुक्ति पाने को इच्छुक मनुष्य की आर्थिक एवं शारीरिक शक्ति के अनुसार शास्त्रों में गुरु, लघु अनेक प्रकार के प्रायश्चित्तों का विधान किया गया है। ग्रन्थकार ने उनका निर्देश चान्द्रायण आदि के रूप में किया है।

चान्द्रायणः-'चान्द्रम् अयनं यस्य तत् चान्द्रायणम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार चान्द्रायण का अर्थ है—चन्द्रतुल्यगति से युक्त। जिस व्रत की क्रिया चन्द्रमा के ह्रास-विकास के समान ह्रास-विकास को प्राप्त होती रहती है उस व्रत को चान्द्रायण व्रत कहा जाता है। यह बड़े-बड़े पापों का नाश करने वाला एक गुरुतर प्रायश्चित्त है। अतः इसी का उल्लेख कर आदि शब्द से अन्य प्रायश्चित्तों की ओर संकेत किया गया है।

चन्द्रायण के सम्बन्ध में मनुस्मृति में इस प्रकार कहा गया है—

एकैकं ह्रासयेत् पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत्।
उपस्पृशन् त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम्॥

(११।२१६)

प्रतिदिन प्रातः सायं तथा मध्याह्न में स्नान करे, पूर्णिमा के दिन १५ ग्रास भोजन करके कृष्णपक्ष की प्रतिपद् से चतुर्दशी तक प्रतिदिन भोजन में एक-एक ग्रास कम करता रहे, अमावास्या को उपवास करे, शुक्लपक्ष की प्रतिपद् को एक ग्रास से भोजन आरम्भ कर उत्तरोत्तर दिनों में एक-एक ग्रास की वृद्धि करता चले, पूर्णिमा के दिन पन्द्रह ग्रास भोजन करे इस प्रकार एक मास तक किए जाने वाले व्रत को

चान्द्रायण कहा जाता है। इस चान्द्रायण को मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने उक्त श्लोक की व्याख्या में 'पिपीलिक-मध्य चान्द्रायण' कहा है क्योंकि इसका मध्य अमावास्था के दिन उपवास के रूप में होने से पिपीलिका-चींटी के मध्य भाग के समान क्षीण होता है।

इस चान्द्रायण से भिन्न तीन और चान्द्रायण होते हैं जिन्हें यवमध्य चान्द्रायण, यतिचान्द्रायण और शिशुचान्द्रायण कहा जाता है। यवमध्य को मनु ने इस प्रकार कहा है—

एतमेव विधिं कृत्स्नमाचरेद् यवमध्यमे।
शुक्लपक्षादिनियतश्चरन् चान्द्रायणव्रतम्॥ (११।२१७)

यवमध्य चान्द्रायण में भी पिपीलिक-मध्य चान्द्रायण की ही सारी विधि की जाती है, अन्तर केवल यह होता है कि यवमध्य में शुक्ल पक्ष की प्रतिपद् को एक ग्रासमात्र भोजन कर अगले दिनों में प्रतिदिन एक-एक ग्रास की वृद्धि करते हुए पूर्णिमा को १५ ग्रास भोजन किया जाता है और कृष्णपक्ष की प्रतिपद से एक-एक ग्रास प्रतिदिन कम करते हुए अमावास्या को उपवास किया जाता है। इसका मध्य भाग पूर्णिमा के दिन १५ ग्रास भोजन के रूप में होने से यव के मध्यभाग के समान स्थूल होता है इसीलिए इसे यवमध्य कहा जाता है।

यतिचान्द्रायण का वर्णन मनु ने इस प्रकार किया है—

अष्टावष्टौ समश्नीयात् पिण्डान् मध्यन्दिने स्थिते।
नियतात्मा हविष्याशी यतिचान्द्रायणं चरन्॥ (११।२२८)

जिस चान्द्रायण में व्रतीका भोजनाचार यति के समान प्रातः सायं न होकर केवल मध्याह्न में होता है उसे यति चान्द्रायण कहा जाता है, इसमें प्रतिदिन केवल मध्याह्न में आठ-आठ ग्रास मात्र ही भोजन किया जाता है। इन्द्रिय को संयत रखा जाता है और हविष्य का ही उक्तमात्रा में भोजन किया जाता है।

शिशुचान्द्रायण का प्रतिपादन मनु ने इस प्रकार किया है—

चतुरः प्रातरश्नीयात् पिण्डान् विप्रः समाहितः।
चतुरोऽस्तमिते सूर्ये शिशुचान्द्रायणं स्मृतम्॥ (११।२१९)

दिन और रात के शिशु भाग—प्रारम्भ में किया जाने वाला चान्द्रायण शिशु-चान्द्रायण कहा जाता हैं। इसमें चार ग्रास भोजन प्रातः और चार ग्रास भोजन सूर्यास्त होने पर किया जाता है और व्रती विप्र का समाहित-संयतेन्द्रिय होना आवश्यक होता है।

प्रायश्चित शब्दार्थ :

प्रायश्चित्त शब्द में मध्यमपदलोपी समास है। उसका विग्रह है 'प्रायस्तुष्टं चित्तं यत्र तत् प्रायश्चित्तम्' प्रायः शब्द का अर्थ है प्रकृष्ट अयस्-कठोर लोह, यह लोह के समान कठोर तप का लक्षक है, अतः प्रायश्चित्त का अर्थ है वह व्रत जिसमें कठोर तप

के अनुष्ठान से चित्त तुष्ट हो जाता है। प्रायश्चित्त में—पाप-शोधक तप के सम्बन्ध में चित्त की सन्तुष्टि का ही महत्त्व होता है, इसीलिए मनु ने कहा है—

यस्मिन् कर्मण्यस्य कृते मनसः स्यादलाघवम्।
तस्मिन् तावत्तपः कुर्याद् यावत् तुष्टिकरं भवेत्॥ (११। २३३)

जिस कर्म को करने पर भी मन में भारीपन बना रहे—मन तुष्ट न हो, उस कर्म में तप उतनी मात्रा में करे जितने से कर्त्ता का मन सन्तुष्ट हो सके।

आदि पद से जिन प्रायश्चित्तों का संकेत किया गया है, उनमें कृच्छ्र नाम का व्रत मुख्य है। कृच्छ्र—कष्ट का बाहुल्य होने से इस व्रत को कृच्छ्र कहा जाता है। मनुस्मृति में इसके प्राजापत्य कृच्छ्र, सान्तपन कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र, तप्तकृच्छ्र और पराककृच्छ्र नाम से पाँच भेद बताए गए हैं। इनकी जानकारी के लिए मनुस्मृति के ग्यारहवें अध्याय के २११ से २१५ तक के श्लोकों का अवलोकन करना चाहिए।

उप-समीपे आस्यते-स्थीयते अनेन इत्युपासनम्—इस व्युत्पत्ति के अनुसार उपासन उस कर्म को कहा जाता है, जिसके द्वारा उपासक उपास्य के समीप अवस्थित होता है। उपास्य के समीप उपासक के अवस्थित होने का अर्थ है उपास्य के स्वरूप में उपासक के चित्त को स्थैर्य-लाभ होना। इस प्रकार उपासन का अर्थ होता है मन का वह व्यापार जिससे मन उपास्य सगुण ब्रह्म में स्थिर होता है, वह व्यापार है शाण्डिल्य-विद्या आदि।

शाण्डिल्य-विद्या का अर्थ है शाण्डिल्य ऋषि द्वारा उपदिष्ट विद्या। विद्या का अर्थ है विद्यते-लभ्यते उपास्ये चित्तस्थैर्यं यया क्रियया सा विद्या—जिस क्रिया से उपास्य में उपासक के चित्त को स्थैर्य-लाभ हो वह क्रिया विद्या है। इस विद्या का वर्णन छान्दोग्य उपनिषद् में इस प्रकार है—

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानीति शान्त उपासीत'। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत"

(छान्दो० ३।१४।१)

यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मस्वरूप है क्योंकि यह तज्जलान् है, तज्जलान् का विवरण है, तज्ज तल्ल और तदन्; एवं तत् का विवरण है ब्रह्म, अतः इसका अर्थ है कि यह जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है, ब्रह्म में ही लीन होता है तथा उत्पत्ति और लय के मध्यकाल में ब्रह्म में ही जीवित सक्रिय रूप से अवस्थित रहता है। इस प्रकार यह जगत् यतः तीनों कालों में अर्थात् भूतकाल-उत्पत्ति से पूर्वकाल, वर्तमान काल—उत्पत्ति और स्थिति काल तथा भविष्य काल—लयकाल में कभी भी ब्रह्म से पृथक् नहीं होता, अतः शान्तभाव से जगत् की किसी जड़ या चेतन में रागद्वेष न रखते हुए ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए। यह उपासना क्रतु करने से—उक्त रूप से ब्रह्म का निश्चय करने से सम्भव हो सकती है, क्योंकि पुरुष-जीव क्रतुमय—निश्चयप्रधान होता है। इस लोक में वह जैसा क्रतु करता है मृत्यु के बाद वैसा

ही होता है, इसलिए जब उसे क्रतु के अनुरूप ही फल प्राप्त होना है तब उसे क्रतु करना ही चाहिए जिससे वह क्रतु के अनुसार उपासना कर सके।

"मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसङ्कल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः" (छान्दो० ३।१४।२)

ब्रह्म–ईश्वर मनोमय है, विषयों में मन के प्रवृत्त होने पर वह भी विषयों में प्रवृत्त होता है और विषयों से मन के निवृत्त होने पर वह भी विषयों से निवृत्त होता है, इस प्रकार मन की प्रवृत्ति और निवृत्ति पर अपनी प्रवृत्ति और निवृत्ति के निर्भर होने से वह मनोमय है।

ईश्वर प्राणशरीर है, प्राण का अर्थ है विज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति, आत्मा इन दोनों शक्तियों से सम्पन्न है, ये दोनों शक्तियाँ ही आत्मा के शरीर हैं क्योंकि शरीर-साध्य समस्त कार्य इन दोनों शक्तियों से ही सम्पन्न होते हैं। ये दोनों शक्तियाँ उसे उसके मनोमय होने से ही प्राप्त हैं, क्योंकि मनोहीन में विज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के कार्य नहीं देखे जाते।

ईश्वर भा-रूप है। भा शब्द भान अर्थ के बोधक भा धातु से कर्त्ता अर्थ में क्विप् प्रत्यय से निष्पन्न है, अतः इसका अर्थ है भान होने वाला–स्वतः प्रकाशमान होने वाला, ऐसी वस्तु है चैतन्य–नित्यबोध, वह बोध जो अनादि और अनन्त है, जिसका जन्म और नाश नहीं होता, जो स्वयं कभी अप्रकाशमान नहीं रहता, किन्तु अन्य सभी वस्तुओं को प्रकाशमान बनाता है।

ईश्वर सत्यसङ्कल्प है, उसके सभी सङ्कल्प सत्य होते हैं उसका कोई सङ्कल्प कभी असत्य नहीं होता। जीव-सङ्कल्प के असत्य होने का कारण होता है मिथ्याफल की आकाङ्क्षा–जिस वस्तु या कार्य से जो फल संभव नहीं हो सकता उस वस्तु या कार्य से उस फल की आकाङ्क्षा। मनुष्य कई बार इसी प्रकार की आकाङ्क्षा से प्रेरित होकर क्रियाशील होता है अतएव उसका सङ्कल्प असत्य हो जाता है, किन्तु ईश्वर यथार्थद्रष्टा है अतः उसे इस प्रकार मिथ्या फल की आकाङ्क्षा न होने से उसके सङ्कल्प को असत्य होने की संभावना ही नहीं हो सकती।

ईश्वर आकाशात्मा है, उसका स्वरूप आकाश के स्वरूप जैसा है। जैसे आकाश सर्वव्यापी; सूक्ष्म और रूपादि गुणों से शून्य होता है वैसे ही ईश्वर भी सर्वव्यापी, सूक्ष्म और रूप आदि गुणों से शून्य होता है।

ईश्वर सर्वकर्मा है, सारा जगत् ईश्वर का ही कार्य है, जगत् का कोई कार्य ऐसा नहीं है जो ईश्वर-प्रयत्न के बिना उत्पन्न हो, यही कारण है कि ईश्वर को सर्व-कर्त्ता कहा जाता है, ईश्वर को सर्वकर्मा भी इसी अर्थ में कहा गया है।

ईश्वर सर्वकाम है, सर्वकाम का अर्थ है–सर्वविषयक इच्छा का आश्रय। ईश्वर ऐसी सभी इच्छाओं का, जो धर्मविरुद्ध न हों, आश्रय होता है। इसका स्पष्ट आशय यह है कि जो वस्तु ईश्वर को इष्ट नहीं है उसका अस्तित्व असंभव है। ईश्वर की इष्यमाणता वस्तुत्व का व्यापक है अतः जो ईश्वर को इष्यमाण न होगा वह वस्तु ही नहीं हो सकता।

ईश्वर सर्वगन्ध है, सुखावह समस्त पुण्य रूप गन्ध ईश्वर में विद्यमान हैं। तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य ईश्वर के अभिमुख गतिशील होता है वह उसकी ओर द्रुतगति से उसी प्रकार अग्रसर होता है जिस प्रकार मनुष्य सुखप्रद शोभन गन्ध की ओर बड़े वेग से बढ़ता है।

ईश्वर सर्वरस है, उसमें सभी सुन्दर रस विद्यमान हैं, जो ईश्वर का चिन्तन करता है उसे सभी सुन्दर रसों के स्वाद का आनन्द प्राप्त होता है। ईश्वर का ध्यान कोई नीरस व्यापार नहीं है किन्तु अत्यन्त रसमय व्यापार है। एक बार ईश्वर जब मनुष्य के ध्यानगत हो जाता है और उसे उस ध्यान का रसानुभव हो जाता है तब वह कभी उससे विचलित नहीं होना चाहता।

ईश्वर ने सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त कर रखा है, संसार की ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो ईश्वर की गोद के बाहर हो। वह अवाकी और अनादर भी है। अवाकी का अर्थ है वाक् इन्द्रिय से शून्य, जिसका तात्पर्य यह बताने में है कि ईश्वर इन्द्रिय-सापेक्ष नहीं है। वह इन्द्रियों के विना ही सब इन्द्रियों के कार्य करता है। अनादर का अर्थ है आदरहीन-सम्भ्रमहीन, ईश्वर कभी सम्भ्रान्त—किसी वस्तु को पाकर उसके सम्बन्ध में सम्भ्रम-आदर भावना से परिगृहीत नहीं होता, क्योंकि सम्भ्रम तब होता है जब कोई अप्राप्त अपूर्व वस्तु किसी को मिल जाती है अतः यह उसी पुरुष में सम्भव होता है जो आप्तकाम न हो, ईश्वर तो पूर्णरूप से आप्तकाम है। उसके लिए कोई वस्तु अपूर्व अप्राप्य नहीं है। अतएव वह सभी वस्तुओं के बारे में अनादर–सम्भ्रमहीन है।

"एष म आत्मान्तर्हृदयोऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वैष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः" (छा० ३।१४।३)

उक्त गुणों से सम्पन्न ईश्वर ही मेरे हृदय के अन्दर विद्यमान मेरी आत्मा है, वह व्रीहि-धान्य, जव, सरसों, सावाँ, सावें के चावल से भी अणु है। मेरे हृदय के अन्दर विद्यमान उक्त गुण युक्त मेरी आत्मा पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक इन सभी लोकों से महान् है। आत्मा को अणु और महान् दोनों कहकर यह सूचित किया गया है कि आत्मा की कोई इयत्ता नहीं है।

"सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर एष य आत्माऽन्तर्हृदय एतद् ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मीति यस्य स्याद‌द्धा न विचिकित्सास्तीति ह स्माह शाण्डिल्यः" (छान्दो० ३।१४।४)

जो सर्वकर्मा–समस्त कार्यों का कर्त्ता, सर्वकाम-सर्वविषयक इच्छा का आश्रय, सर्वगन्ध सभी मनोरम गन्धों से युक्त, सर्वरस–सभी रमणीय रसों से मण्डित, सर्वं इदम् अभ्यात्त–इस सारे जगत् को चारों ओर से व्याप्त करने वाला, अवाकी–वाणी आदि समस्त इन्द्रियों से शून्य और अनादर-सम्भ्रमरहित है, वह ईश्वर हृदय के अन्तर्देश

में स्थित मेरी आत्मा है। यह आत्मा ही ब्रह्म है। इस लोक से प्रयाण करने पर मैं ब्रह्म स्वरूप हो जाऊँगा जिसे यह दृढ़ निश्चय होता है, इस विषय में जिसे कोई संदेह नहीं होता वह मरने के बाद निश्चय ही ब्रह्मभाव प्राप्त करता है, यह बात स्वयं शाण्डिल्य ने कही है।

इस वाक्य में प्रस्तुत खण्ड के दूसरे वाक्य के 'मनोमयः' से 'आकाशात्मा' तक के पूर्व भाग को छोड़कर शेष भाग को ग्रहण कर यह संकेत किया गया है कि सर्व-कर्मत्व आदि रूपों से ईश्वर को लक्षित कर मनोमयत्व आदि रूपों से ईश्वर की ध्यानात्मक उपासना करनी चाहिए। अलक्षित-अज्ञात को उपासना नहीं हो सकती। अतः उपास्य को जिन रूपों से लक्षित करना हैं उन रूपों को दूसरे वाक्य में दोहरा दिया गया है और जिन रूपों से ध्यानात्मक उपासना करनी है उन रूपों का उल्लेख एक ही बार यह बताने के उद्देश्य से किया गया है कि जिन रूपों से एक बार उपास्य को ध्यानगत किया जाय उन रूपों की एकता—अत्याज्यता बनी रहे, उन्हें अन्त तक न छोड़ा जाय क्यों कि उनका त्याग करने से चित्त की एकाग्रता नहीं सिद्ध हो सकती। इस विद्या का वर्णन शतपथ के १०, ६, ३, २, में तथा बृहदारण्यक के ५।६।१ में भी किया गया है।

शाण्डिल्य विद्या आदि को उपासना बताते हुए ग्रन्थकार ने आदि शब्द से उपासनात्मक अन्य विद्याओं की ओर संकेत किया है जैसे दहरविद्या, वैश्वानर-विद्या आदि। इन विद्यावों की जानकारी के लिए छान्दोग्य के अष्टम अध्याय का अवलोकन करना चाहिए।

गन्थकार ने उपासना को मनोमय व्यापार कहकर उसकी ज्ञानभिन्नता की ओर संकेत किया है। उनका आशय यह है कि सत्त्वगुणप्रधान अन्तःकरण को बुद्धि और रजोगुणप्रधान अन्तःकरण को मन कहा जाता है। बुद्धि ज्ञानशील होती है और मन क्रियाशील एवं चञ्चल होता है। बुद्धि के सत्त्वांश के विषयाकार परिणाम को ज्ञान कहा जाता है और मन के रजस् अंश की विषयाभिमुख गति को मनोव्यापार कहा जाता है। यही गति जब एकाभिमुख रहते हुए सतत प्रवर्तमान होती है तब अभिमुखस्थ विषय की एकता, मनोगति के प्रेरक पुरुष की एकता तथा कालव्यवधान के अभाव के कारण ध्यान शब्द से व्यवहृत होती हैं। इस गत्यात्मक ध्यान को ही उपासना कहा जाता है। इस प्रकार उक्त मनोगतिरूप उपासना, बुद्धि के विषयाकार सात्त्विक परिणामरूप ज्ञान से भिन्न होती है। यहाँ उपासना और उसके प्रयोजन चित्तस्थैर्य के स्वरूप को स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है जो इस प्रकार है—अन्यविषयों से चित्त को खींचकर उपास्य की ओर उसे गतिमान् बनाना, ऐसा प्रयास करना जिससे चित्त उपास्य से भिन्न वस्तु की ओर न जाय, प्रयत्न पूर्वक सम्पाद्यमान इस प्रकार का चित्तव्यापार ही उपासना है और इस चित्त व्यापार में सातत्य स्थापित हो जाना चित्तस्थैर्य या चित्त की एकाग्रता है।

एतेषां नित्यादीनां बुद्धिशुद्धिः परं प्रयोजनमुपासनानां तु चित्तैकाग्र्यं "तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन" इत्यादिश्रुतेः "तपसा कल्मषं हन्ति" इत्यादिस्मृतेश्च ।

इदानीमुक्तलक्षणानां नित्यादीनामीश्वरार्पणतयानुष्ठीयमानानां परमफलं दर्शयति—एतेषामिति। आदिपदान्नैमित्तिकप्रायश्चित्तयोर्ग्रहः। नित्यादीनामुपात्तदुरितक्षयद्वारा बुद्धिशुद्धिहेतुत्वमिति द्रष्टव्यं निर्गतानखिलकल्मषतयेत्युक्तत्वात्।

"नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम्"।

इत्यादिस्मृतेः "धर्मेण पापमपनुदति" इति श्रुतेश्च चित्तशुद्धेः परमप्रयोजनत्वं परम्परया मोक्षसाधनत्वात्। तथाच स्मृतिः—

भगवान् शङ्कराचार्य ने छान्दोग्य उपनिषद् की भाष्यभूमिका में अद्वैतज्ञान और उपासना दोनों को जो मनोवृत्तिरूप कहा है, वह बुद्धि और मन में तात्त्विक अभिन्नता की दृष्टि से है, अतः ज्ञान और उपासना को क्रम से बुद्धिवृत्ति और मनोवृत्ति कहकर जो भेद बताया गया हैं उसका भगवान् के उक्त कथन से कोई विसंवाद नहीं है। दूसरी बात यह है कि भगवान् ने अद्वैतज्ञान और उपासना को मनोवृत्ति कहा है ज्ञानसामान्य को नहीं, इसलिए भी उनके कथन और उक्त कथन में कोई विरोध नहीं है क्योंकि अद्वैत ज्ञान निर्मल मन की वृत्ति है और निर्मल मन में रजस् का अभिभव होकर सत्त्व का उद्रेक हो जाने से वह सत्त्वप्रधान बुद्धि के समान हो जाता है।

अनुवाद—

'तमेतमात्मानं' आदि श्रुति तथा 'तपसा' आदि स्मृति के अनुसार इन नित्य आदि का परम-अन्तिम-मुख्य प्रयोजन है बुद्धि की शुद्धि—मन की निर्मलता, किन्तु उपासनाओं का परम प्रयोजन है चित्त की एकाग्रता-मन की एक विषय में स्थिरता-एक ही वस्तु में मन की अविच्छिन्न गतिशीलता।

व्याख्या—

'तमेतमात्मानं' आदि श्रुति का अर्थ यह है कि ब्राह्मण वेदाध्ययन और यज्ञानुष्ठान से उक्तस्वरूप इस आत्मा की विविदिषा—जिज्ञासा करे। श्रुति के यथाश्रुत शब्दों से यद्यपि यह स्पष्ट नहीं होता कि वेदाध्ययन और यज्ञ से बुद्धि की शुद्धि होती है किन्तु उनके द्वारा जिज्ञासा करनी चाहिए इस कथन से उक्त बात का लाभ हो जाता है क्योंकि आत्मा-ब्रह्म की जिज्ञासा विशुद्ध बुद्धि में ही प्रादुर्भूत हो सकती है अतः यदि वेदाध्ययन और यज्ञानुष्ठान से बुद्धि की शुद्धि न हो तो उनसे सीधे जिज्ञासा का उदय न हो सकने से उक्त श्रुति की संगति न हो सकेगी।

"स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु"॥

इत्युपक्रम्य

"असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्न्यासेनाधिगच्छति"॥ इति।

तदुक्तं नैष्कर्म्यसिद्धावपि—"नित्यकर्मानुष्ठानाद्धर्मोत्पत्तिर्धर्मोत्पत्तेः पापहानिस्ततश्चित्तशुद्धिस्ततः संसारयाथात्म्यावबोधस्ततो वैराग्यं ततो मुमुक्षुत्वं ततस्तदुपायपर्येषणं ततः सर्वकर्मसन्न्यासस्ततो योगाभ्यासस्ततश्चित्तस्य प्रत्यक्प्रवणता ततस्तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थपरिज्ञानं ततोऽविद्योच्छेदस्ततः स्वात्मन्यवस्थानं" इति। उपासनानां त्विति। तुशब्दः कर्मभ्य उपासनाया वैशिष्ट्यद्योतनार्थः। तस्य नित्याद्यनुष्ठानक्षपितकल्मषतया विशुद्धस्य चित्तस्य शास्त्रप्रकाशिते ध्येये ज्ञेये वा विषये ऐकाग्र्यं निश्चलत्वमित्यर्थः। सूक्ष्मार्थावधारणसमर्थत्वमिति यावत्। पूर्वोक्तप्रकारेणानुष्ठीयमानानां नित्यादीनामुपात्तदुरितक्षयद्वारा शुद्ध्यादिपरम्परया ज्ञानहेतुत्वे प्रमाणमाह—विविदिषन्तीति। आदिपदात् "तपसाऽनाशकेन" इति वाक्यशेषग्रहः। विविदिषन्तीति विविदिषासम्बन्धे विधिप्रत्ययोऽनुसन्धेयोऽपूर्वत्वात्। नहि यज्ञादीनां विविदिषासंयोगः पूर्वं प्राप्तो येनानुवादत्वं वाक्यस्य कल्पेत। ननु यज्ञादीनां यावज्जीववाक्येनावश्यकर्तव्यतया प्राप्तानां विविदिषार्थत्वे नित्यानित्यसंयोगः प्रसज्येत यदि च विविदिषार्थं यज्ञाद्यनुष्ठानमपरमिष्येत

उक्तस्मृति का यह अर्थ तो स्पष्ट ही है कि तप से कल्मष-बुद्धि के पापात्मक मल का नाश करना चाहिए। इस स्मृति के अनुसार उक्त श्रुति के इस तात्पर्य का निर्णय सुलभ हो जाता है कि वेदाध्ययन और यज्ञ से बुद्धि का शोधन कर आत्मा की जिज्ञासा करनी चाहिए। यह प्रश्न हो सकता है कि उक्त श्रुति में वेदानुवचन और यज्ञ का तथा उक्त स्मृति में तप का ही उल्लेख है, नित्य नैमित्तिक कर्मों का नहीं, अतः उक्त श्रुति एवं स्मृति बुद्धिशुद्धि को नित्य-नैमित्तिक कर्मों का प्रयोजन बताने में प्रमाण कैसे हो सकती है। इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि वेदाध्ययन "ब्राह्मणस्य निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च" 'स्वाध्यायान्मा प्रमदः' इत्यादि वचनों के अनुसार नित्यकर्म हैं और वह अन्य नित्यकर्मों का उपलक्षण है। इसी प्रकार यज्ञ शब्द सभी यज्ञों का बोधक होने से पञ्चमहायज्ञ आदि नित्यकर्मों तथा जातेष्टि आदि नैमित्तिक कर्मों का बोधक है। इसी प्रकार उक्त स्मृति का तप शब्द तपःसामान्य का बोधक होने से चान्द्रायण व्रत आदि प्रायश्चित्तात्मक तप का और सन्ध्यावन्दन आदि नित्यानुष्ठेय तप का बोधक है। अतः उक्त श्रुति और स्मृति द्वारा नित्य नैमित्तिक और प्रायश्चित से बुद्धि की शुद्धि होती है इस तथ्य के बोध में कोई बाधा नहीं हो सकती।

नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानां त्ववान्तरफलं पितृलोकसत्यलोकप्राप्तिः "कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोक" इत्यादिश्रुतेः ।

ततः संसारव्यावृत्सूनां द्विरनुष्ठानं स्यादिति चेन्न खादिरादिवत्संयोगपृथक्त्वोपपत्तेः । न च तर्हि तेनैव न्यायेन कर्मणा मोक्षार्थत्वमपीति शङ्कनीयं ज्ञानकर्मसमुच्चयनिराकरणात् । तथाच न्यायः—"अत एवाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा" इति । कर्मणां ज्ञानं प्रत्यारादुपकारकत्वं तु स्यात् "सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्" इति न्यायात् । उक्तं च भाष्यकृद्भिः—"विविदिषासंयोगात्त ब्राह्मेतराणि यज्ञादीनि" इति । तत्रैव स्मृतिं संवादयति—तपसेति । आदिपदात् "कषायपक्तिः कर्माणि" इत्यादिस्मृत्यन्तरग्रहः ॥

ननु नित्यादेः सत्त्वशुद्धितदैकाग्र्यफलकत्वे "कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः", "सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति" इतिश्रुतिर्नित्यादीनां पितृलोकादि-

उपासना का प्रयोजन बताया गया है 'चित्त की एकाग्रता', किन्तु प्रमाण रूप में किसी श्रुति या स्मृति को उद्धृत नहीं किया गया है। जो श्रुति एवं स्मृति उद्धृत है उससे उक्त अर्थ का स्पष्ट रूप से लाभ नहीं होता पर थोड़ा ध्यान देने से उक्त श्रुति एवं स्मृति से ही उपासना के इस प्रयोजन का लाभ हो जाता है। जैसे श्रुति में उक्तस्वरूप आत्मा की विविदिषा को वेदाध्ययन और यज्ञ का प्रयोजन कहा गया है। वेदाध्ययन से वेदार्थ का ज्ञान होता है। सगुण ब्रह्म भी वेदार्थ है, अतः सतत वेदाध्ययन से सतत उपस्थित होने वाले सगुण ब्रह्म में चित्तवृत्ति-सातत्यरूप उपासना का भी वेदाध्ययन शब्द से लाभ हो जाता है। इसी प्रकार यज्ञ शब्द से भी उसका लाभ हो जाता है। क्यों कि यज्ञ में सगुण ब्रह्मरूप विष्णु आदि का ध्यान आवश्यक होता है और सगुणब्रह्म का ध्यान उपासनारूप है। विविदिषा को वेदानुवचन और यज्ञ का प्रयोजन कहने से यह ज्ञात होता है कि उन साधनों से बुद्धि की शुद्धि होकर जिज्ञासा होती है जिससे प्रेरित हो मनुष्य ज्ञानार्जन करता है, ज्ञानश्रुति से उपासना के चित्तस्थैर्य रूप प्रयोजन का भी लाभ हो जाता है। इसी प्रकार उक्त स्मृति से भी इस बात का लाभ हो जाता है, क्योंकि कल्मष ही चित्त के एकाग्र होने में बाधक होता है अतः तप से कल्मष का नाश होता है इस कथन से यह लाभ अनायास हो जाता है कि उपासनात्मक तप से चित्त की एकाग्रता होती है।

अनुवाद—

'कर्मणा पितृलोकः' आदि श्रुति के अनुसार नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त और उपासना का अवान्तर-अप्रधान फल तो है पितृलोक तथा सत्यलोक की प्राप्ति।

व्याख्या—

नित्य आदि कर्मों के दो फल होते हैं, एक प्रधान-अन्तिम फल और दूसरा आनुषङ्गिक अप्रधान फल। उनमें नित्य, नैमित्तिक और प्रायश्चित्त का चित्तशुद्धिरूप मुख्य फल तथा उपासना का चित्तस्थैर्यरूप मुख्य फल बता दिया गया है। प्रस्तुत

फलपरा पीड्येतेत्यत आह—नित्यनैमित्तिकयोरिति। अत्र प्रायश्चित्ताग्रहणं तस्यावान्तरफलाभावात्। न ह्युपात्तदुरितक्षयमन्तरेण तस्य किञ्चित्फलं श्रुतमस्ति। अन्ययोस्तु तच्छ्रूयत इति विशेषः। नित्यनैमित्तिकयोः पितृलोक-प्राप्तिरवान्तरफलमुपासनानां सत्यलोकप्राप्तिरिति विवेकः। "तद्यथा आम्रे फलार्थे निर्मिते छायागन्धावित्यनूत्पद्येते', इति स्मृत्युक्तछायागन्धवत्पितृ-लोकादिफलस्यावान्तरत्वमानुषङ्गिकत्वम्। तदुद्देशेन नित्यादेरविधानाद्विविदि-षासंयोगस्य च विधानाच्छुद्धेरेव महाफलत्वमिति भावः। ननु पितृलोकस्य कथं नित्यादिसाध्यत्वं श्राद्धादिकर्मसाध्यत्वात्। देवलोकस्य च

"अष्टाशीतिसहस्राणां मुनीनामूर्ध्वरेतसाम्।
उत्तरेणार्यम्णः पन्था.... ...."॥

इत्यादिस्मृतेर्नैष्ठिकाद्यूर्ध्वरेत आश्रमधर्ममात्रसाध्यत्वावगमात्कुतो विद्या-फलत्वमिति चेदत्र पृच्छामः। किं श्राद्धादि नित्यनैमित्तिकरूपं कर्म काम्यं वेति। आद्ये कथं न नित्यादेः पितृलोकः फलम्। द्वितीये त्वस्य विध्युद्देशफले-नैव निराकाङ्क्षत्वात्पितृलोकफलसम्बन्धाभावान्नापि विना विद्यामूर्ध्वरेत-आश्रमधर्ममात्रेणोत्तरमार्गगमनं सम्भवति।

"विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः।
न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः"॥

पङ्क्तियों से उनका अप्रधान फल बताया गया है और वह है पितृलोक और सत्यलोक की प्राप्ति। पितृलोक की प्राप्ति नित्य आदि कर्मों का फल है और सत्यलोक-देवलोक की प्राप्ति विद्या-उपासना का फल है जैसा कि उक्त श्रुति से स्पष्ट है।

अवान्तर फल की प्रतिपादिका उक्त श्रुति का पूर्णरूप इस प्रकार है—"अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति, सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा, कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोको वै लोकानां श्रेष्ठस्तस्माद् विद्यां प्रशंसन्ति"।

लोक तीन हैं—मनुष्यलोक, देवलोक और पितृलोक। इनमें मनुष्यलोक पुत्र द्वारा ही जीतने योग्य होता है। इसका आशय यह है कि मनुष्यलोक में मनुष्य की स्थिति पुत्र द्वारा बनी रहती है, क्योंकि 'आत्मा वै जायते पुत्रः' मनुष्य पुत्र के रूप में स्वयं उत्पन्न होता है, इस श्रुति के अनुसार मनुष्य अपने वर्तमान देह का त्याग करने पर भी पुत्रदेह से अवस्थित रहता है। मनुष्यलोक में उसकी यह स्थिति पुत्र द्वारा ही सम्पन्न होती है, कर्म अथवा विद्या द्वारा नहीं। पितृलोक कर्मद्वारा जीतने योग्य होता है, मृत्यु के बाद मनुष्य पितृलोक को शास्त्रोक्त कर्मों के अनुष्ठान से ही प्राप्त करता है पुत्र अथवा विद्या से नहीं, एवं देवलोक विद्या—उपासना से ही प्राप्त होता है पुत्र अथवा उपासनात्मक' कर्म से नहीं। देवलोक सब लोकों में श्रेष्ठ है, वही सत्यलोक है अतः उसे प्राप्त कराने वाली विद्या की विद्वज्जन प्रशंसा करते हैं।

इति श्रुतौ विद्याविरहिणामुत्तरमार्गनिषेधात्। निर्णीतं चैतदाचार्यैर्गुणोपसंहारपादे "अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्यां" इत्यत्राधिकरणे स्मृतिर्नापुनरावृत्तिमूर्ध्वरेतसामाचष्टे किन्तु गमनमात्रम्। श्रुतौ तु देवलोकशब्दितब्रह्मलोकगतानां पुनरावृत्त्यभावोऽवगम्यते। "एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्त" इति, "तेषामिह न पुनरावृत्तिः" इति च। यत्पुनरत्रेममिहेति च विशेषणात्कल्पान्तर आवृत्तिरवगम्यते तद्विद्यारहितानामनावृत्तिस्तु विद्यावतां क्रममुक्त्याम्नायादिति रहस्यम्। नन्वेवं सति छान्दोग्यभाष्यविरोधस्तत्र हि महता संरम्भेण "ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासत" इति पञ्चाग्निविद्यागतवाक्यव्याख्यानावसरे गृहस्थानां विद्यारहितानामनृतपैशुन्यमायादम्भाब्रह्मचर्यादिभिरपूतत्वान्न स्वधर्मनिष्ठामात्रेणोत्तरमार्गगतिरास्त। इतरेषां नैष्ठिकवानप्रस्थमुख्यसन्न्यासिनां तु तद्विपरीतत्वात्पूततया स्वाश्रमधर्मनिष्ठामात्रेणोत्तरमार्गगतिरपुनरावृत्तिलक्षणा भवेदित्याचार्यैरेव निरूपितम्। "न तत्र दक्षिणा" इत्यादिश्रुतिः परममुक्त्यपेक्षेति च व्याख्यातम्। तत्कुत एवं विभागवचनमिति चेत्सत्यम्। ऊर्ध्वरेतसामुत्तरमार्गेण ब्रह्मलोकगमनं विद्यां विनापीत्येतावन्मात्रं तत्रोक्तं न पुनरात्यन्तिक्यपुनरावृत्तिस्तत्र विवक्षिता।

"आभूतसम्प्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते"।

छान्दोग्य उपनिषद् के पञ्चाग्निविद्या प्रकरण में पितृलोक और देवलोक को प्राप्त कराने वाले दो मार्गों का वर्णन है—पितृयान और देवयान। कर्मनिष्ठ मनुष्य पितृयान मार्ग से पितृलोक और विद्यानिष्ठ मनुष्य देवयान मार्ग से देवलोक जाता है। पितृयान है—धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन के ६ मास, और देवयान है—अर्चिष् ज्वाला, दिन, शुक्लपक्ष उत्तरायण के ६ मास और वर्ष। कर्मनिष्ठ मनुष्य मरने पर धूम, रात्रि आदि के मार्ग से चलकर पितृलोक पहुँचता है और विद्यानिष्ठ उपासक आग की ज्वाला, दिन आदि के मार्ग से चलकर देवलोक पहुँचता है। इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए छान्दोग्य उप०, अध्याय ५, खण्ड १०, मन्त्र १ से ४ तक देखना चाहिए।

यह ज्ञातव्य है कि ये दोनों लोक भी अनित्य हैं इन लोकों से भी मनुष्य का उसके शुभाशुभ कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों में जन्मरूप पतन होता है। जैसे—'तद् यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' (छान्दो० ८।१।६) एवं "तद् य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्.... अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्" (छान्दो० ५।१०।७)

इस सन्दर्भ में ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य में उक्त उपासनाफलों पर भी दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है, वहाँ कहा गया है कि—"तत्र कानिचिद् ब्रह्मण उपासनान्यभ्युदयार्थानि", कानिचित् क्रममुक्त्यर्थानि, कानिचित् कर्मसमृद्ध्यर्थानि

इत्यापेक्षिकामृतत्ववचनोदाहरणात्। गुणोपसंहारे च "तस्मादिह श्रद्धातपोभ्यां विद्यान्तरोपलक्षणं वाजसनेयिनस्तु पञ्चाग्निविद्याधिकारेऽधीयते 'ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धासत्यमुपासत' इत्युदाहृत्य तत्र श्रद्धालवो ये सत्यं ब्रह्मोपासत इति व्याख्येयं सत्यशब्दस्य ब्रह्मण्यसकृत्प्रयुक्तत्वात्" इति तैरेव व्याख्यातत्वात्। याज्ञवल्क्यश्चाह—

"सप्तर्षिनागवीथ्यन्तर्देवलोकं समाश्रिताः।
तावन्त एव मुनयः सर्वारम्भविवर्जिताः॥
तपसा ब्रह्मचर्येण सङ्गत्यागेन मेधया।
तत्र गत्वावतिष्ठन्ते यावदाभूतसम्प्लवम्"॥ इति।

तस्मादात्यन्तिक्यपुनरावृत्तिर्विद्यावतामेवेति युक्तं क्रममुक्तिहेतुत्वाद्विद्यायाः। न च तर्हि मुक्तेरेव विद्यायाः परमप्रयोजनत्वाच्चित्तैकाग्र्यस्य तदयुक्तमिति वाच्यं सगुणब्रह्मविदस्तथात्वेऽपि निर्गुणब्रह्मविद्याधिकारिणः चित्तैकाग्रताया एव परमप्रयोजनत्वात्। तस्यापि साक्षात्कारोदयात्प्रागेव प्रमीतस्य ब्रह्मलोकगमनोपपत्तेः।

"प्राप्य पुण्यकृताँल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः"।

इत्यादिस्मृतेश्च। सगुणब्रह्मविदोऽपि ब्रह्मलोकगतस्य तत्रत्यं भोगं विद्यावान्तरफलं भुक्तवतस्तत्रोत्पन्नचित्तैकाग्र्यद्वारा स्वयम्भातवेदान्तवाक्यार्थज्ञानादेव मुक्तिरिति नियमात्। भवत्येव चित्तैकाग्रतापासनायाः परमप्रयोजनमिति न किञ्चिद्दुष्यति। तस्मात् "सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति" इति श्रुतेर्नित्यनैमित्तिकयोः फलवत्त्वस्य वाचनिकत्वात्तथात्वेऽप्युक्तलक्षणभेदेन काम्यवैषम्यात्फलविशेषस्य चाश्रुतत्वात्पितृलोकस्य च फलात्मनः कर्मविशेषाकाङ्क्षितत्वान्नष्टाश्वदग्धरथन्यायेन "कर्मणा पितृलोक" इति श्रुतिरुपपद्यते। काम्यप्रायश्चित्तयोः फलविशेषोद्देशेन पापक्षयमात्रार्थत्वेन च विधानात्फलान्तराकाङ्क्षाभावाथात्तङ्गावबद्धानामुपासनानां कर्मसमृद्ध्यर्थत्वादनङ्गावबद्धानामपि प्रतीकापासनानामब्रह्मोपासनाना चाभ्युदयफलत्वात्कार्यकारणब्रह्मोपासनानामवान्तरफलं देवलोकशब्दवाच्यब्रह्मलोक इति परिशेषात्सिद्धेयुक्तं 'विद्यया देवलोक' इति वचनमित्यलं प्रपञ्चेन॥

(ब्रह्मसूत्र शां० भा० १।१।११)। ब्रह्म की कुछ उपासनाओं का फल होता है—अभ्युदय—स्वर्गप्राप्ति, कुछ का फल होता है क्रममुक्ति और कुछ का फल होता है कर्म की समृद्धि—समृद्ध फल देने के लिए कर्म को सहकारी के सम्पर्क से बलवान् बनाना।

उपासना के उक्त फलों के साथ चित्त की एकाग्रता का उल्लेख न होने से यह शंका हो सकती है कि भगवान् शंकराचार्य को चित्त की एकाग्रता को उपासना का फल मानना इष्ट नहीं है किन्तु इस शंका को इस उत्तर से अवसर नहीं प्राप्त हो सकता कि चित्त की एकाग्रता उपासना का मुख्य फल है और उक्त भाष्य में उसके आनुषङ्गिक

साधनानि नित्यानित्यवस्तुविवेकेहामुत्रार्थफलभोगविरागशमादिषट्कसम्पत्तिमुमुक्षुत्वानि। नित्यानित्यवस्तुविवेकस्तावद्ब्रह्मैव नित्यं वस्तु ततोऽन्यदखिलमनित्यमिति विवेचनम्। ऐहिकानां स्रक्चन्दनवनितादिविषयभोगानां कर्मजन्यतयाऽनित्यत्ववदामुष्मिकाणामप्यमृतादिविषयभोगानामनित्यतया तेभ्यो नितरां विरतिरिहामुत्रार्थफलभोगविरागः। शमादयस्तु शमदमोपरतितितिक्षासमाधानश्रद्धाख्याः। शमस्तावच्छ्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनसो निग्रहः। दमो बाह्येन्द्रियाणां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्यो निवर्तनम्। निवर्तितानामेतेषां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्य उपरमणमुपरतिरथवा विहितानां कर्मणां विधिना परित्यागः। तितिक्षा शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुता। निगृहीतस्य मनसः श्रवणादौ तदनुगुणविषये च समाधिः समाधानम्। गुरूपदिष्टवेदान्तवाक्येषु विश्वासः श्रद्धा। मुमुक्षुत्वं मोक्षेच्छा।

फलों का ही उल्लेख है अतः उनके साथ चित्त की एकाग्रता की चर्चा नहीं की गई है। उपासना के अभ्युदयात्मक फलों में देवलोकप्राप्ति का समावेश होने से उसे उपासना का फल बताने वाले वेदान्तसार का उक्त भाष्य के साथ कोई विरोध भी नहीं है।

अनुवाद—

नित्य, अनित्य वस्तु का विवेक, ऐहिक और पारलौकिक फलों के भोग से विरक्ति, शम आदि छः से सम्पन्न होना और मुमुक्षा—मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा साधन हैं।

नित्यानित्यवस्तुविवेक—एकमात्र ब्रह्म ही नित्य वस्तु है उससे भिन्न समग्र पदार्थ अनित्य हैं, इस प्रकार का विवेचनात्मक निश्चय। इहामुत्रार्थफलभोगविराग—जिस प्रकार इस संसार के माला, चन्दन, वनिता आदि विषयों के भोग कर्मजन्य होने से अनित्य हैं, उसी प्रकार परलोक अमृत आदि विषयों के भोग भी अनित्य हैं, इस अनित्यता के आधार पर ऐहिक और आमुष्मिक सभी विषयों से अत्यन्त वैराग्य। शमादिषट्कसंपत्ति—शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा, इन छः साधनों से सम्पन्न होना। शम—श्रवण, मनन और निदिध्यासन से भिन्न विषयों से मनका निग्रह। दम—श्रवणादि से भिन्न विषयों से बाह्य इन्द्रियों को प्रत्यावर्तित करना। उपरति—श्रवणादि से भिन्न विषयों से प्रत्यावर्तित इन्द्रियों की श्रवणादि भिन्न विषयों की ओर गति का निरोध अथवा शास्त्रविहित कर्मों का विधिपूर्वक परित्याग। तितिक्षा—ठंढक, गर्मी आदि से होने वाले कष्टों को सहन करने की क्षमता। समाधान—बाह्यविषयों से निगृहीत मन को श्रवणादि में और श्रवणादि के अनुकूल विषय में केन्द्रित करना। श्रद्धा—गुरु से अधीत वेदान्तवचनों में विश्वास करना। मुमुक्षुत्व—मोक्ष की आकाङ्क्षा।

साधनसम्पन्नः प्रमाताधिकारीत्युक्तं तत्र कानि साधनानि कियन्ति वेत्यपेक्षायां तानि विभजते—साधनानीति। विवेकमन्तरेण वैराग्यायोगाद्विवेकस्य प्राथम्यं न हीदं हेयमिदमुपादेयमिति विवेचनमन्तरेण हेयाद्रागनिवृत्तिः सम्भवति। अनिवृत्तरागस्य शमाद्यभावाच्छमाद्यपेक्षया विरामस्य पूर्वमुद्देशः। शान्त्यादिहीनस्य मुमुक्षायोगात्ततः प्रागेव शमाद्युद्देशः। एतैस्त्रिभिः साधनैः सम्पन्नस्य मुमुक्षाया अवश्यम्भावात्तस्यां च सत्यां ब्रह्मजिज्ञासायां नियमेन प्रवृत्तेर्मुमुक्षान्तान्येव साधनानीत्यभिप्रायः॥

विवेकादीन्युद्देशक्रमेण लक्षयति—नित्यानित्यवस्तुविवेकास्तावदित्यादिना। नित्यत्वं नाम कालानवच्छिन्नत्वमनित्यत्वं नाम तद्विपरीतत्वम्। न स्थास्यतीति लोकागमयोर्व्यवहारायोग्यं नित्यं तद्विपरीतमनित्यमिति वा। तथाच नित्यानित्ये च ते वस्तुनी च नित्यानित्यवस्तुनी तयोर्विवेक इति विग्रहः। केचित्तु नित्यानित्ययोर्वसितुं शीलं ययोस्ते नित्यानित्यवस्तुनी नित्यत्वमनित्यत्वं च तयोः साश्रययोर्विवेको नित्यानित्यवस्तुविवेक इत्याहुः। स चापाततोऽधिगतवेदार्थस्यानुमानकुशलस्य ब्रह्मैव नित्यं वस्तु ततोऽन्यदखिलमचेतनमनित्यमिति विवेको भवति। तथाहि। "यस्मादर्वाक् संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते तदेव ज्योतिषां ज्योतिः", "नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं",

व्याख्या—

वेदान्त विद्या के अधिकारी को साधन-चतुष्टयों से सम्पन्न होना चाहिए। यह बात अधिकारीरूप अनुबन्ध के निरूपण के प्रसङ्ग में कही गई है किन्तु साधनों के नाम, स्वरूप आदि की चर्चा नहीं की गई है अतः प्रस्तुत पङ्क्तियों द्वारा साधनों का नामग्रहण पूर्वक स्वरूप वर्णन किया गया है।

प्रथम साधन है नित्यानित्यवस्तुविवेक—एकमात्र ब्रह्म ही नित्य वस्तु है उससे भिन्न जो कुछ प्रतीत होता है वह सब अनित्य है, इस प्रकार ब्रह्म और ब्रह्मभिन्न वस्तुओं का विवेचन, उनकी परस्पर विलक्षणता का बोध। इस साधन के प्राप्त हो जाने पर दूसरे साधन की प्राप्ति सुकर हो जाती है। दूसरा साधन है ऐहलौकिक और पारलौकिक फलों के भोग से वैराग्य, मनुष्य बड़े प्रयत्न से शुभ कर्मों का अनुष्ठान इस आशा से करता है कि उसे मनुष्यलोक में रूपवती, मधुर भाषिणी भार्या, वशंवद सुयोग्य पुत्र, आज्ञापालक विनीत भृत्य, निरन्तर हितचिन्तन में रत रहने वाले मित्र, भव्य भवन, विविध प्रकार के फल-फूलों से भरा उद्यान, शोभन वाहन, अन्न, वस्त्राभूषण आदि का भरपूर भाण्डार, दूध, दही, घी, मक्खन, आदि का ढेर, स्वस्थ सुपुष्ट दीर्घजीवी तरुण देह आदि सुख साधनों की प्राप्ति होगी, उनका वह चिरकाल तक निरुपद्रव भोग करेगा। परलोक में उसे दिव्य वनितायें, दिव्य गीत-वाद्य, दिव्य उद्यान, दिव्य निवास, दिव्य वस्त्राभूषण, सुस्वादु खाद्य, पेय आदि वस्तुएँ बिना श्रम सुलभ होंगी, जिनके बीच वह देव-देवियों के साथ आमोद-प्रमोद का उपभोग करेगा। इस प्रकार वह इस लोक और-

"आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः", "अजो नित्यः शाश्वतः", "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म", "ब्रह्म रातेर्दातुः परायणं", "यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा", "यो वै भूमा तदमृतं" इत्यादिश्रुतिभ्यो ब्रह्मणि नित्यत्वं विशुद्धसत्त्वस्य पुंसः प्रतिभाति। तथा "नैवेह किञ्चनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत्", "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत्", "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं", "नेति नेति", "नेह नानास्ति किञ्चन", "यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं", "अथ यदल्पं तन्मर्त्यं" इत्यादिश्रुतिवचनेभ्यो ब्रह्मणोऽन्यत्र भेदप्रपञ्चेऽनित्यत्वं च तस्यैव पुंसः प्रतिभाति। तथानुमानमपि विमतोऽचेतनवर्गोऽनित्योऽविभक्तत्वाद्घटपटस्तम्भादिवत् इति। अनेन हि विभक्तस्यानित्यत्वेऽवगते तस्मिन्ननुगतप्रकाशात्मकस्य ब्रह्मणोऽविभक्तस्य नित्यत्वमप्यर्थादवगच्छति। आकाशादेश्चोत्पत्तिमत्त्वसाधनेनानित्यत्वमुत्तरत्र वर्णयिष्यामः। न चैवं श्रुत्यनुमानाभ्यां विवेके सति ब्रह्मणो विज्ञातत्वादलं विचारेणेति वाच्यमापाततो नित्यं वस्तु ब्रह्मेत्यवगमेऽपि तस्याद्वितीयत्वप्रत्यगभिन्नत्वादेरनिर्धारणाज्जिज्ञासाया अनिवृत्तेः। इत्यास्तां विस्तरः॥

परलोक में प्राप्त होने वाले अपने सत्कर्मों के फलभोग के राग से ग्रस्त रहता है किन्तु जब उसे पुरातन पुण्यपुञ्ज के परिपाक से इस सद्बुद्धि का उदय हो जाता है कि नित्य वस्तु तो एक ही है और वह है ब्रह्म जो सत्-त्रिकालाबाध्य, चित्-स्वप्रकाश बोध तथा आनन्द-विषय निरपेक्ष निरतिशय सुखस्वरूप है, और उससे भिन्न जो भी कुछ प्रतीत होता है वह सब अनित्य है, उसकी प्राप्ति तथा समाप्ति दोनों त्रिविध दुःखों से भरे हैं। तब ब्रह्म-भिन्न किसी भी वस्तु में उसका राग नहीं रह जाता। इस प्रकार ऐहिक तथा पारत्रिक सभी विषयों के राग की समाप्ति ही दूसरा साधन है। इस दूसरे साधन के भी प्राप्त हो जाने पर तीसरे साधन की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। तीसरा साधन है—शम आदि छः गुणों से सम्पन्न होना। ये छः गुण हैं शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा। शम का अर्थ है आत्मविषयक श्रवण आदि से भिन्न सभी विषयों से मन का निग्रह। आशय यह है कि जब मनुष्य का मन ऐहिक, आमुष्मिक सभी विषयों से विरक्त हो जाता है तब वह उन विषयों से दूर होने लगता है, क्योंकि उन विषयों की ओर उसे आकृष्ट करने वाला राग समाप्त हो गया रहता है। इस प्रकार बाह्य विषयों से मन के हट जाने को ही शम कहा जाता है। दम का अर्थ है आत्मविषयक श्रवण आदि से भिन्न विषयों से श्रोत्र आदि बाह्य इन्द्रियों का निवृत्त हो जाना। बाह्य विषयों में रागयुक्त मन ही बाह्य इन्द्रियों को बाह्य विषयों की ओर ले जाता है, अतः जब बाह्य विषयों में मन का राग नहीं रह जाता तब उनकी ओर बाह्य इन्द्रियों का उपसर्पण अनायास ही बन्द हो जाता है।

ऐहिकानामिति। इहलोके भवा ऐहिकाः प्रतिपन्नशरीरसम्बन्धिनः स्रक्चन्दनवनितागृहक्षेत्रपशुभृत्यादिविषयजन्यसुखरूपा भोगाः कृषिसेवाप्रतिग्रहादिकर्मजन्या अनित्या यथा दृष्टा एवमामुष्मिका अप्यमृतादिविषयसेवाजन्यानन्दा यागादिकर्मजन्यत्वादनित्या भवितुमर्हन्तीति निश्चित्य तेभ्यो नितरां छर्दितान्नवज्जुगुप्सेहामुत्रार्थफलभोगविराग इत्यर्थः। अयं भावः। सुखं मे निरतिशयं भूयाद्दुःखं मे माभूदणुमात्रमपीत्यखिलप्राणिनामस्त्यभिनिवेशः। ते चैवमभिनिविष्टाः पुरुषकारावलम्बनेन सर्वोत्साहं यतन्तोऽपि न लभन्ते सुखमात्यन्तिकं दुःखाभावं च। कथम्। केचित्समुद्रयानराजप्रीणनाद्यतिकष्टमनुभूय फलकाले स्वयं नश्यन्ति। केचित्प्राप्तफला अपि व्याध्याद्युपद्रुताः सन्तो भोगं न लभन्ते। केचित्तु प्राप्तभोगा अपि भोग्यभार्यापुत्रादिविनाशाद्वा तद्विसंवादाद्वान्यैर्वा सह स्पर्धासूयादिभिः सञ्चितभोग्यजातस्य क्षयभयेनानावृष्ट्यादिचिन्तासन्तापादिभिश्च क्षणमपि सुखमलभमानाः कष्टा दरिद्राः काणकुब्जक्लीबबधिरादयो बुभुक्षापिपासार्दिता बहुलमुपलभ्यन्ते। एवं दुःखबहुले संसारे सुखलवमात्रमनुभवन्नपि कृपणवद्विशुद्धचित्तो न सज्जते किन्तु विरज्यत एवेति। नन्वस्त्वेवमैहिकं सुखमनित्यत्वादिदोषदुष्टत्वाद्विरागास्पदं तथापि न पारलौकिकादपि विरक्तिरुपपद्यते क्षयिष्णुत्वानुमानस्य "अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति" इति श्रुतिबाधितविषयस्यानुत्थानादि चेन्मैवम्। "तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र

विद्वन्मनोरञ्जनी में दम को साधन और शम को उसका साध्य कहा गया है। इस कथन की पुष्टि में यह हेतु दिया गया है कि मन बाह्य विषयों में बाह्य इन्द्रियों द्वारा ही प्रवृत्त होता है। अतः उनके दमन के बिना मन का शमन संभव नहीं हो सकता, इसलिए जैसे अग्निहोत्र होम का पूर्व और यवागूपाक का पश्चात् उल्लेख होने पर भी यवागूपाक के साधन और अग्निहोत्र होम के साध्य होने से पाक का अनुष्ठान पहले और होम का अनुष्ठान बाद में किया जाता है वैसे ही शम का पूर्व और दम का पश्चात् उल्लेख होने पर भी साधन दम का सम्पादन पूर्व और साध्य शम का सम्पादन बाद में किया जाना चाहिए। किन्तु विचार करने से यह कथन समीचीन नहीं प्रतीत होता क्योंकि शम को साध्य दम को साधन मानने में जो हेतु बताया गया है वह असंगत है, यह सच है कि बाह्य विषयों में मन की प्रवृत्ति बाह्य इन्द्रियों द्वारा ही होती है किन्तु यह सच नहीं है कि मन के शम के लिए बाह्य इन्द्रियों का दम आवश्यक है क्योंकि बाह्य विषयों में रागबद्ध मन ही इन्द्रियों को बाह्य विषयों की ओर आकृष्ट करता है। अतः जब तक मन के विषयराग की निवृत्ति होकर मन का शम नहीं स्थापित होता तब तक वह इन्द्रियों को बाह्य विषयों की ओर धकेलता ही रहेगा। आशय यह है कि बाह्य इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषयों में मन की प्रवृत्ति का अर्थ है बाह्य इन्द्रियों से बाह्य विषयों का अनुभव होने पर उत्पन्न सुख की अनुभूति के फल-

पुण्यजितो लोकः क्षीयत" इति श्रुत्या वस्तुबलावलम्बनेन प्रवृत्तयानन्यपरया सापेक्षाक्षय्यफलविषयकायाः प्राशस्त्यलक्षणाया विध्येकवाक्यत्वेनान्यपरायास्तस्या एव बाधितत्वात्। न हि जन्यं नित्यं भावरूपं दृष्टमत ऐहिकभोगवद्देवाब्रह्मस्तम्बपर्यन्तेषु भोगेषु वैराग्यमुपपद्यत इति। तदुक्तं भगवता व्यासेन—

"यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥" इति।

शमादीन्विभजते—शमादय इति। मनसो बहिःप्रवृत्तौ बाह्येन्द्रियाणां द्वारत्वात्तन्निरोधमन्तरेण मनोनिग्रहाशक्तेर्दमानन्तरं शमो द्रष्टव्यः पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वादग्निहोत्रयवागूपाकवत्। मनसोऽन्तःकरणस्य निग्रहो विषयेभ्यो बलादाकर्षणं शम इत्येतावत्युक्ते श्रवणादिविषयेभ्योऽपि निग्रहे प्राप्ते ततो निग्रहस्य ज्ञानानुकूलत्वाभावादानर्थक्यमित्याशङ्क्य निग्रहं विशिनष्टि—श्रवणादीति। मननादिसङ्ग्रहार्थमादिपदम्। एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम्। तद्व्यतिरिक्तेत्यत्र श्रवणादिस्तच्छब्दार्थः। निवर्तितानां तेषां बाह्यान्तरिन्द्रियाणां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्यः श्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्य उपरमणं पुनर्विषयप्रवृत्त्यनुत्साहकरणेन स्थिरीकरणमुपरतिरित्यर्थः। ननु शमदमयोर्लक्षणाभ्यामिदमुपरतिलक्षणं सङ्कीर्णं प्रतिभाति बहिःप्रवृत्तेन्द्रियव्यापारनिरोधात्मकस्य लक्षणार्थस्य तुल्यत्वादित्यपरितोषात्प्रकारान्तरेणोपरतिं लक्षयति—अथवेति। विहितानामवश्यकर्तव्यतया चोदितानां सन्ध्यावन्दनाग्निहोत्रादीनां कर्मणां विधिना—

स्वरूप मन द्वारा सुख साधन रूप में विषयों का चिन्तन, यह चिन्तन ही इन्द्रियों को बाह्य विषयों का पुनः अनुभव उत्पन्न करने को विवश करता है। अतः सर्वप्रथम इस चिन्तन को समाप्त करना आवश्यक होता है और इसकी समाप्ति विषयों के अनित्यत्व स्वरूप दोष के दर्शन से होता है। अतः शम प्रथमभावी और दम पश्चाद्भावी है। दम के स्वरूप पर ध्यान देने से भी यही बात सिद्ध होती है, जैसे दम का अर्थ है बाह्य विषयों से इन्द्रियों की निवृत्ति—जिसका अर्थ है बाह्यविषयों को ग्रहण करने में इन्द्रियों का असमर्थ हो जाना, यह बात दो ही प्रकार से हो सकती हैं। एक यह कि इन्द्रियाँ बाह्य विषयों से सन्निकृष्ट ही न हों अथवा बाह्यविषयों के अभिमुख ही न हों और दूसरा प्रकार यह है कि विषयों को ग्रहण करने में इन्द्रियों को मन का योगदान न प्राप्त हो। इनमें प्रथम प्रकार संभव नहीं है, कौन कह सकता है कि आँख खुली रहते पर भी सामने स्थित विषयों से उसका सन्निकर्ष अथवा आभिमुख्य न होगा। हाँ, दूसरा प्रकार संभव हो सकता है, यह हो सकता है कि इन्द्रियों को मन का योगदान न प्राप्त हो। किन्तु यह तभी संभव है जब विषयों में दोष-दर्शन से मन की विषयासक्ति समाप्त हो जाय। अतः स्पष्ट है कि शम ही दम का साधन है, न कि दम शम का। इस तथ्य की पुष्टि में एक हेतु और है, वह यह है कि बाह्य इन्द्रियों का बाह्य विषयों से निवृत्ति-

"तद्धैके प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति",
"प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्" ॥

इत्यादिश्रुतिस्मृत्युक्तमार्गेण परित्यागः परिव्रजनं सन्न्यास उपरतिरित्यर्थः। शमादिवत्सन्न्यासोऽप्यात्मज्ञानान्तरङ्गत्वादवश्यं मुमुक्षुणानुष्ठेयः। तथाच श्रुतयः—

"न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः" ॥,
"वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः सन्न्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः" ॥,

"एतमेव प्रव्राजिनो लोकमीप्सन्तः प्रव्रजन्ति", "पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति", "तानि वा एतान्यवराणि तपांसि न्यास एवात्यरेचयत्" इत्याद्याः।

स्मृतयश्च—

"नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्न्यासेनाधिगच्छति" ॥,
"त्वम्पदार्थविचाराय सन्न्यासः सर्वकर्मणाम्" ॥,
"अर्थस्य मूलं निकृतिः क्षमा च कामस्य रूपं च वपुर्वयश्च।
धर्मस्य यागादि दया दमश्च मोक्षस्य सर्वोपरमः क्रियाभ्यः" ॥,
"प्रवृत्तिलक्षणो योगो ज्ञानं सन्न्यासलक्षणम्।
तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य सन्न्यसेदिह बुद्धिमान्" ॥ इत्यादयः।

रूप दम हो भी जाय तब भी मन का शम नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रियों का दम हो जाने पर उनसे नये विषयों का ग्रहण न होने से नये विषयों में मन की प्रवृत्ति भले न हो पर अनन्त विषयों के ग्रहण का जो संस्कार अनादि काल से मन में दृढ़ीभूत है, उसके कारण मन पूर्वानुभूत अनन्त विषयों का चिन्तन तो करता ही रहेगा क्योंकि पूर्वानुभूत के चिन्तन में मन को बाह्य इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं होती, इसीलिए भगवद्-गीता में कहा गया है।

संकल्पप्रभवान् कामाँस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥ (६। २४)
शनैः शनैरुपरमेद्‌ बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ (६। २५)

इन श्लोकों की व्याख्या के सन्दर्भ में विद्वानों के ये मत हैं—

मनसैव विवेकयुक्तेनेन्द्रियग्राममिन्द्रियसमुदायं विनियम्य नियमनं कृत्वा समन्ततः समन्तात् (शंकराचार्यः)।

विवेकयुक्त मन से ही सब ओर से इन्द्रियसमूह का नियमन करे।

"विषयदोषदर्शिना मनसैव सर्वतः सर्वप्रकारेण श्रोत्रादिकमिन्द्रियग्रामं समन्ततः सर्वेभ्यो विषयेभ्यो विनियम्योपरमेदित्युत्तरेणान्वयः" (नीलकण्ठ)।

न्यायश्च पुरुषस्योद्देश्यसिद्धये यदुपयुक्तमविरोधि च तदुपादेयं विपरीतं तु हेयमिति। तदिह ब्रह्मात्मजिज्ञासूनां वेदान्तविचारे क्रियमाणे न कर्मणामुपयोगो विनापि कर्म तदनुष्ठानसिद्धेः। नाप्यविरोधः। कर्मविक्षिप्तचित्तस्य वेदान्तार्थनिर्णयाशक्तेः कर्मणां विचारविरोधित्वात्। न ह्यपेतब्रह्मक्षत्राद्यकर्त्रभोक्तृब्रह्माहमस्मीत्यात्मनि विचार्यमाणे ब्राह्मणाद्यध्यासविशिष्टात्मप्रतिपत्त्यधीनेषु कर्मस्वधिकारो न विरुध्यते येनात्मजिज्ञासुना कर्माणि न त्यक्तव्यानि स्युः। तस्माच्छ्रुतिस्मृतिन्यायैरात्मज्ञानाङ्गतया यः सन्न्यासः कर्तव्यतया प्राप्तः सोपरतिरिति भावः। शीतोष्णादीत्यादिपदान्मानापमानलाभालाभशोकहर्षादिग्रहः। श्रवणादावित्यत्रादिशब्दो मननादिसङ्ग्रहार्थः। तदनुगुणेत्यत्र गुरुशुश्रूषापुस्तकसम्पादनतद्रक्षणादिः श्रवणाद्यनुगुणो विषयो निर्दिश्यते। न पुनः सुखवासद्रव्यान्नादिसङ्ग्रहादेरपि श्रवणाद्यनुकूलत्वात्तदर्थं मठारम्भप्रतिग्रहादावपि चित्तसमाधिः कर्तव्य इहोपदिश्यते "दण्डमाच्छादनं कौपीनं परिग्रहेच्छेषं विसृजेत्" इति सन्न्यासकाले त्याजितस्य दण्डकौपीनाद्यतिरिक्तस्य विना प्रतिप्रसवशास्त्रं सङ्ग्रहानुपपत्तेरित्यर्थः। समाधिरैकाग्र्यं तत्परत्वमिति यावत्। गुरुवेदान्तादीत्यादिपदात्स्मृतीतिहासपुराणानां ग्रहः विश्वास इदमित्थमेव नान्यथेति गुर्वादिवाक्येषु नियता बुद्धिः सा श्रद्धेत्यर्थः॥

विषयों में दोष देखने वाले मन से ही श्रोत्र आदि इन्द्रियों को सब विषयों से सब प्रकार से निवृत्त कर उपरम प्राप्त करे।

"कामपूर्वकत्वादिन्द्रियप्रवृत्तेस्तदपाये सति विवेकयुक्तेन मनसैवेन्द्रियग्रामं चक्षुरादिकरणसमूहं विनियम्य समन्ततः सर्वेभ्यो विषयेभ्यो प्रत्याहृत्य शनैः शनैरुपरमेदित्यन्वयः" (मधुसूदनसरस्वती)।

इन्द्रियों की प्रवृत्ति काममूलक होती है अतः काम की निवृति होने पर विवेकयुक्त मन से ही चक्षु आदि इन्द्रियों को प्रत्यावर्तित कर धीरे-धीरे उपरम प्राप्त करे।

इन सभी उद्धरणों से स्पष्ट है कि दम शम-पूर्वक होता है न कि शम दम-पूर्वक, अतः इस सम्बन्ध में विद्वन्मनोरञ्जनी का कथन संगत नहीं प्रतीत होता।

उपरति का अर्थ होता है—बाह्य विषयों से प्रत्याहृत इन्द्रियों का बाह्य विषयों से विरत हो जाना, बाह्य विषयों की ओर उन्मुख न होना। दम और उपरति में ठीक वैसा ही भेद है जैसा जनवाहनादि से सङ्कुल राजमार्ग पर पहुँचे शिशु को वहाँ से घर में खींच लाने और घर से बाहर राजमार्ग पर पुनः उसे न जाने देने में होता है। इन्द्रियाँ अभ्यासवश बाह्य विषयों से सम्पर्क करती हैं, इस सम्पर्क को समाप्त कर देना अथवा विफल बना देना दम है और विषयों के साथ इन्द्रियों के सम्पर्क को ही रोक देना उपरति है। उपरति बाह्य विषयों से इन्द्रियों के प्रत्याहार के अभ्यास से सम्पन्न होती है। जब मनुष्य बाह्य विषयों से इन्द्रियों को हटाते रहने का प्रयत्न करता है तब धीरे-धीरे उनकी ओर इन्द्रियों का जाना स्वयं बन्द हो जाता है।

चरमं साधनं लक्षयति—मुमुक्षुत्वमिति। मोक्षो नाम विद्यानिरस्ताविद्यातत्कार्यब्रह्मात्मनावस्थानम्। तद्विषयेच्छा मोक्षेच्छा तद्वत्त्वं मुमुक्षुत्वमित्यर्थः। ननु

"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति··· ··· ···· ···" ॥

इति श्रुतेः सर्वकामविमुक्तस्य मोक्षाधिकारात्कथमिच्छाधिकारिविशेषणमिति चेन्नायं दोषोऽनात्मविषयेच्छाया एव कामत्वात्तदभिप्राया श्रुतिः। मोक्षेच्छायास्तु आत्मविषयतयाकामत्वात् "अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आत्मकाम" इति श्रुतेरात्मकामस्याप्तकामत्वेनाकामत्वावगमादिति।

ग्रन्थकार ने उपरति की दूसरी व्याख्या यह की है कि उपरति का अर्थ है शास्त्रविहित कर्मों का विधिपूर्वक त्याग, जिसका आशय है शास्त्रीय विधि से सन्न्यास ग्रहण। इस व्याख्या को प्रस्तुत करने का कारण यह है कि शंकराचार्य ने वेदान्तसाध्य ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए सन्न्यास को आवश्यक माना है क्योंकि उसे आवश्यक मानने के आधार अनेकों शास्त्रवचन उपलब्ध होते हैं; जैसे—

तद्धैके प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति। (जाबाल ४)

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्॥ (मनु० ६। ३८)

जिसमें सम्पूर्ण धन दक्षिणा में दे दिया जाता है और जिसके यजनीय देवता प्रजापति हैं उस इष्टि का अनुष्ठान तथा अपने स्वरूप में अग्नियों का समारोप कर ब्राह्मण को गृह से प्रव्रजन—सन्न्यास ले लेना चाहिए।

"न कर्मणा न प्रजया धनेन, त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः। (महानारायण १०)
लोगों ने कर्म, सन्तान अथवा धन से नहीं किन्तु त्याग-सर्वसन्न्यास से अमृतत्व-मोक्ष को प्राप्त किया है।

'पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' मोक्षार्थी पुत्रैषणा-पुत्रकामना, वित्तैषणा-धनकामना और लोकैषणा–पदप्रतिष्ठा आदि की कामना से मुक्त हो भिक्षाचर्य-भिक्षु-सन्न्यासी का आचार ग्रहण करते हैं।

'नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्न्यासेनाधिगच्छति,' (गीता १८।४९) मोक्षार्थी सन्न्यास से नैष्कर्म्य की उत्कृष्ट सिद्धि प्राप्त करता है।

"त्वम्पदार्थविचाराय सन्न्यासः सर्वकर्मणाम्" (उपदेशसाहस्री १८।२२२)
'तत्त्वमसि' महावाक्य के त्वम् पदार्थ का विचार करने के लिए सम्पूर्ण कर्मों का सन्न्यास आवश्यक है।

मोक्ष के लिए सन्न्यास आवश्यक है यह बात न्याय से भी सिद्ध होती है। न्याय यह है कि पुरुष के उद्देश्य की सिद्धि में जो सहायक हो, उसे ग्रहण करना चाहिए और जो बाधक हो उसका त्याग करना चाहिए, मोक्षार्थी का उद्देश्य है वेदान्त विचार, उसमें कर्मों का कोई उपयोग नहीं है क्योंकि कर्म के विना भी वेदान्तविचार हो सकता

विद्याधिकारिणः शमादिसाधनवत्त्वे श्रुतिं प्रमाणयति—शान्तो दान्त इति। "शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति" इति काण्वाः पठन्ति। समाहित इत्यस्य स्थाने "श्रद्धावित्तो भूत्वे"ति माध्यन्दिनाः। तदुभयपाठानुरोधेन गुणोपसंहारन्यायमाश्रित्येह शमादयः षण्निर्दिष्टा इति द्रष्टव्यम्। शमादेर्विद्याहेतुत्वं श्रीभगवानप्याह—

"योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते" ॥
........................अशान्तस्य कुतः सुखं" ॥ तथा।,
"यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता" ॥ इति।,
"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" ॥ इति,
"मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत" ॥ इति,

है। प्रत्युत कर्म वेदान्त विचार का विरोधी है क्यों कि जिसका चित्त कर्मों में व्यापृत होगा उसे वेदान्त विचार का यथापेक्ष अवसर नहीं मिल सकता। अतः आत्मजिज्ञासु को कर्मों का त्याग करना आवश्यक है। इस प्रकार श्रुति, स्मृति और न्याय से यह सिद्ध है कि सन्न्यास आत्मज्ञान के लिए आवश्यक है। अतएव वेदान्तज्ञान की अधिकारिता के प्रयोजक धर्मों में सन्न्यास का समावेश न करना एक त्रुटि है इसीलिए ग्रन्थकार ने उपरति का अर्थ सन्न्यास किया है।

विद्वन्मनोरञ्जनी में उपरति की सन्न्यासपरक व्याख्या करने का यह कारण बताया गया है कि उपरति की प्रथम व्याख्या को स्वीकार करने पर उपरति और दम के स्वरूप में सांकर्य हो जायगा, क्योंकि दोनों के स्वरूप में बाह्य विषयों से इन्द्रियों की निवृत्ति ही सन्निविष्ट है, पर यह ठीक नहीं है, क्योंकि वाह्य विषयों में इन्द्रियों की जात प्रवृत्ति का निरोध दम है और बाह्य विषयों में इन्द्रियों की प्रवृत्ति का अनुत्पाद उपरति है अतः दोनों के स्वरूप का पार्थक्य अत्यन्त स्पष्ट है।

तितिक्षा का अर्थ है शीत, उष्ण आदि विषय तथा उनसे उत्पन्न सुख और दुःख के द्वन्द्व को सहने की क्षमता। सुख को सहने की क्षमता होने से सुखमूलक प्रमाद का भय नहीं होता और दुःख को सहने की क्षमता होने से दुःख उत्पन्न होने पर मनुष्य अनुत्साह और निराशा के आक्रमण से मुक्त रहता है। जिसके फलस्वरूप मनुष्य अप्रमाद और धैर्य के कारण अपनी साधना से विचलित नहीं होता।

समाधान का अर्थ है विषयों से प्रत्याहृत चित्त की आत्मा के श्रवण आदि तथा उनके अनुकूल विषयों में स्थिरता। स्पष्ट है कि चित्त विषयों से निवृत्त होने पर भी यदि श्रवण आदि में स्थिर न होगा तो आत्मा के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार न हो सकेगा। अतः आत्मसाक्षात्कार के लिए समाधान—आत्मज्ञान के साधनों में चित्त की स्थिरता अत्यावश्यक है। इसीलिए गीता में कहा गया है—

एवम्भूतः प्रमाताधिकारी "शान्तो दान्त" इत्यादिश्रुतेः। उक्तं च—

"प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय च
प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे।
गुणान्वितायानुगताय सर्वदा
प्रदेयमेतत्सततं मुमुक्षवे" इति॥

"समाधावचला बुद्धिः.........................."॥
"मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय"॥ इति,
"श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः"॥
"अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति"॥ इति च॥

मुमुक्षुत्वेऽपि—
"मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये"॥,
"ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी"॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

श्रद्धा का अर्थ है गुरुवचन तथा शास्त्रवचन में विश्वास-प्रामाण्य का दृढ़तर निश्चय। यह आत्म-जिज्ञासु के प्रयत्न की सफलता का मेरुदण्ड है। यदि आत्मजिज्ञासु को गुरु और शास्त्र में प्रामाण्यबुद्धि न होगी तो वह गुरूपदेश को शतशः सुनने पर तथा शास्त्रों का असकृत् अध्ययन करने पर भी उनके अर्थ के सम्बन्ध में संशयालु बना रहेगा। फलतः गुरु और शास्त्र के बताये मार्ग पर न चलकर इतस्ततः भटकता रहैगा और अन्ततः उसके हाथ कुछ न लगेगा। अतः आत्मज्ञान के पथिक के लिए श्रद्धा का सम्बल अनिवार्य रूप से आवश्यक है।

मुमुक्षुत्व का अर्थ है मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा, यह प्रधान साधन है आत्मज्ञान की प्राप्ति का, क्योंकि यदि मनुष्य को मोक्ष की इच्छा न होगी तो वह मोक्षोपाय का अन्वेषण न करेगा फलतः वह आत्मदर्शन को मोक्ष का उपाय और वेदान्त के श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन को आत्मदर्शन का साधन न समझ सकेगा और इस कारण वेदान्त के अध्ययन में उसकी प्रवृत्ति न हो सकने से वेदान्तैकवेद्य आत्मा का ज्ञान उसे न हो सकेगा।

अनुवाद—

उक्त सभी गुणों से सम्पन्न प्रमाता पुरुष ही वेदान्त विद्या का अधिकारी है जैसा कि "शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति" यह श्रुति उद्घोष करती है। श्रुति का अर्थ यह है कि जिसका मन शान्त हो जाता हैं, जिसकी इन्द्रियाँ विषयों से निवृत्त हो जाती हैं, जो सन्न्यास की दीक्षा प्राप्त कर लेता है, जो संसार की प्रिय-अप्रिय घटनाओं से विचलित नहीं होता, जिसका चित्त आत्मज्ञान के

विषयो जीवब्रह्मैक्यं शुद्धचैतन्यं प्रमेयं तत्रैव वेदान्तानां तात्पर्यात् ।

इति श्रुतिस्मृती द्रष्टव्ये। एवं विशेषणविशिष्टो वेदान्ताधिकारीति निरूपितेऽर्थेऽभियुक्तवचनमुदाहरति—उक्तं च—प्रशान्त इति। प्रशान्तचित्ताय शान्ताय। जितेन्द्रियाय दान्ताय। प्रहीणदोषाय नितान्तनिर्मलस्वान्ताय। यथोक्तकारिणे काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरं नित्याद्यनुष्ठानलब्धेश्वरप्रीतये। गुणान्विताय विवेकवैराग्योपरतितितिक्षासमाधानयुक्ताय। सर्वदा गुरुमनुगताय श्रद्धालवे। एवंभूताय मुमुक्षव एतदात्मज्ञानं सततं गुरुणा देयमिति श्लोकार्थः ॥

तदेवमधिकार्यनुबन्धो निरूपितः। इदानीं विषयानुबन्धं व्यपदिशति—विषय इति। क्षीरनीरवत्परस्परविभिन्नयोः समानाभिहारस्यैक्यशब्दार्थत्वाज्जीवब्रह्मणोरपि स्वरूपतो भिन्नयोरैक्यं मिश्रीभाव इति शङ्का स्यात्सा माभूदिति व्याचष्टे—शुद्धचैतन्यमिति। चैतन्यस्य शुद्धत्वं सर्वधर्मातीतत्व-

---

साधनों में अचञ्चल भाव से संलग्न हो आत्मा में एकाग्र हो जाता है वह आत्मदर्शन प्राप्त करता है। यह तथ्य 'प्रशान्तचित्ताय' आदि अभियुक्त वचन द्वारा भी समर्थित है। वचन का अर्थ यह है--जिसका चित्त शान्त हो, जिसने इन्द्रियों को जीत लिया हो, जिसके मनोदोष दूर हो चुके हों, जो गुरु और शास्त्र के निर्देशानुसार क्रियारत हो सके जो आत्मज्ञान के लिए अपेक्षित निरभिमानिता आदि गुणों से युक्त हो और जो सर्वदा अपने आचार्य के अनुगत हो, जिसे मोक्ष की अदम्य आकाङ्क्षा हो उसे ही वेदान्त का ज्ञान देना चाहिए।

अनुवाद—

जीव और ब्रह्म का ऐक्य—अभेद जो शुद्ध चैतन्य रूप में प्रमेय—प्रमाण वेद्य है, वेदान्तशास्त्र का विषय है, क्यों कि उसी में सम्पूर्ण वेदान्तों—उपनिषदों का तात्पर्य है।

व्याख्या—

यह बताया जा चुका है कि किसी शास्त्र अथवा ग्रन्थ के अध्ययन में मनुष्य को प्रवृत्त करने के लिए प्रारम्भ में ही अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन इन चार अनुबन्धों को बता देना आवश्यक होता है। तदनुसार वेदान्त और प्रस्तुत ग्रन्थ वेदान्तसार के अध्ययन का अधिकारी कैसा मनुष्य हो सकता है यह बात बताई गई। अब यहाँ से विषय आदि अन्य तीन अनुबन्धों को बताना है, उनमें विषय के सम्बन्ध में ग्रन्थकार का कहना है कि जीव और ब्रह्म की एकता ही वेदान्त एवं इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है। एकता का अर्थ है अभेद, वही वास्तव है, उनमें जो भेद प्रतीत होता है वह अज्ञानमूलक है, और वह तभी तक प्रतीत होता है जब तक जीव के वास्तविक स्वरूप को हृदयंगम करने का, उसकी वास्तविकता को समझने का प्रयत्न नहीं किया जाता। देखने में ऐसा लगता है कि संसार बड़ा विशाल और विचित्र है,

मेकरसत्वम्। ननु कथं शुद्धचैतन्यस्य विचारविषयत्वं यावता प्रागपि विचारात्तत्स्वप्रकाशं स्वयमेवावभासत इत्याशङ्क्य स्वरूपेणावभासमानत्वेऽपि परिपूर्णसच्चिदानन्दप्रत्यक्स्वरूपतयाज्ञायमानत्वाद्विषयत्वोपपत्तिरित्यभिप्रेत्याह — प्रमेयमिति। प्रमेयत्वमज्ञातत्वम्। अयं भावः। ब्रह्मात्मवस्तुनो विषयस्यात्यन्ताप्रसिद्धौ न विचारप्रवृत्तिः सम्भवत्युद्देश्यविषयाप्रसिद्धेः। तथा यथावत्प्रसिद्धौ च न विचारप्रवृत्तिरनुपयोगात्। तथाच केनचिद्रूपेण प्रसिद्धं ब्रह्मात्मवस्तूद्दिश्य विचारेण तद्याथात्म्यं निर्णेयम्। तदिह ब्रह्मपदस्य निरतिशयमहत्त्ववति सामान्येन प्रसिद्धत्वादात्मपदस्य च प्रतीतिसामान्येन प्रसिद्धेः

उसकी प्रायः सारी घटनायें सच्ची हैं, उसमें अनन्त प्राणियों का निवास है, सभी प्राणी एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न हैं और प्रत्येक प्राणी अपने अस्तित्व को बनाये रखने में अन्य प्राणियों का अपनी शक्ति और उपयोगिता के अनुसार यथेच्छ विनियोग करना चाहता है, पर मनुष्य को जब वेदान्तवेत्ता गुरु का सम्पर्क प्राप्त होता है तब वह वेदान्तशास्त्र को समस्त प्रमाणों में मूर्धन्य बताकर उसके वचनों को साक्षी रूप में प्रस्तुत करते हुए बताता है कि यह सारा संसार, उसका सम्पूर्ण चमत्कार, उसकी समस्त घटनायें, उसके भीतर निवास करने वाले सभी प्राणी मूल तत्त्व का यथार्थ अवबोध न होने से ही दीख पड़ते हैं। वह मूलतत्त्व है ब्रह्म-आत्मा। उसे ब्रह्म कहने का आधार है उसका बृहत् और बृंहण होना। बृहत् का अर्थ है—बड़ा, इतना बड़ा जो देश, काल और वस्तु की परिधि में न समा सके, जिसके बारे में यह न कहा जा सके कि वह यहाँ है, वहाँ नहीं है, इस समय है, समयान्तर में नहीं है, वह यह वस्तु है अन्य वस्तु नहीं है। उसके इस स्वरूप को वेदान्तवेत्ता विद्वान् उसे देश-काल-वस्तुभिः अनवच्छिन्न कहकर प्रकट करते हैं।

जगत् का यह मूलतत्त्व ही सम्पूर्ण प्राणियों की आत्मा है, वही संसार का बृंहण—विस्तार करता है। उदाहरणार्थ मनुष्य की प्रवृत्ति को लिया जा सकता है। मनुष्य पैदा होते ही अपनी आवश्यकतायें बताने लगता है, उसके रुदन से उसकी आकाङ्क्षायें जानकर माता, पिता उसके लिए आवश्यक वस्तु दूध, पानी, वस्त्र, वायु, खिलौने आदि एकत्र करते हैं, वह ज्यों ज्यों बढ़ने लगता है त्यों त्यों उसकी आवश्यकतायें बढ़ने लगती हैं, जिनकी पूर्ति के लिए वह अनेक प्रकार के कार्य करता है, अध्ययन करता है, व्यवसाय करता है, विवाह करता है, बच्चे पैदा करता है, भवन, वाहन, उद्यान, किंकर आदि का प्रबन्ध करता है, दल बनाता है, अपने अधिकारों का विस्तार करता है। इस प्रकार विविध रूपों में बृंहणकर्त्ता होने से मनुष्य की आत्मा ही ब्रह्म है 'बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाच्च ब्रह्मात्मैवेति गीयते'।

यह आत्मा ही जीवन-प्राण धारण करने से, सप्राण, सेन्द्रिय, समनस्क शरीर में अधिष्ठित होने से. जीव कहा जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जगत् का मूलतत्त्व ब्रह्म ही विभिन्न प्राणियों के शरीर में प्रविष्ट हो विभिन्न कार्यों को करने वाला जीव है। किन्तु मनुष्य माया-मोह से ग्रस्त होने के कारण इस रहस्य को नहीं जान पाता, वह

"अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादौ समभिव्याहारादैक्यस्याप्यापाततः प्रसिद्धेस्तद्विशेषस्य च पारोक्ष्यसद्वयत्वाद्यनधिकरणत्वस्य देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्राणाहंकृतिविलक्षणतत्साक्षिप्रत्यगभिन्नसच्चिदानन्दाद्वयब्रह्मरूपत्वस्य चाप्रसिद्धेः सामान्यतः प्रसिद्धवस्तूद्देशेन तद्विशेषनिर्धारणाय विचारप्रवृत्त्युपपत्तिरिति। यद्वा। परोक्षतः प्रसिद्धं ब्रह्मात्मवस्तूद्दिश्य तत्स्वरूपसाक्षात्काराय विचारप्रवृत्त्युपपत्तिरिति। तथा च श्रुतिः—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य" इत्यात्मसाक्षात्कारमनूद्य तादर्थ्येन मनननिदिध्यासनाभ्यां फलोपकार्यङ्गाभ्यां सह श्रवणमनुष्ठेयं विधत्ते। स्मृतिरपि—

अपने को जन्ममरणशील, अल्पज्ञ, अल्पबल तथा अन्य पुरुषों से अत्यन्त भिन्न मानकर संसार के प्रवाह में प्रवाहित होने लगता है।

जब कोई मनुष्य पुण्यपुञ्ज के उदय से वेदान्त शास्त्र के सम्पर्क में आता है तब उसकी दृष्टि इस तथ्य की ओर आकृष्ट होती है, फलतः वह ब्रह्मनिष्ठ वेदान्तविद् गुरु की शरण में जाकर ब्रह्म से अपनी अभिन्नता का ज्ञान प्राप्त करता है। प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता सदानन्द ने अपने ग्रन्थ का विषय बताते हुए यही बात कही है, जीव और ब्रह्म का अभेद ही इस ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य है।

शङ्का हो सकती है कि वेदान्त ने ब्रह्म को 'एकमेवाद्वितीयम्' 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' इत्यादि वचनों द्वारा सत्-त्रिकालाबाध्य—किसी भी काल में बाधित न होने वाला, एकान्तनित्य; चित्-स्वप्रकाश चैतन्य रूप और आनन्दघन बताया है, किन्तु जीव अविद्या से ग्रस्त, शिक्षा के बिना जडप्राय, जरामृत्यु से पीड़ित एवं संसार के विविध दुःखों से संत्रस्त है। अतः जीव और ब्रह्म में अभेद संभव न होने से उसे ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय बताना संगत नहीं है। इस शङ्का के समाधानार्थ ग्रन्थकार ने दूसरे शब्द 'शुद्धचैतन्यम् का' प्रयोग किया है, जिसका आशय यह है कि जीव और ब्रह्म का ऐक्य शुद्धचैतन्यरूप में है। चैतन्य-बोध-प्रकाश ही एकमात्र सत्यपदार्थ है, जो सदा एकरूप रहता है, किसी भी दशा में विकृत अथवा परिवर्तित नहीं होता, वह अनादिकाल से अज्ञात है, अविद्या ने उसके पूर्ण स्फुरण को रोक रखा है। अविद्या के कारण ही वह ईश्वर और जीव की भूमिका में उतरता है किन्तु अविद्या अनादि होते हुए भी नश्वर है उसके नश्वर होने से उसी के सम्बन्ध से अस्तित्व में आने वाला ईश्वर-भाव और जीव-भाव भी नश्वर है। यहाँ बताना है जीव का वह स्वरूप जो नश्वर नहीं किन्तु शाश्वत है और वह है चैतन्य। चैतन्य ही बृंहण—विश्व-विस्तार का मूल होने से ब्रह्म है अतः शुद्ध चैतन्य रूप में जीव और ब्रह्म में ऐक्य है, जीव को यह हृदयंगम करना है कि उसका जीवत्व उसके अज्ञान से है, अतः उसे अपने अज्ञान को निरस्त कर ब्रह्म के साथ अपनी अभिन्नता का अनुभव करना है जिससे संसार की घटनायें उसे उद्विग्न न कर सकें, वह जल में कमल-पत्र के समान संसार में निर्लिप्त शुद्धचैतन्य के रूप में रह सकें।

शुद्ध का अर्थ है अविद्या तथा अविद्या के कार्यों से असम्पृक्त-अप्रभावित-अविकृत। यह शुद्ध चैतन्य ही प्रमेय-प्रमा का विषय है, क्योंकि जो अर्थ अनधिगत और

"श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः" ॥ इति।

ननु प्रधानादीनामपि कपिलकणादादिस्मृतिसिद्धानां वेदान्तवाक्यविषयत्वात्कथं जीवब्रह्मैक्यस्य विषयत्वसंकीर्तनमिति तत्राह—तत्रैवेति। उपक्रमोपसंहारादिभिर्लिङ्गैर्वेदान्ततात्पर्ये निरूप्यमाणे प्रत्यक्स्वरूपे ब्रह्मण्येव पर्यवसानदर्शनात्प्रधानादिषु चादर्शनाद्ब्रह्मैव वेदान्तविषयो न प्रधानादिरित्यर्थः। तथा च श्रुतिस्मृती भवतः। "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति", "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य" इति च ॥

अबाधित होता है वही प्रमा का विषय होता है। शुद्ध-अविद्यामुक्त चैतन्य वेदान्त से भिन्न साधनों द्वारा अनधिगत-अज्ञात है और एकान्तनित्य होने से पूर्णतया अबाधित है अतः वही प्रमेय है। अविद्यायुक्त चैतन्य प्रमेय नहीं हो सकता क्योंकि वह 'अहमज्ञः' 'मैं अज्ञानी हूँ' इस अनुभव द्वारा अधिगत है तथा अविद्या का बाध होने पर बाधित होता है।

विद्वन्मनोरञ्जनी में शुद्ध चैतन्य की प्रमेयता के विषय में एक आक्षेप उठाया गया है और उसका समाधान भी किया गया है। आक्षेप यह है कि शुद्ध चैतन्य स्वप्रकाश होने से सर्वदा ज्ञात है अतः वह प्रमेय नहीं हो सकता क्योंकि प्रमाण की प्रवृत्ति उसी वस्तु में होती है जो अनधिगत और अबाधित होती है। समाधान यह है कि चैतन्य स्वरूप से ज्ञात होने पर भी परिपूर्ण सच्चिदानन्द प्रत्यक् स्वरूप से अज्ञात होने के कारण उपनिषद् द्वारा इस अज्ञातरूप से प्रमेय हो सकता है। इस समाधान की उपपत्ति बताते हुए कहा गया है कि जो वस्तु सर्वथा अज्ञात होती है उसमें विचार की प्रवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि विचार द्वारा जिसका विशेषरूप से अवधारण करना है वह उद्देश्यभूत विषय ही अज्ञात है। इसी प्रकार जो वस्तु सम्यक्निर्णीत है उसमें भी विचार की प्रवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि ऐसी वस्तु में विचार द्वारा निर्णय के लिए कुछ अवशिष्ट ही नहीं रहता अतः यह मानना उचित होता है कि जो वस्तु सामान्यरूप से ज्ञात रहती है उसका विशेषरूप से निर्णय करने के लिए उसके सम्बन्ध में विचार किया जाता है। इस वस्तुस्थिति के अनुसार चैतन्य के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वह ब्रह्मपद से निरतिशय महान् के रूप में, आत्मा पद से प्रत्यक् रूप में तथा—'अयमात्मा ब्रह्म' इस वाक्य से ब्रह्म से अभिन्न आत्मा के रूप में ज्ञात है किन्तु अपरोक्ष अद्वय, देहादिभिन्न, देहादिसाक्षी, सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप से ज्ञात नहीं है अतः यह विचार सहकृत उपनिषदों से प्रथमतः अज्ञातरूप से प्रमेय हो सकता है।

किन्तु इस आक्षेप और समाधान को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने पर उनका औचित्य नहीं सिद्ध होता, क्योंकि सदानन्द ने शुद्ध चैतन्य को प्रमेय कहा है जो विचार सहकृत उपनिषदों से होने वाले बोध के पूर्व अज्ञात है क्योंकि अन्य समस्त साधन उपहित चैतन्य-अखण्डसाक्षात्कारविषयतानापन्न चैतन्य के ही बोधक होते हैं। अतः शुद्ध चैतन्य को प्रथमतः अधिगत बताकर आक्षेप की उपपत्ति नहीं की जा सकती। इसी प्रकार इस समाधान को भी संगत नहीं सिद्ध किया जा सकता कि शुद्ध चैतन्य स्वरूप

सम्बन्धस्तु तदैक्यप्रमेयस्य तत्प्रतिपादकोपनिषत्प्रमाणस्य च बोध्यबोधकभावः ।

से प्रथमत: ज्ञात होने पर भी परिपूर्ण सच्चिदानन्द प्रत्यक् रूप से अज्ञात रहता है क्यों कि इस स्वरूप से भिन्न शुद्ध चैतन्य का कोई स्वरूप ही नहीं है जिससे उसे पूर्व ज्ञात कहा जा सके । यह कहना भी ठीक नहीं है कि विचार सहकृत उपनिषद्, अपरोक्षत्व, अद्वयत्व आदि रूप से चैतन्य की प्रमा उत्पन्न करते हैं क्योंकि शुद्ध चैतन्य सर्वधर्मों से अतीत होने के कारण उक्त धर्मों से भी प्रतीत नहीं हो सकता ।

शुद्ध चैतन्य को प्रमेय कहने पर यह प्रश्न उठ सकता है कि प्रमेय का अर्थ है प्रमा का विषय, चैतन्य प्रमा का विषय प्रमाकाल में ही हो सकता है और जब प्रमा होगी तब अविद्या का कार्य होने से अविद्यात्मक प्रमा से सम्बन्ध होने के कारण चैतन्य शुद्ध नहीं हो सकता अत: शुद्ध चैतन्य को प्रमेय कैसे कहा जा सकता है । इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि शुद्ध का अर्थ है अखण्ड साक्षात्कार का विषय न कि अविद्या और अविद्या के कार्यों से असम्बद्ध, और साक्षात्कार की अखण्डता का अर्थ है अविद्या और आविद्यक पदार्थों को विषय न करना । शुद्ध शब्द के इस अर्थ को दृष्टि में रखने पर उक्त प्रश्न का अवसर नहीं रह जाता, क्योंकि वेदान्त के 'तत्त्वमसि' आदि महा-वाक्यों से तत्, त्वं आदि पदों की चैतन्य में लक्षणा द्वारा जो बोध उत्पन्न होता है उसमें चैतन्यमात्र का ही भान होता है । उस समय ब्रह्म के उक्त बोध से उपहित होने पर भी उक्त बोध में उक्त बोधात्मक उपाधि का भान नहीं होता किन्तु चैतन्यमात्र का ही भान होता है ।

प्रश्न हो सकता है कि वेदान्त को छोड़कर शुद्ध चैतन्य के बोध का अन्य कोई साधन नहीं है और वेदान्त ऐसे सैकड़ों वाक्यों से भरा है जिनसे चैतन्य से भिन्न अनेक पदार्थों का बोध होता है तो फिर शुद्ध चैतन्य को प्रमेय कहना कैसे संगत हो सकता है । इस प्रश्न का समाधान करने की दृष्टि से ग्रन्थकार ने कहा है कि 'तत्रैव वेदान्तानां तात्पर्यात्' सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों का तात्पर्य शुद्ध चैतन्य में ही है । कहने का आशय यह है कि वेदान्तवाक्यों से आपातत: अन्य अनेक पदार्थों का ज्ञान भले हो पर उन पदार्थों के प्रतिपादन में उन वाक्यों का तात्पर्य नहीं है । तात्पर्य शुद्ध चैतन्य में ही है और जिस अर्थ में शब्द का तात्पर्य होता है वही शब्द द्वारा प्रमेय होता है । सभी वेदान्त-वचनों का तात्पर्य शुद्ध चैतन्य में ही है । इस तथ्य का प्रतिपादन ग्रन्थकार ने आगे किया है । ब्रह्मसूत्र, प्रथमाध्याय, प्रथमपाद, समन्वयाधिकरण के भाष्य में शंकराचार्य ने भी बड़े बिस्तार से शुद्ध चैतन्यस्वरूप ब्रह्म में समस्तवेदान्तवचनों के समन्वय का उपपादन किया है ।

अनुवाद—

सम्बन्ध तो जीव और ब्रह्म के ऐक्य रूप प्रमेय तथा उसका प्रतिपादन करने वाले उपनिषद् रूप प्रमाण का बोध्य–बोधकभाव स्वरूप है ।

तृतीयमनुबन्धमाह—सम्बन्धस्त्विति। तदैक्यं प्रत्यग्ब्रह्मणोरैक्यं तच्च तत्प्रमेयं चेति तथा तस्येति विग्रहः। ननु कथं यथोक्तप्रमेयस्योपनिषत्प्रमाण-बोध्यत्वं निर्धर्मके तस्मिञ्छब्दशक्तिगोचरत्वायोगादिति चेत्को भावः। शब्दादि-हीनस्य वाच्यत्वानुपपत्तिरिति चेन्न। अनुक्तोपालम्भात्। असङ्गस्य लक्ष्यत्वानुपपत्तिरिति चेद्यथा लक्षणावृत्त्याश्रयणेन ब्रह्मात्मैक्यप्रतिबोधस्त-थोत्तरत्र वक्ष्यामः॥

व्याख्या—

तीसरा अनुबन्ध होता है शास्त्र किंवा ग्रन्थ के साथ विषय का सम्बन्ध, जो सर्वत्र बोध्य–बोधकभाव रूप होता है। बोध्य का अर्थ है बोध का विषय और बोधक का अर्थ है बोध का जनक। विषय शास्त्र किंवा ग्रन्थ से उत्पन्न होने वाले बोध का विषय होने से बोध्य कहा जाता है और शास्त्र किंवा ग्रन्थ विषय-बोध का जनक होने से बोधक कहा जाता है; विषय में बोध्य भाव–बोध्यता और शास्त्र किंवा ग्रन्थ में बोधक-भाव–बोधकता रहती है, यह बोध्य–बोधकभाव ही विषय और शास्त्र अथवा ग्रन्थ के मध्य सम्बन्ध होता है, इस सम्बन्ध का ज्ञान होने पर ही विषय का जिज्ञासु उसके बोधक शास्त्र किंवा ग्रन्थ के अध्ययन में प्रवृत्त होता है।

बोध्य-बोधकभाव—

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि बोध्य-बोधकभाव समग्र को सम्बन्ध मानने पर यह विषय और शास्त्र के मध्य साक्षात् सम्बन्ध न होकर परम्परा सम्बन्ध होगा, क्योंकि इसका बोध्यता रूप एक अंश विषय में रहता है और बोधकता रूप दूसरा अंश शास्त्र किंवा ग्रन्थ में रहता है और यह नियम है कि जो सम्बन्ध भिन्न-भिन्न अंशों से अपने सम्बन्धियों में रहता है वह परम्परा सम्बन्ध होता है और जो पूर्ण रूप से अपने सम्बन्धियों में रहता है वह साक्षात् सम्बन्ध होता है, जैसे घट के साथ चक्षु का संयोग पूर्ण रूप से घट और चक्षु में रहने से चक्षु घट के बीच साक्षात् सम्बन्ध है और घटरूप के साथ संयुक्तसमवाय चक्षु और घटरूप के बीच परम्परा सम्बन्ध है क्योंकि इस सम्बन्ध का प्रथम अंश संयोग चक्षु में रहता है और दूसरा अंश समवाय घटरूप में रहता है, संयुक्तसमवाय पूरा न चक्षु में ही रहता है और न घटरूप में ही रहता है। अतः बोध्य-बोधकभाव शब्द बोध्यता और बोधकता इन दो सम्बन्धों को बताता है। क्योंकि विषय में शास्त्र का सम्बन्ध होता है बोध्यता और शास्त्र में विषय का सम्बन्ध होता है बोधकता, विषय शास्त्र का बोध्य है इस प्रकार के सम्बन्धज्ञान से भी शास्त्रा-ध्ययन में अध्येता की प्रवृत्ति होती है और शास्त्र विषय का बोधक है इस प्रकार के सम्बन्धज्ञान से भी शास्त्राध्ययन में अध्येता की प्रवृत्ति होती है।

बोधकता का स्वरूप—

यह भी ज्ञातव्य है कि बोधकता का अर्थ बोधजनकता नहीं माना जा सकता क्योंकि विषय का बोध शास्त्र से नहीं किन्तु शास्त्रज्ञान से होता है अतः शास्त्र बोध का

प्रयोजनं तु तदैक्यप्रमेयगताज्ञाननिवृत्तिः स्वस्वरूपानन्दावाप्तिश्च "तरति शोकमात्मवित्" इत्यादिश्रुतेः "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" इत्यादिश्रुतेश्च ॥ ४ ॥

जनक नहीं होता किन्तु शास्त्रज्ञान बोध का जनक होता है, इसी प्रकार बोधप्रयोजकता को भी बोधकता का अर्थ नहीं माना जा सकता क्योंकि शास्त्रज्ञान को बोध का जनक मानने पर तो शास्त्र बोधप्रयोजक हो सकता है किन्तु ज्ञायमान शास्त्र को बोधजनक मानने पर शास्त्र बोधका जनक ही हो सकता है, प्रयोजक नहीं हो सकता क्योंकि जो जनक न होने पर भी किसी प्रकार कार्यजन्म में अपेक्षणीय होता है उसे ही प्रयोजक कहा जाता है, अतः बोधकता का अर्थ है जनक और जनकतावच्छेदक उभयसाधारण बोधप्रयोजकता, उसका स्वरूप है प्रथम अन्यथासिद्धि से भिन्न सभी अन्यथासिद्धियों से शून्य होते हुये कार्यजन्म के पूर्व कार्योत्पत्तिदेश में नियम से विद्यमान होना। भाषा परिच्छेद–कारिकावली में विश्वनाथ न्यायपञ्चानन ने पांच अन्यथासिद्धियां बताई हैं, पहली अन्यथासिद्धि जनकतावच्छेदक में रहती है, दूसरी जनकगत अन्य धर्मों में रहती है, तीसरी किसी अन्य कार्य के जनकरूप में सिद्ध होने वाले पदार्थ में रहती है, चौथी जनक के जनक में रहती है और पांचवीं लघु नियतपूर्ववर्ती से भिन्न में रहती है, जैसे दण्डत्व आदि में घट की पहली अन्यथासिद्धि, दण्डरूप आदि में दूसरी, शब्दजनकत्वरूप से सिद्ध होनेवाले आकाश में तीसरी, कुलालपिता में चौथी और घट के लिये मिट्टी आदि लानेवाले रासभ आदि में पांचवीं अन्यथासिद्धि रहती है। जनक में किसी भी अन्यथासिद्धि के न रहने से और जनकावच्छेदक में एकमात्र पहली अन्यथासिद्धि के ही रहने से जनक और जनकावच्छेदक दोनों प्रथम अन्यथासिद्धि से भिन्न सभी अन्यथासिद्धियों से शून्य होने तथा कार्यजन्म के पूर्व नियम से बिद्यमान होने से प्रयोजक कहे जाते हैं। अतः उक्त बोधप्रयोजकता ही बोधकता का अर्थ है।

जीव–ब्रह्म के ऐक्य में समस्त उपनिषदों का तात्पर्य होने से वह उपनिषदों का बोध्य–प्रमेय है और उपनिषद् परमेश्वरप्रणीत होने से अथवा अपौरुषेय होने से प्रमाणभूत वेद का उत्तमाङ्ग होने से उक्त ऐक्य में प्रमाण हैं, बोध्यबोधकभाव उन दोनों में सम्बन्ध है।

अनुवाद—

प्रयोजन तो है जीव–ब्रह्म के ऐक्यविषयक अज्ञान की निवृत्ति और अपने स्वरूपानन्द की प्राप्ति, क्योंकि श्रुति कहती है कि आत्मवेत्ता शोक को तर जाता है और ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही हो जाता है।

व्याख्या—

चौथा अनुबन्ध है प्रयोजन, 'यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम्' इस गौतमीय

चरममनुबन्धमाह—प्रयोजनं त्विति। तदैक्यप्रमेयशब्दः पूर्ववत्। अज्ञानं वक्ष्यमाणलक्षणम्। तस्य निवृत्तिः प्रयोजनमित्येतावत्युक्ते समूलदुःखोन्मूलनलक्षणं वैशेषिकाभिमतं प्रयोजनमभ्युपगतं प्रतिभायात्। तन्माभूदिति विशेषणान्तरोपादानम्। अज्ञाननिवृत्तिरानन्दावाप्तिश्च प्रयोजनमित्युक्ते नित्यनिरतिशयसुखाभिव्यक्तिर्निःशेषदुःखोच्छित्तिश्च प्रयोजनमिति भाट्टाभिमतं प्रयोजनं प्रतिभायात्। तन्माभूदिति तत्स्वरूपेत्युक्तम्। ब्रह्मात्मचैतन्यस्य चानन्दरूपत्वं प्रतिपादितमधस्तात्। विचारजन्यज्ञानस्यैकोभयविधं प्रयोजनमित्यत्र क्रमेण श्रुती प्रमाणयति—तरतीत्यादिना। आत्मविद् ब्रह्मात्मसाक्षात्कारवाञ्छाकोपलक्षितसंसारमूलाज्ञानं तरत्यतिक्रामति। यः कश्चिद् ब्रह्म परमात्मानं प्रत्यग्रूपं वेद साक्षात्करोति स ब्रह्मैव भवति तद्रूप एव भवतीत्यर्थः॥

नन्वविद्यानिवृत्तेर्विद्यासाध्यत्वेन प्रयोजनत्वेऽपि कथं स्वरूपानन्दस्य तथात्वं तस्य नित्यप्राप्तत्वेन विद्यासाध्यत्वाभावादिति चेत्सत्यं नित्यप्राप्तमप्यानन्दात्मब्रह्मस्वरूपमविद्यावस्थायां विस्मृतकण्ठगतचामीकरवदनवाप्तमिव भवति। विद्यया त्वविद्यानिवृत्तौ विज्ञातचामीकरवदभिव्यक्तिमापद्यमानमवाप्तमिव व्यपदिश्यत इति न काचिदनुपपत्तिरिति भावः॥ ४॥

न्यायसूत्र के अनुसार जिस वस्तु को अधिकृत कर—जिस वस्तु की प्राप्ति को लक्ष्य रख कर मनुष्य जिस कार्य में प्रवृत्त होता है वह उस कार्य का प्रयोजन होता है, मनुष्य अनादिकाल से ब्रह्म के साथ अपने ऐक्य के अज्ञान से ग्रस्त है, अपने स्वरूपानन्द को भूल कर अन्य वस्तुओं से आनन्द पाने के निरर्थक प्रयास में चिरकाल से लग्न है, जब उसके कानों में किसी प्रकार यह बात पड़ जाती है कि वह कोई सामान्य प्राणी नहीं है वह तो साक्षात् ब्रह्म है, उसे आनन्दप्राप्ति के लिये कहीं भटकना नहीं है उसका अपना स्वरूप ही आनन्द है, साथ ही जब वह यह भी समझता है कि वह इस तथ्य को वेदान्तशास्त्र के अध्ययन से हृदयंगम कर सकता है, तब वह ब्रह्म के साथ अपनी एकता के अज्ञान को मिटा देने और अपने स्वरूपानन्द का अनुभव करने को आतुर हो उठता है, वह इन्हीं दो बातों के लिये वेदान्तशास्त्र का अध्ययन करने में प्रवृत्त होता है, अतः प्रयोजन की उक्त परिभाषा के अनुसार यही दो बातें—ब्रह्म के साथ अपनी एकता के अज्ञान की निवृत्ति और अपने स्वरूपानन्द की प्राप्ति ही वेदान्तशास्त्र का प्रयोजन हैं।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि अज्ञाननिवृत्ति और स्वरूपानन्द की प्राप्ति यह दोनों समान प्रयोजन नहीं हैं, किन्तु इनमें भी साध्यसाधनभाव है, अज्ञाननिवृत्ति साधन है और स्वरूपानन्द की प्राप्ति साध्य है, जीव ब्रह्म के ऐक्य का दर्शन होने पर उसके अज्ञान की निवृत्ति होती है और अज्ञान का आवरण निवृत्त हो

जाने पर ब्रह्मानन्द के साथ एकीभूत जीव के स्वरूपानन्द की अभिव्यक्ति होती है, दोनों में नितान्त नैरन्तर्य होने से यौगपद्य सा जान पड़ता है।

अज्ञाननिवृत्ति—

अज्ञाननिवृत्ति के विषय में यह जान लेना आवश्यक है कि इस अज्ञाननिवृत्ति का अर्थ अज्ञान का अपवारणमात्र नहीं है किन्तु अज्ञान की आत्यन्तिक निवृत्ति है जिसके बाद अज्ञान का पुनर्जीवन कदापि सम्भव नहीं होता, इसे वेदान्तदर्शन के शब्दों में बाध कहा जाता है, जीवब्रह्म के ऐक्यविषयक अज्ञान का बाध जीवब्रह्म के ऐक्य के उस अखण्ड साक्षात्कार से होता है जिसका उदय श्रवण, मनन, निदिध्यासन के चिरपरिपाक से होता है और जिसमें अज्ञान तथा उसके किसी भी कार्य का भान न होकर जीव, ब्रह्म के चैतन्यस्वरूप का ही भान होता है, जैसा कि श्रुति कहती है— 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निर्दिध्यासितव्य:' (बृह० २।४।५) यह श्रुतिवचन अपनी पत्नी मैत्रेयी के प्रति महर्षि याज्ञवल्क्यद्वारा उक्त है, इसकी व्याख्या शब्दक्रम से न कर अर्थक्रम से की जाती है क्योंकि शब्दक्रम से आत्मा का दर्शन पहले प्राप्त है, श्रवण आदि बाद में प्राप्त है, जो उचित नहीं है क्योंकि आत्मदर्शन हो जाने के बाद श्रवण आदि का कोई उपयोग नहीं हो सकता। श्रुति का स्पष्ट कथन है कि सर्वप्रथम आत्मा का श्रवण करना चाहिये—गुरु की सहायता से यह निश्चय करना चाहिये कि एकमात्र आत्मा में ही जीव, ब्रह्म के ऐक्य में ही सम्पूर्ण वेदान्त का अन्तिम तात्पर्य है। उसके बाद उस निर्णीत अर्थ का मनन-विविध अनुमान प्रमाणों से दृढ़ीकरण करना चाहिये और तत्पश्चात् उस श्रुत एवं दृढ़ीकृत अर्थ का निदिध्यासन-चिरकाल तक अविच्छिन्न चिन्तन करना चाहिये। चिन्तन का परिपाक हो जाने पर शास्त्रश्रुत, अनुमानसमर्थित, चिरचिन्तित जीवब्रह्मैक्य का दर्शन होता है जिससे उसके अज्ञान का अपुनरागामी क्षय होकर साधक को अपने स्वरूपानन्द की प्राप्ति होती हैं।

स्वरूपानन्दप्राप्ति—

स्वरूपानन्दप्राप्ति को प्रयोजन कहने पर यह प्रश्न होता है कि यदि जीव का स्वरूप ही आनन्द है तो जीव को जीवस्वरूप के नित्य प्राप्त होने से स्वरूपानन्द उसे नित्य प्राप्त है, अत: उसकी प्राप्ति को प्रयोजन कहना कैसे संगत हो सकता है क्योंकि प्रयोजन की उक्त परिभाषा के अनुसार प्रयोजन वही हो सकता है जिसकी प्राप्ति की इच्छा से कार्य किया जाय, और प्राप्ति की इच्छा उसी वस्तु के सम्बन्ध में होती है जो वस्तु मनुष्य को पहले से प्राप्त नहीं रहती, स्वरूपात्मक आनन्द तो स्वरूप के नित्य प्राप्त होने से पहले से ही प्राप्त है अत: उसकी प्राप्ति की इच्छा हो ही नहीं सकती क्योंकि विषय की सिद्धि इच्छा का प्रतिबन्धक होती है। इस प्रश्न का उत्तर वेदान्तियों द्वारा इस प्रकार दिया जाता हैं कि जीव का स्वरूपानन्द वस्तुत: उसे प्राप्त अवश्य है किन्तु वह उसे अप्राप्त समझता है और इसी कारण वह उसे प्राप्त करने की इच्छा

करता है, क्योंकि किसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा में उस वस्तु की प्राप्ति प्रतिबन्धक नहीं होती अपितु प्राप्त होने की बुद्धि प्रतिबन्धक होती है जो कण्ठचामीकरन्याय से सिद्ध है।

कण्ठचामीकरन्याय—

कण्ठचामीकरन्याय के दूसरे नाम कण्ठमणिन्याय, ग्रीवास्थग्रैवेयकन्याय आदि भी हैं, इस न्याय का आशय यह है कि मनुष्य जब कभी कण्ठ में पहने स्वर्णहार या मणिमाल्य को भूल जाता है कि उसने उसे अपने कण्ठ में पहन रखा है तब कण्ठप्राप्त होने पर भी उसमें अप्राप्तत्वभ्रम से प्राप्तत्वबुद्धि का प्रतिबन्ध हो जाने से वह उसे पाने की इच्छा करता है तथा चारो ओर उसे ढूंढ़ता फिरता है और कहीं अन्यत्र न पाकर दुःखी होता है, जब कोई मनुष्य उसे दुःखी देखकर उसके कण्ठ में पड़े स्वर्णहार या मणिमाल्य की ओर उसकी दृष्टि आकृष्ट कर देता है तब वह पहले से ही अपने गले में पड़े स्वर्णहार या मणिमाल्य को भी नवप्राप्त मान कर आनन्दविभोर हो उठता है।

यह घटना नारियों के साथ बहुधा घटित होती रहती है, जैसे किसी नववधू को कुछ नये सम्बन्धी जनों के आने की सूचना मिली, उसने नये कपड़े पहने, अङ्गों पर अलङ्कार डाले और गले में एक मूल्यवान् हार पहन लिया, दर्पण के सम्मुख खड़ी हो अपने को भलीभाँति सांजा संवारा, सम्बन्धी जनों के आने पर उन्हें अभिवादन किया और उनके आतिथ्य में व्यापृत हो गई, अनेक प्रकार के खाद्य, पेय और उनके रखने के पात्र निकाले, सम्बन्धी जनों को सुन्दर आसनों पर बिठाया, सबके आगे सुन्दर पात्र रखे। उनमें अच्छे-अच्छे मिष्टान्न आदि परोसे, पीने को शीतल सुगन्धित जल दिये, भोजन कराने के अनन्तर लोगों को इलायची, ताम्बूल आदि दिये, शालीनता के साथ उनके साथ घण्टों बातें की। सम्बन्धी जनों के चले जाने के बाद जब उनके आतिथ्य में निकाली गई वस्तुवों को समेटने लगी, अपने कपड़े और भूषण उतारे, पेटी में भूषणों को रख कर उन्हें सहेजने लगी तो उसे अपना मूल्यवान् हार न दिखा, उसके ध्यान में यह बात न आई कि उसने उसे अपने गले से अभी नहीं उतारा है, वह इधर उधर उसे ढूँढ़ने लगी, और जब हार कहीं न मिला तो रोने पीटने लगी, उसका रोना सुन कर घर के लोग इकट्ठे हो गये और हार खो जाने की बात सुन कर सभी लोग चिन्तित हो उठे, इसी बीच पड़ोस में रहने वाली कोई महिला पहुँची, हार खो जाने से दुःखी बहू को आश्वस्त करने के लिये उसके पास गई, उसकी आँख एकाएक बहू के गले पर पड़ी, उसने झट से कहा, बावरी, रोती क्या है, अपने गले में पड़े हार को क्यों नहीं देखती, अपने साथ सबको सन्तप्त करती है। बहू तत्काल गले से लटकते हार को देखती है और इस प्रकार हर्षोफुल्ल हो उठती है जैसे कोई नया हार मिल गया हो।

बेदान्ती विद्वानों का कहना है कि आनन्द के सम्बन्ध में ठीक यही मनोदशा मनुष्य की है, वह वस्तुतः सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप होने से नित्य आनन्दमय है, आनन्द उसे सदैव प्राप्त है; किन्तु अज्ञानवश वह इस बात को नहीं समझता, आनन्द

को अप्राप्त समझ [illegible] उसे पाने की इच्छा से संसार के विषयों के पीछे रात दिन भागता फिरता है, किन्तु जब किसी सद्गुरु से उसे यह उपदेश प्राप्त होता है कि तूं क्यों संसार में इधर उधर भटक रहा है, जिस आनन्द को पाने के लिये तूं व्यग्र है वह तो तेरे भीतर ही है, तेरा अपना स्वरूप ही आनन्द है क्योंकि आनन्दघन ब्रह्म और तुम एक ही हो, तब वह गुरूपदिष्ट विधि से वेदान्त शास्त्र का अध्ययन कर श्रवण, मनन आदि के क्रम से अपने अज्ञान को निरस्त कर अपने स्वरूप परमानन्द को नवप्राप्त आनन्द के समान उपलब्ध कर कृतार्थ हो जाता है।

इस उत्तर से स्पष्ट है कि स्वरूपानन्दप्राप्ति का अर्थ अप्राप्त आनन्द की प्राप्ति नहीं है किन्तु अज्ञानवश अनुभव में न आने वाले स्वरूपानन्द की अज्ञाननिवृत्ति-मूलक अनुभूति है। आनन्द की अनुभूति यद्यपि संसारदशा में भी होती है और जिस आनन्द की अनुभूति होती है वह भी जीव का ब्रह्माभिन्न स्वरूपानन्द ही है क्योंकि उस आनन्द से भिन्न किसी आनन्द का अस्तित्व अप्रामाणिक है, जैसा कि श्रुति स्पष्ट कहती है 'एतस्यैवानन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति'।

किन्तु संसारदशा में जो आनन्दानुभूति होती है वह विशुद्ध आनन्द को विषय नहीं करती, उसमें अज्ञानजन्य दुःखात्मक विषयों का भी भान होता रहता है, अतः विशुद्ध आनन्द की अनुभूति प्रथमतः सिद्ध न होने से मनुष्य को प्रेप्सित होने से प्रयोजन स्वरूप हो सकती है।

आत्मज्ञान से अज्ञाननिवृत्ति होती है, इस बात के साक्ष्य में ग्रन्थकार ने 'तरति शोकम् आत्मवित्' इस श्रुति का उल्लेख किया है, श्रुति का अर्थ है—आत्मवेत्ता शोक को तर जाता है, शोक का अर्थ है दुःख और दुःख का मूल है अज्ञान, कारण में कार्य-बोधक शब्द का लाक्षणिक प्रयोग अनादिकाल से होता आया है, उक्त श्रुति का शोक शब्द भी शोक के कारण अज्ञान के बोधनार्थ ही प्रयुक्त है, क्योंकि दुःख के भोगनिवर्त्य होने से आत्मज्ञान को उसका निवर्तक बताना संगत नहीं हो सकता, दुःखानुत्पाद-रूप दुःखनिवृत्ति का जनक बताने में भी श्रुति का तात्पर्य नहीं माना जा सकता क्योंकि दुःखानुत्पाद अनादि होने से जन्य नहीं हो सकता, अतः जीवब्रह्म के ऐक्याज्ञान-रूप दुःखकारण की निवृत्ति बताने में ही श्रुति का तात्पर्य मानना उचित हो सकता है, जिसकी उपपत्ति शोक शब्द को उक्त अज्ञान में लाक्षणिक मानने से ही हो सकती है।

श्रुति में आत्मज्ञान को शोक का निवर्तक कहा गया है, किन्तु शङ्का होती है कि श्रुति का कथन ठीक नहीं है क्योंकि आत्मज्ञान जीवमात्र को है, कोई ऐसा जीव नहीं है जिसे अपने बारे में 'मैं हूँ अथवा नहीं हूँ' ऐसा संशय या 'मैं नहीं हूँ' ऐसा विपर्यय-भ्रम होता है अपितु प्रत्येक को 'अहमस्मि—मैं हूँ'—इस प्रकार अपने आप का बोध ही होता है, और इस बोध के होते हुये भी वह विविध दुःखों से ग्रस्त रहता है। इससे स्पष्ट है कि आत्मज्ञान से दुःख के कारण की निवृत्ति नहीं होती। इस शङ्का का उत्तर यह है कि मनुष्य को जो आत्मज्ञान निसर्गतः प्राप्त है वह यथार्थ नहीं है क्योंकि वह

ज्ञान आत्मा को देह, इन्द्रिय, प्राण और मन के धर्मों के आश्रयरूप में ग्रहण करता है, जैसे मनुष्य अपने को समझता है 'अहं गौरः—मैं गौरवर्ण हूँ' 'अहं श्रवणपटुः-मैं सुनने में पटु हूँ, अहं वाक्यपटुः-मैं बोलने में पटु हूँ, अहं बुभुक्षितः पिपासितश्च-मैं भूखा और प्यासा हूँ' 'अहं चिन्तितो दुःखितश्च-मैं चिन्तित और दुःखी हूँ' जब कि उपनिषदें आत्मा को सर्वधर्मातीत बताती हैं, अतः मनुष्य का स्वाभाविक आत्मज्ञान भ्रमात्मक है, उक्त श्रुति का तात्पर्य आत्मा के यथार्थ दर्शन को सकारण शोक का निवर्तक बताने में है, अतः श्रुति के कथन में कोई असंगति नहीं है।

स्वरूपानन्द की प्राप्ति को ब्रह्मज्ञानद्वारा वेदान्तशास्त्र के अध्ययन का प्रयोजन बताने के लिये ग्रन्थकार ने 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति-ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही हो जाता है' इस श्रुति का उल्लेख किया है, इसके विषय में यह शङ्का होती है कि ब्रह्मवेत्ता के ब्रह्म हो जाने की बात उचित नहीं जान पड़ती क्योंकि किसी भी पदार्थ के सम्बन्ध में यह बात उपलब्ध नहीं है कि उस पदार्थ को जानने वाला वह पदार्थ ही हो जाता है, यदि यह बात मानी जायगी तो गो आदि के ज्ञाता मनुष्यों में गवादिरूपता की प्रसक्ति होगी। इस शङ्का के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि उक्त श्रुति जो ब्रह्मवेत्ता को ब्रह्म हो जाने की बात करती है वह इस नियम के आधार पर नहीं कि जो जिस पदार्थ को जान सकता है वह उस पदार्थ के रूप को प्राप्त कर लेता है किन्तु एक मनोवैज्ञानिक आधार पर उक्त बात का प्रतिपादन करती है, जैसे यह देखा जाता है कि कोई भी नीरोग व्यक्ति जब अपने को किसी रोग से ग्रस्त समझने लगता है तो वह उस प्रकार की भावना करते करते सचमुच उस रोग से ग्रस्त हो जाता है, इसी प्रकार रोगाक्रान्त व्यक्ति जब अपने को नीरोग एवं स्वस्थ समझना आरम्भ कर देता है तब अपने स्वास्थ्य और नैरुज्य की भावना करते-करते वह रोगमुक्त एवं स्वस्थ हो जाता है, श्रुति का कहना है कि ठीक इसी प्रकार जब जीव अपने आप को ब्रह्म मानने लगता है और अपने स्वरूप में ब्रह्मरूपता की भावना करते करते अपने को ब्रह्मरूप में देखने लगता है तो एक दिन वह सचमुच पूर्ण ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है। इसीलिये मनुष्य का महत्त्वाकाङ्क्षी होना उसका गुण माना जाता है, दोष नहीं माना जाता और मनुष्य को यह बात बतायी जाती है कि उसे हीन भावना का त्याग कर उच्चभावना अपनानी चाहिये।

उक्त श्रुति को स्वरूपानन्द की प्राप्ति के प्रयोजनत्व में साक्षीरूप से प्रस्तुत करने पर दूसरी शङ्का यह होती है कि उक्त श्रुति तो केवल इतना ही बताती है कि ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म हो जाता है, इतने से तो यह नहीं सिद्ध होता कि ब्रह्मज्ञानी को स्वरूपानन्द की प्राप्ति होती है, तो फिर यह श्रुति उस प्राप्ति को ब्रह्मज्ञान का प्रयोजन सिद्ध करने में प्रमाण कैसे हो सकती है, इस शङ्का का उत्तर यह है कि ब्रह्म आनन्द-स्वरूप है, अतः ब्रह्म हो जाने का अर्थ होता है आनन्दरूप हो जाना और आनन्दरूप हो जाने का अर्थ है आनन्दरूप में अभिव्यक्त हो जाना और आनन्द रूप में अभिव्यक्त होने का अर्थ है स्वरूपानन्द को प्राप्त कर लेना, इस प्रकार ब्रह्मज्ञानी को

अयमधिकारी जननमरणादिसंसारानलसन्तप्तो प्रदीप्तशिरा जलराशिमिवोपहारपाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुमुपसृत्य तमनुसरति "समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" इत्यादिश्रुतेः। स परमकृपयाध्यारोपापवादन्यायेनैनमुपदिशति "तस्मै स विद्वानुपसन्नाय प्राह" इत्यादिश्रुतेः ॥ ५ ॥

एवं साधनचतुष्टयसम्पन्नस्याधिकारिणो विज्ञातविषयादिमत आत्मयाथात्म्यजिज्ञासया गुरूपसत्तिं दर्शयति—अयमधिकारीति। जननमरणादीत्यादिपदाद्रागद्वेषादिग्रहः। संसारानलसन्तप्तो गुरुमुपसृत्य तमनुसरतीत्य-

---

ब्रह्मरूप हो जाने का प्रतिपादन करने से ब्रह्मज्ञानी को स्वरूपानन्द की प्राप्ति का प्रतिपादन हो जाने से उक्त श्रुति को ब्रह्मज्ञान के उक्त प्रयोजन में साक्षी होने में कोई बाधा नहीं होती।

अनुवाद—

वेदान्तज्ञान के उक्त अधिकार से सम्पन्न पुरुष को जब यह अनुभव होने लगता है कि वह संसाररूप अग्नि की जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि की तीव्रतर ज्वाला में जल रहा है तब वह उससे मुक्त होने की कामना से हाथ में कुछ भेंट रख असहाय भाव से वेदवेत्ता, ब्रह्मभाव में अवस्थित किसी गुरु की शरण में जाता है और मन, वचन, कर्म से उसके आदेश का ठीक उसी प्रकार अनुसरण करता है जैसे कोई मनुष्य जिसका शिर मुड़ा हो और ग्रीष्मऋतु के मध्याह्न-सूर्य की प्रखर किरणों से बरसती आग में जल रहा हो, उससे मुक्त होने के लिये दौड़ता हुआ शीतल एवं मीठे जल से लबालब भरे किसी सरोवर पर पहुँचता है और अधीर भाव से उसमे गोते लगाने लगता है।

मोक्षार्थी के गुरु की शरण में जाने का संकेत एक श्रुति करती है जो इस प्रकार है 'समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' (मुण्डक १।२।१२) इस श्रुति का आशय यह है कि मनुष्य जब संसार के त्रिविध तापों से उद्विग्न होकर उनसे पूरा छुटकारा पाने को अधीर हो उठे तब उसे संसार के सारे धन, जन आदि का त्याग कर हाथ में समिध की लकड़ी लेकर वेदविद्या के पारगामी विशुद्ध ब्रह्मभाव में अवस्थित गुरु की शरण में जाना चाहिये।

संसार से उद्विग्न, वेदान्तविद्या का अधिकारी पुरुष मोक्ष की कामना से जब ब्रह्मवेत्ता गुरु की शरण में पहुँचता है तब उसके दुस्सह संसार-दुःख को देखकर गुरु का कोमल हृदय करुणा से भर जाता है और उससे कुछ चाहे विना वह अध्यारोप और अपवाद के माध्यम से उसे ब्रह्मज्ञान का उपदेश देता है, गुरु के इस कृपापूर्ण कृत्य का भी संकेत एक श्रुति करती है जो इस प्रकार है 'तस्मै स विद्वानुपसन्नाय प्राह' (मु० १।२।१३) इसका अर्थ यह है कि मोक्षार्थी पुरुष जिस विद्वान् गुरु के पास जाय वह उस पुरुष को ब्रह्मविद्या का उपदेश प्रदान करे।

न्वयः। उपसरणं समीपगमनमनुसरणमनुवृत्तिरिति भेदः। अत्युद्विग्नस्याविलम्बेन तच्छान्तिकरस्थानप्रवेशे दृष्टान्तमाह—प्रदीप्तेति। निदाघमध्याह्नार्कमरीचिसंव्याप्तखल्वाटः प्रदीप्तशिराः। शिशिरतरमधुरजलपरिपूर्णो महाह्रदो जलराशिः।

"रिक्तपाणिर्न सेवेत राजानं देवतां गुरुम्।"

इति वचनमाश्रित्याह—उपहारपाणिरिति। उपहार उपायनं पाणौ यस्य सः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठमिति गुरोर्विशेषणे। श्रोत्रियत्वं वेदवेदाङ्गपारगत्वं वेदान्तार्थपारगत्वं वा प्रकृतोपयोगात्। श्रोत्रियग्रहणमकामहतत्वावृजिनत्वयोरप्युपलक्षणार्थम् "यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहत" इति श्रुतेः। अकामहतत्वं ब्रह्मलोकानन्दादर्वाचीनेष्वानन्देषु वितृष्णत्वम्। अवृजिनत्वं यथोक्तकारितया निष्पापत्वम्। ब्रह्मनिष्ठत्वमौपनिषदब्रह्मात्मविज्ञानपरिपूर्ण-

व्याख्या—

इस सन्दर्भ में ग्रन्थकार ने दो महत्त्वपूर्ण बातों का संकेत किया है, एक यह कि गुरु की शरण में जाने के पूर्व मनुष्य को वेदान्तज्ञान के उक्त अधिकार से सम्पन्न होना चाहिये, उसे यह ज्ञान होना चाहिये कि इस संसार में कोई वस्तु नित्य नहीं है, सब कुछ अनित्य है, घोर परिश्रम के बाद भी जो उसके हाथ लगेगा वह सब अस्थिर होगा, किसी भी प्रयत्न से वह ऐसी वस्तु नहीं प्राप्त कर सकता जो नित्य हो, जिसके वियोग की वेदना से वह मुक्त रह सके, यदि कोई वस्तु ऐसी है जो नित्य हो, जिसे पाकर मनुष्य समस्त चिन्ताओं से सर्वदा के लिए मुक्त हो सके तो वह ब्रह्म है जो सद्गुरु के बताये मार्ग को अपनाये बिना दुष्प्राप्य है। इस ज्ञान के साथ ही यह भी आवश्यक है कि उसे इस लोक तथा परलोक की किसी भी वस्तु को पाने की स्पृहा न हो; ऐहिक, आमुष्मिक सभी उपलब्धियों से उसका पूर्ण वैराग्य हो, यह भी ध्यान रहे कि केवल इस ज्ञान और वैराग्य से ही काम नहीं चल सकता, मन पर ऐसा निग्रह भी होना चाहिये जिससे वह ब्रह्मज्ञान के उपयोगी विषयों से भिन्न किसी विषय की ओर न जाने पाये, बाह्य इन्द्रियों पर भी ऐसा अंकुश हो जिससे वे उन विषयों की ओर उन्मुख न होने पायें जो ब्रह्मज्ञान के लिये अनुपयुक्त हैं। इन सब के साथ यह भी आवश्यक है कि मनुष्य विभिन्न लक्ष्यों के साधनभूत शास्त्रीय एवं लौकिक कर्मों का परित्याग कर दे; जाड़ा, गर्मी, बरसात आदि से होने वाले दुःखों को सहने की क्षमता भी प्राप्त कर ले, ब्रह्मज्ञानोपयोगी विषयों में मन को स्थिर करने की लगन लगा ले, आचार्य के उपदेश में अटूट श्रद्धा और संसार से पूर्ण मुक्ति प्राप्त करने की उत्साहभरी अदम्य आकाङ्क्षा से सम्पन्न हो ले।

दूसरी बात, जिसका संकेत ग्रन्थकार ने किया है, यह है कि गुरु के निकट जाने के पूर्व मनुष्य को यह अनुभूति होनी चाहिये कि यह संसार एक प्रचण्ड अग्नि है, जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि आदि उसकी भीषण ज्वालाओं से वह जला जा रहा है, उनसे छुटकारा पाने को वह छटपटा रहा है।

त्वमित्यर्थः। उक्तविधिना यथोक्तगुरूपसर्पणं विद्यार्थिनावश्यं कर्तव्यमित्यत्र प्रमाणमाह—समिदिति। समिच्छब्दो गुरोरनुरूपोपायनमात्रोपलक्षणपरः। आदिशब्दात् "आचार्यवान्पुरुषो वेद", "आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापत्" इत्यादिश्रुत्यन्तरसंग्रहः। शिष्योपसृत्यनन्तरं गुरोरुपदेशक्रमं दर्शयति-स परमेति। सः गुरुः परमकृपया प्रपन्नजनक्लेशदर्शनजातकरुणया तन्मति-प्रकाशनप्रवृत्त्या वा। तदुक्तमभियुक्तैः—

"एतदेव हि दयालुलक्षणं यद्विनेयजनबुद्धिवर्धनम्"॥ इति।

उक्तार्थज्ञापिकां श्रुतिं पठति—तस्मा इति। "तस्मा एतत्प्रोवाच। यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामि" इत्यादिश्रुत्यन्तरमादि शब्दार्थः॥ ५॥

ग्रन्थकार ने श्रुति के आधार पर यह बताया है कि संसारसन्तप्त मोक्षार्थी को उपहारपाणि होकर श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाना चाहिये, उपहार में और कुछ नहीं किन्तु समिध की लकड़ी होनी चाहिये। समिध की लकड़ी लेकर जाने के निर्देश से दो बातें सूचित की गई हैं, एक यह कि मोक्षार्थी के हाथ में समिध देख कर गुरु यह जान सके कि इस व्यक्ति ने संसार की दृष्टि में मूल्यवान समझी जानी वाली समस्त वस्तुओं का परित्याग कर दिया है, संसार में अब इसकी आसक्ति समाप्त हो चुकी है तथा समिध आदि से अग्नि की उपासना कर इसने अपने चित्त को निर्मल कर डाला है, दूसरी बात यह कि ब्रह्मनिष्ठ गुरु भी लोकसंग्रह की दृष्टि से शास्त्रीय कर्मों के लिये समिध आदि कर्मसाधनों की अपेक्षा रखता है, अतः समिध उसके लिये उपयुक्त उपायन है।

श्रुति द्वारा समित्पाणि होकर गुरु के निकट जाने का निर्देश किये जाने के आधार पर ही यह लोकनीति प्रतिष्ठापित है कि 'रिक्तपाणिर्न सेवेत, राजानं देवतां गुरुम्—राजा, देवता और गुरु के पास रिक्तहस्त नहीं जाना चाहिये'।

उक्त श्रुति के साक्ष्य में ग्रन्थकार का कहना है कि मोक्षार्थी को ऐसे ही गुरु के पास जाना चाहिये जो वेदार्थ का पूर्ण वेत्ता हो तथा ब्रह्मभाव को प्राप्त कर चुका हो, क्योंकि गुरु यदि केवल ब्रह्मनिष्ठ ही हो, उसे वेदार्थ का ज्ञान न हो तो वह मोक्षार्थी को ब्रह्मप्राप्ति का मार्ग नहीं बता सकता क्योंकि वह मार्ग वेद से ही ज्ञात होता है, अतः गुरु को ब्रह्मनिष्ठ होने के साथ श्रोत्रिय होना भी आवश्यक है। इसी प्रकार गुरु यदि केवल वेदवेत्ता ही हो, वेद के मार्ग से यात्रा कर ब्रह्म की प्राप्ति न कर ली हो तो वह मार्ग का केवल परोक्ष परिचय ही दे सकता है, उस मार्ग पर कुशलतापूर्वक यात्रा करा कर ब्रह्म की प्राप्ति नहीं करा सकता, साथ ही ब्रह्मनिष्ठ न होने पर वेदज्ञमात्र होने पर उसका जीवन संसारासक्त हो सकता है, जिसे देख मोक्षार्थी का चित्त विचलित हो सकता है, गुरु के निकट पहुँचने के पूर्व की अपनी उपलब्धि से भी वह वञ्चित हो सकता है, अतः गुरु को श्रोत्रिय होने के साथ ब्रह्मनिष्ठ भी होना चाहिये।

मोक्षार्थी को इस बात का ध्यान रखना परमावश्यक है कि संसार से उत्तप्त हो जाने पर तथा मोक्षप्राप्ति की प्रबल कामना हो जाने पर, साथ ही वेदशास्त्र का पर्याप्त ज्ञान रहने पर भी उसे ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिये गुरु की शरण में जाना ही चाहिये, अपने आप ब्रह्मज्ञान का प्रयास नहीं करना चाहिये। मुण्डक १।२।१२ के भाष्य में शङ्कराचार्य का स्पष्ट उद्घोष है कि 'शास्त्रज्ञोऽपि स्वातन्त्र्येण ब्रह्मज्ञानान्वेषणं न कुर्यात्—शास्त्रज्ञान से सम्पन्न होने पर भी मनुष्य स्वतन्त्र रूप से गुरुनिरपेक्ष होकर ब्रह्मज्ञान का अन्वेषण न करे।

छान्दोग्य उपनिषद् ४।९।३ तथा ६।१४।२ 'आचार्याद्धैव विदिता विद्या साधिष्ठं प्रापयति' एवं 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' का कहना हैं कि आचार्य से प्राप्त विद्या ही श्रेष्ठ होती है एवम् आचार्यवान् पुरुष ही ब्रह्म को जान पाता है। 'आचार्यवान्' शब्द आचार्य शब्द से मतुप् प्रतयय द्वारा सिद्ध है, मतुप् का अर्थ है प्राशस्त्य, जिसके अनुसार दूसरी श्रुति का अर्थ यह है कि जिस पुरुष को प्रशस्त आचार्य प्राप्त होता है वही ब्रह्म को जानता है। प्रशस्त आचार्य कौन होता है ? श्रुति कहती है 'यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनकोऽपापहतः (बृहदारण्यक ४ । ३ । ३)—जो श्रोत्रिय-वेदज्ञ, अवृजिन—शास्त्रानुसार कर्मानुष्ठान द्वारा निष्पाप तथा अपापहत-पाप-मोक्षेतर फल की कामना से हत-ग्रस्त नहीं होता। श्रुति के अनुसार ऐसे आचार्य से मार्गदर्शन प्राप्त कर जो ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का प्रयत्न करता है वह ब्रह्म को जान लेता है, अतः मोक्षार्थी को ऐसे ही गुरु की शरण में जाना चाहिये।

ग्रन्थकार ने मोक्षार्थी को श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु का अनुसरण करने की सम्मति दी है। गुरु के अनुसरण का अर्थ है गुरु का अनुगमन करना, गुरु के पीछे चलना। गुरु के पीछे चलने का अर्थ है, मन, वचन, कर्म से गुरु की सेवा करना। मन से सेवा का अर्थ है निरन्तर इस बात का विचार करते रहना कि उससे कोई ऐसी भूल न होने पावे जिससे गुरु को कष्ट हो। वचन से सेवा का अर्थ है गुरु के निकट ऐसे विनय भरे मीठे वचन बोलना जिससे गुरु का चित्त प्रफुल्ल हो, मुख मुसकान से भर जाय और कर्म से सेवा का अर्थ है अपने शरीर से ऐसे निर्दोष कार्य करना तथा गुरु की सुख-सुविधा के लिये ऐसे साधन जुटाना जिनसे उनका मन प्रसन्न हो और उनको आराम पहुँचे।

मन, वचन और कर्म से गुरु के अनुसरण का एक अन्य भी रूप है, जैसे मन से अनुसरण का अर्थ है अपने मन को गुरु के मन का अनुगामी बनाना, गुरु के चिन्तन के विषय को अपने चिन्तन का विषय बनाना तथा गुरु के चिन्तन की पद्धति को अपने चिन्तन की पद्धति बनाना। वचन से अनुसरण का अर्थ है अपने वचन को गुरु के वचन के अनुरूप बनाकर, गुरु की भाषा और भाषणशैली के समान अपनी भाषा और भाषणशैली को साजना-संवारना। कर्म से अनुसरण का अर्थ है गुरु के कर्मों के समान कर्म करना। इस प्रकार के अनुसरण में रुचि रखने वाले शिष्य को ही दृष्टिगत कर गुरु उसे उपदेश देता है 'यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो

असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवद्वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः। वस्तु सच्चिदानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्म। अज्ञानादिसकलजडसमूहोऽवस्तु। अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत्किञ्चिदिति वदन्त्यहमज्ञ इत्याद्यनुभवात् "देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्" इत्यादिश्रुतेश्च ॥ ६ ॥

इतराणि (तैत्तिरीय १।११) जो हमारे अच्छे कार्य हैं उन्हीं का अनुसरण करो अन्यों का नहीं'। ब्रह्मनिष्ठ तत्त्वज्ञानी गुरु शास्त्र के विधिनिषेध से परे हो जाता है जैसा कि कहा गया है—'निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः—त्रिगुणातीत–सत्त्व, रजस् और तमस् से मुक्त पथ पर विचरण करने वालों पर शास्त्र का कोई भी विधि अथवा निषेध नहीं लागू होता'। अतः सम्भव है कि प्रारब्ध कर्म के अनुसार गुरु से कुछ अनुचित भी कर्म हो जाय और शिष्य उस कर्म का भी अनुसरण कर बैठे, इसलिये गुरु बड़े स्पष्ट शब्दों में सावधान करता है 'नो इतराणि—मेरे निन्द्य कर्मों का अनुसरण मत करना'।

श्रुति के साक्ष्य से ग्रन्थकार का कहना है कि गुरु को उक्तरीति से शरणागत, सेवारत मोक्षार्थी को परम कृपापूर्वक ब्रह्मज्ञान का उपदेश करना चाहिये। परम कृपा का अर्थ है प्रपन्नजन के दुःख को दूर करने की सहज और सर्वोत्कृष्ट कामना। संसार से सन्तप्त मोक्षार्थी जब असहाय होकर गुरु के शरणागत होता है तब उसे देखते ही उसकी शक्ति और साधन तथा उससे उपकार के किसी प्रकार का मूल्य पाने की सम्भावना का विचार किये बिना ही उसे दुःख-मुक्त करने की प्रबल कामना गुरु के मानस को उद्वेल बना देती है और वह उसके बुद्धिगत प्रकाश को मलिन करने वाले अज्ञानतम को, जो उसके सारे दुःखों का मूल है, निरस्त करने के लिये वेदान्तोपदेश का प्रखर आलोक प्रसारित करने लगता है, क्योंकि शिष्य के ज्ञानदीप को जला देना ही गुरु का कार्य है, जैसा कि 'संक्षेपशारीरक' ४।३।६ में कहा गया है कि 'एतदेव हि दयालुलक्षणं यद्विनेयजनबुद्धिवर्धनम्—शिष्यजनों का बुद्धि-संवर्धन ही कृपालु का लक्षण है'। भगवद्गीता में परब्रह्म पुरुषोत्तम ने भी कहा है कि मैं अपने आश्रितों के लिये जो सबसे बड़ी बात करता हूँ वह यही कि 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते—मैं अपने आश्रितों को बुद्धियोग देता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त करते हैं।'

अनुवाद—

जो सर्प नहीं है उस रज्जु–रस्सी में सर्प के आरोप की भांति वस्तु में अवस्तु का आरोप अध्यारोप कहलाता है। सत्, चित्, आनन्द, अनन्त, अद्वय ब्रह्म ही वस्तु है। अज्ञानादि समग्र जड़-समूह अवस्तु है। अज्ञान तो सत्-असत् रूप से अनिर्वचनीय, त्रिगुणात्मक, ज्ञानविरोधी, भावरूप कुछ है, ऐसा कहते हैं; यह बात 'अहमज्ञः—मैं

अध्यारोपं सदृष्टान्तं लक्षयति—असर्प इति। ननु कथमवस्तुनो निरात्मकस्यारोपो यावता क्वचिद्दृष्टपूर्वस्य सत एव क्वचिदारोपो दृष्टः। उक्तं च भट्टाचार्यैः—

"अध्यस्यते खपुष्पत्वमसत्कथमवस्तुनि।
प्रज्ञातगुणसत्ताकमध्यारोप्येत वा न वा'॥ इति।

उच्यते। संस्कारजन्यो हि भ्रमस्तत्सिद्ध्ये पूर्वप्रतीतिमात्रमपेक्षते न पुनः पूर्वप्रतीतस्य परमार्थसत्त्वमपि व्यतिरेकाभावात्संशयविपर्ययदृष्टेष्वपि संस्कारकार्यस्मृतिदर्शनात्। तथा हि लोकेऽनुभवोऽस्मिन्वल्मीककूटे मम पुरा स्थाणुः पुरुषो वेति सन्देह आसीदस्मिञ्छुक्तिशकले रजतमिदमिति भ्रम आसीदित्यादिः। न च संशयविपर्यययोरेवेयं स्मृतिर्न तदर्थयोरिति वाच्यमर्थशून्ययोस्तयोः स्मृतिविषयत्वानुपपत्तेः। 'तस्मान्निरुपाख्यविलक्षणस्य पूर्वपूर्वभ्रमदृष्टस्याप्युत्तरोत्तरारोपोपपत्तेर्भ्रमप्रवाहस्य चानादित्वेनान्योन्याश्रयानवस्थादिप्रसङ्गानवकाशाद्युक्तं वस्तुनि परमार्थे सत्यवस्तुनोऽनिर्वचनीयस्यारोप इत्यर्थः। वस्त्ववस्तुनी क्रमेण लक्षयति— वस्त्विति। ननु ब्रह्मण एव वस्तुत्वे

अज्ञानवान् हूँ' इस अनुभव से तथा देवभूत आत्मा की अपने सत्त्वादि गुणों से वेष्टित शक्ति को (ध्यानयोग के द्वारा उन समाधिनिष्ठ योगियों ने देखा)" इस श्रुतिवाक्य से स्पष्ट है॥ ६॥

व्याख्या—

यह कहा जा चुका है कि ब्रह्मनिष्ठ गुरु शरणागत मोक्षार्थी को अध्यारोप और अपवाद के माध्यम से मोक्ष के साधन ब्रह्मज्ञान का उपदेश देता है, उस माध्यम का प्रथम अंश है 'अध्यारोप'। अध्यारोप का अर्थ है 'वस्तु में अवस्तु का आरोप'। 'वसति-तिष्ठति यत् तद् वस्तु' इस व्युत्पत्ति के अनुसार वस्तु शब्द का अर्थ है स्थित रहने वाला, जो अपने अज्ञानकाल में भी स्थित हो यह वस्तु है और जो केवल अपनी प्रतीति के समय ही स्थित हो वह अवस्तु है। वस्तु, अवस्तु की इस परिभाषा के अनुसार रज्जु–रस्सी अपने अज्ञान काल में भी स्थित होने से वस्तु है और उसमें दीख पड़ने वाला सर्प केवल अपनी प्रतीति के समय ही रहने से अवस्तु है। अतः सर्पभिन्न रज्जु में सर्प की बुद्धि एक अध्यारोप है। इसे समझने के लिये वेदान्त की इस मान्यता को दृष्टि में रखना आवश्यक है कि जब किसी एक वस्तु में किसी अन्य का भ्रम होता है, तब जिसका भ्रम होता है वह पूर्वसिद्ध नहीं होता किन्तु जिस वस्तु में भ्रम होता है उस वस्तु के असाधारण धर्म के अज्ञान से अपनी भ्रमात्मक प्रतीति के साथ उत्पन्न होता है और उतने ही समय तक रहता है जितने समय तक उसकी भ्रमात्मक प्रतीति रहती है, अतः उसे प्रतिभास–प्रतीति का समानजीवी होने से प्रातिभासिक कहा जाता है। प्रातिभासिक—प्रतीतिकालमात्र में अवस्थित होने से ही वह अवस्तु है। जब रज्जु के असाधारण धर्म रज्जुत्व का साक्षात्कार होजा है,

जीवस्य मुक्त्यादेश्चावस्तुत्वात्कर्तृत्वाद्यध्यारोपे रजताद्यध्यारोपे चाव्याप्तिः स्यादिति चेन्न। ब्रह्मण्येव जीवत्वस्यापि कल्पितत्वात्कर्तृत्वादेश्च सोपाधिकभ्रमतयोपाध्यनुरक्ते ब्रह्मण्येवाध्यारोपाच्छुक्त्यादेरपि रजताद्यधिष्ठानचैतन्यावच्छेदकत्वेनाधिष्ठानत्वमुपचर्यते। न पुनस्तस्यैवाधिष्ठानत्वमज्ञातं हि वस्त्वारोपाधिष्ठानम्। न च शुक्त्यादेरज्ञातत्वमस्ति जडत्वाच्चिन्मात्रनिष्ठत्वाच्चिन्मात्रविषयत्वाच्चाज्ञानस्य। तदुक्तम्—

"यस्याज्ञानं भ्रमस्तस्य भ्रान्तः सम्यक् च वेत्ति सः।
जडं न विद्यावेद्यत्वान्नातोऽज्ञानं जडाश्रयम्॥"

ततश्च सत्यस्य वस्तुनो मिथ्यावस्तुसम्भेदावभासोऽध्यारोप इत्युक्तं भवति। एतेन चिज्जडयोः परस्परतादात्म्याध्यासे शून्यमेव जगतस्तत्त्वं स्यादध्यस्तस्य मिथ्यात्वादिति केषाञ्चिच्चोद्यं निरस्तम्। भ्रमकाले परिस्फुरदंशस्य मिथ्यात्वेऽप्यपरिस्फुरतोंऽशान्तरस्य विद्यमानत्वात्। तदुक्तमभियुक्तैः—

रज्जु की पहचान हो जाती है तब उसमें होने वाली सर्प की बुद्धि और बुद्धिगत सर्प दोनों का बाध हो जाता है। रज्जु अपने अज्ञानकाल में, अपनी पहचान न होने की दशा में भी रहने से उक्त परिभाषा के अनुसार वस्तु है, अतः रज्जु में सर्प का दर्शन वस्तु में अवस्तु का आरोप होने से अध्यारोप है, उसे ही भ्रम, विपर्यय, अध्यास आदि शब्दों से व्यवहृत किया जाता है इसे तथा इसमें विशेषण रूप में भासित होने वाले विषय को वेदान्त की भाषा में 'अनिर्वचनीय' कहा जाता है। अनिर्वचनीय का अर्थ है जिसे 'सत्' अथवा 'असत्' न कहा जा सके, उक्त अध्यारोप और उसमें भासित होने वाले सर्प को 'सत्' नहीं कहा जा सकता क्यों कि उक्त अध्यारोप के अधिष्ठानधर्मी रज्जु की पहचान होने पर, रज्जु का रज्जुस्वरूप से साक्षात्कार होने पर दोनों का बाध हो जाता है और 'सत्' वेदान्त के अनुसार वह होता है जिसका किसी भी समय बाध न हो। बाध का अर्थ है कारण के साथ कार्य की निवृत्ति, रज्जुस्वरूप के साक्षात्कार से रज्जु में सर्प के आरोप और आरोप्यमाण सर्प दोनों की निवृत्ति उनके कारण रज्जुस्वरूप के अज्ञान के साथ होने से बाधात्मक होती है, अतः बाध्य होने से उक्त अध्यारोप और उसका विषयगत सर्प दोनों 'सत्' से विलक्षण हैं। उन्हें 'असत्' भी नहीं कहा जा सकता क्यों कि वे उत्पन्न होते हैं तथा भय, कम्प आदि के उत्पादक होते हैं, और 'असत्' वह होता है जो न उत्पन्न हो और न किसी का उत्पादक हो जैसे आकाशपुष्प, वन्ध्यापुत्र आदि। अनिर्वचनीय को ही 'मिथ्या' भी कहा जाता है।

रज्जु में सर्प के अध्यारोप की चर्चा ब्रह्म में जगत् के अध्यारोप को हृदयंगम कराने के लिये की गई है, ग्रन्थकार का कहना है कि गुरु शिष्य को पहले रज्जु में सर्प के अध्यारोप का बोध कराता है, पश्चात् उसी के द्वारा ब्रह्म में जगत् के अध्यारोप का बोध कराता है।

"अध्यस्तमेव हि परिस्फुरति भ्रमेषु नान्यत्कथञ्चन परिस्फुरति भ्रमेषु ।
रज्जुत्वशुक्तिशकलत्वमरुक्षितित्वचन्द्रैकताप्रभृतिकानुपलम्भनेन ॥" इति,
"किञ्चानृतद्वयमिहाध्यसितव्यमिष्टंस्याच्चेत्तदा भवति चोद्यमिदं त्वदीयम् ।
सत्यानृतात्मकमिदं मिथुनं मिथश्चेदध्यस्यते किमिति शून्यकथाप्रसङ्गः॥"इति च

तस्माद्युक्तमुक्तं वस्तु सच्चिदानन्दाद्वयं ब्रह्म तस्मिन्नज्ञानतत्कार्याखिल-जडसमूहस्यावस्तुनोऽध्यारोप इति ॥

वेदान्तसिद्धान्त के अनुसार एकमात्र ब्रह्म ही वस्तु है क्योंकि वस्तु की उक्त परिभाषा उसकी सही परिभाषा नहीं है, सही परिभाषा यह है कि 'यद् वसत्येव = तिष्ठत्येव तद् वस्तु—जो सर्वदा स्थित ही होता है, किसी भी काल में जिसकी निवृत्ति नहीं होती, वही वस्तु हैं' इस परिभाषा के अनुसार किसी भी काल में बाध्य न होने से त्रिकालाबाध्य ब्रह्म ही वस्तु है, उससे अन्य जो भी बुद्धिगत होता है वह सब अवस्तु है ।

ब्रह्म सत्, चित्, आनन्दस्वरूप है, अनन्त—देश, काल, कृत परिच्छेद से शून्य तथा अद्वय–द्वैतरहित है, उसके इस असाधारण स्वरूप के अज्ञान से उसमें अज्ञान एवं तन्मूलक समूचे जड़ जगत् का आरोप ठीक उसी प्रकार होता है जैसे रज्जु के अज्ञान से रज्जु में सर्प का आरोप होता है । ब्रह्म का अज्ञान अनादि है अत: उसका जन्म न होकर केवल आरोपमात्र होता है पर जगत् का आरोपमात्र नहीं होता किन्तु उसका जन्म भी होता है ।

रज्जु में आश्रित सर्प और ब्रह्म में आश्रित जगत् आरोप की दृष्टि से यद्यपि दोनों समान हैं तथापि उनमें एक मौलिक अन्तर है, वह यह कि व्यवहारकाल-सृष्टिदशा में जगत् के मूलकारण ब्रह्म के अज्ञान की निवृत्ति न होने से जगत् का बाध नहीं होता, किन्तु रज्जुसर्प के कारण रज्जुस्वरूप के अज्ञान की व्यवहारकाल में निवृत्ति हो जाने से व्यवहारकाल में ही उसका बाध हो जाता है ।

यह कहा गया है कि गुरु शिष्य को ब्रह्म में जगत् के अध्यारोप का बोध कराने के लिये पहले रज्जु में सर्प के अध्यारोप का बोध कराता है, किन्तु संकट यह है कि यह बोध उस बोध के सम्पादन में सहायक न होकर उसके विपक्ष में खड़ा हो जाता है क्योंकि रज्जु में सर्प के अध्यारोप की चर्चा होते ही शिष्य उसे इस रूप में ग्रहण कर बैठता है कि सर्प अन्य स्थान में विद्यमान एवं पूर्वदृष्ट होता है अत: उसके पूर्व दर्शन से जनित संस्कार का उसके सदृश रज्जु, भूमिगत दरार अथवा ऊँची नीची भूमि में बहती पतली जलधारा आदि के दर्शन से उद्बोध होने पर दृश्यमान वस्तु के स्वरूप का ज्ञान न होने से उसमें सर्प का आरोपात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है, अत: उस माध्यम से जब ब्रह्म में जगत् के अध्यारोप का बोध कराने का उपक्रम होता है तब उसके मन में यह शङ्का तरङ्गित होने लगती है कि वस्तु में अवस्तुभूत जगत् का अध्यारोप कैसे हो सकता है क्यों कि वेदान्तमतानुसार जगत् अध्यारोप के पूर्व न कहीं

अन्यत्र विद्यमान ही होता और न पूर्वदृष्ट ही होता अतः उसका कोई संस्कार न होने से उसका आरोप दुर्घट है। इसके साथ ही उसे यह भी शङ्का होती है कि ब्रह्म आरोप का अधिष्ठान-धर्मी भी कैसे हो सकता है क्योंकि प्रसिद्ध आरोपों में यह देखा गया है कि धर्मी वही होता है जो सामान्यरूप से ज्ञात हो और विशेषरूप से अज्ञात हो, जैसे इदन्त्वरूप से ज्ञात और रज्जुत्व आदिरूप से अज्ञात रज्जु आदि सर्पारोप का धर्मी होता है, पर ब्रह्मतो निर्धर्मक हैं। उसके सामान्य, विशेष रूप की सत्ता नहीं है, अतः सामान्य रूप से ज्ञात और विशेष रूप से अज्ञात न होने के कारण वह आरोप का धर्मी नहीं हो सकता। पर गुरु बड़ा कृपालु और कुशल होता है, वह बड़ी सहृदयता से शिष्य की शङ्का को सुनता है और बड़ी निपुणता से उसका निरास कर उसे ब्रह्म में जगत् के अध्यारोप का बोध करा देता हैं। वह शिष्य की दृष्टि को इस तथ्य की ओर आकृष्ट करता है कि आरोप के लिये आरोप्यमाण की सत्ता अपेक्षित नहीं होती किन्तु उसका पूर्वदर्शन-जनित संस्कारमात्र ही अपेक्षित होता है क्योंकि जिस स्थान और समय में जिसका आरोप होता है उस स्थान और उस समय में तो उसकी सत्ता होती नहीं और स्थानान्तर तथा समयान्तर में उसकी सत्ता का कोई महत्त्व नहीं है, दूसरी बात यह कि जिसका आरोप होता है वह यदि स्थानान्तर में विद्यमान भी हो किन्तु उसका पूर्व-दर्शन जनित संस्कार न हो तो उसका आरोप नहीं होता अतः आरोप्यमाण के पूर्व-दर्शनजनित संस्कार को अथवा तज्जनित स्मरण को आरोप का कारण मानना आवश्यक है, फिर इस कारण से ही आरोप की उपपत्ति हो जाने से आरोप्यमाण की अन्यत्र सत्ता को भी उसका क़ारण मानने में निष्प्रयोजन गौरव है, तथा पूर्वदृष्ट अतीत का भी आरोप होने से आरोप्यमाण की सत्ता को कारण मानने में व्यभिचार भी है, अतः जगत्प्रवाह के अनादि होने से पूर्व-पूर्व आरोप से जन्य संस्कार से उत्तरोत्तर आरोप की उत्पत्ति मानने में कोई बाधा नहीं हैं।

धर्मी के सम्बन्ध में उत्पन्न शिष्यकी शङ्का को गुरु यह बात बता कर निरस्त कर सकता है कि ब्रह्म वस्तुतः यद्यपि निर्धर्मक है, वह सामान्य, विशेषभेद से विभिन्न धर्मों का आश्रय नहीं है किन्तु अज्ञानवश उसमें भी सामान्य, विशेषधर्म कल्पित हैं। अयम् आत्मा, आत्मा सन्, इत्यादि प्रतीतियों से आत्मा-ब्रह्म में इदन्त्व, सत्त्व आदि सामान्य धर्म, एवम् आत्मा चेतयते, आत्मा आनन्दयति अथवा चैतन्यमात्मा, आनन्द आत्मा, इत्यादि प्रतीतियों से चित्त्व, आनन्दत्व आदि विशेष धर्म कल्पनासिद्ध हैं। अत. इदन्त्व, सत्त्व आदि सामान्य धर्म से ज्ञात और चित्त्व और आनन्दत्व आदि धर्मों से अज्ञात होने से ब्रह्म भी आरोप का धर्मी हो सकता है। गुरु उसे यह भी बता सकता है कि ब्रह्म में अज्ञान का आरोप अनादि है, अतः उसके विषय में यह प्रश्न नहीं उठ सकता कि ब्रह्म का सामान्य रूप से ज्ञान और विशेष रूप से अज्ञान नहीं है तो उसमें अज्ञान का आरोप कैसे हो सकता है क्यों कि धर्मी का सामान्य रूप से ज्ञान और विशेष रूप से अज्ञान कारणरूप में ही अपेक्षणीय होता है अतः कारणनिरपेक्ष अनादि आरोप के विषय में उसकी अपेक्षा नहीं हो सकती। अब रह जाती है ब्रह्म में

अज्ञानं व्युत्पादयति—अज्ञानं त्विति। तुशब्दो मतान्तरेभ्यो वैशिष्ट्य-द्योतनार्थः। तमेव विशेषं दर्शयति—सदसद्भ्यामित्यादिना। ज्ञानविरोध्यज्ञान-मित्युक्ते ज्ञानप्रागभावे प्रसङ्गं व्युदस्यति—भावरूपमिति। उत्तरज्ञानविरोधि-पूर्वज्ञानव्युदासाय सदसद्भ्यामनिर्वचनीयमिति। मिथ्याज्ञानव्युदासाय त्रिगुणात्मकमिति। यद्वा ज्ञानाविरोधित्वं ज्ञानापनोद्यत्वं तदेवाज्ञानत्वमित्य-ज्ञानलक्षणम्। न च ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानापनोद्यप्रपञ्चेऽतिव्याप्तिः। तस्याज्ञानो-पादानकत्वेनाज्ञानानतिरेकात्। नाप्यज्ञानात्मसम्बन्धेऽतिव्याप्तिः। असङ्गस्व-भावस्य चिदात्मनोऽज्ञानसम्बन्धस्याज्ञानाधीनत्वात्तस्याप्यज्ञानात्मत्वोपपत्तेः। अतो नानयोर्लक्ष्यबहिर्भाव इति न लक्षणस्यातिव्याप्तिः। अव्याप्त्यसम्भव-योस्तु शङ्कैव नास्ति ज्ञानेनाज्ञानबाधस्य प्रसिद्धत्वात्। न च पूर्वज्ञाने ज्ञान-प्रागभावे चातिव्याप्तिः। पूर्वज्ञानस्य ज्ञानापनोद्यत्वनियमाभावादिच्छादिवृत्त्य-न्तरोत्पत्त्यापि तदपनोददर्शनात्। इह च नियमेन ज्ञानापनोद्यस्याज्ञानत्वा-भ्युपगमात्। प्रागभावस्य च प्रतियोग्युत्पत्तिमात्रविरोधिनस्तदपनोद्यत्वा-भावात्। न ह्यनुत्पन्नः प्रतियोगी कस्यचिदपनोदकः सम्भवति। अतो न तयोरतिव्याप्तिः॥

अज्ञान से भिन्न सादि वस्तुओं के आरोप की बात क्यों कि जन्य होने से उसके कारण रूप में ब्रह्म के उक्त ज्ञान और अज्ञान की अपेक्षा हो सकती है तो उस विषय में गुरु शिष्य को यह बता सकता है कि धर्मी का सामान्य रूप से ज्ञान और विशेष रूप से अज्ञान आरोप का कारण नहीं होता किन्तु सामान्य रूप से ज्ञान और धर्मी के वास्तव स्वरूप का अज्ञान आरोप का कारण होता है अतः अज्ञातत्व रूप सामान्यधर्म से ब्रह्म का ज्ञान और ब्रह्म के वास्तव असङ्ग, अखण्ड स्वरूप का अज्ञान होने से ब्रह्म में सादि पदार्थों का भी आरोप हो सकता है।

गुरु धर्मी के विषय में उत्पन्न शिष्य की शङ्का को यह कह कर भी निरस्त कर सकता है कि ब्रह्म में अज्ञान का आरोप निरुपाधिक है किन्तु अज्ञान से भिन्न सभी पदार्थों का आरोप अज्ञानोपाधिक है, अतः उसमें धर्मी के उक्त ज्ञान और अज्ञान की अपेक्षा नहीं है क्यों कि वे निरुपाधिक आरोप के कारण होते हैं, सोपाधिक आरोप के कारण नहीं होते। सोपाधिक आरोप में तो धर्मी में उपाधि का सन्निधानमात्र अपेक्षित होता है, जैसे स्फटिक में जपाकुसुम की रक्तिमा का आरोप जपाकुसुम के सन्निधान मात्र से सम्पन्न हो जाता है, ब्रह्म में अनादि अज्ञान का सतत सन्निधान है अतः उसमें अज्ञानमूलक जड़ जगत् का आरोप होने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती।

अज्ञान—

सच्चिदानन्द अनन्त अद्वितीय ब्रह्म में अध्यारोपित अज्ञान क्या है, इस प्रश्न के उत्तर में ग्रन्थकार का कहना है कि वेदान्त की दृष्टि में 'अज्ञान' एक भावात्मक पदार्थ है जिसका निर्वचन 'सत्' अथवा 'असत्' रूप में नहीं किया जा सकता, वह त्रिगुणात्मक है—सत्त्व, रजस् और तमस् का मिश्रित रूप है। एवं ज्ञान का विरोधी तथा ज्ञान से

नन्वज्ञानस्यापि ज्ञानोत्पत्तिनान्तरीयकतया विनाशाश्रयणात्कथं ज्ञानापनोद्यत्वमिति चेन्न। ज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं विलम्बाभावाभिप्रायेणाज्ञाननाशस्य ज्ञानोत्पत्तिनान्तरीयकतावाचोयुक्तेराश्रयणात् भावाभावयोस्तु क्षणमात्रमपि सहभावानुपपत्तेरित्यस्ति प्रागभावाद्वैषम्यमज्ञानस्येति। सदसद्भ्यामनिर्वाच्यमित्यपरं लक्षणम्। अत्रापि पूर्ववदेवातिव्याप्त्यादिपरिहारो द्रष्टव्यः। नेदमसम्भवि। अज्ञानस्य सत्त्वे चिदात्मवद्बाधाभावप्रसङ्गात्। असत्त्वे च वन्ध्यासुतादिवदपरोक्षप्रतिभासानुपपत्तेः। बाधप्रतीत्योश्चाज्ञाने प्रसिद्धत्वाद्युक्तं तस्यानिर्वचनीयत्वम्। सदसत्त्वपक्षयोरुक्तदूषणमुपजीव्य मिथ्याज्ञानसंस्कारोऽज्ञानमसत्प्रकाशनशक्तित्वेनासद्वेति मतद्वयं निरसनीयम्। मिथ्याज्ञानमात्मगुणोऽज्ञानमिति पक्षं निरस्यति—त्रिगुणात्मकमिति। गुणा लोहितशुक्लकृष्णा अज्ञानकार्येषु तेजोऽबन्नेष्ववान्तरप्रकृतिषु प्रसिद्धाः "यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य" इति श्रुतेः। तथा च कार्यगतत्रिरूपेण कारणमप्यज्ञानमव्याकृतात्मकं त्रिरूपेण त्रिगुणात्मकमिति यावत्। तथा च न्यायः—"ज्योतिरुपक्रमात्तु तथा ह्यधीयत एके" इति।

बाध्य है, उसका यथापेक्ष वर्णन सम्भव न होने से उसे केवल इस रूप में ही कहा जा सकता है कि 'वह कुछ है' क्या और कैसा है, किस प्रमाण से वह सिद्ध होता है, यह कहना कठिन है, किन्तु उसकी चर्चा होती है, उसके सम्बन्ध में विचार होता है अतः किसी न किसी साधन से उसका ज्ञान तो मानना आवश्यक ही है, अतः वेदान्तियों का कहना है कि वह 'अहमज्ञः—मैं अज्ञानवान्' हूँ इस प्रत्यक्ष अनुभव से गृहीत होता है।

अज्ञान की अनिर्वचनीयता

अज्ञान अनिर्वचनीय है, मिथ्या है, किन्तु लोकप्रसिद्ध अर्थ में अनिर्वचनीय अथवा मिथ्या नहीं है, लोक के अनुसार अनिर्वचनीय का अर्थ है जिसके विषय में कुछ कहा न जा सके और मिथ्या का अर्थ है झूठ, असत्य, किन्तु अज्ञान ऐसा नहीं है, उसके सम्बन्ध में विद्वानों के विस्तृत वाद-प्रतिवाद होते हैं, वह अनेक सत्यों से अधिक-सत्य है, अनादि काल से वह अनुवर्तमान है, पता नहीं कि वह कब तक बना रहेगा, अतः उसे झूठा कहना अत्यन्त असंगत है, वह पारिभाषिक अर्थ में अनिर्वचनीय और मिथ्या कहा जा सकता है। अनिर्वचनीय एवं मिथ्या के अनेक पारिभाषिक अर्थ वेदान्तियों ने बताये हैं जो अद्वैतसिद्धि आदि ग्रन्थों में प्राप्य हैं, वेदान्तसार के कर्ता ने यहाँ उसका केवल एक पारिभाषिक अर्थ बताया है, वह है 'सत्' अथवा 'असत्' रूप में वर्णन करने के अयोग्य।

'सत्' रूप में अज्ञान का वर्णन नहीं किया जा सकता क्यों कि 'सत्' शब्द किसी देशविशेष, कालविशेष में, किसी रूपविशेष एवं सम्बन्धविशेष से सत्तावान् का बोधक न होने से शुद्धसत्तावान् का बोधक है। शुद्ध सत्ता का अर्थ है, देश, काल,

यद्वा रजःसत्त्वतमोलक्षणास्त्रयो गुणास्तद्युक्तमज्ञानं त्रिगुणात्मकमिति । गुण-गुणिनोरभेदविवक्षया त्रिगुणात्मकमित्युक्तम् । तथा च गुणस्य गुणवत्त्वानुपपत्तेर्न मिथ्याज्ञानमज्ञानमित्यर्थः । ज्ञानाभावोऽज्ञानमिति मतं निरस्यति— भावरूपमिति । अयमर्थः । अभावप्रतियोगि यज्ज्ञानं तत्किं साक्षिचैतन्यं स्यात् "साक्षी चेता" इत्यादिश्रुतेस्तस्यापि ज्ञानत्वप्रसिद्धेः । किंवान्तःकरण-वृत्तिः "विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति" इति विज्ञानशब्देन बुद्धेः श्रवणात् । अथवात्मगुणस्तथात्वेन च ज्ञानस्य वैशेषिकतन्त्रे प्रसिद्धत्वात् । तत्राद्यो नाभावप्रतियोगी तस्य नित्यत्वात् । द्वितीये ज्ञानशब्दस्त्वौपचारिक-त्वेन तदभावस्य मुख्यतोऽज्ञानत्वायोगात् । "येन वा पश्यति" इत्यारभ्य "प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोक" इत्यन्तेन प्रज्ञाशब्दावाच्य-प्रत्यक्चैतन्यव्याप्तस्यैव चक्षुरादिद्वारकबुद्धिपरिणामस्य सङ्कीर्तनात् । साङ्ख्य-पक्षमाश्रित्यानौपचारिकत्वे स्वीक्रियमाणेऽपि न वृत्त्यभावोऽज्ञानं वृत्त्यभाव-शब्देन वृत्त्युपादानबुद्धिस्वरूपावस्थानमात्रस्यैवाभिलाषात् । अतः पक्षान्तरं परिशिष्यते । तत्रेदं वक्तव्यम् । ज्ञानविशेषाभाव एवाज्ञानं ज्ञानसामान्या-भावोऽपि वेति । नाद्यो मूढोऽहं न किञ्चिज्जानामीत्यनुल्लिखितविषय-

वस्तु और सम्बन्ध से अपरिच्छिन्न सत्ता, जिसे वेदान्त में त्रिकालाबाध्य सत्ता एवं पारमार्थिक सत्ता कहा जाता है, अज्ञान की सत्ता ऐसी नहीं है, वह देश, काल आदि से परिच्छिन्न होती है, किसी विषय का अज्ञान किसी व्यक्तिविशेष में किसी सम्बन्ध विशेष से किसी सीमित समय तक रहता है, जैसे रज्जुस्वरूप का अज्ञान रज्जु को न पहचानने वाले व्यक्ति में स्वरूप सम्बन्ध से रज्जु की पहचान न होने तक रहता है, एवं अखण्ड ब्रह्म का अज्ञान उसे न जानने वाले व्यक्ति में स्वरूप सम्बन्ध से उसका साक्षात्कार न होने तक रहता है, बाद में नहीं रहता, अतः ज्ञान से बाध्य होने के कारण उसे त्रिकालाबाध्य या पारमार्थिक नहीं कहा जा सकता, अतएव 'सत्' रूप में अनिर्वाच्य है ।

'असत्' रूप में भी अज्ञान का वर्णन नहीं हो सकता, क्यों कि 'असत्' वह होता है जिसका किसी देश, काल में अस्तित्व नहीं होता, जिसका भावात्मना कभी अनुभव नहीं होता, जो न स्वयं उत्पन्न होता और न अन्य का उत्पादक होता जैसे गधे की सींग, हथेली का बाल, कच्छपी का दूध, आकाश का फूल, बन्ध्या का पूत आदि । अज्ञान ऐसा नहीं है, देश, काल से उसका सम्बन्ध होता है वह व्यक्ति में अपने विषय का साक्षात्कार न होने तक रहता है, मैं अज्ञानी हूँ इस प्रकार उसका भावात्मक प्रत्यक्ष अनुभव होता है, वह स्वयं कार्य तो नहीं होता किन्तु भ्रम का, उसके विषय का उत्पादक होता है, अतः उसे 'असत्' शब्द से व्यपदिष्ट नहीं किया जा सकता. फलतः वह 'सत्' एवं 'असत्' से विलक्षण अर्थ में अनिर्वचनीय है, मिथ्या है ।

अज्ञान की त्रिगुणात्मकता—

अज्ञान त्रिगुणात्मक है, त्रिगुण का अर्थ है तीन गुण, वे हैं सत्त्व, रजस् अरौ

विशेषस्याप्यज्ञानस्यानुभवात् । न च तत्रापि विषयविशेषपर्यवसायित्वं कल्प्यत इति वाच्यं विनानुपपत्तिं सामान्यबुद्धेर्विशेषालम्बनत्वे सामान्यबुद्धिविलोपसंग्रहात् । तथा च घटवत्यपि भूतले घटसामान्यनिषेधप्रसङ्गः सुषुप्त्यभावप्रसङ्गश्च स्यात् । तस्माज्ज्ञानसामान्याभावोऽहमज्ञ इत्युल्लिख्यत इति वाच्यम् । तत्र चाभावज्ञानस्य धर्मिप्रतियोगिज्ञानसापेक्षस्यात्मनि धर्मिणि ज्ञाने च प्रतियोगिनि विज्ञायमाने तस्मिन्नेवात्मनि कथं ज्ञानाभावग्रहोऽभावप्रतियोगिनो ज्ञानस्य तत्र वर्तमानत्वात् । तयोरविज्ञायमानयोरपि कथं तत्राभावग्रहः कारणाभावात् । षष्ठप्रमाणपक्षेऽप्ययं न्याय ऊहनीयः । नन्वनुपपत्तौ सत्यां सामान्यबुद्धेरपि विशेषालम्बनत्वं कल्प्यते । यथा घटवत्यपि भूतले घटो नास्तीति बुद्धेर्विवक्षितघटाभावविषयत्वं तद्वदिहापि सामान्याभावस्य यत्किञ्चित्प्रतियोगिसत्त्वविरोधादात्मनि विज्ञायमाने तस्मिन्ननुपपत्तेर्न किञ्चिज्जानामीति बुद्धेर्ज्ञानविशेषाभावविषयत्वं कल्प्यत इति चेन्न । अनयैवानुपपत्त्या भावान्तरविषयत्वस्यैव कल्पनीयत्वात् । न हि मूढोऽहं सामान्यं किञ्चिदपि न जानामीत्यनुभवे किञ्चिद्विषयान्तरमवशिष्यते यज्ज्ञानाभावविषयत्वमस्य कल्प्येत । यथास्मिन् भूतले न कोऽपि घटोऽस्तीति प्रत्यये घटविशेषस्यानवशेषस्तद्वत् । नन्वप्रसिद्धभावान्तरकल्पनाद्वरं प्रसिद्धस्याभावस्येव यथाकथञ्चिदप्यज्ञानबुद्धेर्विषयत्वकल्पनमिति चेन्न । अत्यन्तमप्रसिद्ध्यभावात् । "देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढ़ां", "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" इति च श्रुतिवाक्ययोर्गुणवत्त्वेनोत्पद्यमानजगदुपादानत्वेन च प्रसिद्धत्वात् । तस्मान्नाभावो ज्ञानं किन्तु भावान्तरमेवेति ।।

तमस् । यह तीनों द्रव्य के समान कार्यारम्भक-कार्य का उपादान कारण होने से यद्यपि द्रव्य शब्द से व्यवहृत होने के अर्ह हैं, फिर भी इन्हें गुण कहा जाता है, वह इसलिये कि ये गुण—रज्जु के बन्धन कार्य को सम्पन्न करते हैं, जैसे रज्जु से पशु आदि बांधे जाते हैं अथवा कपड़ा आदि जड़ वस्तुयें बांधी जाती हैं उसी प्रकार सत्त्व, रजस् और तमस् से जीव बाँधे जाते हैं, सत्त्व सुख उत्पन्न कर, रजस् कर्मशील बना कर और तमस् मोह उत्पन्न कर जीव को बांधता है अतः बन्धनकारी रज्जु के बोधक गुण शब्द से उन्हें व्यवहृत किया जाता है, द्रव्य के भौतिक कार्यों से गुण के बन्धनात्मक कार्य का आध्यात्मिक क्षेत्र में एक विशिष्ट महत्त्व है. अतः गुणकार्यकारिता के आधार पर उसे गुण शब्द से व्यवहृत करना अधिक उचित समझा जाता है।

हाँ तो अज्ञान सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों से युक्त होने से त्रिगुणात्मक है, इससे मनुष्य को विषयद्वारक सुख की प्राप्ति होती है, इसके सम्बन्ध से मनुष्य क्रियाशील बनता है और इसके सम्पर्क से ही मोहग्रस्त मी होता है। जो कार्य सांख्य की त्रिगुणात्मक प्रकृति करती है वह कार्य वेदान्त का त्रिगुणात्मक अज्ञान मी करता है किन्तु यह उतना ही नहीं करता, उससे अधिक मी करता है, जैसे सांख्य की

ननु भावत्वमप्यज्ञानस्यानुपपन्नमनादेस्तस्य भावरूपत्वे चिदात्मवद-निवृत्तिप्रसङ्गादनिर्मोक्षापत्तेरित्यत आह—यत्किञ्चिदिति । अयमर्थः । नास्माभिरज्ञानस्य भावत्वं परमार्थसत्त्वाभिप्रायेणोच्यते किन्त्वभाववैलक्षण्याभिप्रायेण । न च भावाभावयोः परस्परप्रतिषेधेऽन्यतरविधिनान्तरीयकत्वात्प्रकारान्तरानुपपत्तिरिति वाच्यम् । स्त्रीपुंप्रकृत्योः परस्परप्रतिस्पर्धिनोर्निषेधे तदन्यस्य नपुंसकस्येव भावाभावान्यस्याज्ञानस्योपपत्तेः । अथ तत्र प्रमाणान्तरेण तृतीया प्रकृतिरुपलभ्यत इति मतं तर्हीहाप्यस्ति प्रमाणं प्रतीतिबाधान्यथानुपपत्तिरिति सन्तोष्टव्यम् । वस्तुतस्तु नात्रास्माकमत्यन्तमाग्रहोऽज्ञाने सर्वानुपपत्तेरलङ्कारत्वात् । तदुक्तम्—

"अविद्याया अविद्यात्वमिदमेव तु लक्षणम् ।
यत्प्रमाणासहिष्णुत्वमन्यथा वस्तु सा भवेत्" ॥ इति,
"सेयं भ्रान्तिर्निरालम्बा सर्वन्यायविरोधिनी ।
सहते न विचारं सा तमो यद्वद्दिवाकरम्" इति च,

इष्टसिद्धावपि—

"दुर्घटत्वमविद्याया भूषणं न तु दूषणम् ।
कथञ्चिद्घटमानत्वेऽविद्यात्वं दुर्घटं भवेत्" ॥ इति ।

तस्मात्सत्त्वेनासत्त्वेन सदसत्त्वेन वा सावयवनिरवयवोभयात्मकत्वेन वा भिन्नाभिन्नोभयरूपत्वेन वा निर्वक्तुमशक्यत्वेनानिर्वचनीयमज्ञानं सवितरि दिवान्धपरिकल्पितान्धकारवद्यत्किञ्चिदिति वदन्ति वृद्धा इति सिद्धम् ॥

प्रकृति सविषयक नहीं होती, वह किसी वस्तु के ज्ञान का प्रतिरोध नहीं करती, किन्तु अज्ञान सविषयक होता है वह अपने विषय का साक्षात्कार नहीं होने देता, प्रकृति पुरुष के सहयोग से सब कुछ करती है पर उसे किसी कार्य के कर्तृत्व से कलङ्कित नहीं करती, किन्तु अज्ञान जो कुछ करता है उसका कर्तृत्व वह स्वयं नहीं लेता किन्तु अपने सहयोगी अपने से उपहित पुरुष के शिर पर कर्तृत्व का मुकुट बांधता है ।

अज्ञान की ज्ञानविरोधिता—

अज्ञान ज्ञानविरोधी है । ज्ञानविरोधी शब्द के दो अर्थ हैं 'ज्ञानस्य विरोधी-ज्ञान को रोकने वाला' और 'ज्ञानं विरोधि यस्य' ज्ञान जिसका विरोधी है, जो ज्ञान से निवृत्त होता है' । अज्ञान का यही स्वरूप है, जिस विषय का अज्ञान होता है, अज्ञान उस विषय के वास्तवस्वरूप का दर्शन नहीं होने देता, एवं जब किसी प्रकार उसके विषय का स्वरूपसाक्षात्कारात्मक ज्ञान हो जाता है तब उस ज्ञान से उसकी निवृत्ति हो जाती है, जैसे रज्जुस्वरूप का अज्ञान सामान्य स्थिति में रज्जुस्वरूप का साक्षात्कार नहीं होने देता किन्तु साहस के साथ, प्रकाश, दण्ड आदि लेकर जब मनुष्य उसके निकट जाकर सावधानी से उसे देखने का प्रयत्न करता हैं तब रज्जुस्वरूप का साक्षात्कार होने पर रज्जुस्वरूप के अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है । ठीक यही स्थिति ब्रह्म के अज्ञान की भी है, वह भी सामान्य स्थिति में ब्रह्म का स्वरूपसाक्षात्कार नहीं होने देता किन्तु

इदानीं यथानिरूपितमज्ञानमेव नास्तीति विवदमानं प्रतिबोधयितुं तत्रानुभवश्रुतिं प्रमाणयति—अहमज्ञ इत्यादिना । अनुभवस्यास्य ज्ञानाभावविषयत्वं प्रतिक्षिप्तम् । निर्विकल्पकघटितप्रतियोगिकस्य ज्ञानसामान्याभावस्य स्वात्मनि प्रत्यक्षायोग्यत्वाच्च । नच भावरूपमप्यज्ञानमात्मनि ज्ञायमाने न ग्रहीतुं शक्यते तस्य ज्ञानविरोधित्वादिति वाच्यं स्वप्रकाशसाक्षिचैतन्येन तस्य विरोधाभावात् । अन्तःकरणवृत्त्यैव तु विरोधादहमज्ञ इत्यहङ्कारगर्भस्य चोल्लेखस्य साक्षिप्रकाशिताज्ञानविषये स्फुटतरव्यवहारमात्रत्वाच्च न काचिदनुपपत्तिरिति भावः । देवस्य स्वयम्प्रकाशस्यात्मनः शक्तिं शक्तिवत्परत्रां स्वगुणैः शुक्लादिभिः सत्त्वादिभिर्वा निगूढामालिङ्गितां ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्निति सम्बन्धः ।

"अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः" ॥,

"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः" ॥

इत्यादिस्मृतिः । प्रत्यगात्मचैतन्यस्य ब्रह्मणो नित्यप्राप्तत्वेन स्वप्रकाशत्वेन चास्ति प्रकाशत इति व्यवहारपुष्कलकारणे सति नास्ति न प्रकाशत इति तद्विपरीतव्यवहारस्यात्मन्यावरणमन्तरेणानुपपत्तिः "श्रोतव्य" इत्यादिविधिनात्मयाथात्म्यज्ञानाय श्रवणादिविधानानुपपत्तिश्चेत्यर्थापत्तिद्वयं चकारेण समुच्चीयते ॥ ६ ॥

मनुष्य जब श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि के सतत सेवन से उसका साक्षात्कार करने को कटिबद्ध होता है तब उन साधनों के पूर्ण होने पर ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर उसकी निवृत्ति हो जाती है ।

अज्ञान की भावरूपता—

वेदान्त के अनुसार अज्ञान भावरूप है, भावरूप होने का अर्थ है अभाव से भिन्न होना, इस प्रकार अज्ञान अभाव भिन्न अर्थ में भावात्मक है, न्याय आदि कतिपय दर्शनों में ज्ञानाभाव को ही अज्ञान कहा गया है, अतः उसकी भिन्नता बताने की दृष्टि से वेदान्त में उसे भावात्मक कहा गया है ।

वेदान्ती विद्वानों का कहना है कि अज्ञान को ज्ञानाभावात्मक मानने पर 'अहम् अज्ञः—मैं अज्ञानवान् हूँ' इस सर्वजनसम्मत प्रत्यक्षानुभव की उपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अभाव के प्रत्यक्ष में प्रतियोगी का ज्ञान और अधिकरण का प्रत्यक्ष कारण होता है, जैसे घटज्ञान और भूतल का प्रत्यक्ष रहने पर ही घट की उपलब्धि न होने पर भूतल में घटाभाव का प्रत्यक्ष होता है, अतः अज्ञान यदि ज्ञानाभावरूप होगा तब उसका प्रत्यक्ष तभी सम्भव हो सकता है जब उसके प्रतियोगी ज्ञान का ज्ञान तथा उसके अधिकरण अहमर्थ आत्मा का प्रत्यक्ष हो. किन्तु जब ज्ञान का ज्ञान और अहमर्थं का प्रत्यक्ष होगा उस समय ज्ञानाभाव ही न रह सकेगा क्योंकि किसी ज्ञान के रहने पर प्रतियोगी और सामान्याभाव में परस्पर विरोध होने से ज्ञानाभाव नहीं रह सकता,

फलत: उस समय ज्ञातव्य ज्ञानाभाव का अस्तित्व न होने से उसका प्रत्यक्ष अनुभव न हो सकेगा, किन्तु यदि अज्ञान भावात्मक होगा तो उसके विषय का साक्षात्कार न होने से उसका कोई विरोधी न होने के कारण उसकी अवस्थिति अक्षुण्ण रहने से साक्षी प्रत्यक्ष द्वारा उसका अनुभव होने में कोई बाधा नहीं हो सकती।

अभाव की यत्किञ्चिद्रूपता—

ग्रन्थकार ने अज्ञान को भावात्मक कहा, ऐसा कहने पर यह प्रश्न हो सकता है कि अज्ञान यदि भावात्मक होगा तो उसका कभी नाश न हो सकेगा क्योंकि अनादि भाव का नाश नहीं होता जैसे न्यायादिमतों में परमाणु, आकाश आदि और वेदान्तमत में ब्रह्म। यदि यह कहा जाय कि अज्ञान को भाव कहने का आशय उसे ब्रह्म के समान परमार्थ सत् या शाश्वत सत् कहने में नहीं है किन्तु ज्ञानाभाव से भेद बताने के लिये अभाव से विलक्षण बताने में है, अज्ञान भावात्मक है इसका अर्थ है अज्ञान अभाव से भिन्न है। यदि तब भी यह प्रश्न हो कि ब्रह्म भी तो अभाव से भिन्न है तो जैसे अभाव-भिन्न अनादि ब्रह्म का नाश नहीं होता, उसी प्रकार अभावभिन्न अनादि अज्ञान का भी नाश नहीं होना चाहिये तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अनादित्वविशिष्ट अभाव-भिन्नत्व से नाशाभाव का आपादन तभी हो सकता है जब उसमें नाशाभाव की व्याप्ति हो, पर वह व्याप्ति असिद्ध है क्योंकि अभावभिन्नत्व की अपेक्षा भावत्व लघु है अत: अनादित्वविशिष्ट भावत्व में ही नाशाभाव की व्याप्ति मान्य है, इसलिये अनादि एवं अभावभिन्न होने से अज्ञान के नाशाभाव का आपादन नहीं हो सकता।

यदि यह कहा जाय कि भाव और अभाव शब्द परस्परविरोधी अर्थ के बोधक हैं, अत: भावभिन्न कहने से अभावरूपता और अभावभिन्न कहने से भावरूपता की प्राप्ति अनिवार्य होने से अज्ञान को अभावभिन्न कहने से अज्ञान की भावात्मकता के ही पुष्ट होने से अनादि भावत्व से उसके नाशाभाव का आपादन सर्वथा सुशक है, तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि जैसे गोत्व और अश्वत्व में विरोध होने पर भी गोत्व के निषेध से अश्वरूपता अथवा अश्वत्व के निषेध से गोरूपता नहीं होती क्योंकि गो और अश्व दोनों से भिन्न गज आदि की उपलब्धि होती है उसी प्रकार भाव और अभाव दोनों से भिन्न अज्ञान की कल्पना की जा सकती है। यदि यह कहा जाय कि गो और अश्व शब्दों से भाव और अभाव शब्दों में अन्तर है क्योंकि वे दोनों शब्द दो स्वतन्त्र भावात्मक अर्थ के बोधक हैं, पर भाव, अभाव शब्द ऐसे नहीं हैं क्योंकि अभाव शब्द भावभिन्न का बोधक है, अत: जैसे गो और अगो कहने से गौ और गौ से भिन्न इन दो वर्गों में समूचे जगत् का समावेश होने से गो, अगो दोनों से भिन्न कोई पदार्थ नहीं होता, क्योंकि अगो के गर्भ में गोभिन्न सम्पूर्ण पदार्थों का समावेश हो जाने से अगो-भिन्न कहने पर गौ का ही बोध होता है उसी प्रकार भाव और भावभिन्न की परिधि में समस्त पदार्थों के आ जाने से इन दोनों से भिन्न कोई नहीं हो सकता, अत एव अज्ञान यदि अभावभिन्न होगा तो वह निश्चय ही भावात्मक होगा अत: अनादि

भावात्मक होने से उसके नाशाभाव की आपत्ति अनिवार्य होगी, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अनादिभावत्व से भी नाशाभाव का आपादन तभी हो सकता है जब अनादि भावत्व में नाशाभाव की व्याप्ति हो, पर विनाशकारणाभावरूप उपाधि से ग्रस्त होने से अनादि भावत्व में नाशाभाव की व्याप्ति असिद्ध है, जैसे जिन पदार्थों का नाश नहीं होता वे विनाशकारण से शून्य होते हैं, उनके विनाश का कोई कारण न होने से ही उनका नाश नहीं होता, किन्तु अज्ञान में यह बात नहीं है क्योंकि अनादि भाव होने पर भी उसके नाश का कारण उसका समानविषयक ज्ञान विद्यमान है, अतः नाशाभाव रूप साध्य का व्यापक और अनादिभावत्वस्वरूप साधन का अव्यापक होने से विनाशकारणाभाव उपाधि हैं, अत एव उपाधिग्रस्त होने से अनादिभावत्व में नाशाभाव की व्याप्ति असिद्ध होने से अनादि भावत्व से अज्ञान के नाशाभाव का आपादन अशक्य है। इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि अज्ञान को अभावभिन्न कहने से उसे भावात्मकता की प्राप्ति भी नहीं हो सकती क्योंकि यह बात तब हो सकती है जब अभाव शब्द का अर्थ हो भावभिन्न, किन्तु घट आदि भावात्मक पदार्थों के घटाभावाभाव आदि रूप होने से उन भावात्मक पदार्थों में भी अभाव शब्द का प्रयोग होने से अभाव शब्द का भावभिन्न अर्थ मान्य नहीं हो सकता, अतः अभावभिन्न अर्थ में अज्ञान को भाव कहने से उसे भावात्मकता की प्राप्ति नहीं हो सकती, वह भाव और अभाव दोनों से भिन्न रूप में उसी प्रकार स्वीकार्य हो सकता है जैसे स्त्री और पुरुष दोनों से भिन्न रूप में नपुंसक स्वीकार्य होता है। प्रश्न हो सकता है कि स्त्री, पुरुष से जो भिन्न होता है उसकी एक स्वतन्त्र प्रकृति होती है जिसके कारण उसे 'नपुंसक' एक ऐसे शब्द से व्यवहृत किया जाता है जिससे उसके भिन्न प्रकृतित्व का बोध होता है, पर अज्ञान की भाव और अभाव दोनों से भिन्न कोई स्वतन्त्र प्रकृति प्रमाणसिद्ध नहीं है, न तो उसके लिये कोई ऐसा शब्द ही प्रसिद्ध है जिससे उसके भिन्न प्रकृतित्व का बोध हो सके, अतः नपुंसक के दृष्टान्त से उसकी स्वीकार्यता का समर्थन कैसे हो सकता है? ग्रन्थकार ने इस प्रश्न का उत्तर देने की दृष्टि से ही उसे 'यत्किञ्चित्' कहा है, जिसका आशय यह है कि अज्ञान न तो भाव है और न अभाव है किन्तु दोनों से विलक्षण कुछ है, यदि भाव तथा अभाव से भिन्न उसकी स्वतन्त्र प्रकृति में कोई प्रमाण नहीं उपलब्ध होता तो यह उसके लिये कोई दोष नहीं हैं अपितु गुण ही है। जिसे वेदान्त के मान्य ग्रन्थों में स्पष्टरूप से घोषित किया गया है, जैसे—

अविद्याया अविद्यात्वमिदमेव तु लक्षणम्।
यत्प्रमाणासहिष्णुत्वमन्यथा वस्तु सा भवेत्॥

(वृहदारण्यक वार्तिक १८१)

प्रमाण का सहन न कर सकना, प्रमाण से प्रतिष्ठापित न हो सकना ही अविद्या का लक्षण है, यही उसका अविद्यापन है। यदि वह प्रमाणसिद्ध हो जाय तब तो अपना अविद्यात्व खो कर वह वस्तु ही बन जाय, अवस्तु क्यों रहे।

एवम्—दुर्घटत्वमविद्याया भूषणं न तु दूषणम् ।
कथंचिद् घटमानत्वेऽविद्यात्वं दुर्घटं भवेत् ॥ (इष्टसिद्धि)

अविद्या के स्वरूप की दुर्घटता–दुष्प्रतिपाद्यता–प्रमाण द्वारा दुरुपपादता अविद्या के लिये शोभा की बात है, यह उसके लिये कोई दोष नहीं है, क्यों कि किसी प्रकार यदि उसका स्वरूप सुघट हो जाय, किसी उचित शब्द से उसका प्रतिपादन हो जाय, प्रमाण द्वारा उसका उपपादन हो जाय तो उसका अविद्यात्व ही समाप्त हो जाय क्यों कि अविद्या-अज्ञान का अर्थ ही है कि जिसकी विद्या, जिसका ज्ञान प्रमाणपरिपुष्ट न हो वही अविद्या है, वही अज्ञान है ।

अज्ञान का लक्षण—

ग्रन्थकार ने जिन शब्दों से अज्ञान का परिचय दिया है, उन्हीं से उसके लक्षण की सूचना मिलती है, उसके अनुसार उसका एक यह लक्षण हो सकता है कि जो 'सत्' एवं 'असत्' रूप में अनिर्वाच्य हो, ज्ञान-विरोधी हो, त्रिगुणात्मक हो, साथ ही भावात्मक हो वह अज्ञान है । लक्षण के प्रथम अंश में 'सत्' रूप से अनिर्वाच्यत्व को न रखने पर उत्तर ज्ञान से नाश्य पूर्ववर्ती यथार्थ ज्ञान में और 'असत्' रूप में अनिर्वाच्यत्व को न रखने पर यथार्थ ज्ञान से निवर्तनीय मिथ्याज्ञान में अतिव्याप्ति हो सकती है, किन्तु दोनों अंशों के रखने पर यह दोष नहीं हो सकता क्यों कि यथार्थज्ञान 'सत्' रूप में और मिथ्याज्ञान 'असत्' रूप में निर्वाचित-व्यवहृत होता है ।

दूसरा अंश न रखने पर प्रथम अंश का प्रमाभ्रमविलक्षण अर्थ लेकर आत्मा में लक्षण की अतिव्याप्ति हो सकती है, किन्तु उसके रखने पर आत्मा के ज्ञानाश्रय होने से ज्ञानविरोधी न होने के कारण उसमें अतिव्याप्ति नहीं हो सकती ।

तीसरा अंश न रखने पर वेदान्तमतानुसार ब्रह्म में अतिव्याप्ति हो सकती है क्यों कि वह भ्रम, प्रमा से विलक्षण, ज्ञान का आश्रय न होने से ज्ञान का बिरोधी भाव है, किन्तु तीसरे अंश को रखने पर ब्रह्म के निर्गुण होने से उसमें अतिव्याप्ति नहीं हो सकती ।

चौथे अंश को लक्षण से पृथक् कर देने पर ज्ञान के प्रागभाव में अतिव्याप्ति हो सकती है क्यों कि वह भी प्रमा, भ्रम से विलक्षण एवं ज्ञानविरोधी होते हुये किसी अर्थ में त्रिगुणात्मक भी हो सकता है ।

उक्त लक्षण के सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि उसके शरीर में प्रविष्ट विभिन्न अंशों का विभिन्न अर्थ लेने से ही उनकी सार्थकता होती है, किन्तु इन अंशों के जो वेदान्तसम्मत अर्थ हैं उनके अनुसार उन सबों की सार्थकता नहीं हो सकती । अतः वेदान्त के दृष्टिकोण से लक्षण का विचार करने पर ग्रन्थकार के शब्दों से तीन लक्षणों का लाभ होता है, जो 'सत्' और 'असत्' रूप में अनिर्वाच्य हो (१) जो त्रिगुणात्मक हो (२) जो ज्ञानविरोधी भाव हो (३) वह अज्ञान है । वेदान्तमत में ब्रह्म, अज्ञान और अज्ञानजन्य अज्ञानात्मक जगत् ये तीन ही प्रकार के पदार्थ हैं, इनमें ब्रह्मात्मा त्रही

उक्त लक्षण का अलक्ष्य है जिसमें उक्त लक्षणों में कोई भी लक्षण अतिव्याप्त नहीं होता अन्य दोनों पदार्थ उक्त लक्षणों के लक्ष्य हैं और उन दोनों प्रकार के सभी पदार्थों में उक्त सभी लक्षण पहुँचते हैं अत: वे कहीं अव्याप्त भी नहीं हैं।

अज्ञान में प्रमाण—

ग्रन्थकार ने अज्ञान को सिद्ध करने वाले दो प्रमाणों का उल्लेख किया है, एक है 'अहमज्ञः—मैं अज्ञानवान् हूँ' यह प्रत्यक्ष अनुभव और दूसरा है 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्—देव–ब्रह्म से अभिन्न आत्मा की एक शक्ति है जो अपने गुणों से वेष्टित है' यह शक्ति त्रिगुणात्मक अज्ञान ही है।

इन प्रमाणों में पहले के सम्बन्ध में कुछ चर्चा की जा चुकी है, किन्तु विचार करने पर वह अज्ञान को सिद्ध करने में पूर्णतया सफल नहीं हो पाता, क्यों कि किसी पामर को भी अपनी निर्विशेष अज्ञता का अनुभव नहीं होता, कोई भी व्यक्ति अपने को सर्वथा मूर्ख अनुभव नहीं करता, अत: 'अहमज्ञः' की व्याख्या यह करनी होगी कि मैं अमुक विषय में अज्ञ हूँ, मुझे अमुक विषय का अज्ञान है, इस लिये 'अहमज्ञः' इस अनुभव से अज्ञान–सर्वविषयक अज्ञान अथवा ज्ञानसामान्याभाव को सिद्ध करने की आशा दुराशामात्र है, फलत: 'अहमज्ञः' इस अनुभव से किसी विशेष विषय का ही अज्ञान सिद्ध होगा, जो भावात्मक न होकर विषयविशेष के ज्ञान का अभावरूप होगा।

यदि यह कहा जाय कि यदि उक्त अनुभव की 'अहं घटं न जानामि—मैं घट विषयक अज्ञान का आश्रय हूँ' ऐसे किसी विषय विशेष के अज्ञान को ग्रहण करने वाले अनुभव के रूप में व्याख्या की जायगी तो उसी से भावात्मक अज्ञान की सिद्धि होगी क्योंकि उसे भी घटज्ञानाभावविषयक नहीं माना जा सकता, क्यों कि घटज्ञानाभाव का अनुभव भी अभाव अंश में प्रतियोगी के रूप में घटज्ञान का ग्राहक होने से घटज्ञान के ज्ञान की अपेक्षा करेगा, और उक्त अनुभव के पूर्व जब घटज्ञान का ज्ञान रहेगा तब उक्त ज्ञानरूप घटज्ञान के रहने से घटज्ञानाभाव के न रह सकने से घटज्ञानाभाव का भी प्रत्यक्ष अनुभव न हो सकेगा, किन्तु उक्त अनुभव को घट के भावात्मक अज्ञान का ग्राहक मानने पर उसकी अनुपपत्ति नहीं होगी क्योंकि अज्ञान के ग्राहक साक्षी से उसके विशेषण रूप में घट का ज्ञान सम्भव होने से घट के भावात्मक अज्ञान के अनुभव में कोई बाधा नहीं हो सकती, तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि उक्त अनुभव को घटज्ञानाभाव का ग्राहक मानने में जो बाधा बताई गई वह उचित नहीं है क्योंकि घटज्ञान का ज्ञान सामान्य रूप से ही घट को विषय करता है और उक्त अनुभव उसी को होता है जिसे विशेष रूप से घट का ज्ञान नहीं होता, अत: सामान्य रूप से घटका ज्ञान रहने पर भी विशेष रूप से घट के ज्ञान का अभाव सम्भव होने से उस अभाव को ग्रहण करने वाले उक्त अनुभव का होना नितान्त निष्कण्टक है।

यदि यह कहा जाय कि 'घटं न जानामि' इस अनुभव को विशेष रूप से घटज्ञान के अभाव का ग्राहक नहीं माना जा सकता क्योंकि यह घटज्ञानत्वरूप सामान्य

धर्म से घटज्ञान के अभाव को ग्रहण करता है और यह नियम है कि सामान्य धर्म से विशेष के अभाव का ग्रहण नहीं होता, अन्यथा घटत्वरूप से तद्घट के अभाव का ज्ञान सम्भव होने पर तद्घट से शून्य किन्तु अन्य घट से युक्त भूतल में 'निर्घटं भूतलं— भूतल घटसामान्याभाववान् है, इस प्रकार के प्रमात्मक ज्ञान की आपत्ति का वारण अशक्य होगा, तो यह ठीक नहीं है क्योंकि 'घटं न जानामि' इस वाक्य में घट शब्द घटसामान्यपरक न होकर घटविशेषपरक है अत: इस वाक्य से घटज्ञानत्वरूप सामान्य धर्म से घटविशेषज्ञान के अभावानुभव का उल्लेख नहीं होता किन्तु घट-विशेषज्ञानत्वरूप से ही घटविशेषज्ञान के अभाव का उल्लेख होता है, संक्षेप की दृष्टि से 'घटविशेषं न जानामि' न कह कर 'घटं न जानामि' कह दिया जाता है।

इसी प्रकार 'नीलं घटं न जानामि' यह अनुभव भी नीलघटज्ञानत्वरूप से नीलघटज्ञान के अभाव को ग्रहण नहीं करता किन्तु नीलत्वप्रकारक घटविशेष्यक ज्ञानत्व रूप से नीलघटज्ञान के अभाव को ग्रहण करता है अत: उसके पूर्व नीलघट-ज्ञान की अपेक्षा न होने से उसके होने में कोई बाधा नहीं हो सकती, क्योंकि पूर्वानुभूत नीलघटज्ञान का नीलत्वप्रकारक घटविशेष्यकज्ञानत्व रूप से स्मरण होने से 'नीलो घट:' इस ज्ञान के अभावकाल में 'नीलं घटं न जानामि' यह अनुभव निर्बाध रूप से सम्पन्न हो सकता है, जिसे 'नीलो घट:' यह ज्ञान कभी नहीं हुआ है उसे भी यदि 'नीलं घटं न जानामि' यह यथाश्रुत अनुभव होना मान्य हो तो इसमें भी कोई बाधा नहीं हो सकती क्योंकि नीलपट आदि के ज्ञान में नीलत्वप्रकारकत्व और रक्तादि घट के ज्ञान में घटविशेष्यकत्व का अनुभव होने से नीलत्वप्रकारकत्व और घट-विशेष्यकत्व का स्मरण होने पर उक्त दोनों धर्मों से ज्ञान का उल्लेख करते हुए उक्त अनुभव के होने में कोई बाधा नही है।

'त्वदुक्तम् अर्थं न जानामि - तुम्हारे शब्द से प्रतिपाद्य अर्थ को नहीं जानता' यह ज्ञान भी तुम्हारे शब्द से प्रतिपाद्य रूप से तुम्हारे शब्द से प्रतिपाद्य के ज्ञानाभाव को ग्रहण कर उपपन्न हो सकता है क्योंकि जिस वक्ता के शब्द से प्रतिपाद्य अर्थ का प्रतिपाद्यतावच्छेदकरूप स जिस व्यक्ति को ज्ञान नही होता वही व्यक्ति उस वक्ता को 'त्वदुक्तम् अर्थं न जानामि' इस वाक्य से अपने ज्ञानाभाव का ज्ञापन करता है।

'सुप्तोऽहं न किञ्चिद् अवेदिषम्—सोते समय मैं कुछ न जान सका' सोकर उठे हुये व्यक्ति को जो यह ज्ञान होता है यह भी सुप्तावस्था में विद्यमान ज्ञानाभाव को विषय कर उपपन्न हो सकता है, क्योंकि जिसे यह ज्ञान होता है उसे अन्य सुप्त व्यक्तियों में उनकी निश्चेष्टता से उनके ज्ञानाभाव का ज्ञान होकर सुषुप्ति मे ज्ञानाभाव की व्याप्ति ज्ञात रहती है अत: उसे अपनी सुषुप्ति से अपनी सुषुप्तिसमय के ज्ञानाभाव की अनुमिति हो सकती है, सुप्तोत्थित व्यक्ति का उक्त शब्द उसकी इस अनुमिति का ही उल्लेख करता है, उक्त अनुमिति सुप्तोत्थित व्यक्ति को अशक्य तब होती जब उसे सुषुप्ति में ज्ञानाभाव की व्याप्ति का तथा अपनी सुषुप्ति का ज्ञान न होता किन्तु यह

दोनों ज्ञान उसे सुलभ हैं क्योंकि उक्त व्याप्ति सुप्त व्यक्तियों के माध्यम से सुज्ञेय है और अपनी सुषुप्ति भी सोने के पूर्व किये गये कार्य से अतिरिक्त अपने किसी नये कार्य की उपलब्धि न होने से सुज्ञेय है।

फलतः उक्त रीति से विचार करने पर प्रत्यक्ष द्वारा भावात्मक अज्ञान की सिद्धि दुर्घट जान पड़ती है, इसीलिये वेदान्तियों द्वारा महा-अविद्या-अनुमान का प्रयोग करके भावात्मक अज्ञान को सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है, वह प्रयोग इस प्रकार है—

विमतं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावव्यतिरिक्त, स्वविषयावरण, स्वनिवर्त्य, स्वदेशगत, वस्त्वन्तरपूर्वकम् अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वात् अन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीपप्रभावत्—जिस प्रमाणजन्य ज्ञान में भावात्मक अज्ञानपूर्वकत्व का विवाद है, वह अपने पूर्व में ऐसी वस्तु के विद्यमान रहने पर उत्पन्न होता है जो उसके प्रागभाव से भिन्न है, उसके विषय का आवरण है, उससे निवर्तनीय है और उसके आश्रय देश में अवस्थित होता है, जैसे अन्धकार में उत्पन्न प्रदीप की पहली प्रभा। स्पष्ट है कि प्रभा अपने पूर्व में अन्धकार के विद्यमान रहने पर उत्पन्न होती है और अन्धकार प्रभा के प्रागभाव से भिन्न, प्रभा से प्रकाश्य का आवरण, प्रभा से निवर्तनीय और प्रभा के आश्रय में प्रथमतः विद्यमान होता है अतः जैसे अपने पूर्व अप्रकाशित घट आदि को प्रकाशित करने वाली उक्त प्रभा अपने पूर्व उक्त प्रकार की वस्तु के विद्यमान होने पर उत्पन्न होती है उसी प्रकार विवादास्पद प्रमाणजन्य ज्ञान को भी अप्रकाशित अर्थ का प्रकाशक होने से अपने पूर्व उक्त प्रकार की किसी वस्तु के विद्यमान होने पर ही उत्पन्न होना उचित है। ऐसी जो वस्तु होगी वह भावात्मक अज्ञान से अन्य नहीं हो सकती।

उक्त अनुमान के विषय में यह प्रश्न उठ सकता है कि उक्त अनुमान में जिस रूप से साध्य उपात्त हैं उसमें स्वत्व का प्रवेश है और स्वत्व ऐसा अनुगत धर्म नहीं है जो पक्ष और दृष्टान्त दोनों में रह सके, अतः दृष्टान्त में रहने वाले स्वत्व को साध्य का घटक बनाने पर पक्ष में साध्य का अभाव होने से बाध तथा पक्ष में रहने वाले स्वत्व को साध्य का घटक बनाने पर दृष्टान्त में साध्य का अभाव होने से दृष्टान्तासिद्धि होगी, इसलिये उक्त अनुमान से अज्ञान का साधन दुर्घट है, तो इस दोष का परिहार करने के लिये अनुमान के प्रतिज्ञा वाक्य को इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है कि "विमत प्रमाणजन्य ज्ञान स्वनिष्ठभेदप्रतियोगिप्रागभावप्रतियोगित्व, स्वावृतविषयकत्व, स्वनिवर्तकत्व, स्वदेशवृत्तित्व इन चार सम्बन्धों से वस्त्वन्तर से युक्त है" इन सम्बन्धों में स्वशब्द से साध्य को—वस्त्वन्तर को ग्रहण करना है और सम्बन्ध के शरीर में स्वत्व का प्रवेश नहीं है, उसका उल्लेख केवल इस बात के सूचनार्थ है कि इन सम्बन्धों से साध्य को पक्ष में रखना है। स्पष्ट है कि अन्धकार में जो प्रदीपप्रभा पहले उत्पन्न होती है उसमें अन्धकाररूप वस्त्वन्तर उक्त चार सम्बन्धों से रहता है, जैसे अन्धकार उक्त प्रभा के प्रागभाव से भिन्न है अतः अन्धकारनिष्ठ भेद के प्रतियोगी प्रागभाव का प्रतियोगित्व उक्त प्रभारूप दृष्टान्त में रहने से उसमें अन्धकार का पहला

सम्बन्ध है। प्रभा अन्धकार का निवर्तक है अतः प्रभा में अन्धकार का दूसरा सम्बन्ध है, अन्धकार प्रभा से प्रकाश्य विषय को आवृत करता है अतः प्रभा में अन्धकार का तीसरा सम्बन्ध है, प्रभा अन्धकार से युक्त स्थान में उत्पन्न होती है अतः उसमें अन्धकार का चौथा सम्बन्ध है, अतः जैसे अप्रकाशित अर्थ का प्रकाशक होने से उक्त प्रभा उक्त चार सम्बन्धों से वस्त्वन्तर—अन्धकार से युक्त है उसी प्रकार अप्रकाशित अर्थ का प्रकाशक होने से विमत प्रमाणज्ञान को भी उक्त चार सम्बन्धों से वस्त्वन्तर से युक्त होना आवश्यक है, ऐसा जो वस्त्वन्तर सिद्ध होगा वह भावात्मक अज्ञान ही हो सकता है।

हेतु के भी विषय में यदि यह प्रश्न उठे कि पक्ष अथवा दृष्टान्त कोई भी अप्रकाशित अर्थ का प्रकाशक नहीं होता क्योंकि उन दोनों से जब अर्थ प्रकाशित होता है तब वह अप्रकाशित कैसे कहा जा सकता है। दूसरी बात यह कि उक्त दृष्टान्त तभी सुलभ हो सकता है जब कोई ऐसा पदार्थ प्रमाणसिद्ध हो जो अन्धकार में ही उत्पन्न होता हो और प्रदीप की प्रभा से ही सर्वप्रथम प्रकाशित होता हो, किन्तु ऐसी वस्तु सन्देहग्रस्त है अतः सन्दिग्ध दृष्टान्त के बल पर अनुमान की मान्यता नहीं हो सकती, तो स्व के पूर्व स्व से अप्रकाशित अर्थ के प्रकाशकत्व को अथवा इस प्रकार के प्रकाशकत्व सम्बन्ध से वस्तु को हेतु के रूप में प्रयुक्त कर उस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता है, क्योंकि यह हेतु उस प्रदीप प्रभा में सुलभ है जो अन्धकार को निरस्त कर किसी अर्थ को प्रकाशित करती है क्योंकि इस प्रभा से प्रकाश्य अर्थ उसके उदय के पूर्व उससे अप्रकाशित रहता है।

उक्त रीति से अज्ञानसाधक उक्त अनुमान की उपपत्ति यद्यपि किसी प्रकार की जा सकती है किन्तु विचार की सूक्ष्मता में उतरने पर अन्य प्रकार की और कठिनाइयां उपस्थित होने की सम्भावना है अतः ग्रन्थकार ने यह समझ कर कि अज्ञान की भावात्मकता का त्राण उसे श्रुति का कवच पहना करके ही किया जा सकता है, 'देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्' इस श्रुति का उल्लेख कर यह संकेत दिया है कि उपनिषदों में ऐसे अनेक वचन उपलब्ध होते हैं जिनकी व्याख्या भावात्मक अज्ञान के द्वारा ही की जा सकती है। जैसे 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्' (ईश० १५) इसमें सत्य-ब्रह्म के आच्छादक रूप में जिस हिरण्मय पात्र की चर्चा की गई है वह भावात्मक अज्ञान से अन्य नहीं हो सकता, एवं 'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः' (कठ, २, ५,) इस श्रुतिभाग में पण्डितंमन्यों को जिस अविद्या के मध्य में वर्तमान बताया गया है, वह भी भावात्मक अज्ञान से भिन्न नहीं हो सकती, इसी प्रकार 'तरति शोकम् आत्मविद्' (छान्दो० ७।३) इस श्रुत्यंश में आत्मज्ञान से जिस शोक को तरने की बात कही गई है वह आत्मा का भावात्मक अज्ञान ही हो सकता है, अन्य कुछ नहीं। 'त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयति'. (प्रश्न० ६।८) इस श्रुतिवचन में जिस अविद्या के अन्तिम छोर तक तारने की बात

इदमज्ञानं समष्टिव्यष्ट्यभिप्रायेणैकमनेकमिति च व्यवह्रियते। तथाहि यथा वृक्षाणां समष्ट्यभिप्रायेण वनमित्येकत्वव्यपदेशो यथा वा जलानां समष्ट्यभिप्रायेण जलाशय इति तथा नानात्वेन प्रतिभासमानानां जीवगताज्ञानानां समष्ट्यभिप्रायेण तदेकत्वव्यपदेशोऽजामेकाम्" इत्यादिश्रुतेः ।

ननु "अजामेकां", "इन्द्रो मायाभिः" इति श्रुतिभ्य एकत्वानेकत्वयोरज्ञाने विप्रतिपत्तौ कः समाधिरिति विवक्षाया माह—इदमिति । व्यष्टिर्विशेषः समष्टिः सामान्यम् । व्यवह्रियते श्रुत्यादिष्विति शेषः । अयं भावः । यो यदनुरक्तबुद्धिविषयो नियतः स तदात्मको यथा मृदनुरक्तबुद्धिविषयो घटो मृदात्मको दृष्टः । तथा सामान्यानुरक्तबुद्धिविषया विशेषाः सामान्यात्मका इति युक्तम् । सामान्यविशेषयोरत्यन्तभेदे गवाश्ववत्सामान्यविशेषभावानुपपत्तेः । भेदाभेदौ त्वेकस्मिन्नप्रामाणिकौ वस्तुनो द्वैरूप्यानुपपत्तेः । अभेदपक्षे तु कथाचिद्भेदकल्पनया सामान्यविशेषव्यवहारोपपत्तेः समुद्रतरङ्गादिवज्जलतरङ्गचन्द्रादिवद्वा । तथा चाज्ञानस्यैकस्यैव सतः सामान्यविशेषभावेनैकानेकत्वव्यवहारः श्रौतो न विरुध्यत इति । एतदेव दृष्टान्तैरुपपादयितुमुपक्रमते—तथाहीत्यादिना । "पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः । पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्", "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय" इति मन्त्रद्वयानुसारेणाज्ञानतत्कार्यावच्छिन्नोऽज्ञानतत्कार्यप्रतिबिम्बितो वा चिदात्मा जीवेश्वरभावं भजत इति मतद्वयमुपरुध्य दृष्टान्तद्वयोपादानमिति सर्वत्र वनवृक्षजलाशयजलकीर्तनाभिप्रायो बोद्धव्यः ॥

कही गई है. वह भी भावात्मक अज्ञान से भिन्न नहीं उपपन्न हो सकती, 'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् । एतद् यो वेद निहितं गुहायां, सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य" (मुण्डक १।१०) इस वाक्य में जिस अविद्या की गाँठ को नष्ट करने की चर्चा है वह भी भावात्मक अज्ञान के रूप में ही व्याख्यात हो सकती है ।

उक्त प्रकार के ऐसे सैकड़ों वचन यद्यपि उपनिषदों में प्राप्य हैं जिनसे भावात्मक अज्ञान का अस्तित्व प्रमाणित किया जा सकता है, तथापि वास्तविकता यही है कि लक्षण और प्रमाण द्वारा समर्थनीय न होने पर भी स्वयं प्रतीत होना और जगत् को प्रतीति का विषय बनाना ही अविद्या-अज्ञान का कथंचित् कथनीय स्वरूप है ।

अनुवाद—

इस अज्ञान को समष्टि—समूह के अभिप्राय से एक और व्यष्टि-व्यक्ति के अभिप्राय से अनेक कहा जाता है, जैसे अनेक वृक्षों को समष्टि की दृष्टि से एक वन और प्रभूत जल को समष्टि की दृष्टि से एक जलाशय कहा जाता है, उसी प्रकार अनेक

नानात्वेन इत्यादेरयमर्थः । अज्ञानं किं ब्रह्मनिष्ठमुत जीवनिष्ठम् । नाद्यो नित्यशुद्धत्वादिस्वभावविरोधात् । न द्वितीयोऽन्योन्याश्रयात् । तथाहि । अज्ञानमित्युक्ते कस्य किंविषयमित्याश्रयविषयसापेक्षताप्रतीतेर्न निराश्रयमज्ञानमस्तीति प्रतिपत्तुं शक्यम् । तस्य च जीवाश्रयत्वे जीवभावस्याप्यज्ञानाधीनत्वात्सिद्धे जीवभावेऽज्ञानस्य साश्रयत्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ च जीवत्वसिद्धिरिति कथं नान्योन्याश्रयः । नन्वनादित्वादज्ञानजीवभावप्रवाहस्य बीजाङ्कुरवन्नान्योन्याश्रय इति चेन्मैवं क्रमभाव्यनेकबीजाङ्कुरव्यक्तिवदनेकाज्ञानजीवव्यक्तीनां सत्त्वे प्रमाणाभावात् । ननु "सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति", "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्" इत्यादिश्रुतिभ्यः सुषुप्तिप्रलययोर्जीवस्य परमात्मैकभावापत्तिश्रवणात्पुनः प्रबोधसर्गयोर्जीवभावापत्तेरवगम्यमानत्वाच्च तदा तद्विभागहेतोः संस्काररूपस्याज्ञानस्यापि कल्प्यमानत्वात्कथं न बीजाङ्कुरन्यायः प्रामाणिक इति चेत्तत्किमिदानीं सुषुप्त्यादिकाले जीवस्य जीवत्वं नास्तीति विवक्षितम् । हन्त तर्हि कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गो युक्तानामपि संसारित्वप्रसङ्गश्च दुर्वारः स्यादविशेषात । किञ्च सुषुप्त्यादावज्ञानसद्भावे तस्य ब्रह्माश्रितत्वप्रसङ्गोऽसद्भावे सुप्तानां पुनरनुत्थानप्रसङ्गः । "ते इह व्याघ्रो वा सिंहो वा" इत्यादिसत्सम्पत्तिवाक्यशेषासङ्गतिप्रसङ्गश्चेत्यसमञ्जसमेतत् । अथाज्ञानजीवयोः स्वरूपेणैवा-

प्रतीत होने वाले जीवगत अज्ञान को समष्टि की दृष्टि से एक अज्ञान कहा जाता है, जीवगत अनेक अज्ञान को एक अज्ञान के रूप में व्यवहृत किये जाने का संकेत 'अजामेकाम्' (श्वेता० ४।५) इस श्रुति से प्राप्त होता है ।

व्याख्या—

अज्ञान का विषय—

अज्ञान की चर्चा होते हा सर्वप्रथम यह प्रश्न उठता है कि अज्ञान किसका ? उत्तर में वेदान्तियों का कहना है कि अज्ञान ब्रह्म का, वह इसलिये कि ब्रह्म एक ऐसा प्रकाश है जो किसी अन्य प्रकाश के विना ही प्रकाशमान होता है तथा अन्य सब का प्रकाशक होता है, अतः उसे यदि अज्ञान से आवृत न माना जायगा तो जैसे आवरणमुक्त प्रदीप स्वयं प्रकाशमान होते हुये समीपस्थ अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है उसी प्रकार निरावरण होने पर ब्रह्म का सर्वदा स्वयं स्फुरण होना चाहिये तथा वेदान्त मत के अनुसार उसमें कल्पित जगत् का उस प्रकाश से सतत सन्निधान होने के कारण उसका सदैव प्रकाश होना चाहिये, पर ऐसा नहीं होता, अतः उसे अज्ञान का विषय मानना आवश्यक है । ब्रह्म से अन्य जो कुछ प्रतीत होता है वह सब जड़ अज्ञान का कार्य होने से जड़ है, अतः उसका स्वयं प्रकाश नहीं होता, अपितु उसके प्रकाश के लिए अनावृत प्रकाश का सन्निधान अपेक्षित होता है, इसलिये अज्ञान से उसका आवरण मानने की आवश्यकता न होने से जगत् की जड़ वस्तुओं को अज्ञान का विषय नहीं

नादितयाश्रयाश्रयिभावस्य नित्यसिद्धत्वान्नान्योन्याश्रय इति मतं तदपि न ब्रह्मण्यज्ञानाभावप्रसङ्गात् । नायमिष्टप्रसङ्गः "सोऽकामयत", "तदात्मानं स्वयमकुरुत" इत्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मणि जगत्कारणे कामयितृत्वादेरज्ञानकार्यस्य श्रूयमाणत्वात् । न च दृष्टिगतपीतिम्नः शङ्खे समारोपवज्जीवगताज्ञानविक्षेपस्य कामयितृत्वादेस्तद्विषये ब्रह्मणि समारोपः श्रुत्या कीर्त्यत इति वाच्यम् । तथा सति जीवानामेव जगत्सर्गस्थितिलयोपादानत्वात् "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यादिब्रह्मसामानाधिकरण्यं जगतः श्रूयमाणमेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानं च पीड्येत । जीवस्य ब्रह्माभेदात्सर्वमेवोपपद्यत इति न कश्चिद्दोष इति चेत्तर्हि जीवपक्षपातं परित्यज्य ब्रह्मण एव जगत्स्रष्टृत्वादि यथाश्रुतं स्वीकर्तव्यम् । विना तस्याज्ञानाश्रयत्वं कूटस्थस्य न कामयितृत्वादीत्युक्तं तस्य च जीवाद्विभक्तस्यात्राज्ञानाश्रयत्वे तत्रापि स्यादन्योन्याश्रयः । ननु ब्रह्मणि जगत्कारणत्वादिनिर्वाहकमज्ञानं मायाशब्दवाच्यमन्यदेव जीवगतकर्तृत्वाद्यवभासहेतुभ्योऽज्ञानेभ्योऽविद्याशब्दवाच्येभ्य इति चेन्न । मायाविद्ययोः श्रुतिस्मृतिसूत्राभियुक्तवचनैरेकत्वस्य वृद्धैर्निरूपितत्वात् । अनिर्वचनीयत्वे सति तत्त्वावभासप्रतिबन्धविपर्ययावभासहेतुत्वस्य लक्षणस्य तुल्यत्वादविद्याभेदे च

माना जाता । घट, पट आदि पदार्थों में जो अज्ञातत्व का व्यवहार होता है वह उन पदार्थों के अज्ञान का विषय होने से नहीं होता किन्तु जिस प्रकाशात्मक चैतन्य में घट, पट आदि कल्पित होता है घट, पट आदि से अवच्छिन्न उस चैतन्य के अज्ञान का विषय होने से होता है ।

अज्ञान का आश्रय—

अज्ञान के सम्बन्ध में दूसरा प्रश्न यह होता है कि अज्ञान किसको ? अज्ञान का आश्रय कौन ? इस प्रश्न के उत्तर में भी वेदान्तियों का कहना है कि अज्ञान का आश्रय भी ब्रह्म ही है, क्योंकि जीव को अज्ञान का आश्रय मानने में अन्योन्याश्रय है, यतः अज्ञान का आश्रय होने के लिये जीव की अपेक्षा है और जीव होने के लिये अज्ञान का आश्रय होना अपेक्षित है, जीव और अज्ञान को अनादि मान कर भी अन्योन्याश्रय का परिहार नहीं किया जा सकता, क्योंकि जीव की अनादिता जीवत्व की अनादिता पर निर्भर है और जींवत्व जब अनादि होगा तो अज्ञान का नाश होने पर भी उसकी निवृत्ति न हो सकने से जीव का मोक्ष न हो सकेगा, क्योंकि जीवत्व ही मुख्य बन्धन है । और यदि जीवत्व को अज्ञानमूलक मान कर अज्ञाननाश से उसकी निवृत्ति का उपपादन किया जायगा तो जीवत्व की निष्पत्ति के पूर्व अज्ञान को अनाश्रित अथवा ब्रह्माश्रित मानना होगा. फलतः दोनों ही स्थितियों में यह जीवाश्रित न होगा, क्योंकि जीवभाव के पूर्व वह यदि अनाश्रित या ब्रह्माश्रित होगा तो बाद में भी अनाश्रित या ब्रह्माश्रित रह सकता है । यही सब कारण है जिससे जीव को उसका आश्रय न मानकर ब्रह्म को ही उसका आश्रय मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है ।

कल्पनागौरवदोषात्। एकाविद्यापक्षेऽप्यनन्तविक्षेपशक्तिकल्पनया जाग्रत्स्वप्न-बन्धमोक्षरशनाभुजङ्गादिव्यवहारव्यवस्थोपपत्तेः। न चात्रापि कल्पनागौरवं समानं धर्मिभेदकल्पनातो धर्मभेदकल्पने लाघवात्। इत्यास्तां विस्तरः॥

अतश्चिन्मात्रनिष्ठमज्ञानं तच्च जीवब्रह्मविभागहेतुर्ब्रह्मणो जगत्स्रष्टृत्वादेर्जीवस्य कर्तृत्वादेश्च हेतुरित्यङ्गीकर्तव्यम्। न च चिन्मात्रस्य स्वप्रकाशत्वादज्ञानाश्रयत्वविरोधः। जीवपक्षेऽपि तुल्यत्वादन्तःकरणपरिणामोपहितस्येव चैतन्यस्याज्ञानविरोधित्वात्। न च ज्ञानवदज्ञानस्याप्येकाश्रयविषयत्वानुपपत्तिरावरकत्वेनापवरकस्थतमोवत्तदुपपत्तेः। तदुक्तमभियुक्तैः—

"आश्रयत्वविषयत्वभागिनीनिर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमा नाश्रयो भवति नापि गोचरः"॥ इति।

तस्मादेकमज्ञानं चिन्मात्राश्रयविषयमिति स्थिते जीवावस्थायामेवाहमज्ञ इति स्फुटतरव्यवहारात्तदपेक्षया जीवगताज्ञानानामित्युक्तमिति। अनयैव दिशा

"जीवाश्रया ब्रह्मपदा ह्यविद्या तत्त्वविन्मता"।

इति प्राचां वचनं योजनीयम्॥

ननु नानात्वेन प्रतिभासमानानां जीवानामेकाज्ञानोपाधिकत्व एकमुक्तौ सर्वमुक्तिप्रसङ्ग इति चेन्नायं दोष एकस्यैव जीवत्वादितरेषां तद्दृष्टिविजृम्भि-

ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है, अतः वह अज्ञान का विरोधी होने से उसका आश्रय कैसे हो सकता है, यह शङ्का ठीक नहीं है क्योंकि शुद्ध ब्रह्मचैतन्य अज्ञान का विरोधी नहीं होता किन्तु वृत्ति से उपहित ब्रह्मचैतन्य ही अज्ञान का विरोधी होता है। अतः अनुपहित चैतन्य को अज्ञान का आश्रय होने में कोई बाधा नहीं है।

जीव को अज्ञान का आश्रय न मान कर ब्रह्म को आश्रय मानने पर 'अहमज्ञः' इस प्रकार अहमर्थ जीव में अज्ञान का अनुभव नहीं हो सकता, यह आपत्ति भी नहीं उठायी जा सकती क्योंकि अज्ञान का आश्रयभूत ब्रह्म ही अहमर्थ जीव है, जीव उससे भिन्न नहीं है, अज्ञान का यही कौशल है कि वह अपने विषय को 'ब्रह्म' पद और अपने आश्रय को 'जीव' पद प्रदान करता है। एक ही तत्त्व अज्ञान के विषयत्व और आश्रयत्व को पाकर ब्रह्म और जीव इन दो रूपों में विभक्त हो जाता है।

अज्ञान एक है—

उक्त रीति से जब अज्ञान का विषय और आश्रय एक है तब यह सम्भव नहीं है कि अज्ञान अनेक हो क्योंकि आश्रय किंवा विषय के भेद से ही उसका भेद हो सकता है, अतः आश्रय तथा विषय में भेद न होने से अज्ञान एक ही है, और जब अज्ञानात्मक उपाधि एक ही है तब उससे उपहित जीव भी एक ही है। जीव का नानात्व उस एक जीव की ही कल्पना है।

ग्रन्थकारका मत—

अज्ञान के विषय में जो बातें बतायी गईं वे ग्रन्थकार को मान्य नहीं प्रतीत होतीं क्योंकि उन्होंने उसे समष्टि के अभिप्राय से एक तथा व्यष्टि के अभिप्राय से अनेक

तत्वेन ततोऽनतिरेकात्। तर्हि कोऽसौ जीवो यद्दृष्टिविजृम्भितं जीवान्तरमिति चेद्यः पश्यति स एव। अहं तु संसारिणमात्मानमन्यांश्च मद्विधान् जीवान्पश्यामीति चेत्तर्हि त्वमेव जीवस्त्वविद्यया वयमन्ये च जीवा बद्धा मुक्ताः सुखिनो दुःखिन इत्येवं विचित्राः कल्पितास्तवाब्रह्मसाक्षात्कारमविसंवादिताः प्रतिभासन्ते स्वप्न इवाप्रबोधम्। जाते तु ब्रह्मात्मसाक्षात्कारे सर्वमेव त्वद्दृष्टिविजृम्भितं त्वया सह मोक्षिष्यते त्वत्सुषुप्ताविवेति। इयांस्तु पुनर्विशेषः। सुषुप्तावस्त्यज्ञानं सर्वकार्यसंस्कारोपरञ्जितं पुनर्व्यवहारप्रवर्तकं मुक्तौ तु तस्य ज्ञानेन बाधितत्वात्पुनर्व्यवहाराभावः। इत्यलं प्रसङ्गागतप्रपञ्चेन ॥

वनवृक्षयोर्जलाशयजलयोर्वा सामान्यविशेषभावो नास्तीति यद्यपि दार्ष्टान्तिकेन वैषम्यं तथापि समुदायसमुदायिनोरेकत्वे दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साम्यात्सर्वांशेन च साम्यस्याविवक्षितत्वान्न कश्चिद्दोष इति गमयितव्यम्। अज्ञानैकत्वव्यपदेशिनीं श्रुतिं पठति—अजामेकामिति। आदिपदात् "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्", "तरत्यविद्यां विततां", "अक्षरात्परतः परः" "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतं", "तम आसीत्तमसा गूढं" इत्याद्येकवचनान्तश्रुत्यन्तरग्रहः ॥

बताते हुए 'जीवगताज्ञानानां' कह कर उसके ब्रह्मनिष्ठ तथा एक होने में अपनी असम्मति व्यक्त की है, उनका आशय यह है कि अज्ञान का आश्रय ब्रह्म नहीं किन्तु जीव है, उसे जीवाश्रित मानने में जो अन्योन्याश्रय दोष बताया गया वह विचार करने पर नहीं उपपन्न होता क्योंकि अन्योन्याश्रय दोष उत्पत्ति, ज्ञप्ति और स्थिति के ही सम्बन्ध में होता है जो जीव को अज्ञान का आश्रय मानने पर नहीं प्रसक्त होता, जैसे उत्पत्ति में अन्योन्याश्रय उन्हीं पदार्थों में होता है जो अपनी उत्पत्ति में परस्परसापेक्ष होते हैं, जीव और अज्ञान दोनों अनादि हैं अतः उनमें उत्पत्तिगत अन्योन्याश्रय की सम्भावना नहीं हो सकती, ज्ञप्तिगत अन्योन्याश्रय भी उन्हीं पदार्थों में होता है जो अपने ज्ञान में एक दूसरे के ज्ञान की अपेक्षा रखते हैं, जीव और अज्ञान ऐसे पदार्थ नहीं हैं क्योंकि अज्ञान के ज्ञान में जीवसाक्षी की अपेक्षा होने पर भी जीव के ज्ञान में अज्ञान की अपेक्षा नहीं होती क्योंकि वह ब्रह्मचैतन्य से अभिन्न होने के कारण स्वप्रकाश है, स्थितिगत अन्योन्याश्रय भी उन्हीं पदार्थों में होता है जो अपनी स्थिति मे परस्परसापेक्ष होते हैं किन्तु जीव और अज्ञान की स्थिति में परस्परसापेक्षता नहीं है क्योंकि अज्ञान की स्थिति के लिये आश्रय रूप में जीव की अपेक्षा होने पर भी जीव की स्थिति के लिये अज्ञान की अपेक्षा नहीं है क्योंकि जीव आश्रयनिरपेक्ष है।

अतः अन्योन्याश्रय दोष न होने से जीव ही अज्ञान का आश्रय है और जब जीव अज्ञान का आश्रय है तब जीवरूप आश्रय के अनेक होने से जीवाश्रित अज्ञान

इयं समष्टिरुत्कृष्टोपाधितया विशुद्धसत्त्वप्रधाना। एतदुपहितं चैतन्यं सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्वनियन्तृत्वादि गुणकमव्यक्तमन्तर्यामी जगत्कारणमीश्वर इति च व्यपदिश्यते सकलाज्ञानावभासकत्वात्। "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" इति श्रुतेः।

एकमेवाज्ञानं समष्टिव्यष्टिभेदभिन्नं परिकल्प्य समष्ट्यज्ञानोपधाननिबन्धनं चैतन्यव्यवहारं वक्तुं समष्टिं विशिनष्टि—इयमिति। उत्कृष्टस्योपाध्यन्तराननुरक्ततयाप्रतिहतज्ञानात्मकस्य चैतन्यस्योपाधितया विशुद्धं रजस्तमोभ्यामनभिभूतं सत्त्वं प्रधानं यस्याः सा तथाविधेयं समष्टिरित्यर्थः। समष्ट्यज्ञानोपहितचैतन्यस्य व्यपदेशभेदं दर्शयति—एतदिति। परमार्थतोऽसङ्गस्यापि चैतन्यस्याध्यासिकसम्बद्धाज्ञानद्वारा सर्वावभासकत्वेन सर्वमर्यादाधारकसत्तारूपत्वेन सर्वजीवप्रवर्तकत्वेन च लब्धसर्वज्ञत्वादिगुणकस्य सदव्यक्तमन्तर्यामीश्वर इत्यादिव्यपदेशो भवतीत्यर्थः। उक्तेऽर्थे हेतुमाह—सकलेति। सकलाज्ञानं समष्ट्यज्ञानम्। अवभासकत्वशब्दो विधारकत्वादेरप्युपलक्षणार्थः। सर्वविक्षेपसंस्कारवत्त्वादज्ञानस्य सत्कार्यवादाश्रयणाचाव्याकृताद्यवस्थास्वपि समष्ट्यज्ञानस्य सर्वत्वमिति द्रष्टव्यम्। उक्तव्यपदेशिकां श्रुतिमाह—यः सर्वज्ञ इति। सर्वज्ञः सामान्यतः सर्वविद्विशेषत इति भेदः। आदिशब्दात् "सदेव सोम्येदं", "एष सेतुर्विधरणः", "एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः", "महतः परमव्यक्तं", "यतो वा इमानि", "यः परः स महेश्वरः" इत्यादि-

---

का भी अनेक होना स्वाभाविक है, इसलिये ग्रन्थकार द्वारा बहुवचनान्त अज्ञान शब्द से अज्ञान का निर्देश किया जाना तथा समष्टि के अभिप्राय से ही उसे एक बताया जाना सर्वथा संगत है, साथ ही यह भी संगत है कि 'अजामेकाम्' यह श्रुति भी समष्टि के अभिप्राय से ही अविद्या-अज्ञान के एकत्व का प्रतिपादन करती है।

यदि यह शंका की जाय कि जीव के अनेक होने स अज्ञान को अनेक कहना उचित नहीं है क्योंकि जीव की अनेकता के अज्ञानात्मक उपाधि की अनेकता पर निर्भर होने से उक्त कथन अन्योन्याश्रय से ग्रस्त हो जाता है, तो इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि जीव और अज्ञान के स्वरूप के समान उन दोनों की अनेकता भी अनादि है, किसी की भी अनेकता अन्य की अनेकता पर निर्भर नहीं है।

जीव और ब्रह्म का ऐक्यज्ञान जीवगत अज्ञान के समान जीवभाव का भी निवर्तक होता है क्योंकि उसकी निवृत्ति के विना दोनों का ऐक्य नहीं हो सकता अतः उसके मोक्ष में भी कोई बाधा नहीं है।

अनुवाद—

अज्ञान की समष्टि उत्कृष्ट उपाधि है, अतः उसमें विशुद्ध सत्त्व गुण का प्राधान्य है, इस उपाधि से युक्त चैतन्य सर्वज्ञ, सर्वेश्वर; सर्वनियन्ता, अव्यक्त, अन्तर्यामी,

ईश्वरस्येयं समष्टिरखिलकारणत्वात्कारणशरीरमानन्दप्रचुरत्वात्कोशवदाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोशः सर्वोपरमत्वात्सुषुप्तिरत एव स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते ।

श्रुत्यन्तरग्रह: । उपाहृतस्य व्यपदेशमुक्त्वोपाधेरपि तं सहेतुकमाह—अस्येयमिति । अज्ञानमिदंशब्दार्थः । आनन्दप्रचुरत्वमुपहितधर्म आच्छादकत्वमज्ञानधर्मः । तदुभयाविवेकात्कारणमज्ञानमानन्दमयकोश इत्यर्थः । सर्व आकाशादय उपरमन्तेऽस्मिन्निति सर्वोपरमोऽज्ञानम् । तादृग्भावात्सुषुप्तिर्महासुषुप्तिः प्रलय इति यावत् । यतः सर्वोपरमत्वमत एवेति योजना । स्थूलप्रपञ्चो विराट् सूक्ष्मप्रपञ्चो हिरण्यगर्भः ॥

जगत्कारण और ईश्वर कहा जाता है क्योंकि इससे उपहित चैतन्य सम्पूर्ण अज्ञान का अवभासक होता है, यह बात 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्—जो सर्वज्ञ और सर्ववेत्ता है' इस श्रुति से सिद्ध है ।

व्याख्या—

वेदान्तमत में शुद्ध ब्रह्मचैतन्य ही एक अकल्पित सत्य तत्त्व है, अन्य सब कुछ अज्ञान द्वारा कल्पित है, यहाँ तक कि जो सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वनियन्ता, अन्तर्यामी तथा जगत् का कारण है, वह ईश्वर भी अज्ञानकल्पित है, क्योंकि अज्ञानसमष्टि से उपहित ब्रह्मचैतन्य ही ईश्वर है, उससे पृथक् उसका अस्तित्व नहीं है। यह कहा जा चुका है कि अज्ञान सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों से युक्त है अतः अज्ञान जब समष्टि रूप में होता है तब प्रत्येक अज्ञान का सत्त्व मिल कर रजस् और तमस् को अभिभूत कर प्रधान हो जाता है और सत्त्व के प्रधान होने से उसकी ग्रहणशक्ति बढ़ जाती है अतः ग्रहण की अधिकाधिक शक्ति से समृद्ध अज्ञानसमष्टि के सम्पर्क से ब्रह्मचैतन्य अत्यधिक उद्दीप्त होकर सभी अज्ञानों को तथा उनके सभी कार्यों को उद्भासित करने लगता है, अतः उसके सर्वज्ञता, सर्वेश्वरत्व, सर्वनियन्तृता आदि धर्मों का प्राकट्य हो जाता है, वह सभी अज्ञानों से सम्पृक्त होने के कारण सब के भीतर अवस्थित होकर सब का प्रेरक होने से सर्वान्तिर्यामी हो जाता है, सभी अज्ञान के कार्यों का अधिष्ठान होने से अज्ञान के कार्यरूप समस्त जगत् का कारण हो जाता है और इन्हीं सब विशेषताओं तथा जीव के भले बुरे कार्यों का फलदाता होने के कारण वह ईश्वर शब्द से व्यवहृत होने लगता है। 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' यह श्रुति अज्ञानसमष्टि से उपहित चैतन्यरूप ईश्वर को 'सर्वज्ञ' शब्द से सामान्य रूप से सबका ज्ञाता और 'सर्ववित्' शब्द से विशेष रूप से सब का ज्ञाता बताती है, जिसका आशय यह होता है कि अज्ञानात्मक उपाधि की सामान्य एवं विशेष रूप से होने वाली सम्पूर्ण ज्ञानात्मक वृत्तियां अज्ञानसमष्टि से उपहित चैतन्य में उत्पन्न होकर उसे सर्वज्ञ और सर्ववेत्ता बनाती हैं।

अज्ञानसमष्टि उत्कर्षयुक्त उपाधि के अर्थ में किंवा उत्कृष्ट ईश्वर की उपाधि के अर्थ में उत्कृष्टोपाधि कही जाती है।

यथा वनस्य व्यष्टयभिप्रायेण वृक्षा इत्यनेकत्वव्यपदेशो यथा वा जलाशयस्य व्यष्टयभिप्रायेण जलानीति तथाऽज्ञानस्य व्यष्टयभिप्रायेण तदनेकत्वव्यपदेश "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयत" इत्यादिश्रुतेः। अत्र व्यस्तसमस्तव्यापित्वेन व्यष्टिसमष्टिताव्यपदेशः।

एवं समष्ट्यज्ञानं साभासं सव्यपदेशं निरूप्य व्यष्ट्यज्ञानमपि सदृष्टान्तं तथा निरूपयति—यथा वनस्येत्यादिना। कैवमनेकत्वव्यपदेशोऽज्ञानस्येति तदाह—इन्द्र इति। इन्द्रः परमेश्वरः प्रकरणात्। स मायाभिर्मायाविक्षेपशक्तिभिर्विक्षिप्तेषु देहेन्द्रियान्तःकरणेषु प्रतिबिम्बितः पुरुरूपो बहुरूपः सन्नीयते प्रकाशत इति श्रुत्यर्थः। आदिशब्दात् "य एको जालवानीशत ईशिनीभिः" इत्यादिश्रुत्यन्तरग्रहः। एकस्मिन्नज्ञाने व्यष्टिसमष्टिशब्दप्रयोगे निमित्तमाह—अत्रेति। अज्ञानं सप्तम्यर्थः। व्यस्तव्यापित्वेन कार्योपाधिजीवव्यापित्वावभासेन व्यष्टिताव्यपदेशः। समस्तव्यापित्वेन कारणोपाधिसर्वज्ञा-

---

अनुवाद—

ईश्वर की उपाधिरूप यह अज्ञानसमष्टि सम्पूर्ण कार्यों का कारण हैं अतः इसे कारण शरीर कहा जाता है, इसमें सत्त्व की प्रधानता होने से आनन्द की बहुलता होती है और यह असि को ढकने वाले कोश के समान ब्रह्मज्ञान को ढकती है अतः इसे आनन्दमय कोश कहा जाता है। इस समष्टि में ही सब कार्यों का उपरम-अवसान होता है अतः इसे सुषुप्ति कहा जाता है और समस्त कार्यों का उपरमस्थल होने से ही इसे स्थूल और सूक्ष्म सभी प्रकार के सम्पूर्ण जगत् का लयस्थान कहा जाता है।

जैसे वन को व्यष्टि-व्यक्ति के रूप में बुद्धिगत कर 'इमे वृक्षाः—यह बहुत से वृक्ष हैं' इस प्रकार एक वन को अनेक वृक्ष के रूप में व्यवहृत किया जाता है और जलाशय को व्यष्टि के रूप में बुद्धिस्थ कर 'इमानि जलानि—यह बहुत सा जल है।' इस प्रकार एक जलाशय को अनेक जल के रूप में व्यवहृत किया जाता है, उसी प्रकार अज्ञानसमष्टि को व्यष्टिरूप में ग्रहण करने पर उसे अनेक अज्ञान के रूप में व्यवहृत किया जाता है, इस बात को एक श्रुति बहुवचनान्त माया शब्द से अज्ञान का निर्देश कर समर्थन देती है वह श्रुति इस प्रकार है। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते (ऋग्वेद ६।४७।१८)—इन्द्र-एक परमात्मा ब्रह्म अनेक माया-अज्ञान के सम्पर्क से पुरुरूप—अनेकरूप हो जाता है।' इस वेदभाग मे स्पष्ट है कि इन्द्र-ब्रह्म एक है, माया-अज्ञान अनेक है, अनेक अज्ञानरूप उपाधियों से युक्त होने के कारण एक ही ब्रह्म अनेक जीव के स्वरूप में अवभासित होता है! व्यस्त, समस्त में व्याप्त होने से अज्ञानको व्यष्टि समष्टि का व्यवहार होता है।

व्याख्या—

यह ज्ञातव्य है कि अज्ञान का जो व्यष्टि और समष्टि रूप में व्यवहार होता है वह उसकी वास्तव एकता और अनेकता के कारण नहीं होता क्योंकि उसके अनिर्वच-

इयं व्यष्टिर्निकृष्टोपाधितया मलिनसत्त्वप्रधाना। एतदुपहितं चैतन्यमल्पज्ञत्वानीश्वरत्वादिगुणकं प्राज्ञ इत्युच्यत एकाज्ञानावभासकत्वात्। अस्य प्राज्ञत्वमस्पष्टोपाधितयानतिप्रकाशकात्वत्। अस्यापीयमहङ्कारादिकारणत्वात्कारणशरीरमानन्दप्रचुरत्वात्कोशवदाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोशः सर्वोपरमत्वात्सुषुप्तिरत एव स्थूलसूक्ष्मशरीरप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते ॥७॥

विभक्तसर्वव्यापित्वेन समष्टिताव्यपदेश इत्यर्थः। निकृष्टोपाधितयेति। ज्ञानप्रतिबन्धकावरणवान् जीवो निकृष्टस्तस्तोपाधितयेत्यर्थः। मलिनं रजस्तमोभ्यामभिभूतं सत्त्वं प्रधानं यस्याः सा तथा। रजस्तमसोः स्वातन्त्र्येण प्रतिविम्बोद्ग्राहकत्वायोगादिति भावः। एतदुपहितं व्यष्ट्यज्ञानोपहितम्। एकाज्ञानावभासकत्वात्। अज्ञानैकदेशावभासकत्वादिति यावत्। व्यष्ट्यज्ञानोपहितस्य प्राज्ञशब्दवाच्यत्वे कारणमाह—अस्येति। अस्य जीवस्यास्पष्टोपाधितया रजस्तमोभ्यामभिभूतसत्त्वप्रधानव्यष्ट्यज्ञानोपाधिकत्वेन हेतुनातिप्रकाशकत्वाभावात्प्राज्ञशब्दवाच्यत्वमित्यर्थः। प्रायेणाज्ञः प्राज्ञ इत्युक्तं भवति। पूर्ववदुपहितस्य व्यपदेशमुक्त्वोपाधेरप्याह—अस्यापीति। अपिशब्द ईश्वरोपाधिदृष्टान्तार्थः। अहङ्कारादेः सुषुप्त्याद्यवस्थायां संस्कारावशेषेण स्थितस्य कारणत्वादित्यर्थः। आनन्दप्रचुरत्वादेवेत्येवकारः कोशवदाच्छादकत्वादिति हेत्वन्तरसमुच्चयार्थः। यद्वा आनन्दप्रचुरत्वाद्धेतोरेवेति भिन्नक्रमः। तस्मिन्पक्षे कोशवदाच्छादकत्वादित्यनुषञ्जनीयम्। सर्वशब्दो जाग्रत्स्वप्नविषयः। शेषमतिरोहितार्थम्॥ ७॥

नीय होने के नाते उसकी एकता अथवा अनेकता का युक्ति, प्रमाण द्वारा समर्थन दुर्घट है किन्तु व्यस्त—एक एक अन्तःकरण रूप उपाधि से युक्त एक एक जीव—व्यक्ति में व्याप्त होकर अवभासित होने से व्यष्टिरूप में और समस्त—एक मूलाज्ञानरूप उपाधि से युक्त एक ईश्वर में व्याप्त होकर अवभासित होने से समष्टिरूप में उसका व्यवहार होता है। यह ध्यान देने योग्य है कि व्यष्टि, समष्टि के रूप में अज्ञान के व्यवहार का उक्त रूप से प्रतिपादन करने से पूर्व में उक्त इस बात का संशोधन हो जाता है कि अज्ञान की अनेकता अनादि है, क्योंकि नये प्रतिपादन से उसकी व्यष्टिरूपता एवं समष्टिरूपता का आधार बदल जाता है।

अनुवाद—

यह व्यष्टि निकृष्ट उपाधि है अतः इसमें मलिन-रजस् और तमस् से अभिभूत सत्त्वगुण की प्रधानता होती है, इससे उपहित चैतन्य अल्पज्ञ और अनीश्वर होता है, इसे एक अज्ञान का अवभासक होने से प्राज्ञ कहा जाता है, इसकी उपाधि अस्पष्ट होने से अधिक प्रकाशक नहीं होती अतः यह प्रकृष्ट-अज्ञ अर्थ में प्राज्ञ होता है।

तदानीमेतावीश्वरप्राज्ञौ चैतन्यप्रदीप्ताभिरतिसूक्ष्माभिरज्ञान-वृत्तिभिरानन्दमनुभवत "आनन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञ" इति श्रुतेः सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषमित्युत्थितस्य परामर्शोपपत्तेश्च। अनयोः समष्टिव्यष्टयोर्वनवृक्षयोरिव जलाशयजलयोरिव वाऽभेदः। एतदुपहितयोरीश्वरप्राज्ञयोरपि वनवृक्षावच्छिन्नाकाशयोरिव जलाशय-जलगतप्रतिबिम्बाकाशयोरिव वाऽभेद "एष सर्वेश्वर" इत्यादि-श्रुतेः ॥ ८ ॥

"सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति" इत्यादिश्रुतेः सुषुप्तौ प्राज्ञस्येश्वर-सम्पत्त्यवगमात्प्राज्ञेश्वरयोरेकत्वं तदवस्थयोरप्यव्याकृतसुषुप्त्योरेकत्वं सिद्ध-वत्कृत्यानयोस्तदवस्थापन्नं भोगं दर्शयति—तदानीमिति। तयोरप्यवस्थयो-र्जीवावच्छेदकस्य व्यष्टयज्ञानस्य केनापि रूपेण स्थितत्वादेतावित्यादिद्विवचनो-पादानं सर्वात्मनैक्ये पुनरुत्थानानुपपत्तेः। आनन्दं स्वरूपानन्दमनुभवतः।

अनुवाद—

उस सुषुप्ति अवस्था में ये ईश्वर और प्राज्ञ चैतन्य से उद्दीप्त की गई अज्ञान की अत्यन्त सूक्ष्म वृत्तियों से आनन्द का अनुभव करते हैं, यह बात 'आनन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञः—प्राज्ञ चेतोमुख—अज्ञानवृत्ति प्रधान होकर आनन्द का भोक्ता होता है' (माण्डूक्य० ५) इस श्रुति से तथा 'मैं सुख से सोया, अन्य कुछ न जान सका' सोकर उठे पुरुष के इस स्मरण से सिद्ध है। इस अज्ञानसमष्टि और अज्ञानव्यष्टि में वन और वनस्थ वृक्ष तथा जलाशय और जलाशयस्थ जल के समान अभेद है, इनसे उपहित ईश्वर और प्राज्ञ में भी वनावच्छिन्न तथा वृक्षावच्छिन्न आकाश एवं जलाशय तथा जल में प्रतिबिम्बित आकाश के समान अभेद है, यह बात भी 'एष सर्वेश्वरः—यह सबका ईश्वर है' (माण्डूक्य० ६) इस श्रुति से सिद्ध है।

व्याख्या—

जीव की यह उपाधि भी अहंकार आदि का कारण होती है, इसलिये इसे कारण शरीर कहा जाता है, इसमें भी आनन्द की प्रचुरता होती है और कोश से असि के समान इससे भी ब्रह्म चैतन्य का आच्छादन होता है अतः इसे आनन्दमय कोश कहा जाता है, इसमें भी इसके समस्त कार्यों का उपरम होता है अतः इसे सुषुप्ति कहा जाता है, और सब का उपरमस्थल होने के नाते ही इसे भी स्थूल, सूक्ष्म-शरीर आदि प्रपञ्च का लयस्थान कहा जाता है।

व्यष्टिभूत अज्ञान यतः एकाकी होता है अतः इसका सत्त्वगुण अन्य सत्त्वगुण की सहायता न पा सकने से अपने सहवर्ती रजस् और तमस् गुणों से अभिभूत होकर मलिन-दुर्बल पड़ जाता है, फिर भी उसकी प्रधानता रहती है क्योंकि जीवचैतन्य से इसको बल मिलता है, इस उपाधि का अंशभूत सत्त्व यतः मलिन होकर प्राधान्य प्राप्त

आनन्दशब्दोऽज्ञानतत्साक्षिणोरप्युपलक्षणपरः । तदानीमखण्डात्मस्वरूप-चैतन्येनैवानन्दाद्यनुभवेऽभ्युपगम्यमाने स्वरूपस्य नित्यत्वात्तज्जन्यसंस्कारा-भावेनावस्थान्तरे स्मरणरूपपरामर्शानुपपत्तेस्तदनुकूलमुपाधिविशेषं कल्पयति-अज्ञानवृत्तिभिरिति । अन्तःकरणादेरप्यज्ञानकार्यत्वेन तदात्मकत्वात्तदभिप्रायोऽज्ञानशब्दो माभूदिति विशिनष्टि—अतिसूक्ष्माभिरिति । दुर्लक्ष्यत्वमति-सूक्ष्मत्वम् । तासां वृत्तीनां जडत्वात्कथं ताभिरानन्दाद्यनुभव इत्यत आह—चैतन्येति । चैतन्यव्याप्ताभिरित्यर्थः । तथा च वृत्तिविनाशात्तद्विशिष्टचैतन्य-स्यापि विनाशात्संस्कारजन्यं स्मरणमवस्थान्तरे सम्भवतीति भावः । तत्र प्रमाणमाह—आनन्दभुगिति । चेतोमुखश्चैतन्यदीप्ताज्ञानवृत्तिप्रधानः ।

करता है तथा अन्य सत्त्वगुण के सहयोग से वञ्चित रहता है अतः अपने अंशी केवल एक ही अज्ञान और उसके कार्यों का ही प्रकाश कर पाता है, इसीलिये इससे उपहित जीव ईश्वर की अपेक्षा अत्यन्त अल्प विषयों का ज्ञाता होने से प्राज्ञ-प्रकृष्ट अज्ञ होता है, इसमें ज्ञान का प्रकर्ष-आधिक्य न होकर अज्ञान का ही प्रकर्ष होता है ।

यह उपाधि अपने द्वारा उपहित जीव में अहंकार आदि को उत्पन्न करती है, तथा इसके सम्पर्क में जीव सतत शीर्ण-क्षीण होता रहता है अतः इसे कारणशरीर शब्द से अभिहित किया जाता है ।

इसमें भी इन्द्रिय और विषयों का विक्षेप न होने से आनन्द की विपुलता होती है अतः यह आनन्दमय होती है और ब्रह्मचैतन्य का आच्छादक होने से उसका कोश होती है ।

पञ्चभूतात्मक व्यावहारिक स्थूलशरीर का एक-एक भूतमात्रात्मक सूक्ष्म-शरीर में और सूक्ष्म शरीर का स्वप्नकालोत्पन्न प्रपञ्च में लय के क्रम से व्यष्टि-अज्ञानरूप जीवोपाधि में उससे उत्पादित सम्पूर्ण प्रपञ्च का उपरम होता है अतः यह उपाधि सुषुप्तिरूप तथा स्थूल, सूक्ष्म सभी शरीरप्रपञ्च के लय का स्थान होती है ।

व्यष्टिअज्ञान को निकर्ष-हीनता से युक्त उपाधि के अर्थ में किंवा ईश्वर की अपेक्षा निकृष्ट-हीन जीव की उपाधि के अर्थ में निकृष्टोपाधि कहा जाता है ।

ईश्वर की सुषुप्ति को प्रलय कहा जाता है क्योंकि ईश्वर की सुषुप्ति तभी होती है जब उसकी उपाधि अज्ञानसमष्टि में स्थूल, सूक्ष्म सभी प्रकार के सम्पूर्ण प्रपञ्च का लय हो जाता है, उस समय ईश्वर चैतन्य से प्रदीप्त हुई अज्ञान की अतिसूक्ष्म वृत्तियों से आनन्द का अनुभव करता है । प्राज्ञ जीव भी अपनी सुषुप्ति के समय स्थूल, सूक्ष्म सभी प्रकार के शरीर प्रपञ्च का लय हो जाने पर अज्ञान की चैतन्यप्रदीप्त अति सूक्ष्म-वृत्तियों से आनन्द का अनुभव करता है, सुषुप्ति के समय अज्ञानवृत्ति से जीव को आनन्द का अनुभव होना 'आनन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञ-प्राज्ञः—जीव चेतोमुख होकर चैतन्य उद्दीप्त अज्ञानवृत्तियों से युक्त होकर आनन्द का भोग–अनुभव करता है' (माण्डूक्य ५) इस श्रुति से सिद्ध है । सोकर उठे हुये जीव को ऐसा स्मरण होता है कि 'मैं सुख से

वनवृक्षतदवच्छिन्नाकाशयोर्जलाशयजलतद्गतप्रतिबिम्बाका-

आदिशब्दात्—

सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति ॥

इत्यादिश्रुत्यन्तरग्रहः। तत्रैवानुभवमपि प्रमाणयति—सुखमिति। न चायं सुखपरामर्शो दुःखाभावविषयस्तस्य तत्राननुभूतत्वात्तदनुभवसामग्र्याश्च निरूपयितुमशक्यत्वात्। विस्तृतं चैतद्वृद्धैरित्युपरम्यते संग्रहाधिकारात्। उक्तोपाध्योस्तदुपहितयोश्च प्राक्सिद्धवत्कृतमभेदं विशदयति—अनयोरिति। प्राज्ञेश्वरयोरभेदे श्रुतिं प्रमाणयति—एष सर्वेश्वर इति। आदिपदात् "अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत" इत्यादिश्रुत्यन्तरग्रहः ॥ ८ ॥

प्राज्ञेश्वरात्मकस्य चैतन्यस्योपहितत्वेऽनुपहितं चैतन्यमन्यदेवेत्यर्थादुक्तेः किं तदित्यपेक्षायां तत्स्वरूपसंज्ञे दर्शयति—वन इति। आधारश्चासावनुपहित-

सोया, सोते समय किसी अन्य वस्तु का ज्ञान नहीं हुआ।' यह स्मरण सुषुप्तिसमय के सुख और अज्ञान को विषय करता है, अतः यह मानना आवश्यक है कि सुप्तजीव को सुख और अज्ञान का अनुभव होता है, क्योंकि सुषुप्ति के समय सुख तथा अज्ञान का अनुभव न होने पर उक्त स्मरण नहीं हो सकता क्योंकि स्मरण के प्रति समानविषयक पूर्वानुभव कारण होता है और जब यह मानना आवश्यक है कि सुप्तजीव को सुख एवं अज्ञान का अनुभव होता है तब यह मानना भी अनिवार्य है कि उस समय अज्ञान की चैतन्यप्रदीप्त वृत्ति से ही सुख एवं अज्ञान का अनुभव होता है क्योंकि उस समय जीव की उपाधि व्यष्टि-अज्ञान में स्थूल, सूक्ष्म सभी शरीरप्रपञ्च का लय हो जाने से अन्तःकरण के विद्यमान न होने के कारण उसकी वृत्ति सम्भव नहीं है। अतः उक्त स्मरण की अन्यथानुपपत्ति अथवा उक्त स्मरणलिङ्गक अनुमान इस बात में प्रमाण है कि जीव अपनी सुषुप्ति के समय अज्ञानवृत्ति से अपने स्वरूपानन्द का तथा अपने उपाधिभूत अज्ञान का अनुभव करता है।

समष्टि अज्ञान और व्यष्टि अज्ञान के विषय में इस तथ्य को दृष्टिगत रखना आवश्यक है कि जैसे वन और वृक्ष में तथा जलाशय और जल में अभेद होता है उसी प्रकार उक्त अज्ञानों में भी अभेद होता है, एवं ईश्वर और प्राज्ञ के विषय में भी इस सत्य को ध्यानगत रखना आवश्यक है कि जैसे वनावच्छिन्न और वृक्षावच्छिन्न आकाश में एवं जलाशय में प्रतिबिम्बित और जल में प्रतिबिम्बित आकाश में अभेद होता है उसी प्रकार अज्ञानसमष्टिसे उपहित ईश्वर और अज्ञानव्यष्टि से उपहित प्राज्ञ-जीव में भी अभेद है। यह बात 'एष सर्वेश्वरः' (माण्डूक्य ६) जीव सर्वेश्वर से अभिन्न है। इस श्रुति से सिद्ध है।

अनुवाद—

वन तथा वृक्ष से अवच्छिन्न आकाश एवं जलाशय तथा जल में प्रतिबिम्बित

शयोर्वाधारभूतानुपहिताकाशवदनयोरज्ञानतदुपहित चैतन्ययोराधारभूतं यदनुपहितं चैतन्यं तत्तुरीयमित्युच्यते "शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्त" इत्यादिश्रुतेः। इदमेव तुरीयं शुद्धचैतन्यमज्ञानादितदुपहितचैतन्याभ्यां तप्तायःपिण्डवदविविक्तं सन्महावाक्यस्य वाच्यं विविक्तं सल्लक्ष्यमिति चोच्यते ॥ ९ ॥

श्वासावाकाशश्च स तथा तद्वदिति यावत्। यद्यप्याकाशस्य वनाश्रयत्वं जलाशयाश्रयत्वं वा नास्ति तदनारम्भकत्वात्तथाप्यवकाशमन्तरेण तयोः स्थित्यनुपपत्तेस्तदाधारत्ववचनमिति द्रष्टव्यम्। अस्य चैतन्यस्य तुरीयत्वं वक्ष्यमाणविश्वाद्यपेक्षयेति द्रष्टव्यम्। तत्र प्रमाणमाह—शिवमिति। आदिपदात्—

"त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः" ॥

इत्यादिश्रुत्यन्तरग्रहः। अध्यारोपेण व्यासक्तचित्ततया प्रकरणार्थविस्मरणं माभूदिति प्रसङ्गात्तमाह—इदमेवेति ॥ ९ ॥

आकाश के आधारभूत अनुपहित आकाश के समान अज्ञान की समष्टि और व्यष्टि से उपहित चैतन्य का जो आधारभूत अनुपहित चैतन्य है वह 'द्वैतशून्य शिव-चैतन्य को विद्वान् लोग चतुर्थ मानते हैं' इस आशय की श्रुति के अनुसार तुरीय-चतुर्थ कहा जाता है। यही तुरीय शुद्ध चैतन्य अज्ञान आदि तथा उससे उपहित चैतन्यों से तपे हुये लौह-गोलक के समान अविविक्त-उपाधियों से मुक्त न रहने पर महावाक्य 'तत्त्वमसि' का वाच्य अर्थ तथा विविक्त-उपाधियों से मुक्त होकर लक्ष्य कहा जाता है।

व्याख्या—

जैसे वन और वृक्ष तथा वन से अवच्छिन्न आकाश और वृक्ष से अवच्छिन्न आकाश एवं जलाशय और जल तथा जलाशय में प्रतिबिम्बित आकाश और जल में प्रतिबिम्बित आकाश का अनुपहित महाकाश आधार होता है और वनाकाश, वृक्षाकाश तथा वृक्ष के अवयव शाखा आदि से अवच्छिन्न आकाश एवं जलाशयाकाश, जलाकाश तथा जलतरङ्गाकाश इन तीनों की अपेक्षा तुरीय-चतुर्थ आकाश कहा जाता है, उसी प्रकार अज्ञानसमष्टि से उपहित ईश्वर चैतन्य तथा अज्ञानव्यष्टि से उपहित जीव चैतन्य का आधारभूत अनुपहित चैतन्य ईश्वर, सूत्रात्मा–हिरण्यगर्भ तथा विराट् इन तीन समष्टि उपहित चैतन्यों की अपेक्षा एवं प्राज्ञ, तैजस तथा विश्व इन तीन व्यष्टि उपहित चैतन्यों की अपेक्षा तुरीय-चतुर्थ कहा जाता है, चैतन्य की यह तुरीयता 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते (माण्डूक्य ७) वेदान्तवेत्ता द्वैतशून्य–अनुपहित शिव-चैतन्य को चतुर्थ चैतन्य मानते हैं, इस श्रुति से सिद्ध है।

यह तुरीय चैतन्य अज्ञानसमष्टि और उससे उपहित चैतन्य, एवं अज्ञान-व्यष्टि और उससे उपहित चैतन्य से अविविक्त-अभिन्न होकर 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य का वाच्य कहा जाता है और उनसे विविक्त-भिन्न होकर उसका लक्ष्य कहा जाता है। स्वरूपदृष्टि से 'तत्त्वमसि' इस लघुवाक्य को भी अखण्ड ब्रह्म के साक्षात्कार रूप महान् फल का साधक होने से अथवा अखण्ड ब्रह्म रूप महान्–उत्कृष्ट अर्थ का बोधक होने से महावाक्य कहा जाता है। इसमें दो पद 'तत्' और 'त्वम्' मुख्य हैं, जिनके अर्थों का ऐक्य उस वाक्य के 'असि' पद से सूचित होता है। उक्त पदों में 'तत्' पद का वाच्यार्थ है अज्ञानसमष्टि और उससे उपहित चैतन्य एवं 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ है अज्ञानव्यष्टि और उससे उपहित चैतन्य। विशेषण का त्याग कर विशेष्य चैतन्यमात्र में उक्त पदों की भागत्याग लक्षणा से अनुपहित तुरीय चैतन्य उन पदों का लक्ष्य है।

ईश्वर और जीव के विषय में वेदान्तियों के विभिन्न विचार हैं जिन्हें संक्षेप में निम्न प्रकार से बुद्धिगत किया जा सकता है।

जीव, ईश्वर, विशुद्ध-अनुपहित ब्रह्मचैतन्य, अविद्या-अज्ञान, जीव के साथ अविद्या का सम्बन्ध तथा ईश्वर के साथ अविद्या का सम्बन्ध ये छः पदार्थ बहुतर वेदान्तियों के मतानुसार अनादि हैं, इनमें ब्रह्म और अविद्या मुख्य हैं, अविद्या को अज्ञान कहा जाता है। वह सत् और असत् से भिन्न, सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों से युक्त है, समष्टि और व्यष्टि भेद से उसके दो भेद हैं, उनमें अज्ञानसमष्टि से उपहित चैतन्य ईश्वर है, वह सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वनियन्ता, अन्तर्यामी और सम्पूर्ण जगत् का एकमात्र कर्ता है। अज्ञानव्यष्टि से उपहित चैतन्य जीव है, वह अल्पज्ञ, अनीश्वर और अनेक है। ईश्वर ब्रह्म का एक अधिदैवत रूप है, ब्रह्म के दो और अधिदैवत रूप हैं, सूत्रात्मा या हिरण्यगर्भ और विराट् या, वैश्वानर। अज्ञानव्यष्टि से उपहित ब्रह्म चैतन्य जीव है, वह अल्पज्ञ, अनीश्वर तथा ब्रह्म का अध्यात्मरूप है, ब्रह्म के दो और अध्यात्मरूप हैं, तैजस और विश्व, इन सब का वर्णन यथावसर किया जायगा, चैतन्य के ये समस्त भेद अज्ञानमूलक हैं। 'प्रकटार्थ विवरण' के अनुसार शुद्ध ब्रह्म चैतन्य में आश्रित समस्त भूतों का उपादानकारण सत्, असत् से विलक्षण त्रिगुणात्मिका प्रकृति 'माया' है, उसमें ब्रह्म चैतन्य का प्रतिबिम्ब 'ईश्वर' है।

'माया के अनेक प्रदेश हैं जिन्हें आवरण, विक्षेप शक्ति से युक्त अविद्या कहा जाता है, उन प्रदेशों में ब्रह्म चैतन्य का प्रतिबिम्ब जीव है।

'तत्त्वविवेक' के अनुसार शुद्धसत्त्वप्रधान मूलप्रकृति माया है और मलिन सत्त्वप्रधान मूलप्रकृति अविद्या है, माया में ब्रह्मचैतन्य का प्रतिबिम्ब ईश्वर है और अविद्या में ब्रह्म चैतन्य का प्रतिबिम्ब जीव है।

अथवा विक्षेपशक्तिप्रधान मूलप्रकृति माया है, आवरणशक्तिप्रधान मूलप्रकृति अविद्या या अज्ञान है, माया से उपहित चैतन्य ईश्वर है और अविद्या से उपहित चैतन्य जीव है।

अस्याज्ञानस्यावरणविक्षेपनामकमस्ति शक्तिद्वयम् । आवरण-शक्तिस्तावदल्पोऽपि मेघोऽनेकयोजनायतमादित्यमण्डलमवलोकयितृ-नयनपथपिधायकतया यथाच्छादयतीव तथाज्ञानं परिच्छिन्नमसंसारि-णमवलोकयितृबुद्धिपिधायकतयाच्छादयतीव तादृशं सामर्थ्यम् । तदुक्तम्—

"घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढः । तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ।।,, इति

'संक्षेपशारीरक' के अनुसार जगत्कारण अविद्या में ब्रह्म चैतन्य का प्रतिबिम्ब ईश्वर है, अन्तःकरण में ब्रह्मचैतन्य का प्रतिबिम्ब जीव है ।

प्रतिबिम्बवाद में ईश्वर, जीव रूप प्रतिबिम्बों का बिम्बभूत शुद्ध ब्रह्म चैतन्य मुक्त जीवों का प्राप्य है ।

'चित्रदीप' के अनुसार चैतन्य के चार भेद हैं, कूटस्थ, ब्रह्म, जीव और ईश्वर, कूटस्थ चैतन्य स्थूल और सूक्ष्म देह से अवच्छिन्न होता है, उसमें कल्पित अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित चैतन्य संसारी जीव है और ब्रह्म-अनुपहित चैतन्य में आश्रित माया में स्थित सम्पूर्ण बुद्धिवासनाओं से उपरक्त अज्ञान में प्रतिबिम्बित चैतन्य ईश्वर है ।

वाचस्पति मिश्र के अनुसार अविद्या से अवच्छिन्न चैतन्य ईश्वर है और अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य जीव है ।

वृहदारण्यक भाष्य के अनुसार जीव न तो प्रतिबिम्ब रूप है और न अवच्छिन्न रूप है किन्तु अविद्या से उपहित ब्रह्म रूप है, ब्रह्म ही अपनी अविद्या से संसारी और अपनी विद्या से मुक्त होता है ।

इन विचारों का संकलन और उपादान 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' में द्रष्टव्य है ।

अनुवाद—

इस अज्ञान की आवरण और विक्षेप नाम की दो शक्तियाँ हैं, आवरणशक्ति अज्ञान की वह सामर्थ्य है जिसके बल से सीमित भी अज्ञान द्रष्टा की बुद्धि का अवरोधक होकर असीम असंसारी आत्मा को उसी प्रकार आच्छन्न जैसा बना देता है जिस प्रकार एक छोटा सा मेघखण्ड द्रष्टा के नेत्रमार्ग में अवरोधक बनकर अनेक योजन तक फैले हुये सूर्यमण्डल को आच्छन्न सा बना देता है, यह बात इसी प्रकार कही भी गई है कि—

जैसे अति मूढ मनुष्य बादल से अपनी दृष्टि ढक जाने पर सूर्य को ही बादलों से ढका और प्रभाहीन मानने लगता है ठीक उसी प्रकार मोहग्रस्त बुद्धि वाले मनुष्य को जो नित्यचैतन्यरूप आत्मा अज्ञान से बँधा हुआ दीखता है वही उसका 'अहम्'—अपना स्वरूप है । (हस्तामलक १०)

एवमवस्थाभिमानिसहितमज्ञानं सविभागं सप्रपञ्चं निरूप्येदानीं तत्कार्याध्यारोपं क्रमेण निरूपयिष्यंस्तदुपयोगित्वेनाज्ञानगतं सामर्थ्यं तावन्निरूपयति—अस्याज्ञानस्येति। तत्रावरणशक्तिं सदृष्टान्तामुपपादयति—आवरणेति। यद्यप्यज्ञानस्य मूर्तत्वामूर्तत्वाभ्यामनिर्वाच्यत्वान्न परिच्छिन्नत्वं तथापि परिच्छेद्यापेक्षयाल्पत्वमात्रं विवक्षितमिति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरवैषम्यम्। बुद्धिपिधायकतयेत्यत्र बुद्धिशब्देन तदनुरक्तं चैतन्यं लक्ष्यते बुद्धेरज्ञानकार्यत्वेन तदावृतत्वानुपपत्तेः। निरूपितेऽर्थे हस्तामलकाचार्यसम्मतिमाह—तदुक्तमित्यादिना।

व्याख्या—

प्रश्न होता है कि ब्रह्म जब स्वप्रकाश चैतन्यरूप है तब अज्ञान से उसके प्रकाश का तिरोधान कैसे हो सकता है? एवं ब्रह्म जब असङ्ग और उदासीन है तब वह जगत् का उत्पादक कैसे हो सकता है? इन दोनों प्रश्नों के उत्तर में वेदान्तदर्शन का यह कहना है कि अज्ञान में दो शक्तियाँ हैं, एक है आवरणशक्ति—वस्तु के सत्यस्वरूप को आच्छादित करने की शक्ति और दूसरी है विक्षेपशक्ति—विविध अवास्तव रूपों के क्षेपण—उत्पादन की शक्ति। इन दोनों शक्तियों से युक्त अज्ञान का सत्, चित्, आनन्दस्वरूप ब्रह्म के साथ अनादि सम्पर्क है, अतः अज्ञान की आवरणशक्ति से ब्रह्म का चिद् और आनन्द रूप आवृत हो जाता है और विक्षेप शक्ति से ब्रह्म में जगत् के विविध पदार्थों की सृष्टि हो जाती है। आवरणशक्ति से ब्रह्म के सद्रूप का आच्छादन न मान कर केवल चिद् और आनन्दरूप का ही आच्छादन मानने का कारण यह है कि विक्षेपशक्ति से ब्रह्म में जगत् के जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं उनमें ब्रह्म के सद्रूप का अनुवेध होता है जिससे उन पदार्थों की सद्रूप में प्रतीति होती है जैसे "घटः सन्" इत्यादि। किन्तु चिद् और आनन्द रूप का अनुवेध नहीं होता क्योंकि घट, पट आदि जागतिक पदार्थों की चिद् और आनन्दरूप में प्रतीति नहीं होती, यदि ब्रह्म के ये दोनों रूप भी सद्रूप के समान अनावृत होते तो घट, पट आदि पदार्थों में इन रूपों का अनुवेध होने से इन रूपों में भी घट, पट आदि की प्रतीति होती। इस बात को रस्सी में दीख पड़ने वाले सर्प के दृष्टान्त से समझा जा सकता है, जैसे सामने पड़ी हुई रस्सी के 'इयं रज्जुः' इस प्रकार दो रूप दीख पड़ते हैं एक इदन्त्व और दूसरा रज्जुत्व। रस्सी जब टेढ़े मेढ़े आकार में हलके अँधेरे में पड़ी होती है तब अज्ञान अपनी आवरण शक्ति से उसके रज्जुत्व रूप को आच्छादित कर देता है किन्तु इदन्त्व को नहीं आच्छादित करता क्योंकि रज्जुत्व का भान रुक जाने पर भी इदन्त्व का भान होता रहता है, और जब रज्जुत्वरूप का आवरण हो जाने पर इदन्त्वरूप से दीख पड़ने वाली रस्सी में अज्ञान की विक्षेपशक्ति से सर्प का जन्म होता है तब उसमें रस्सी के इदन्त्वरूप का अनुवेध होने से 'अयं सर्पः' इस प्रकार सर्प में इदन्त्व की

प्रतीति होती है। ठीक यही स्थिति ब्रह्म और उसमें उत्पन्न जागतिक पदार्थों की भी है। अज्ञान की आवरणशक्ति से ब्रह्म के चिद् और आनन्दरूप का आवरण हो जाने पर उसमें जागतिक पदार्थ का जन्म हो जाता है और ब्रह्म के सद्रूप का अनुवेध होने से उनकी सद्रूप से प्रतीति होने लगती है।

शङ्का हो सकती है कि ब्रह्म का सद्रूप तो त्रिकालाबाध्यत्व है अतः यदि जागतिक पदार्थों में उसका अनुवेध होगा तो जागतिक पदार्थ त्रिकालाबाध्य हो जायँगे, तो इसका उत्तर यह है कि जैसे न्यायमत में त्रिकालाबाध्य सत्तासामान्य का घट, पट आदि पदार्थों के साथ सम्पर्क होने पर भी उनमें नित्यता का प्रसङ्ग नहीं होता क्योंकि नश्वरस्वभाव होने से उनका नाश होने पर उनके साथ सत्ता का सम्बन्ध टूट जाता है उसी प्रकार वेदान्तमत में भी यह कहा जा सकता है कि घट, पट आदि पदार्थों के साथ त्रिकालाबाध्य ब्रह्मात्मक सत्ता का सम्बन्ध होने पर भी उनमें त्रिकालाबाध्यत्व का प्रसंग नहीं हो सकता क्योंकि नश्वरस्वभाव होने के कारण उनका नाश होने पर उनके साथ ब्रह्मसत्ता का सम्बन्ध टूट जाता है।

दूसरी शङ्का यह हो सकती है कि घट, पट आदि पदार्थों में त्रिकालाबाध्यत्व-रूप सत्ता का अनुवेध मानने पर घट, पट आदि में त्रिकालाबाध्यत्व की ही प्रतीति होनी चाहिए न कि व्यवहारकालाबाध्यत्वमात्र की, तो इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि जैसे अत्यन्त विशाल भी सूर्य छोटे घड़े के स्वल्प जल में छोटा दीखता है, उसी प्रकार व्यवहारकालमात्र में अबाध्य घट आदि में त्रिकालाबाध्यत्व व्यवहारकाला-बाध्यत्वमात्र के रूप में दीख पड़ता है।

वेदान्त के कतिपय विद्वान् उक्त कथन के विपरीत मत को मान्यता प्रदान करते हैं, उनका कहना यह है कि जैसे घड़े का जल स्वयं स्वल्प है अतः उसमें सूर्य का स्वल्प दीख पड़ना सम्भव होता है उसी प्रकार घट, पट आदि पदार्थ यदि स्वयं व्यवहारकाला-बाध्य हों तभी उनमें त्रिकालाबाध्यत्व का व्यवहारकालाबाध्यत्व के रूप में दीख पड़ना सम्भव हो सकता है किन्तु वे पदार्थ यदि स्वयं व्यवहारकालाबाध्य होंगे, व्यवहारकाला-बाध्यत्व उनका सहज धर्म होगा, तब उसी को उन पदार्थों की सत्ता मान लेना उचित होगा, उनमें ब्रह्मसत्ता का अनुवेध मानना अनावश्यक होगा। अतः इन वेदान्तियों के अनुसार सत्ता के तीन भेद हैं, पारमार्थिक सत्ता, व्यावहारिकसत्ता और प्रातिभासिकसत्ता। पारमार्थिक सत्ता त्रिकालाबाध्यत्वरूप है जो ब्रह्म की सत्ता है। व्यावहारिक सत्ता—व्यवहारकाल—सृष्टिकाल में अबाध्यत्वरूप है जो घट, पट आदि जागतिक पदार्थों में है, इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि सृष्टिकाल में घट, पट आदि का नाशमात्र होता है, बाध नहीं होता, क्योंकि कार्य के सकारण नाश को बाध कहा जाता है, सृष्टिकाल में घट, पट आदि कार्यों का नाश तो हो जाता है पर उनके कारण ब्रह्माज्ञान का नाश नहीं होता, अतः सृष्टिकाल में उनकी अबाध्यता बनी रहती है, ऐसा मानने पर यदि यह शङ्का हो कि घट, पट आदि का नाश हो जाने पर भी यदि उनका व्यवहार-

कालाबाध्यत्व बना रहता है तब उस समय भी सद्रूप में उनकी प्रतीति होनी चाहिये क्योंकि व्यवहारकालाबाध्यत्व ही उनकी सत्ता है और वह उनका नाश होने पर भी सुरक्षित है, तो इसका उत्तर यह है कि जैसे न्यायमत में घट आदि का नाश होने पर घटत्व आदि के रहने पर भी घटत्व आदि रूप से उस समय घट आदि की प्रत्यक्ष-प्रतीति नहीं होती, उसी प्रकार वेदान्त मत में भी घट आदि का नाश हो जाने पर उनके व्यवहारकालाबाध्यत्व रूप सत्ता के सुरक्षित रहने पर भी सद्रूप में उनकी प्रत्यक्ष प्रतीति नहीं होती। रह जाती है घट आदि का नाश हो जाने पर सद्रूप से घट आदि के व्यवहार की बात, तो उसमें कोई बाधा नहीं है क्योंकि जैसे नष्ट घट में भी घट शब्द का व्यवहार होता है। वैसे ही नष्ट घट आदि में व्यवहारकालाबाध्यत्व का भी व्यवहार होता है। वेदान्तसम्प्रदाय में यह व्यवहार प्रसिद्ध ही है कि घट, पट आदि पदार्थ नष्ट हो जाने पर भी व्यवहारकाल में बाधित नहीं होते।

प्रातिभासिक सत्ता प्रतिभास-प्रतीतिकाल में अबाध्यत्वरूप है, यह सत्ता रज्जु-सर्प, शुक्ति-रूप्य आदि प्रातिभासिक पदार्थों में रहती है, ये पदार्थ केवल अपने प्रतिभास काल में ही अबाध्य होते हैं क्योंकि इनके रज्जु, शुक्ति आदि अधिष्ठानों का प्रत्यक्ष होने पर इनके प्रतिभास की निवृत्ति के साथ इनको और इनके उपादान कारण रज्जु, शुक्ति आदि के अज्ञान की भी निवृत्ति हो जाती है, अतः अपने प्रतिभास के निवृत्तिकाल में अपने उपादान कारण के साथ निवृत्त हो जाने से ये पदार्थ बाधित होजाते हैं।

ब्रह्म को अज्ञान की आवरण शक्ति से अथवा आवरण शक्ति-युक्त अज्ञान से आवृत कहने पर यह शङ्का स्वभावतः उत्थित होती है कि अपरिच्छिन्न असीम ब्रह्म का परिच्छिन्न ससीम अज्ञान से आवरण नहीं हो सकता, क्योंकि आवरण करनेवाली वस्तु जब आवरणीय वस्तु से बड़ी होती है या कम से कम उसके बराबर होती है तभी उससे आवरणीय वस्तु का आवरण होता है, अतः अज्ञान से ब्रह्म को आवृत कहना असंगत है। ग्रन्थकार ने इस शङ्का का समाधान यह कह कर दिया है कि ब्रह्म वस्तुतः अज्ञान से आवृत नहीं होता किन्तु मनुष्य की बुद्धि अज्ञान से आवृत होती है, अपनी आवृत बुद्धि से ब्रह्म को न देख पाने से वह ब्रह्म को ही आवृत कहने लगता है। इस बात के समर्थन में ग्रन्थकार ने एक अत्यन्त अनुरूप दृष्टान्त प्रस्तुत किया है, उनका कहना है कि जैसे छोटा सा बादल अनेक योजन तक फैले सूर्य मण्डल को नहीं ढक पाता किन्तु सूर्य को देखने को उत्सुक मनुष्य की छोटी सी आँख को ही ढकता है, पर अपनी ढकी आँख से सूर्य को न देख पाने पर मनुष्य सूर्य को ही बादलों से ढका मान लेता है और कहने लगता है कि सूर्य बादलों से ढक जाने के कारण नहीं दीख रहा है। उसी प्रकार अज्ञान से ढकी अपनी बुद्धि से ब्रह्म को न जान सकने पर मनुष्य ब्रह्म को ही अज्ञान से आवृत मानने लगता है और उसी को अज्ञानावृत घोषित करने लगता है। उक्त दृष्टान्त से अपने इस समाधान की पुष्टि में ग्रन्थकार ने इसी समाधान पर एक अभियुक्त वचन उद्धृत किया है जिसका आशय है कि जो मनुष्य

अनयैवावरणशक्त्यावच्छिन्नस्यात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वसुख-दुःखमोहात्मकतुच्छसंसारभावनापि सम्भाव्यते यथा स्वाज्ञानेनावृतायां रज्ज्वां सर्पत्वसम्भावना। विक्षेपशक्तिस्तु यथा रज्ज्वज्ञानं स्वावृतरज्जौ स्वशक्त्या सर्पादिकमुद्भावयत्येवमज्ञानमपि स्वावृतात्मनि विक्षेपशक्त्याऽऽकाशादिप्रपञ्चमुद्भावयति तादृशं सामर्थ्यम्। तदुक्तम्—

"विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेदि"ति ॥ १० ॥

अत्यन्त मूढ़ होता है, वह मेघ से अपनी आँख ढक जाने पर जैसे मेघ से न ढक सकने वाले सूर्य को ही मेघ से ढका और प्रभाहीन मानने लगता है उसी प्रकार जिस मनुष्य की दृष्टि मोहग्रस्त होती है— जिसकी बुद्धि अज्ञान से आच्छन्न होती है उसे नित्य प्रकाशमान् भी आत्मा 'अहं' बन कर शोक, मोह, आदि अज्ञानमूलक विकारों से ग्रस्त प्रतीत होने लगता है किन्तु वह वस्तुतः 'अहं' नहीं है, वह तो सतत प्रकाशमान शाश्वत शुद्ध आत्मा है उसे अहं के छोटे से घेरे में बाँधना मनुष्य की बौद्धिक भूल है।

शङ्का हो सकती है कि मनुष्य की बुद्धि अज्ञानमूलक होने से जड़ है, उसका स्वतः भान प्राप्त न होने से उस पर आवरण की कल्पना अनावश्यक है अतः उसे अज्ञान से आच्छन्न कहना असंगत है, इसका उत्तर यह है कि यहाँ बुद्धि शब्द से वह अर्थ अभिमत है जिससे मनुष्य किसी वस्तु का ज्ञान अर्जित करता है, वह है उसके अन्तःकरण की विषयाकार वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य, चैतन्य प्रकाशस्वरूप है अतः उसमें अज्ञान का आवरण कार्य संगत होने से उसे अज्ञानावृत माना जा सकता है, और वह अन्तःकरण की परिच्छिन्न वृत्ति से उपहित होने से परिच्छिन्न हो जाता है अतः उससे बड़े अज्ञान से उसका आच्छादन सम्भव हो सकता है। अथवा इस बात को अन्य प्रकार से भी समझा जा सकता है। जैसे अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्यस्वरूप जीव अज्ञान का आश्रय है और ब्रह्म उसका विषय है, अज्ञान की आवरणशक्ति का कार्य है अज्ञान के विषय में 'नास्ति' 'नो भाति' इस प्रकार असत्त्व तथा अभान का आपादन, यह आपादन अज्ञान के विषय ब्रह्म में होता है, इसीलिए ब्रह्म अज्ञानावृत कहा जाता है वास्तव में वह अज्ञानावृत नहीं है, अज्ञानावृत है जीव में 'अज्ञान' की आश्रयता का अवच्छेदक होने से उसकी बुद्धि—उसका अन्तःकरण।

अनुवाद—

अज्ञान की इस आवरण शक्ति से अवच्छिन्न होने से ही आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख, दुःख, मोह आदि मिथ्या सांसारिक धर्मों के उदय की सम्भावना ठीक उसी प्रकार होती है जैसे अज्ञान से आवृत रज्जु-रज्जु से अवच्छिन्न चैतन्य में सर्पधर्म के उदय की सम्भावना होती है।

उक्तामावरणशक्तिं तत्कार्यद्वारा बुद्धिमारोहयति—अनयेति। अधिष्ठानस्वरूपविशेषावरणवशेन विपरीतार्थसम्भावना भवतीत्यत्रदृष्टान्तमाह—यथा स्वाज्ञानेति। विक्षेपशक्तिं सदृष्टान्तामाह—विक्षेपेति। अत्राप्याचार्यान्तरसम्मतिमाह—तदुक्तं-विक्षेपेति। आवरणविक्षेपशक्तिद्वयविशिष्टमज्ञानं कूटस्थासङ्गाद्वयचैतन्यात्मनो जगत्कारणत्वोपाधिरिति भावः। तदुक्तमभियुक्तैः—

"आच्छाद्य विक्षिपति संस्फुरदात्मरूपं जीवेश्वरत्वजगदाकृतिभिर्मृषैव।
अज्ञानमावरणविभ्रमशक्तियोगादात्मत्वमात्रविषयाश्रयताबलेन" इति ॥१०॥

नन्वेवंविधाज्ञानोपाधिकस्येश्वरचैतन्यस्य यज्जगत्कारणत्वं तन्निमित्तत्वं

विक्षेप शक्ति का अर्थ है मिथ्या पदार्थों को उत्पन्न करने की अज्ञानगत सामर्थ्य, इस शक्ति से जैसे रज्जु-रज्जु से अवच्छिन्न चैतन्य का अज्ञान अपनी आवरण शक्ति द्वारा अपने से आवृत रज्जु-रज्जु से अवच्छिन्न चैतन्य में मिथ्या सर्प आदि को उत्पन्न करता है वैसे ही ब्रह्म का अज्ञान अपनी आवरण शक्ति द्वारा अपने से आवृत-'नास्ति, नो भाति' व्यवहार के योग्य सम्पादित आत्म-ब्रह्म में अपनी विक्षेप शक्ति से आकाश आदि मिथ्या जगत् को उत्पन्न करता है। जैसा कि कहा गया है—विक्षेपशक्ति लिङ्ग-सूक्ष्मशरीर से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त जगत् की रचना करती है।

व्याख्या—

आशय यह है कि अज्ञान की आवरण शक्ति उसके विषयभूत वस्तु को उसके विशेष स्वरूप के भान को अवरुद्ध कर विक्षेपशक्ति के लिये यथापेक्ष कार्यक्षेत्र बना देती है और विक्षेपशक्ति उस क्षेत्र में अज्ञान को अनेक प्रकार के मिथ्या कार्यों के रूप में परिणत करती है।

अज्ञान तथा उसकी द्विविध शक्ति के विषय में उक्त तथ्य का प्रतिपादन 'सङ्क्षेप शारीरक' के एक पद्य द्वारा प्रस्तुत किया गया है, जो इस प्रकार है—

आच्छाद्य विक्षिपति संस्फुरदात्मरूपं जीवेश्वरत्वजगदाकृतिभिर्मृषैव।
अज्ञानमावरणविभ्रमशक्तियोगादात्मत्वमात्रविषयाश्रयताबलेन ॥ (१।२०)

अज्ञान अपने विषय और आश्रय के रूप में अकेले आत्मा मात्र का बल पाकर अपनी आवरण और विभ्रम-विक्षेपशक्ति के द्वारा आत्मा के स्वयं प्रकाश स्वरूप को आच्छादित कर उसमें जीव, ईश्वर और जगत् के आकार में मिथ्या प्रपञ्च को उत्पन्न करता है।

इस पद्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अज्ञान, उसकी दो शक्तियां तथा उनके कार्य के सम्बन्ध में ग्रंथकार ने जो बात कही है वह केवल उनकी अपनी ही कल्पना नहीं है किन्तु पूरे वेदान्त सम्प्रदाय की ही मान्यता है।

शक्तिद्वयवदज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधिप्रधानतयोपादानं च भवति । यथा लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्वशरीरप्रधानतयोपादानं च भवति ॥ ११ ॥

स्यादुपादानत्वं वोभयं वेति जिज्ञासायामाह्—शक्तिद्वयवदिति । स्वप्रधानतया कूटस्थचैतन्यस्वरूपावभासितया स्वोपाधिप्रधानतया उपाध्युपरक्तसत्तास्फूर्तिरूपतयेति भेदः । एकस्योभयविधकारणात्मकत्वे दृष्टान्तमाह—यथेति । लूतोर्णनाभिः । तन्तुरेव कार्यं तन्तुकार्यम् । यथा लूता तन्तुनिर्माणे प्रसिद्धकार्पासतूलकाष्ठयन्त्रादिसहायमनपेक्ष्यैव तन्तूनातानवितानात्मकं च तत्कार्यं जालरूपं सृजत्येवमीश्वरः प्राक्सृष्टेरेक एवाद्वितीयोऽसहाय एव स्वमायाशक्त्यावेशमात्रेण लिङ्गादिब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेदिति भावः । तथा च श्रुतिः—"यत्तदद्रेश्यमग्राह्यं" इत्युपक्रम्य—

"यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्" इति ॥

न्यायोऽपि—"प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्" इति ॥ ११ ॥

अनुवाद—

उक्त दो शक्तियों से युक्त अज्ञान से उपहित चैतन्य-ब्रह्म अपनी प्रधानता से जगत् का निमित्त कारण तथा अपनी उपाधि अज्ञान की प्रधानता से जगत् का उपादान कारण होता है । प्रश्न हो सकता है कि जो जिस कार्य का निमित्त है वही उस कार्य का उदापान कैसे हो सकता है, क्योंकि लोक में कार्य के निमित्त और उपादान कारणों में भेद देखा जाता है, जैसे कपास घट कर उपादान होता है और कुलाल आदि उसके निमित्त होते हैं । इस प्रश्न का समाधान ग्रन्थकार ने लूता-मकड़ी के दृष्टान्त से प्रस्तुत किया है, प्रत्यक्ष है कि मकड़ी जिस जाल को बुनती है उसका वह स्वयं निमित्त कारण भी होती है और उपादान कारण भी होती है, क्योंकि वह जाल बुनने के लिये अपने बाहर से कोई उपादान नहीं ग्रहण करती किन्तु अपने शरीर से ही जाल बनाती है । अतः जैसे वह अपने शरीर से जाल का उपादान और अपने चेतन स्वरूप से जाल का निमित्त कारण होती है वैसे ही अज्ञानोपहित चैतन्य भी अपने अज्ञान रूप शरीर से जगत् का उपादान और अपने सहज चैतन्य रूप से जगत् का निमित्त कारण हो सकता है, निमित्त और उपादान में भेद वहीं होता है जहाँ कर्ता को अपने बाहर से उपादान लेने की आवश्यकता होती है, जैसे कुलाल को घट बनाने के लिये अपने बाहर मिट्टी से कपाल रूप उपादान का ग्रहण करना होता है ।

व्याख्या—

प्रश्न हो सकता है कि मकड़ी द्वारा बुने जाने वाले जाल का उपादान जब

उसका शरीर किंवा उसके शरीर से निकलने वाला आतान-बितान युक्त तन्तु होता है और निमित्त कारण उसके शरीर को सचेष्ट बनाने वाला उसमें विद्यमान चेतन अंश होता है। तब यह बात कैसे कही जा सकती है कि मकड़ी के जाल का उपादान और निमित्त एक ही होता है, और जब यह बात मकड़ी के जाल में नहीं सिद्ध होती तब उसके दृष्टान्त से एक ही पदार्थ में जगत् की उपादानता और निमित्तता का समर्थन कैसे किया जा सकता है। इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि मकड़ी के जाल का उपादान और निमित्त उसका शरीर और उसमें विद्यमान चेतन जीव नहीं होता, क्योंकि यदि उसका शरीर उपादान होगा तो शरीर तो मकड़ी के मृत हो जाने पर भी रहता है पर उस समय वह जाल का उपादान नहीं होता, इसी प्रकार उस शरीर में विद्यमान चेतन जीव मकड़ी के जाल का निमित्त भी नहीं होता क्योंकि जो चेतन जीव मकड़ी के शरीर में रह चुकता है उस शरीर से निकल कर अन्य शरीर में पहुँचने पर वहाँ भी वही रहता है, पर उस समय वह मकड़ीके जाल का निमित्त नहीं होता, अतः सचाई यह है कि मकड़ी के जाल का उपादान एवं निमित्त स्वयं मकड़ी ही होती है जो एक विशेष प्रकार के शरीर और चेतन जीव के विशिष्ट सम्पर्क से प्रादुर्भूत एक इकाई है, और उस इकाई में ही अंशभेद से जाल की उपादानता एवं निमित्तता दोनों विद्यमान हैं।

ठीक मकड़ी ही जैसी स्थिति अज्ञानोपहित चैतन्य रूप ईश्वर की भी है, वह भी अज्ञान और चैतन्य के अनादि सम्बन्ध से निष्पन्न एक इकाई है जो अंश भेद से जगत् का उपादान और निमित्त है, क्योंकि केवल अज्ञान का अस्तित्व न होने से उसे केवल उपादान नहीं माना जाता एवं केवल चैतन्य के निर्व्यापार होने से केवल उसे निमित्त नहीं माना जा सकता। उक्त स्थिति को ध्यान में रख कर ही ग्रन्थकार ने लूता के दृष्टान्त से ईश्वर को जगत् का उपादान और निमित्त कहा है।

जगत् के उपादान और निमित्त के सम्बन्ध में जो बात कही गई वह मुण्डकोपनिषद् के एक मन्त्र में कुछ और विशद रूप से प्रतिपादित है, जैसे—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्॥ (१।१।७)

जैसे नाभि में ऊर्णा-तन्तुओं का पिण्ड छिपाये रहने वाली मकड़ी अपने भीतर से ही जाल को बुनती है और अपने भीतर ही समेटती है, जैसे ओषधियाँ पृथ्वी में ही उत्पन्न होती हैं और जैसे बाल और रोयें सत् पुरुष-जीवित शरीर से उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार विश्व अक्षर-ब्रह्म से अक्षर-ब्रह्म में उत्पन्न होता है।

शङ्कराचार्य ने भी ब्रह्मसूत्र, अध्याय १, पाद ४ के तेइसवें सूत्र 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' के भाष्य में जगत् की उपादानता और निमित्तता को एक-निष्ठ कहा है, जैसे—'प्रकृतिश्चोपादानकारणं च ब्रह्माभ्युपगन्तव्यं निमित्तकारणं च, न केवलनिमित्तकारणमेव, कस्मात्? प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्'—ब्रह्मको जगत् का

तमःप्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितचैतन्यादाकाश आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी चोत्पद्यते "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत" इत्यादिश्रुतेः। तेषु जाड्याधिक्यदर्शनात्तमःप्राधान्यं तत्कारणस्य। तदानीं सत्त्वरजस्तमांसि कारणगुणप्रक्रमेण तेष्वाकाशादिषूत्पद्यन्ते। एतान्येव सूक्ष्मभूतानि तन्मात्राण्यपञ्चीकृतानि चोच्यन्ते एतेभ्यः सूक्ष्मशरीराणि स्थूलभूतानि चोत्पद्यन्ते ॥ १२ ॥

प्रकृति-उपादानकारण भी मानना चाहिये और निमित्त कारण भी मानना चाहिये क्योंकि ऐसा मानने पर ही उपनिषद् में उक्त प्रतिज्ञा एवं दृष्टान्त का उपरोध-बाध नहीं होगा।

छान्दोग्य ६।१।२, मुण्डक १।१।२, वृहदारण्यक ४।५।६ में यह प्रतिज्ञा प्राप्त होती है कि ब्रह्म का ज्ञान होने से सम्पूर्ण विश्व का ज्ञान हो जाता है, यह प्रतिज्ञा तभी संगत तो सकती है जब ब्रह्म विश्व का उपादान कारण हो और विश्व ब्रह्म का उपादेय कार्य हो, क्योंकि उपादान और उपादेय में अभेद होने से उपादान का ज्ञान होने पर उससे अभिन्न होने के नाते उसके सारे कार्य भी ज्ञात हो सकते हैं।

उक्त उपनिषदों में ही क्रम से ६।१।४,५,६; १।१।७; ४।५।६,८ मन्त्रों में मिट्टी के सभी कार्यों तथा लोह से उत्पन्न उसके सभी कार्यों, पृथिवी से उत्पन्न उसके सभी कार्यों पृथिवी से उत्पन्न सभी ओषधियों एवं दुन्दुभि से उत्पन्न शब्दों का दृष्टान्तरूप में उल्लेख है, इन दृष्टान्तों की संगति भी ब्रह्म और विश्व में उपादान-उपादेय भाव मानने पर ही हो सकती है क्योंकि उक्त सभी दृष्टान्त उपादान-उपादेय रूप हैं।

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि ग्रन्थकार ने अज्ञानोपहित चैतन्यरूप ईश्वर को जो जगत् का उपादान और निमित्त वताया है वह वेदान्तदर्शन के पुरातन महनीय ग्रन्थों पर आधारित है।

अनुवाद—

तमोगुण-प्रधान, विक्षेपशक्ति से युक्त अज्ञान से उपहित चैतन्य से आकाश की, आकाश से वायु की, वायु से अग्नि-तेज की, अग्नि से जल की तथा जल से पृथिवी की उत्पत्ति होती है, चैतन्य से आकाश आदि की उत्पत्ति का यह क्रम 'तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यादि श्रुति से सिद्ध है। उनमें जाड्य की अधिकृता की उपलब्धि होने से उसके कारण तमोगुण की प्रधानता मानी जाती है। उस समय उन आकाश आदि में कारण गुण के प्रक्रम से सत्त्व, रज और तम की उत्पत्ति होती है, इन्हें ही सूक्ष्मभूत, तन्मात्र और अपञ्चीकृत कहा जाता है, इनसे सूक्ष्मशरीर और स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है।

तदेवं चैतन्यस्य जगत्कारणत्वं प्रपञ्च्य ततः कार्योत्पत्तिक्रमं दर्शयति—तमःप्रधान इति। तमसः प्राधान्यनिर्देशाद्रजःसत्त्वयोरपि तत्र मात्रया वृत्तिर्द्रष्टव्या। उक्तभूतसृष्टिक्रमे प्रमाणमाह—तस्मादिति। नन्वाकाशं नोत्पद्यते निरवयवद्रव्यत्वादात्मवदिति चेन्न। उदाहृतश्रुतिबाधितविषयत्वेनानुमानानुत्थानात्प्रत्यनुमानविरोधाच्च। तथाहि। आकाशमुत्पद्यते महत्त्वे सति भूतत्वान्महापृथिव्यादिवत्। न चाश्रयासिद्धो हेतुराश्रयस्याकाशस्योभयवादिसिद्धत्वात्। न च धर्मिग्राहकप्रमाणबाधनिबन्धनाप्याश्रयासिद्धता हेतोः। धर्मिग्राहकप्रमाणेन शब्दाश्रयत्वेनाकाशाख्यधर्मिमात्रसिद्धावपि तद्‌गतनित्यत्वादेस्तेनासिद्धेः। न च स्वरूपासिद्धो भूतत्वमहत्त्वयोः पक्षे सम्प्रतिपत्तेः। नापि व्याप्यत्वासिद्धो निरुपाधिकत्वात्। न च मूर्तत्वसावयवत्वरूपवत्त्वादेरुपाधित्वं शक्यं गुणकर्मणोः साध्याव्याप्तेः। भूतत्वद्रव्यत्वसामान्यवत्त्वादेश्च साधनव्यापकत्वात्। अत्र द्रव्यत्वव्यतिरिक्तावान्तरजातिमत्त्वमुपाधिरिति चेन्न प्रध्वंसेन साध्याव्याप्तेः। तस्योत्पत्तिमत्त्वेऽपि जात्याश्रयत्वाभावात्। न च साध्यस्योत्पत्तिमत्त्वस्य भावधर्मिकत्वान्न प्रध्वंसे प्रसक्तिरिति वाच्यमुत्पत्तिमात्रस्यैवाकाशे साध्यत्वात्। अन्यथा विप्रतिपत्त्यविषयाणां द्रव्यत्वादीनां

व्याख्या—

आवरण और विक्षेपशक्ति से युक्त, सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों का समुदाय रूप अज्ञान अनादि काल से ब्रह्म को अपना विषय और आश्रय बनाये हुए है, उसकी आवरण शक्ति से आच्छन्न ब्रह्म में उसके तीनों गुण निरन्तर सक्रिय रहते हैं। जब कभी तमोगुण अन्य गुणों की अपेक्षा अधिक सक्रिय होकर वृद्धिगत हो जाता है तब ब्रह्मरूप अधिष्ठान-आश्रय में अज्ञान से आकाश की उत्पत्ति होती है, यतः आकाश वृद्धिगत तमोगुण से युक्त अज्ञान से उत्पन्न होता है अतएव उसमें सत्त्व, एवं रज की अपेक्षा तमोगुण की उत्पत्ति अधिक मात्रा में होती है, और जडस्वभाव तमोगुण की मात्रा अधिक होने से ही उसमें जडता का आधिक्य होता है।

आकाश आदि में जडता का आधिक्य होने से ही उसके कारणभूत अज्ञान में तमोगुण के प्राधान्य की कल्पना होती है क्योंकि कारण में तमोगुण की प्रधानता न होने पर कार्य में भी तमोगुण की प्रधानता नहीं हो सकती और तमोगुण की प्रधानता के बिना जडता नहीं हो सकती क्योंकि तमोगुण ही जडता का कारण है।

ग्रन्थकार ने आकाश आदि में कारणगुण प्रक्रम से अज्ञान के सत्त्व आदि गुणों की उत्पत्ति बताकर यही बात स्पष्ट की है, उनके कहने का आशय यह है कि विक्षेपशक्ति से युक्त तमोगुणप्रधान अज्ञान और उससे उपहित चैतन्य दोनों आकाश आदि के उपादानकारण हैं, उनमें अज्ञान परिणामी उपादान है और चैतन्य विवर्तोपादान है। परिणामी उपादान और विवर्तोपादान में यह अन्तर है कि परिणामी उपादान में जो गुण जिस मात्रा में विद्यमान होते हैं अपने तात्कालिक अनुपात से कुछ अधिक मात्रा

धर्मिगतानां साध्यताप्रसङ्ग इत्यनुमानाकौशलमापद्येत। न चान्यः कश्चिदुपाधिरुत्प्रेक्ष्यते। अविभुत्वं त्वाकाशेऽपि वेदान्तिनः समानं "ज्यायानन्तरिक्षात्", "येनावृतं खं च दिवं" इत्यादावात्मापेक्षयाकाशस्य न्यूनपरिमाणत्वश्रवणात्। अतो न तं प्रति तस्योपाधित्वम्। नापि विरुद्धः साध्यविपर्ययाव्याप्तेः। नापि साधारणानैकान्तिको विपक्षाप्रवेशात्। नाप्यसाधारणः सपक्षगामित्वात्। नापि कालातीतो बाधकप्रमाणानिरूपणात्। न चोक्तानुमानं बाधकमिति वाच्यं तस्य नरशिरःकपालशुद्धतानुमानवदागमबाधितविषयत्वस्योक्तत्वात्। न च श्रुतेराकाशाभिव्यक्तिमात्रार्थत्वान्नोत्पत्त्यर्थतेति वाच्यम्। सिद्धे चानुमानस्याबाधितविषयत्वेन प्रामाण्ये श्रुतेरन्यार्थत्वसिद्धिस्तत्सिद्धावितरसिद्धिरितीतरेतराश्रयात्। किञ्च "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत" इति सकृच्छ्रुतः सम्भूतशब्द आकाशे साक्षात्सम्बध्यमानो गौणः स एव वाय्वादावनुषज्यमानो मुख्य इति महदिदं व्याख्यानकौशलं तार्किकपशोः। नापि सन्दिग्धानैकान्तिकता विपक्षव्यावृत्तेः स्फुटत्वात्। नापि प्रकरणसमता त्वदनुमानस्य दुर्बलत्वेनोभयोः समानबलत्वाभावात्। निरवयवद्रव्यत्वस्य विनश्यदवस्थापन्ने पटे व्यभिचारात्। अवयवत्वात्यन्ताभावाधिकरणत्वं निरवयवशब्देन विवक्षितमिति चेन्न। अवयवशब्देन प्रदेशविवक्षायां सर्वस्याप्य-

---

में अपने परिणामभूत कार्य में उत्पन्न होते हैं, कार्य में कारणगुणों की यह उत्पत्ति ही कारणगुणक्रम से कार्यगुण की उत्पत्ति कही जाती है क्योंकि कारणगुणक्रम का अर्थ है कारण में विद्यमान गुणों के क्रम-अनुपात से प्रकृष्ट-अधिक अनुपात। इस कथन से विदित होता है कि अज्ञान में तमोगुण की मात्रा सत्त्व और रज की अपेक्षा जितनी अधिक होती है, आकाश आदि में उसकी मात्रा उससे अधिक होती है, फलतः अज्ञान की जड़ता से आकाश आदि की जड़ता भी अधिक होती है।

परिणामी उपादान के उक्त स्वभाव से विवर्तोपादान का स्वभाव भिन्न है, उसके गुण उसके कार्य में कारणगुणप्रक्रम से नहीं उत्पन्न होते अपितु न्यूनक्रम से उत्पन्न होते हैं, यही कारण है कि चैतन्य के विवर्तभूत जगत् के पदार्थों में चैतन्य की त्रिकालाबाध्यता व्यवहारकालमात्राबाध्यता में, उसकी स्वप्रकाशता परप्रकाशता में और उसकी विशुद्ध आनन्दरूपता दुःखमिश्र आनन्दरूपता में सिमट जाती है।

ग्रन्थकार ने केवल अज्ञान को आकाश आदि का कारण न कह कर उसके साथ ही चैतन्य को भी आकाश आदि का कारण कहा है क्योंकि चैतन्य को आकाश आदि का कारण न मानने पर आकाश आदि की उत्पत्ति निराश्रय हो जायगी और निराश्रय उत्पत्ति मानी नहीं जा सकती क्योंकि कार्य की उत्पत्ति किसी आश्रय में ही होती है, यह नियम है। और चैतन्य को आकाश आदि का कारण माने बिना उनका आश्रय माना नहीं जा सकता क्योंकि अकारण को कार्य का आश्रय मानने पर अकारण में कार्य की उत्पत्ति का प्रसङ्ग होगा।

वयविप्रदेशस्यावयवत्वेनोपक्षीणत्वादवयव्यभावप्रसङ्गात्। आश्रयविवक्षाया-मन्यतरासिद्धो हेतुः स्यादाकाशाश्रयस्य ब्रह्मणो समेष्टत्वात्। तस्मात्त्वदनुमानं न प्रतिपक्षः। नापि प्रतिपक्षान्तरमुत्प्रेक्ष्यते। तस्मादनुमानेनाप्याकाशोत्पत्तेः सम्भावितत्वाच्छुष्कतर्कश्रद्धामनादृत्य श्रुत्युक्तमेवाकाशजन्मेतरजन्मवच्छ्र-द्धेयम्। अभ्युपगम्य चेदं परमाणूनामनुत्पत्तिमत्त्वं महत्त्वे सतीति हेतुर्विशेषितः। तदनभ्युपगमे तु भूतत्वादित्येव हेतुः। तथा हि चतुर्विधाः परमाणव उत्पद्यन्ते मूर्तत्वाद्भूतत्वाद्वा पटादिवत्। न च मनसि मूर्तत्वहेतोर-नैकान्तिकता तस्यापि पक्षतुल्यत्वात्। न च धर्मिग्राहकप्रमाणबाधः सिद्धेऽपि तेन धर्मिस्वरूपे तद्गतनित्यत्वादेरसिद्धेः। न च परमाणूनामपि कार्यत्वे कारणानवस्थानान्न किमपि मूलकारणं जगतः स्यादिति वाच्यम्। ब्रह्मण एव

यदि यह कहा जाय कि जैसे घट का अकारण भी भूतल घट का आश्रय होता है उसी प्रकार आकाश आदि का कारण न होने पर भी चैतन्य उसका आश्रय हो सकता है तो यह ठीक नहीं है क्योंकि कपाल आदि कारणभूत आश्रय में घट के उत्पन्न हो जाने के बाद ही भूतल उसका आश्रय होता है, उत्पत्ति के समय आश्रय नहीं होता। अतः जैसे घट आदि का कारणभूत आश्रय होता है उसी प्रकार आकाश आदि का भी कोई कारणभूत आश्रय होना आवश्यक है और ऐसा कारण चैतन्य से भिन्न कोई नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि अज्ञान ही आकाश आदि का कारणभूत आश्रय हो सकता है, चैतन्य को उसका कारण मानना व्यर्थ है तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अज्ञान स्वयं चैतन्य में आश्रित है अतः वह चैतन्य में ही अपने कार्यों का उत्पादक हो सकता है क्योंकि कारण जहाँ होता है वहीं उसके कार्य की उत्पत्ति होती है यह नियम है और कार्य की उत्पत्ति वहीं हो सकती है जो कार्य का कारण हो।

यदि यह कहा जाय कि जैसे घट अपने उपादानकारण कपाल के आश्रय कपालिका में नहीं उत्पन्न होता किन्तु अपने उपदानकारण कपाल में ही उत्पन्न होता है उसी प्रकार आकाश आदि भी अपने उपादानकारण अज्ञान में ही उत्पन्न होंगे, चैतन्य में उनकी उत्पत्ति निर्युक्तिक है तो यह ठीक नहीं है क्योंकि कपालिका कपाल का अवयव है किन्तु चैतन्य अज्ञान का अवयव नहीं है अतः कपालिका के दृष्टान्त से चैतन्य को आकाश आदि का आश्रय होने के अयोग्य नहीं ठहराया जा सकता, अपितु जैसे घट के कपाल आदि सभी कारण जिस स्थान में एकत्र होते हैं वह स्थान भी घट का उत्पत्तिदेश होने से दिक्कृत विशेषणता सम्बन्ध से घट का आश्रय होता है उसी प्रकार आकाश आदि के जनक अज्ञान का आश्रय होने से चैतन्य को भी आकाश आदि का उत्पत्तिदेश रूप में आश्रय होना युक्तिप्राप्त है, अन्तर केवल यह है कि घट आदि का उत्पत्तिदेश घट आदि का निमित्तकारण होता है, उपादानकारण नहीं होता, किन्तु चैतन्य आकाश आदि का उपादानकारण होता है क्योंकि आकाश आदि चैतन्य से पृथक् होकर अवस्थित नहीं होता तथा उसके सत्ता आदि धर्मों को अंशतः प्राप्त करता है।

जगन्मूलकारणस्य श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणप्रसिद्धत्वात्। तथा दिक्कालावुत्पत्तिमन्तावचेतनभावत्वात्पटवत्। न चास्माकमविद्यायां व्यभिचारस्तस्या भावाभावविलक्षणत्वाभ्युपगमात्। अन्येऽपि हेत्वाभासाः पूर्ववदुद्धरणीयाः। न च सामान्यविशेषसमवायेषु व्यभिचारस्तत्र सामान्यस्य विचार्यमाणे ब्रह्मस्वरूपानतिरेकादचेतनत्वहेतोस्तत्राप्रवृत्तेः। तथाहि विशेषास्तावत्सामान्ये कल्पिता इति त्वविद्यावादे निरूपितम्। तथा च द्रव्यत्वादीनां सामान्यविशेषाणां सामान्यमात्ररूपतायां सत्तायामन्तर्भावः। सत्ताया अपि स्फुरणविरहितायाः क्वाप्यनुपलम्भात्स्फुरणमात्रत्वं युक्तम्। स्फुरणं च ब्रह्मैव "सदेव सोम्येदं", "सत्यं ज्ञानं" इत्यादिश्रुतेः। "ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद" इत्यादौ परब्रह्मस्वरूपातिरिक्तत्वेन ब्राह्मण्यादिजातिं विजानतो निन्दाश्रवणाच्च। तस्मान्न सामान्ये व्यभिचारः। विशेषसमवायौ तु खपुष्पकल्पौ। अनयोर्यथा खपुष्पकल्पत्वं तथा चिदानन्दलहरीटीकायां प्रपञ्चितमस्माभिरितीहोपरम्यते। श्रुतयश्च भवन्ति प्रत्यनुमानबाधिकाः। "अणोरणीयान्" इति हि परमाणोरणीयः परमकारणं ब्रह्म दर्शयित्वा "यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्" इति

उक्त उपादानद्वय से भिन्न भी आकाश आदि का एक कारण है और वह है ईश्वर, जो 'तदैक्षत' 'सोऽकामयत' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार ईक्षण, संकल्प आदि द्वारा आकाश आदि जगत्प्रपञ्च का कर्ता है। वेदान्तमत में विशुद्धसत्त्वप्रधान अज्ञानसमष्टि से उपहित चैतन्य ही ईश्वर है, उसके उपाधि भूत विशुद्धसत्त्वप्रधान अज्ञान की ईक्षण, संकल्प आदि वृत्ति का उदय होने पर उन वृत्तियों के द्वारा वह आकाश आदि की सृष्टि करता है।

प्रश्न हो सकता है कि अज्ञान का आश्रय और विषय जब ब्रह्म ही है तो ब्रह्म के एक होने से अज्ञान भी एक ही है, अतः उसमें समष्टि, व्यष्टि की कल्पना और उन उपाधियों के सम्बन्ध से एक ईश्वर तथा अनेक जीवों की कल्पना कैसे संगत हो सकती है, एवं जब अज्ञान एक है तब एक ही समय उसमें तमोगुण और सत्त्वगुण की प्रधानता की कल्पना भी कैसे हो सकती है? इसके उत्तर में वेदान्त की ओर से यह कहा जा सकता है कि सत्त्व, रजस् और तमस् की अनन्त त्रिपुटियां हैं, ये त्रिपुटियां ही अज्ञान हैं, यह त्रिपुटी रूप अज्ञान ही तमोगुणाश्रित आवरणशक्ति से चैतन्य का आवरक और रजोगुणाश्रित विक्षेपशक्ति से आकाश आदि का जनक होती है, जिन त्रिपुटियों में तमोगुण और रजोगुण की प्रधानता होती है उन त्रिपुटियों की समष्टि रूप अज्ञान आकाश आदि का परिणामी उपादान कारण और उससे उपहित चैतन्य विवर्तोपादान कारण होता है तथा जिन त्रिपुटियों में विशुद्ध सत्त्व की प्रधानता होती है उन त्रिपुटियों के समष्टि रूप अज्ञानसमष्टि से उपहित चैतन्य रूप ईश्वर ईक्षण, संकल्प आदि द्वारा आकाश आदि का कर्त्ता होता है। अतः सत्त्व आदि गुणत्रय की त्रिपुटी रूप अज्ञान के

तैत्तिरीयश्रुतिस्तद्व्यतिरिक्तमणुमहच्चाविशेषेण प्रतिषेधति। "असतोऽधि मनोऽसृज्यत", "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" इति च तैत्तिरीयाथर्वणश्रुती मनस उत्पत्तिं स्पष्टमाचक्षेते। तथा "ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः", "सर्वे निमेषा जज्ञिरे" इति च श्वेताश्वतरतैत्तिरीयश्रुती कालस्यापि कार्यतामावेदयतः। "पुरुष एवेदं सर्वं" इत्युपक्रम्य "दिशः श्रोत्रात्" इति पुरुषसूक्तात्मिका श्रुतिर्दिशां पुरुषविकारत्वं सूचयति। वस्तुतस्तु प्राच्यादिव्यपदेशस्यादित्यगत्युपाधिना नभस्येव कल्पितत्वान्नाकाशातिरिक्ता दिगस्तीति गमयितव्यम्। न च ब्रह्माप्युत्पद्यते कारणत्वादाकाशवदिति वाच्यं "अजो नित्य" इत्यादिश्रुतिविरोधात् "असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः" इति न्यायविरोधाच्च। एतेन जगदुत्पत्तिप्राक्काले ब्रह्मातिरिक्तं वस्तु नास्तीति दर्शितम्। अविद्यायाश्चात्मशक्तित्वेन ततः पार्थगर्थ्यायोगाज्जीवानां च तदा परमात्मनि सम्पन्नत्वात्तदद्दृष्टानां च तदुपाध्यन्तःकरणनिष्ठानां तत्संस्काराविशेषाविद्यामात्रत्वेन पृथक्सत्त्वाभावात्। विस्तृतं चैतदाचार्यैर्वियदधिकरणादाविति विश्रम्यते। "आकाशाद्वायुर्वायोरग्निः" इत्यादावाकाशादिभावमापन्नादविद्यासहायाद्ब्रह्मण एव वाय्वादीनामुत्पत्तिरिति द्रष्टव्यम्। "तत्ते-

---

अनन्त होने से उसमें समष्टि, व्यष्टि की कल्पना तथा एक काल में तमोगुण और सत्त्वगुण की प्रधानता की कल्पना, एवं विशुद्धसत्त्वप्रधान अज्ञान समष्टि से उपहित चैतन्यरूप एक ईश्वर की और मलिनसत्त्वप्रधान अज्ञान व्यष्टि से उपहित चैतन्यरूप अनेक जीवों की कल्पना में कोई असंगति नहीं है।

ग्रन्थकार ने श्रुति के साक्ष्य से आत्मचैतन्य से आकाश की उत्पत्ति बता कर सांख्यदर्शन और न्याय-वैशेषिक दर्शन के उत्पत्ति सिद्धान्त की अप्रामाणिकता सूचित की है, सांख्यदर्शन की अप्रामाणिकता इस माने में कि उस दर्शन में आत्मा-पुरुष को सर्वथा कूटस्थ माना गया है अतः उस दर्शन को आत्मा में किसी कार्य की कारणता मान्य नहीं है, किन्तु यह मान्यता आत्मा से आकाश की उत्पत्ति बताने वाली श्रुति से निराकृत हो जाती है, एवं न्यायवैशेषिक दर्शन की अप्रामाणिकता इस माने में कि उस दर्शन में आकाश को नित्य माना गया है, जो आकाश की उत्पत्ति बताने वाली श्रुति से विरुद्ध है, श्रुति अपौरुषेय किंवा आप्तवचन होने से सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है अतः उससे विरुद्ध कोई भी सिद्धान्त प्रामाणिक नहीं हो सकता।

यदि यह कहा जाय कि आकाश निरवयव द्रव्य है अतः उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि द्रव्य की उत्पत्ति अवयवों के बिना नहीं होती, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अवयवों के बिना द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती, इस बात में किसी द्रव्य का दृष्टान्त प्राप्य नहीं है। परमाणु, आत्मा, दिक्, काल अथवा मन के दृष्टान्त से उक्त बात की सत्यता नहीं सिद्ध की जा सकती, क्योंकि वेदान्ती को परमाणु, दिक्, काल और मन की नित्यता मान्य नहीं है, आत्मा की नित्यता अवश्य मान्य है पर उसकी

जोऽसृजत तत्तेज ऐक्षत" इत्यादिश्रुत्यन्तरे तेजःप्रभृतेरपीक्षणपूर्वकमबादिस्रष्टृत्वश्रवणात्। अचेतनस्य चेक्षणानुपपत्तेः। न्यायोऽपि—"तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः" इतीममेवार्थं निर्णयति। एतेन प्रधानाण्वादिवादा निरस्ता वेदितव्यास्तेषां श्रुतिविरुद्धत्वान्न्यायविरुद्धत्वाच्च। न ह्यचेतनं चेतनानधिष्ठितं किञ्चित्कुर्वदुपपद्यते रथशकटादावदर्शनात्। अतो न प्रधानवाद आश्रयणीयः। तथा परमाणुवादोऽपि। अण्वोर्द्वयोः संयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वे तयोः सावयवतापत्तेरनित्यत्वप्रसङ्गः। तत्संयोगस्य व्याप्यवृत्तित्वे निरवयवयोरण्वोरेकस्मिन्नितरस्य सम्मितत्वात्प्रथिमानुपपत्तिस्तथा च तत्कार्यस्य द्व्यणुकस्यापि परिमण्डलत्वप्रसङ्गः। किञ्च द्व्यणुकारम्भसमये परमाणू कथञ्चिद्विक्रियेते न वा। आद्येऽनित्यत्वादिदोषापत्तिर्मृत्पिण्डादिवत्। द्वितीये परमाणुसमूह एव द्व्यणुकादिकार्यं स्यात्तृणतूलवत्। इत्यलं प्रपञ्चेन। प्रकृतमनुसरामः॥

द्रव्यरूपता वेदान्ती को मान्य नहीं है क्योंकि वेदान्त मत में आत्मा निर्धर्मक एवं निर्गुण है अतः उसमें द्रव्य का द्रव्यत्व जाति अथवा गुण रूप लक्षण सम्भव न होने से उसमें द्रव्यात्मकता असिद्ध है। और यदि न्यायवैशेषिक के मतानुसार परमाणु आदि को दृष्टान्तरूप में स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी निरवयवद्रव्य होने के आधार पर आकाश की उत्पत्ति का निराकरण नहीं किया जा सकता क्योंकि उक्त श्रुति द्वारा उसकी उत्पत्ति सिद्ध है।

यदि यह कहा जाय कि श्रुति वाक्यरूप है, और वाक्य से बोध होने के लिये वाक्य के अन्तर्गत पदों से पदार्थ की उपस्थिति अपेक्षित होती है जो पद-पदार्थ के सम्बन्धज्ञान से होती है और पद-पदार्थ का सम्बन्ध शक्तिरूप होने से अतीन्द्रिय होने के कारण अनुमानगम्य होता है, अतः श्रुति अपने अर्थ का बोध उत्पन्न करने में अनुमान का मुखापेक्षी होने से अनुमान की अपेक्षा दुर्बल है और अनुमान श्रुति का मुखापेक्षी न होने से श्रुति से बलवान् है अतः निरवयवद्रव्यत्व हेतु से आकाश की अनुत्पत्ति के अनुमान का श्रुति द्वारा प्रतिरोध नहीं हो सकता, फलतः अनुमान द्वारा आकाश की अनुत्पत्ति सिद्ध होने से श्रुति के आधार पर आकाश की उत्पत्ति का अभ्युपगम असंगत है, तो यह ठीक नहीं है क्योंकि श्रुति को अपने अर्थ का बोध उत्पन्न करने में पद-पदार्थ सम्बन्ध के जिस अनुमान की अपेक्षा है उसकी अपेक्षा उसका दौर्बल्य कथंचित् सम्भव होने पर भी आकाश की अनुत्पत्ति के साधक अनुमान की अपेक्षा तो उसका दौर्बल्य कथमपि हो ही नहीं सकता क्योंकि श्रुति को अपने अर्थ बोधन में उस अनुमान की कथमपि कोई अपेक्षा नहीं होती। दूसरी बात यह कि निरवयवद्रव्यत्व से आकाश की अनुत्पत्ति का अनुमान महापृथिवी आदि के दृष्टान्त से महाभूतत्व हेतु से आकाश के अनुमान से सत्प्रतिपक्षित भी है, अतः अनुमान से आकाश की अनुत्पत्ति-की-उत्पत्ति की सिद्धि न होने से उक्त श्रुति द्वारा आकाश की उत्पत्ति का अभ्युपगम करने में कोई बाधा नहीं है।

तमःप्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितं चैतन्यमाकाशादिकारणमित्युक्तं तत्कथमवगम्यते भूतकारणाज्ञाने तमःप्राधान्यमिति तत्राह—तेषु चेति। जाड्याधिक्यदर्शनादित्यत्राधिक्यशब्दं प्रयुञ्जानः सत्तास्फूर्तिपदत्वेन कार्येषु चैतन्यस्यापीषदनुवृत्तिं सूचयति। तथा चाहुस्तत्त्वदर्शिनः—

"अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्"॥ इति,

वसिष्ठोऽप्याह—

"यदस्ति यद्भाति तदात्मरूपं नान्यत्ततो भाति न चान्यदस्ति।
स्वभावसंवित्प्रतिभाति केवला ग्राह्यं गृहीतेति मृषा विकल्पः"॥ इति।

उत्पद्यमानेष्वाकाशादिषु वक्ष्यमाणकार्यानुरूपं गुणत्रयमुपलम्भयति—तदानीमिति। कारणस्याव्याकृतस्य ये गुणाः सत्त्वादयस्तेषां प्रक्रमेण तान् गुणानारभ्य यथाकार्यक्रमं सत्त्वादिगुणाः सहैव कार्यैस्तेषूत्पद्यन्त इत्यर्थः। नन्वव्याकृतात्पञ्चतन्मात्राणि क्रमेण जायन्त इति हि स्मृतीतिहासपुराणेषु प्रसिद्धिस्तत्कथमाकाशादेरिहोत्पत्तिराम्नायत इति तत्राह—एतान्येवेति। एतान्येवाकाशादीनि सूक्ष्मभूतानि व्यवहाराक्षमाणि तन्मात्राणि शब्दादितावन्मात्रैकस्वभावान्यपञ्चीकृतानि परस्परमसंसृष्टानि चेति स्मृत्यादिषूच्यन्ते महर्षिभिरित्यर्थः। तदेवं भूताध्यारोपं श्रौतमनुक्रम्येदानीं भौतिकाध्यारोपं प्रतिजानीते—एतेभ्य इति॥ १२॥

श्रुति के साक्ष्य से ग्रन्थकार ने यह भी बताया है कि आत्मचैतन्य से आकाश की, आकाश से वायु की, वायु से तेज की, तेज से जल की और जल से पृथिवी की उत्पत्ति हुई। आकाश आदि के इस उत्पत्तिक्रम से यह आभास होता है कि आत्मचैतन्य आकाश का जैसा कारण है आकाश आदि भी अपने अनन्तरभावी भूतों के वैसे ही कारण हैं, किन्तु यह सम्भव नहीं है क्योंकि आत्म चैतन्य आकाश आदि संपूर्ण प्रपञ्च का निमित्त उपादान दोनों है, पर आकाश वायु का, वायु तेज का, तेज जल का, जल पृथिवी का केवल निमित्त कारण है उपादान नहीं है, उपादान तो समूचे व्यावहारिक जगत् का मूलाज्ञान-शुद्ध ब्रह्म का अज्ञान और उससे उपहित चैतन्य ही है। आकाश आदि तो अपने बाद में होने वाले भूतों के केवल निमित्त कारण हैं, और यह बात दो तथ्यों के आधार पर स्वीकरणीय है एक यह कि आकाश आदि पदार्थों में उत्तरोत्तर पदार्थ के लिये पूर्व पूर्व की आवश्यकता होती है, जैसे आकाश में ही वायु गतिमान् होता है, वायु से ही तेज-अग्नि का प्रज्वलन होता है, उष्म की वृद्धि होने पर जलवर्षण होता है, जल से चूर्ण का पिण्डीभाव होने पर स्थूल पार्थिव द्रव्य को अस्तित्व प्राप्त होता है, अतः आकाश आदि पदार्थों में पूर्व पूर्व को यदि उत्तरोत्तर का कारण न माना जायगा तो सब की एक साथ ही उत्पत्ति होगी, फलतः उसमें एक दूसरे की अपेक्षा न होने से उक्त अनुभव की उपपत्ति न हो सकेगी। दूसरा तथ्य यह

कि आकाश आदि यदि वायु आदि के उपादान कारण होंगे तो पूर्व पूर्व भूत के गुण उत्तरोत्तर भूत में उत्पन्न होंगे फलतः केवल एक आकाश ही तन्मात्र एवं सूक्ष्म भूत होगा, वायु आदि एकाधिक विशेष गुणों का आश्रय होने से तन्मात्र एवं सूक्ष्म भूत न हो सकेंगे, अतः शास्त्र में तन्मात्र एवं सूक्ष्म भूत रूप में उनके निर्देश की संगति न हो सकेगी।

यह ज्ञातव्य है कि आकाश, वायु आदि अपने उत्तरभावी भूतों के निमित्त होते हुये भी उनके आश्रय होते हैं अत एव प्रलय के समय उत्तरोत्तर भूतों का पूर्व पूर्व भूतों में लय होते हुये अज्ञानोपहित चैतन्यरूप सर्वोपादान में लय होता है। पूर्व पूर्व भूतों में उत्तरोत्तर भूतों का लय होने के कारण यह धारणा नहीं बनानी चाहिये कि पूर्व पूर्व भूत उत्तरोत्तर भूत के उपादान हैं क्योंकि कार्य का लय उपादान कारण में होता है यह नियम नहीं है अपि तु आश्रित का लय आश्रय में होता है यह नियम है और यह नियम आकाश, वायु आदि में उपादान-उपादेय भाव न होने पर भी निमित्त-नैमित्तिकभाव मूलक आश्रयाश्रयिभाव से उत्पन हो सकता है। यदि यह कहा जाय कि सर्वत्र उपादान कारण में ही कार्य का लय होने से वायु आदि का भी लय उपादान में ही मानना उचित है अतः उत्तरोत्तर भूतों के लय का आधार होने से पूर्व पूर्व भूत को उत्तरोत्तर भूत का उपादान कारण मानना ही युक्तिसंगत है तो यह ठीक नहीं है क्योंकि पूर्व पूर्व भूत को उत्तरोत्तर भूत का उपादान मानने पर उत्तरोत्तर भूतों में पूर्व पूर्व भूत एवं उनके गुण का अन्वय न होने से उनकी तन्मात्रता और सूक्ष्मता की अनुपपत्ति होगी, जिसकी चर्चा पूर्व वाक्यखण्ड में कर दी गयी है।

यदि यह शङ्का हो कि उक्त श्रुति में 'आत्मन्' शब्द तथा 'आकाश' आदि शब्दों के अनन्तर जो पञ्चमी विभक्ति श्रुत होती है वह समानार्थक है, फिर यह मानना कैसे संगत हो सकता है कि 'आत्मन्' शब्द के अनन्तर प्रयुक्त पञ्चमी से आत्मा में आकाश को उपादानता का और 'आकाश' आदि शब्द के अनन्तर प्रयुक्त पञ्चमी स आकाश आदि के वायु आदि की निमित्तता का बोध होता है, तो इस शङ्का के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि उक्त श्रुति में 'आत्मन्' आदि शब्दों क अनन्तर प्रयुक्त पञ्चमी विभक्तिमात्र का एक ही अर्थ है और वह है कारणता, अतः उक्त श्रुति से आत्मा में आकाश की और आकाश आदि में वायु आदि की कारणतामात्र का बोध होता है न कि आत्मा मे आकाश की उपादानता और आकाश आदि में वायु आदि की निमित्तता का, इस विशेषता का बोध तो अन्य श्रुतियों और युक्तियों से होता है जिनका वर्णन वेदान्त के आकर ग्रन्थों में उपलब्ध किया जा सकता है।

इस सन्दर्भ में आकाश, वायु आदि के परिणामी उपादान मूलाज्ञान के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक जानकारी प्राप्त कर लेना आवश्यक है, वह यह कि आकाश आदि सभी भूतों के उपादानभूत अज्ञान में तमोगुण की प्रधानता तो प्रायः समान ही होती है किन्तु अन्य गुणों की मात्राओं में विभिन्न प्रकार का न्यूनाधिक्य होता है, जैसे आकाश के उपादान में रजोगुण की जो मात्रा होती है, वायु के उपादान में रजोगुण की मात्रा उससे अधिक होती है, इसीलिये वायु गतिशील होता है। तेज वायु से

अधिक द्रुतगामी होता है इस लिये यह मानना आवश्यक है कि वायु के उपादान में रजोगुण की मात्रा से तेज के उपादान में रजोगुण की मात्रा अधिक होती है। जल वायु और तेज की अपेक्षा मन्दगामी किन्तु पृथिवी की अपेक्षा द्रुतगामी होता है। अतः उसके उपादान में रजोगुण को मात्रा वायु ओर तेज के उपादान में विद्यमान रजोगुण की मात्रा से न्यून और पृथिवी के उपादान में विद्यमान रजोगुण की मात्रा से अधिक होती हैं इसी प्रकार यह भी ज्ञातव्य है कि तेज अन्य भूतों की अपेक्षा अधिक प्रकाशक होता है, अतः उसके उपादान में सत्त्वगुण की मात्रा अन्य भूतों के उपादान में विद्यमान सत्त्वगुण की मात्रा से अधिक होती है। वायु तेज की अपेक्षा अल्प प्रकाशक और अन्य भूतों की अपेक्षा अधिक प्रकाशक होता है क्योंकि उससे दूरस्थ पुष्प के गन्ध, जल के शैत्य और अग्नि के औष्ण्य की अनुभूति होती है अतः उसके उपादान के सत्त्वगुण की मात्रा तेज के उपादान में विद्यमान सत्त्वगुण की मात्रा से न्यून और अन्य भूतों के उपादान में विद्यमान सत्त्वगुण की मात्रा से अधिक होती है, जल से भूमि के गन्ध का प्रकाश होने से जल भूमि की अपेक्षा अधिक प्रकाशक होता है किन्तु वायु और तेज की अपेक्षा अल्प प्रकाशक होता है अतः जल के उपादान में सत्त्व की मात्रा पृथिवी के उपादान में विद्यमान सत्त्व की मात्रा से अधिक और वायु एवं तेज के उपादान में विद्यमान सत्त्व की मात्रा से न्यून होती है।

गुणों के उक्त तारतम्य की कामना उनके कार्यों के आधार पर ही की जाती है, गुणों का कार्य इस प्रकार प्रसिद्ध ही है कि सत्त्व प्रकाशक होता है, रजप् गति-जनक होता है और तमस् अवरोधक एवं जाड्यकारी होता है।

ग्रन्थकार ने अज्ञानोपहित चैतन्य से प्रथम उत्पन्न होने वाले आकाश आदि भूतों को तन्मात्र, सूक्ष्मभूत और अपञ्चीकृत कहे जाने का उल्लेख किया है। 'तदेव तन्मात्रम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार तन्मात्र शब्द का अर्थ है केवल वही, अतः आकाश आदि तन्मात्र है इस कथन का अर्थ है कि आकाश केवल आकाश है, वायु केवल वायु है, तेज केवल तेज है जल केवल जल है और पृथिवी केवल पृथिवी है। केवल कहने का अर्थ है कि प्रथम उत्पन्न आकाश आदि में एक दूसरे का मिश्रण नहीं है, आकाश केवल शब्दात्मक, वायु केवल स्पर्शात्मक, तेज केवल रूपात्मक, जल केवल रसात्मक और पृथिवी केवल गन्धात्मक हैं।

प्रथमोत्पन्न आकाश आदि को सूक्ष्मभूत कहा गया है, सूक्ष्मता का अर्थ है महाभूतों को उत्पन्न करने की अक्षमता, आकाश आदि जब तक तन्मात्र रहते हैं, जब तक उनमें अन्य भूतों का मिश्रण नहीं होता तब तक वे महाभूतों को जन्म देने में अक्षम होते हैं, उनकी इस अक्षमता को उन्हें सूक्ष्म कहकर प्रकट किया गया है। उनकी यह तन्मात्रता और सूक्ष्मता क्यों है, इसका उत्तर दिया गया है उन्हें अपञ्चीकृत कह कर, जिसका आशय यह है कि आकाश आदि अपनी उत्पत्ति के समय पञ्चीकृत नहीं होते, पञ्चीकरण-पाचों भूतों के परस्पर मिश्रण की प्रक्रिया न होने से ही वे तन्मात्र और सूक्ष्म होते हैं।

सूक्ष्मशरीराणि सप्तदशावयवानि लिङ्गशरीराणि । अवयवास्तु ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं बुद्धिमनसी कर्मेन्द्रियपञ्चकं वायुपञ्चकं चेति । ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणाख्यानि । एतान्याकाशादीनां सात्त्विकांशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक् पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते ।

प्रतिज्ञातैकदेशं विवृणोति—सूक्ष्मशरीराणीति । लिङ्ग्यते ज्ञाप्यते प्रत्यगात्मसद्भाव एभिरिति लिङ्गानि तानि च तानि शरीराणि च शरीरप्रतिष्ठत्वाच्छरीरसाधनत्वाद्वा धर्मादिद्वारेणेति लिङ्गशरीराणीत्यर्थः । तथाच प्रयोगः । विमतानीन्द्रियाणि प्राणश्च स्वातिरिक्तस्वानुगतचैतन्याधिष्ठानपूर्वकप्रवृत्तयोऽचेतनत्वाद्रथादिवत इति । श्रुतिश्च भवति—"प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः" इति, "यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणं" इत्यादिका च । के पुनः सप्तदशावयवा इति तानाह—अवयवास्त्विति । ननु कथं लिङ्गशरीरं सप्तदशावयवमिति निर्धार्यते । यावता पुर्यष्टकं लिङ्गमाचक्षते सुरेश्वराचार्याः पञ्चीकरणवार्तिके—

"ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च ।
मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं चेति चतुष्टयम् ॥

अनुवाद—

सूक्ष्मशरीर को लिङ्गशरीर कहा जाता है, उसके सत्रह अवयव होते हैं। वे हैं पाँच ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि और मन, पाँच कर्मेन्द्रिय तथा पाँच वायु (प्राण)। ज्ञानेन्द्रियों के नाम हैं श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, इनकी उत्पत्ति आकाश आदि के व्यस्त—अन्य से असम्पृक्त सात्त्विक अंशों से होती है।

व्याख्या—

यह कहा जाता है कि सूक्ष्म आकाश आदि पाँच अपञ्चीकृत भूतों से सूक्ष्मशरीर और स्थूलभूतों की उत्पत्ति होती है, अब प्रस्तुत पङ्क्तियों से सूक्ष्मशरीर का परिचय दिया जा रहा है। सूक्ष्म शरीर का अर्थ है अत्यन्त छोटा शरीर, इतना छोटा जो देखा और छुआ न जा सके, जिससे सुख, दुःख का अनुभव न हो सके। सूक्ष्म शरीर को ही लिङ्ग शरीर कहा जाता है। इसे लिङ्ग दो अर्थों में कहा जाता है। 'लिङ्ग्यते ज्ञाप्यते यत् तत् लिङ्गम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार लिङ्ग शब्द का एक अर्थ यह है कि जो लिङ्गित हो अर्थात् अनुमान प्रमाण से ज्ञात हो। सूक्ष्म शरीर का प्रत्यक्ष नहीं होता किन्तु अनुमान से ही उसका ज्ञान होता है, इसलिए उसे लिङ्ग शरीर कहा जाता है, उसका अनुमान इस प्रकार होता है 'जीव मोक्ष न होने तक स्थूल शरीर के अभावकाल में भी शरीराश्रित होता है क्योंकि उस समय भी वह सक्रिय होता है, और जीव की सक्रियता शरीर के बिना हो नहीं सकती, यदि यह कहा जाय कि उस समय जीव की सक्रियता असिद्ध है तो यह ठीक नहीं है क्योंकि उस समय यदि वह

प्राणोऽपानस्तथा व्यान उदानाख्यस्तथैव च ।
समानश्चेति पञ्चैताः कीर्तिताः प्राणवृत्तयः ॥
खं वाय्वग्न्यब्धरित्र्यश्च भूतसूक्ष्माणि पञ्च च ।
अविद्याकामकर्माणि लिङ्गं पुर्यष्टकं विदुः" ॥ इति ।

अन्यत्र पुनरन्यादृशं वर्णितम् । भूतसूक्ष्मपञ्चकं कर्मज्ञानेन्द्रियपञ्चक-द्वयं चतुर्वृत्तिकमेकमन्तःकरणं पञ्चवृत्तिक एकः प्राणश्चेति सप्तदशावयवा इति । अतः कथं निर्णय इति । उच्यते । न चैतेषां पक्षाणां विकल्पोऽभ्युपेयते वस्तुनि तदयोगान्नापि समुच्चयस्तत्र प्रमाणाभावात्किन्त्विहोक्तस्य सप्तदशकस्यैव संक्षेपविस्तरभेदेन तथा तथा तत्र तत्र कथनम् । तथाहि । इहोक्तानां हि सप्तदशानामवयवानां भूतसूक्ष्माण्युपादानानि तदुपादानं चाविद्या । अतश्चोपादानोपादेययोरभेदान्नाविद्या भूतसूक्ष्मेभ्यः पृथग्विवक्ष्यते । भूतसूक्ष्माणि च लिङ्गशरीरेभ्यो न पृथगभिप्रेयन्ते । कामकर्मणोरप्यन्तःकरणवृत्तित्वेन तदाश्रितत्वेन च तदभेदान्न पार्थगर्थ्यविवक्षा । अतः पुर्यष्टकवार्तिकेन न विरोधः । तथा पक्षान्तरेऽपि भूतसूक्ष्माणि तत्कार्येभ्यः

सक्रिय न होगा तो नये स्थूल शरीर में उसका प्रवेश न हो सकेगा, फलतः पूर्व संचित कर्मों का फलभोग एवं मोक्ष के उपायों का अनुष्ठान न हो सकने से वह कभी मुक्त न हो सकेगा, अतः एक स्थूल शरीर के निष्प्राण होने पर उसे त्याग कर नये स्थूल-शरीर में प्रवेश करने के लिए जो क्रिया अपेक्षित है उसके लिए जीव को शरीराश्रित मानना आवश्यक है क्योंकि जीव में सक्रियता शरीर से ही सम्भव होती है ।

लिङ्ग शब्द का दूसरा अर्थ है अनुमापक जो 'लिङ्गयते ज्ञाप्यते अनेन' इस व्युत्पत्ति से लब्ध होता है । इसके अनुसार लिङ्ग शरीर का अर्थ है अनुमापक शरीर, यह शरीर आकाश आदि सूक्ष्मभूतों का अनुमापक है, अनुमान इस प्रकार होता है 'सूक्ष्म शरीर सकारणक है क्योंकि विनश्वर भाव है जो विनश्वर भाव होता है वह सकारणक होता है जैसे घट, पट आदि । अनादि अज्ञान में विनश्वर भावत्व में सकारणकत्व के व्यभिचार का उद्भावन नहीं किया जा सकता क्योंकि अज्ञान अभावभिन्न अर्थ में भाव कहा जाता है वास्तव में वह भावात्मक नहीं होता । यदि यह कहा जाय कि वेदान्त मत में तो वास्तव में भावात्मक केवल ब्रह्म ही होता है, उससे भिन्न जो कुछ बुद्धिगत होता है, वह सब भाव-अभाव से विलक्षण अनिर्वचनीय होता है अतः वास्तवभावत्व को हेतुघटक बनाने पर वास्तव भाव के विनश्वर न होने से विनश्वरभावत्व हेतु की अप्रसिद्धि हो जायगी, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि वेदान्तमतानुसार विनश्वरभाव का अर्थ है भावात्मक परिणाम । अज्ञान परिणामी है किसी का परिणाम नहीं है अतः उसके सकारणक न होने पर भी उसके द्वारा हेतु में व्यभिचार का उद्भावन नहीं हो सकता । उक्तरीति से सूक्ष्म शरीर अपने कारणरूप में सूक्ष्म आकाश आदि भूतों का अनुमापक होने से लिङ्ग शरीर की संज्ञा प्राप्त करता है ।

पृथक्कृत्यान्तःकरणप्राणयोश्च वृत्तिवृत्तिमतोरभेदं गृहीत्वा सप्तदशत्वं निरूपितम्। तथा च "सप्तदशः प्रजापतिः" इति श्रुतेः प्रजापतेर्हिरण्यगर्भस्य सप्तदशत्वावगमात्सप्तदशावयवमेव लिङ्गशरीरं मुख्यं ज्ञेयमिति। तदुक्तमभियुक्तैः—

"मुख्यं तु सप्तदशकं प्रथितं हि लिङ्गम्" ॥ इति।

ज्ञानसाधनानीन्द्रियाणि—ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि। तेषां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धग्राहकेन्द्रियत्वानि प्रत्येक यथाक्रमं लक्षणानि। इन्द्रियाण्याहङ्कारिकाणीति सांख्यास्तान्निराकुर्वंस्तेषां भौतिकत्वं कथयति—एतानीति। कारणगुणेनोत्पन्नत्रिगुणानां भूतानां सत्त्वगुणावच्छिन्नेभ्योंऽशेभ्यो गुणोद्रेकृतभागेभ्यः श्रोत्रादीनि जातानीत्यर्थः।

सूक्ष्म शरीर के सत्रह अवयव बताये गये, किन्तु अवयव शब्द का अर्थ नहीं स्पष्ट किया गया, किन्तु उसका स्पष्टीकरण आवश्यक है क्योंकि न्याय-वैशेषिक दर्शन में अवयव शब्द के दो अर्थ प्रसिद्ध हैं एक समवायिकारण और दूसरा घटक। जैसे घट, पट आदि के समवायिकारण कपाल, तन्तु आदि को 'अवयुवन्ति नवीनद्रव्यस्योत्पादनाय मिश्रीभवन्ति, मिथः संयुज्यन्ते' इस व्युत्पत्ति से घट, पट आदि के आरम्भक संयोग का आश्रय होने से कपाल आदि के अवयव कहा जाता है, एवं परार्थानुमानभूत न्यायवाक्य के अर्थबोध को सम्भव बनाने के लिए 'अवयुवन्ति घटन्ते परस्पराकाङ्क्षालक्षणं मिश्रणं लभन्ते' इस व्युत्पत्ति से प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण आदि न्यायवाक्य का घटक होने से न्यायवाक्य के अवयव कहे जाते हैं, अतः यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जिन्हें सूक्ष्म शरीर का अवयव कहा गया है वे समवायिकारण—उपादानकारण अर्थ में अवयव हैं अथवा घटक अर्थ में अवयव हैं? इसके उत्तर में वेदान्तमतानुसार यह निर्णय देना उचित होगा कि वेदान्तदर्शन में अवयव-अवयविभाव मान्य नहीं है, किन्तु परिणामिपरिणामभाव मान्य है अतः न्यायदर्शन में अवयव शब्द के प्रसिद्ध प्रथम अर्थ को वेदान्तमत में स्वीकार करना सम्भव न होने से उसका दूसरा अर्थ ही स्वीकार्य हो सकता है, वह भी उक्त दूसरी व्युत्पत्ति से लभ्य अर्थ में नहीं अपि तु 'अवयुवन्ति घटन्ते ब्रह्मस्वरूपावरणाय मिथः सहयोगं लभन्ते' इस व्युत्पत्ति से ब्रह्म के आवरणकारी कोश अर्थ में।

पांच ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि और मन ये दो, पांच कर्मेन्द्रिय तथा पांच प्राण' सब मिला कर ये सत्रह सूक्ष्मशरीर के अवयव हैं। इनमें ज्ञानेन्द्रिय का अर्थ है ज्ञान का करणभूत इन्द्रिय, इनका नाम है श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण। 'श्रूयते अनेन' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस इन्द्रिय से आकाशगुण शब्द को सुना जाय उस इन्द्रिय का नाम है श्रोत्र, 'त्वच्यते संव्रियते देहोऽनया' इस व्युत्पत्ति से त्वक् देहको ढकने वाले चर्म का नाम है, चर्म स्पर्श को ग्रहण करने वाले इन्द्रिय के रहने का स्थान है। अतः स्थान का वाचक होने से चर्म का बोधक त्वक् शब्द स्पर्श ग्राहक इन्द्रिय का लाक्षणिक नाम है, उसका अपना नाम है 'स्पर्शन' जो 'स्पृश्यतेऽनेन—जिससे शीत, आदि पदार्थों का

बुद्धिर्नाम निश्चयात्मिकान्तःकरणवृत्तिः। मनो नाम सङ्कल्पविकल्पात्मिकान्तःकरणवृत्तिः। अनयोरेव चित्ताहङ्कारयोरन्तर्भावः। एते पुनराकाशादिगतसात्त्विकांशेभ्यो मिलितेभ्य उत्पद्यन्ते। एतेषां प्रकाशात्मकत्वात्सात्त्विकांशकार्यत्वम्।

स्पर्श किया जाय' इस व्युत्पत्ति से स्पर्श ग्राहक इन्द्रिय का बोधक है। 'चष्टे अनेन--जिससे प्राणी नील, पीत आदि रूपों को देखता है' इस व्युत्पत्ति से चक्षु शब्द रूपदर्शी इन्द्रिय का बोधक होता है। 'हूयते शब्दायतेऽनेन—जिससे मनुष्य शब्द करता है—बोलता है' इस व्युत्पत्ति से जिह्वा शब्द शब्दोच्चारण के साधनभूत जीभ का बोधक है, यह रसग्राहक इन्द्रिय के रहने का स्थान है। स्थान का वाचक होने से यह नाम भी स्थानी रसग्राहक इन्द्रिय का लाक्षणिक नाम है, उसका अपना नाम है 'रसन' जो 'रस्यते स्वाद्यतेऽनेन—जिससे स्वाद लिया जाय, खट्टे, मीठे रस का अनुभव किया जाय' इस व्युत्पत्ति से रसग्राहक इन्द्रिय का बोधक है। 'जिघ्रति—गन्धं गृह्णाति अनेन—जिससे प्राणी गन्ध को ग्रहण करता है' इस व्युत्पत्ति से घ्राण शब्द गन्धग्राहक इन्द्रिय का बोधक है।

ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति आकाश आदि के व्यस्त—अन्य भूत के सत्त्व से असम्पृक्त सत्त्वात्मक अंशों से होती है, जैसे केवल आकाश के सत्त्वभाग से श्रोत्र की, केवल वायु के सत्त्वभाग से त्वक्—स्पर्शग्राहक इन्द्रिय की, केवल तेज के सत्त्वभाग से चक्षु की, केवल जल के सत्त्वभाग से जिह्वा—रसग्राहक इन्द्रिय की, केवल पृथ्वी के सत्त्वभाग से घ्राण की उत्पत्ति होती है। ज्ञानेन्द्रियों को भूतजन्य बताकर इन्द्रियों की सांख्यसम्मत अहंकारजन्यता के विषय में वेदान्तदर्शन की असम्मति सूचित की गई। अतः सांख्य की यह उत्पत्तिप्रक्रिया कि त्रिगुणात्मक प्रकृति से महत् तत्त्व—अन्तःकरण की, उससे अहंकार की और अहंकार से पञ्चतत्त्व तथा इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है, वेदान्तदर्शन को अमान्य समझनी चाहिये। श्रोत्र को आकाश के सत्त्वभाग से जन्य बताकर उसकी न्यायदर्शनसम्यत नित्य आकाशरूपता के सम्बन्ध में वेदान्त की अनभिमति सूचित की गई। अतः आकाश एक विभु नित्य द्रव्य है, कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न वह द्रव्य—कर्णच्छिद्र ही अपने में उत्पन्न शब्द का ग्राहक श्रोत्र इन्द्रिय है, इस न्यायमत को वेदान्त की दृष्टि से अमान्य समझना चाहिये।

श्रोत्र आदि इन्द्रियों को शरीर के बाहरी भाग में अवस्थित होने तथा बाहरी विषयों का ग्राहक होने से बाह्य ज्ञानेन्द्रिय कहा जाता है।

अनुवाद—

बुद्धि और मन भी लिङ्ग शरीर का अवयव है। उनमें बुद्धि का अर्थ है अन्तःकरण की निश्चयात्मक वृत्ति और मनका अर्थ है अन्तःकरण की संकल्पविकल्पात्मक—शयरूप वृत्ति। इन्हीं में चित्त और अहङ्कार का भी अन्तर्भाव है, ये आकाश आदि के

बुद्धिमनसी लक्षयति—बुद्धिर्नामेति । निश्चयोऽध्यवसायः । इदमित्थमेवेति विषयपरिच्छेदः । सङ्कल्प इदं नीलमिदं पीतमिति विषयविवेचनम् । विकल्पस्तद्विपर्यय इति भेदः । नन्वन्तःकरणस्य चतुष्टयत्वप्रसिद्धेः कथमिह द्वयमेव गृहीतमित्यत आह—अनयोरेवेति । अनुसन्धानात्मिकान्तःकरणवृत्तिश्चित्तम् । अभिमानात्मिकान्तःकरणवृत्तिरहङ्कारः । चित्तस्य बुद्धावन्तर्भावो विषयपरिच्छित्तिरूपत्वाविशेषात् । अहङ्कारस्य मनस्यन्तर्भावस्तस्यापि सङ्कल्पात्मकत्वाविशेषात् । एवं स्वरूपाभेदेऽपि विषयभेदात्क्वचित्क्वचिच्चित्ताहङ्कारयोर्बुद्धिमनोभ्यां पृथङ्निर्देशः । बुद्धेर्ह्यपूर्वो विषयश्चित्तस्य पूर्वानुभूतः । तथा मनसो बाह्य आभ्यन्तरश्च सर्वो विषयो यथायोगमहङ्कारस्य त्वनात्मोपरक्त आत्मैवेति । अतो विषयभेदेऽपि स्वरूपाभेदाद्युक्तोऽन्तर्भावः ॥

पूर्ववदेषां चतुर्णामप्यन्तःकरणभेदानां भौतिकत्वमाह—एते पुनरिति । उक्तानां ज्ञानेन्द्रियाणामन्तःकरणानां च भूतगतसात्त्विकांशकार्यत्वे हेतुमाह—एतेषां प्रकाशात्मकत्वादिति । 'तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्'' । इति स्मृतेः । सत्त्वकार्यभूतः प्रकाश इन्द्रियान्तःकरणेषूपलभ्यमानस्तेषां सत्त्वकार्यतां गमयतीत्यर्थः ।

मिलित सात्त्विक अंशों से उत्पन्न होते हैं, ये सब प्रकाशात्मक हैं प्रकाशत्व सत्त्वगुण का धर्म है, अतः ये सब सात्त्विक अंशों के कार्य हैं ।

व्याख्या—

बुद्धि आदि को समझने के लिए पहले अन्तःकरण को समझना आवश्यक है । अन्तः-अर्थ है शरीर के अन्दर रहनेवाली इन्द्रिय, इससे बाहरी वस्तुओं का सीधे ग्रहण नहीं होता किन्तु बाह्य ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से होता है, सीधे यह शरीर के अन्दर की वस्तुओं को ही ग्रहण करता है जैसे अज्ञान एवं प्रत्यक्षयोग्य ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, सुख, दुःख आदि अपनी वृत्तियाँ । यह मूलतः एक होता है पर अपनी प्रमुख वृत्तियों के चार होने से चार माना जाता है और उन वृत्तियों के नाम से व्यवहृत होता है । वृत्तियों के नाम हैं बुद्धि, मन, चित्त और अहंकार । अन्तःकरण की निश्चयात्मक वृत्ति का नाम है बुद्धि, सङ्कल्पविकल्परूप—संशयात्मक वृत्ति का नाम है मन, स्मरण—चिन्तनरूप वृत्ति का नाम है चित्त और अभिमान—गर्वरूप वृत्ति का नाम है अहंकार । धर्मराजाध्वरीन्द्र ने अपनी वेदान्तपरिभाषा में अन्तःकरण के इन भेदों के समर्थन में पूर्ववर्ती आचार्य की एक कारिका उद्धृत की है जो इस प्रकार है—

मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमान्तरम्,
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे ॥

अन्तःकरण चार हैं मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त, इनके विषय हैं क्रम से संशय, निश्चय, गर्व तथा स्मरण ।

इयं बुद्धिर्ज्ञानेन्द्रियैः सहिता विज्ञानमयकोशो भवति। अयं कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखित्वदुःखित्वाद्यभिमानित्वेनेहलोकपरलोकगामी व्यावहारिको जीव इत्युच्यते। मनस्तु ज्ञानेन्द्रियैः सहितं सन्मनोमयकोशो भवति।

वेदान्तसार के कर्त्ता ने चित्त का बुद्धि में और अहंकार का मन में अन्तर्भाव कर अन्त:करण के दो ही भेद माने हैं 'बुद्धि एवं मन'। उनका आशय है कि स्मरण निश्चयात्मक अनुभव से उसके अनुसार उत्पन्न होने से निश्चयात्मक होता है अत: निश्चयात्मिका बुद्धि से उसे पृथक् मानने में कोई औचित्य नहीं है, इसी प्रकार गर्व के अपने में अन्यों की अपेक्षा उत्कर्षविषयक सम्भावना रूप होने से उसेसंशयात्मक मन से भिन्न मानने में कोई युक्ति नहीं है क्योंकि सम्भावना के उत्कट एककोटिक संशयरूप होने से संशयात्मक मन में उसका अन्तर्भाव ही उचित है।

श्रोत्र आदि इन्द्रियों के समान बुद्धि तथा मन रूप अन्त:करण भी यद्यपि ज्ञानेन्द्रिय ही है तथापि उसकी उत्पत्ति आकाश आदि किसी एक मात्र भूत के सत्त्व अंश से नहीं होती किन्तु आकाश आदि पाँचों सूक्ष्म भूतों के सत्त्व अंशों के मिश्रण से होती है इसीलिये वह श्रोत्र आदि सभी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा उनके विषयाकार वृत्ति के रूप में परिणत होता है तथा आकाश आदि भूतों के व्यस्त रजोगुणात्मक अंशों से उत्पन्न होने वाली कर्मेन्द्रियों को भी उनके कार्यों में सहयोग प्रदान करता है। ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों का सहयोगी होने से ही सांख्यदर्शन में अन्त:करण को ज्ञान, कर्म उभयेन्द्रिय माना गया है।

श्रोत्र आदि बाह्य ज्ञानेन्द्रियों तथा बुद्धि और मन रूप अन्त:करण को आकाश आदि सूक्ष्म भूतों के सात्त्विक अंश का कार्य कहा गया है, यह इसलिये कि ये सब प्रकाशात्मक हैं—प्रकाश के जनक हैं। इनकी प्रकाशात्मकता तभी सम्भव हो सकती है जब इनकी उत्पत्ति प्रकाशात्मक सत्त्व से हो, क्योंकि सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों में सत्त्वगुण ही प्रकाशात्मक एवं प्रकाश का जनक है यह बात इस त्रिगुणवाद को मानने वाले सभी दार्शनिकों को स्वीकार्य है, जिसकी पुष्टि 'सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टम्' इस सांख्यकारिका १३ के भाग से तथा 'तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्' इस भगवद्गीता १४।६ के भाग से प्राप्य है।

अनुवाद—

ज्ञानेन्द्रियों सहित यह बुद्धि विज्ञानमय कोश है, इस कोश को व्यावहारिक जीव कहा जाता है, यह अपने को कर्त्ता, भोक्ता, सुखी, दुखी आदि होने का अभिमान करने से इहलोक और परलोक में आवागमन करता है। ज्ञानेन्द्रियों सहित मन मनोमय कोश होता है।

निरूप्यमाणे लिङ्गशरीर उक्तैरवयवैः सिद्धमवान्तरभेदं कथयति—इयं बुद्धिरिति। बुद्धिग्रहणेनार्थान्मनोव्यावृत्तिरभिप्रेता। तदुपहितचैतन्यस्य च व्यपदेशभेदमाह—अयमिति। अयं विज्ञानमयकोशावच्छिन्नश्चिदात्मा जीव इत्युच्यत इत्यन्वयः। तस्य प्राज्ञात्मनो विशेषमाह—व्यावहारिक इति। व्यवहारमेव विशेषणान्तरेण व्यनक्ति—इहलोकेति। तत्र हेतुमाह—कर्तृत्वेति। तथा च श्रुतिः—

"विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च"। इति।

कर्तृत्वादिकं चैतन्यात्मनो न वास्तवं किंत्वाभिमानिकमित्यभिप्रेत्याभिमानित्वेनेत्युक्तम्। तथा च श्रुतिः—"स समानः सन्नुभौ लोकावनुसञ्चरति ध्यायतीव लेलायतीव" इत्याद्या। इवशब्देन व्यवहारस्याभासतां दर्शयति। तथा न्यायौ च—"कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्", "यथा च तक्षोभयथा" इति च कर्तृत्वाकर्तृत्वयोर्व्यावहारिकपारमार्थिकत्वे व्यवस्थापयतः। पूर्ववन्मनः सम्बद्धमवान्तरभेदमाह—मनस्त्विति।

व्याख्या—

उक्त सत्रह अवयवों से घटित लिङ्ग शरीर को वेदान्तशास्त्र में आत्मचैतन्य को आवृत करने वाले तीन कोशों के रूप में वर्णित किया गया है, उनके नाम हैं विज्ञानमयकोश, मनोमय कोश और प्राणमय कोश। इनमें प्रथम में श्रोत्र आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियां तथा बुद्धि का समावेश है और दूसरे में उक्त ज्ञानेन्द्रियां एवं मन का समावेश है। ज्ञानेन्द्रियों से युक्त बुद्धि विज्ञानमय कोश है और ज्ञानेन्द्रियों से युक्त मन मनोमय कोश है।

विज्ञानमय कोश को—विज्ञानमय कोश से उपहित आत्मचैतन्य को व्यावहारिक जीव कहा जाता है। व्यावहारिक का अर्थ है व्यवहार के लिये स्वीकृत किंवा व्यवहार का कर्ता। वेदान्त दर्शन में एक मात्र आत्मचैतन्य-ब्रह्मचैतन्य ही पारमार्थिक है, वह कूटस्थ नित्य होने से व्यवहारोपयोगी नहीं है, न वह कर्ता हो सकता है और न वह भोक्ता हो सकता है, वह सुख, दुःख का आस्पद भी नहीं हो सकता, इह लोक, परलोक में उसका आना जाना भी सम्भव नहीं है, किन्तु जब वह विज्ञानमयकोश से उपहित होता है तब उसमें कोश के कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख, दुःख आदि का अभिमान होने लगता है और कोश के इहलोक, परलोक में आने जाने से उसमें भी आने जाने का व्यवहार होने लगता है। कर्ता होने से कर्मानुसार जीव का इहलोक, परलोक में आना जाना होता है, यह क्रिया कर्मफलों के भोग के लिये आवश्यक है क्योंकि इहलोक और परलोक ही वह उपयुक्त स्थल है जहाँ सुख-दुःखरूप कर्मफलों का अनुभवात्मक भोग सम्पन्न हो सकता है। विज्ञानमय कोश के सम्बन्ध से व्यवहारोपयोगी होने से ही उस कोश से उपहित आत्मचैतन्य को व्यावहारिक जीव कहा जाता है।

कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि । एतानि पुनराकाशादीनां रजोंऽशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक् पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते ।

कर्मसाधनानीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि । तानि विभजते—कर्मेन्द्रियाणीति । वचनादानगमनविसर्गानन्दसाधनेन्द्रियत्वं यथाक्रमं वागादीनां प्रत्येकं लक्षणम् । एतेषामपि पूर्ववद्भौतिकत्वमाह—एतानि पुनरिति ।।

ननु कथमिन्द्रियाणां भौतिकत्वं निर्दिश्यते यत एषां भूतयोनेः परमकारणादेवोत्पत्तिः श्रूयते । "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" इति सत्यं श्रूयते । तत्रार्थक्रममेवाश्रित्य भूतभावमापन्नात्तस्माद्भूतयोनेरिन्द्रियोत्पत्तिराश्रिता । तथा च न्यायः—"अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात्" इति । न चैतेषां भौतिकत्वे प्रमाणाभावः "अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्" इति श्रौतलिङ्गस्य प्रमामारुह्य वाचा हि सर्वाणि नामान्याप्नोति" इति कौषीतक्यादौ चक्षुरादिभिः सह वाचः समभिव्याहृतत्वात् । आथर्वणे च—"चक्षुश्च द्रष्टव्यं च" इत्यादिना सविषयाणीन्द्रियाण्यनुक्रम्य "हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च" इति सविषयाणां समभिव्याहृ-

---

ज्ञानेन्द्रियों से युक्त मन मनोमय कोश है, इससे भी आत्मचैतन्य का आवरण होता है, यह व्यावहारिक जीव का उपकरण है, इसके घटक मन में किसी विषय का संकल्प विकल्प होने पर विज्ञानमयकोश का घटक बुद्धि उस विषय का निश्चय करती है जिसके अनुसार जीव के अग्रिम व्यवहार सम्पादित होते हैं ।

अनुवाद—

कर्मेन्द्रियाँ वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ नामवाली हैं, ये आकाश आदि सूक्ष्म भूतों के व्यस्त राजस् अंशों से पृथक् पृथक् क्रम से उत्पन्न होती हैं ।

व्याख्या—

जिन करणों से स्थूल शरीर के अवयव जिह्वा, हाथ, पैर, मलमार्ग और मूत्रनली के कर्म सम्पादित होते हैं उन्हें कर्म का करण होने से कर्मेन्द्रिय कहा जाता है । कर्मेन्द्रियों की संख्या पांच है, उनके नाम हैं वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ । 'वक्ति यया–जिससे मनुष्य बोलता है' इस व्युत्पत्ति के अनुसार वाक् का अर्थ है शब्दोच्चारण का साधन, यह साधन स्थूल शरीर के अङ्गभूत जिह्वा पर अवस्थित हो शब्दोच्चारण का सम्पादन करता है । 'पणते—व्यवहरति किं वा पणायति—स्तौति येन—जिससे मनुष्य आदान प्रदान रूप व्यवहार करता है अथवा जिससे स्तुति करता है' इस व्युत्पत्ति से पाणि का अर्थ है कर, यह स्थूल शरीर के अङ्ग हाथ में अवस्थित हो व्यवहार किं वा स्तुति का सम्पादन करता है, पद्यते—गच्छति येन—जिससे मनुष्य गतिमान् होता है' इस व्युत्पत्ति से पाद का अर्थ है गति का करण, यह स्थूल शरीर के अङ्ग चरणों में अवस्थित हो उन्हें गतिशील बनाता है । 'पाति-रक्षति येन

तत्वात् । एतानि चेन्द्रियाण्येकादशैव भवन्ति न न्यूनानि नाधिकानि। "दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः" इति श्रुत्यनुरोधेन सिद्धान्तितत्वात्। अत्रात्मशब्दो मनोविषयः प्राणशब्द इतरेन्द्रियविषय इति भेदः। अणुत्वं चैषां परिच्छिन्नत्वे सति सूक्ष्मत्वलक्षणमभ्युपगन्तव्यं न तु परमाणुलक्षणत्वम्। तथा सति सर्वशरीरव्यापिकायानुपपत्तिप्रसङ्गात्। अपरिच्छिन्नत्वे चोत्क्रान्तिगत्यागतिश्रुतिव्याकोपप्रसङ्गः। स्थूलत्वे चोत्क्रान्तिसमये बिलान्निर्गच्छन्त इव सर्पाः शरीरच्छिद्रेभ्यो निष्क्रममाणानीन्द्रियाणि प्रत्यक्षेणोपलभ्येरन्। न चोपलभ्यन्ते। तस्मादुक्तप्रकारेणाणूनीन्द्रियाणि। ननु "अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्" इत्यादिश्रुतेरग्न्यादिदेवतानामेव मुखादिस्थानेषु वागादीन्द्रियात्मना प्रवेशश्रवणात्कथमेतेषां भौतिकत्वमुच्यत इति चेन्नैष दोषः। देवतानामप्याधिदैविकप्राणात्मनां भौतिकदेहविशिष्टचेतनानामेवैश्वर्ययोगादध्यात्मं वागादिरूपेण मुखादिष्ववस्थानस्येष्टत्वात्। तथा च भौतिकान्यपीन्द्रियाणि देवताशरीराणि चेति न विरुध्यन्ते। यद्वा इन्द्रियाण्युक्तलक्षणानि भौतिकान्यव देवतानां पुनस्तदधिष्ठातृत्वेन तच्छरीरतया तत्र प्रवेश एव "अग्निर्वाग्भूत्वा" इत्यादावाम्नायत इति। तथा च न्यायः—"ज्योतिराद्यधिष्ठानं

—जिससे मनुष्य मलत्यागकर अपने शरीर की रक्षा करता है' इस व्युत्पत्ति से पायु का अर्थ है मल त्याग का साधनभूत इन्द्रिय। यह स्थूल शरीर के गुदभाग-मलनिर्गम मार्ग में अवस्थित हो मलत्याग का सम्पादन करता है। 'उपतिष्ठति-पुरुषः स्त्रियं स्त्री वा पुरुषं येन-जिससे पुरुष स्त्री को अथवा स्त्री-पुरुष को तुष्ट करती है' इस व्युत्पत्ति से पुरुष और स्त्री के गुप्तेन्द्रिय का नाम है उपस्थ। इससे मूत्र का निर्गम होता है, यह स्त्री पुरुष के स्थूल शरीर में योनि और लिङ्ग में अवस्थित होता है।

कर्मेन्द्रियों से वाक् की उत्पत्ति केवल सूक्ष्म आकाश के राजस भाग से, पाणि की उत्पत्ति केवल सूक्ष्म वायु के राजस भाग से, पाद की उत्पत्ति केवल सूक्ष्म तेज के रजोभाग से, पायु की उत्पत्ति केवल सूक्ष्म जल के राजस भाग से और उपस्थ की उत्पत्ति केवल सूक्ष्म पृथिवी के रजोभाग से होती है।

आकाशगुण शब्द के उच्चारण का साधन होने से वाक् को आकाश के रजोभाग से; आदेय, प्रदेय वस्तु का उत्थायक होने से पाणि को उत्त्थानकारी वायु के रजोभाग से; गति का साधन होने से पाद को तीव्रगतिस्वभाव तेज के रजोभाग से; जल के सहयोग से मलनिर्गम का साधन होने से पायु को जल के रजोभाग से; मूत्र, रज, वीर्य जैसे तरल पदार्थ के निर्गम का साधन होने से तरल पदार्थ की गति में सहायक पृथिवी के रजोभाग से उत्पन्न माना गया है।

सांख्यदर्शन में भी इन कर्मेन्द्रियों की सत्ता स्वीकार करते हुये इनके बोलने, ग्रहण करने, चलने, मलत्याग करने तथा मूत्रादि के त्याग से आनन्दजनन की क्रियावों का वर्णन किया गया है।

वायवः प्राणापानव्यानोदानसमानाः । प्राणो नाम प्राग्गमनवान्नासाग्रस्थानवर्ती । अपानो नामावाग्गमनवान्पाय्वादिस्थानवर्ती । व्यानो नाम विष्वग्गमनवानखिलशरीरवर्ती । उदानो नाम कण्ठस्थानीय ऊर्ध्वगमनवानुत्क्रमणवायुः । समानो नाम शरीरमध्यगताशितपीतान्नादिसमीकरणकरः ।

तु तदामननात्" इति । लिङ्गं च "स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति" इति तेजोमात्राणामिन्द्रियाणामुत्क्रान्तिसमये हृदयप्रवेशमुक्त्वा "स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ् पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति" इत्यादित्यपुरुषस्य चक्षुषोऽपक्रमणं दर्शयति । ये पुनर्मुख्यप्राणस्य वृत्तिभेदा वागादय इति वदन्ति तेऽप्यनयैव नीत्या निराकरणीयाः । "ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गाय" इत्युपक्रम्यासुरपाप्मविद्धत्वेन वागादीननुद्गातॄन्निर्धार्य समाप्य च वागादिप्रकरणं "अथ हेममासन्यं प्राणमूचुः" इति पृथगेव मुख्यप्राणस्य निर्देशात् । तथा सुषुप्तावपि वागादीनामुपसंहारो मुख्यप्राणस्य सवृत्तिकस्यास्ति जागरणमिति वैषम्यलिङ्गाच्च प्राणादिन्द्रियाणां भेदः । एवमादिन्यायकलापो द्वितीयेऽध्याये चतुर्थे पादे विस्तृतः । इह पुनर्वेदान्तसारत्वाद्ग्रन्थस्य वेदान्तविहिता न्याया लेशतो दर्शिता इति । तस्माद्युक्तमिन्द्रियाणां भौतिकत्वादीति स्थितम् ॥

प्रश्नोपनिषद् ४।८ में भी ज्ञानेन्द्रिय और उनके कार्यों का उल्लेख कर कर्मेन्द्रियों और उनके कर्मों का उल्लेख किया गया है, जैसे 'वाक् च वक्तव्यं च, हस्तौ च दातव्यं च, उपस्थश्चानन्दयितव्यं च, पायुश्च विसर्जयितव्यं च. पादौ च गन्तव्यं च' ।

स्त्री-पुरुष की आनन्ददायिनी एकान्तक्रिया में पहले वाक् का कार्य प्रेमालाप और पाणि का कार्य शरीर के कामवर्धक अङ्गों का स्पर्श होता है, इन दोनों कार्यों के अनन्तर उपस्थ का कार्य आनन्दजनन होता है, इसलिये उद्धृत उपनिषद्भाग में वाक्, हस्त और उपस्थ का उनकी क्रियावों के साथ क्रम से पहले उल्लेख किया गया है, यह क्रियायें मलत्याग और भ्रमण द्वारा शरीर के स्वास्थ्य पर निर्भर हैं अतः उक्त क्रियावों का उल्लेख करने के बाद पायु और पाद का उनकी मलविसर्जन और गमन क्रिया के साथ उल्लेख किया गया है ।

अनुवाद—

वायु हैं प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान । प्राण शरीर के पूर्व–ऊर्ध्व भाग में गतिशील रहता है और नासिका के अग्रदेश में अवस्थित रहता है, अपान शरीर के अधोभाग में गतिशील होता है और पायु आदि स्थानों में रहता हैं, व्यान शरीर के पूरे भाग में गतिशील होता है और समूचे शरीर में रहता है, उदान उत्क्रमणवायु–ऊपर की ओर जाने वाला वायु है, शरीर के ऊर्ध्वभाग में इसकी गति होती है, यह कण्ठ में रहता है। समान शरीर के अन्दर रहकर खान-पान द्वारा प्राप्त अन्न, जल आदि का समीकरण करता है।

इदानीं वायुपञ्चकं विभजते—वायव इति । प्राग्गमनमग्रतो निःसरणम् । यद्यपि "प्राणो हृदये" इतिश्रुतेः, "हृदि प्राण" इत्यभिधानाच्च हृदयस्थानः प्राणस्तथापि नासाग्रे प्रत्यक्षमुपलभ्यमानत्वान्नासाग्रस्थानवर्तीत्युक्तम् । अधो नाभेरधस्ताद्गमनवान्मलापनयनव्यापारेण । पायुर्गुदं तत्स्थानवर्तीत्यर्थः । आदिशब्दादुपस्थग्रहः । तत्रापि सूत्ररेतोविसर्गस्यापानकर्मत्वात् । विष्वक्परितः सर्वतो गमनं विद्यते यस्य स तथा । प्राणापाननियमनकर्मारण्यामग्न्युत्पादनादिवीर्यवत्कर्महेतुत्वादखिलशरीरवर्ती व्यान इत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—"अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यान" इत्युपक्रम्य "यथाग्नेर्मन्थनमाजेः सरणं दृढस्य धनुष आयमनमप्राणन्ननपानंस्तानि करोति" इति । यद्यपि "चक्षुषो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्य" इति श्रुतेरुत्क्रमणस्य चक्षुरादिद्वारेष्वनियमस्तथापि कण्ठसम्बन्धस्य प्रायेण नियतत्वात्कण्ठस्थानवर्त्युदान इत्युक्तम् । अशितादेः समं नयनात्समान इत्यर्थः ॥

व्याख्या—

'प्राणिति–प्रकर्षेण अनिति यः–जो प्रकृष्ट श्वसनात्मक होता है, इस व्युत्पत्ति से शरीर के उत्तमाङ्ग में उत्तमरीति से श्वसित होने वाले वायु का नाम है 'प्राण' ।

तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।१०।८।५) में 'प्राणो हृदये' कहकर प्राण की अवस्थिति हृदय में बतायी गयी है, किन्तु उसकी श्वास-प्रश्वास क्रिया की नासिकाके अग्रभाग में उपलब्धि होने से वेदान्तसार के रचयिता ने उसे नासिका के अग्रभाग में अवस्थित माना है । 'ब्राह्मण' वेद है और वेदान्त की दृष्टि में वेद सर्वोपरि प्रमाण है, अतः उसके साक्ष्य से हृदय को ही प्राण का स्थान मानना उचित है, वेदान्तसारकार ने जो नासिका के अग्रभाग को उसका स्थान कहा है उसका तात्पर्य प्राणक्रिया की उपलब्धि का स्थान वताने में है, अतः उक्त ब्राह्मणवचन और वेदान्तसारकार के कथन में कोई विरोध नहीं है ।

'अपकर्षेण अनिति—जो अपकृष्ट श्वास का जनक होता है' इस व्युत्पत्ति से शरीर के अधोभाग में श्वसित होने वाले वायु का नाम है 'अपान' । यह शरीर के निम्नभाग गुद आदि मल, मूत्र के निर्गमस्थानों में सक्रिय रहता है, अतः इसकी क्रिया को अपश्वास कहा जा सकता है ।

'विष्वग् अनिति—परितः शरीरं श्वसिति यः—जो शरीर के भीतर सब ओर श्वसित होता है' इस व्युत्पत्ति से पूरे शरीर में व्याप्त वायु का नाम है 'व्यान' । इससे प्राण और अपान का नियमन होता है । मनुष्य को जब कोई बलसाध्य विशेष कार्य करना होता है तब वह प्राण और अपान को नियन्त्रित कर, बल लगाकर उस कार्य को करता है, ऐसे कार्य में जो वायु सहायक होती है, उसे ही व्यान कहा जाता है । उसका वर्णन छान्दोग्य उपनिषद् में १।३।३ से १।३।५ तक किया गया है । जैसे 'अथ प्राणापानयोः यः सन्धिः स व्यानः—प्राण और अपान की जो सन्धि है वह व्यान है' ।

सन्धि का अर्थ है सन्धाता-निरोधक। जो वायु किसी विशेष कार्य के लिये प्राण और अपान का सन्धान करता है उनकी वृत्ति का निरोध करता है वही वायु 'व्यान' है। स्पष्ट है कि जब प्राण और अपान की वृत्ति को अभिभूत करने वाला एक विशेष वायु पूरे शरीर में भर जाता है, तब शरीर में विशेष बल आजाने से मनुष्य बल एवं श्रम से साध्य कठिन कार्यों का सम्पादन करता है। यह बात छान्दोग्य (१।३।५) में इस प्रकार कही गई है—

'अतो यान्यन्यानि वीर्यवन्ति कर्माणि यथाग्नेर्मन्थनमाजेः सरणं दृढस्य धनुष आयमनमप्राणन्ननपानन् तानि करोति—जो सामान्य कार्यों से भिन्न बलसाध्य कार्य होते हैं, जैसे अग्नि प्रकट करने के लिये दो काष्ठों का बलपूर्वक रगड़ना, युद्धभूमि से वेग के साथ पलायन करना, कठोर धनुष् को खींचना, इन कार्यों को मनुष्य प्राण और अपान की वृत्तियों का निरोध करके ही सम्पादित करता है,

'उद् आ अनिति—ऊर्ध्वम् आक्रम्य अनिति यः—जो अन्य वायुओं को दबाकर ऊपर की ओर निर्गत होता है' इस व्युत्पत्ति से शरीर के ऊपरी भाग से बाहर निकलने वाला वायु 'उदान' है। इसे उत्क्रमण वायु भी कहा जाता है, कण्ठगत होकर बहिर्गामी होने से इसे कण्ठस्थित माना जाता है। वृहदारण्यक उपनिषद् (४।४।२) में नेत्र, मूर्धा तथा शरीर के अन्यभागों से इसके बहिर्गमन का उल्लेख है किन्तु उन भागों में वह अवस्थित नहीं होता अपि तु कण्ठस्थान में ही अवस्थित होता है, क्योंकि कण्ठावरोधपूर्वक ही इसका उत्क्रमण होता है अतः इसे कण्ठस्थित मानना ही उचित है क्योंकि कण्ठस्थित न मानने पर कण्ठावरोधपूर्वक उत्क्रमण की उपपत्ति न हो सकेगी।

'समान—समीकरणाय अनिति यः—जो समीकरण के लिये शरीर के भीतर श्वसित होता है' इस व्युत्पत्ति से समीकरण के साधक वायु का नाम है 'समान'। प्राणी जो कुछ खाता, पीता है, इस वायु से उसका समीकरण होता है, समीकरण का अर्थ है परिपाक। अतः 'समान' का अर्थ है भुक्त, पीत पदार्थ को पचाने वाला वायु, जो जठराग्नि को उद्दीप्त कर उसके द्वारा अपने साध्य पाचनक्रिया का सम्पादन करता है, जिसके फलस्वरूप भुक्त, पीत का सारभाग रस, रक्त, शुक्र आदि में परिणत हो शरीर के भीतर रह जाता है और स्थूलभाग मल, मूत्र आदि बनकर शरीर के बाहर निकल जाता है। प्रश्नोपनिषद् ३।५ में 'समान' वायु की चर्चा इन शब्दों में की गई है 'मध्ये तु समानः, एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति' समान वायु प्राण और अपान के स्थानों के मध्य नाभिभाग में रहता है, यह प्राणी द्वारा जठराग्नि में डाले गये अन्न को सम-जीर्ण करता है। भुक्त-पीत के परिणामों का वर्णन छान्दोग्य उपनिषद् ६।५ तथा ६।६ में इस प्रकार किया गया है—

'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते, तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः (६।५।१)।'

खाये हुये अन्न के तीन परिणाम होते हैं, जब समान वायु से उद्दीप्त जठराग्नि अन्न को जीर्ण कर देती है तब उसका स्थूल भाग मल बन जाता है, मध्यमभाग-सूक्ष्मभाग रस, रक्त आदि के क्रम से मांस बन जाता है और सूक्ष्मतम भाग मन बन जाता है।

आप: पीतास्त्रेधा विधीयन्ते, तासां य: स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति, यो मध्यमस्तल्लोहितं, योऽणिष्ठ: स प्राण: (६।५।२)।

पिये हुये जल के तीन परिणाम होते हैं, जब जल जठर में जीर्ण होता है तब उसका स्थूल भाग मूत्र बन जाता है, सूक्ष्म भाग रक्त बन जाता है और सूक्ष्मतम भाग प्राण बन जाता है।

तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते, तस्य य: स्थविष्ठो भागस्तदस्थि भवति, यो मध्यम: सा मज्जा, योऽणिष्ठ: सा वाक् (६।५।३)।

पेट में डाले गये तेल, घी आदि तैजस पदार्थ के तीन परिणाम होते हैं, जब ये वस्तुएँ जीर्ण होती हैं तब इनका स्थूल भाग हड्डी बन जाता है, सूक्ष्मभाग मज्जा—हड्डियों को जोड़ने वाला चिकना पदार्थ बन जाता है, और उसका सूक्ष्मतम भाग वाक्-वाणी बन जाता है।

दध्न: सोम्य ! मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्व: समुदीषति तत्सर्पिर्भवति (६।६।१)। एवमेव खलु सोम्य ! अन्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्व: समुदीषति तन्मनो भवति (६।६।२)। अपां सोम्य ! पीयमानानां योऽणिमा स ऊर्ध्व: समुदीषति, स प्राणो भवति (६।६।३)। तेजस: सोम्य ! अश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्व: समुदीषति सा वाग् भवति (६।६।४)।

दही के मथने पर जैसे उसका सूक्ष्मतम भाग मक्खन के रूप में ऊपर उठ कर घी बन जाता है, उसी प्रकार अन्न खाने पर उसका सूक्ष्मतम भाग ऊपर उठ कर मन बन जाता है, पानी पीने पर उसका सूक्ष्मतम भाग ऊपर उठ कर प्राण बन जाता है, अग्नितेज के वर्धक तेल, घी आदि खाने पर उनका सूक्ष्मतम भाग ऊपर उठकर वाक् बन जाता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् (६।९।२६) में प्राण आदि पाँचों वायुओं का परस्पर सम्बन्ध बताते हुये समान वायु का सर्वाधिक महत्त्व बताया गया है। जैसे—

कस्मिन्नु त्वं चात्मा च प्रतिष्ठितौ स्थ ? इति, प्राण इति। कस्मिन्नु प्राण: प्रतिष्ठित ? इति, अपान इति। कस्मिन्नवपान: प्रतिष्ठित ? इति, व्यान इति, कस्मिन्नु व्यान: प्रतिष्ठित ? इति, उदान इति। कस्मिन्नूदान: प्रतिष्ठित ? इति, समान इति।

प्रश्न हुआ कि शरीर और आत्मा किसमें अवस्थित हैं, उत्तर दिया गया, प्राण में, जब तक शरीर में प्राण रहता है तभी तक शरीर के साथ आत्मा का सम्बन्ध रहता है।

केचित्तु नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयाख्याः पञ्चान्ये वायवः सन्तीति वदन्ति। तत्र नाग उद्गिरणकरः। कूर्म उन्मीलनकरः। कृकलः क्षुत्करः। देवदत्तो जृम्भणकरः। धनञ्जयः पोषणकरः। एतेषां प्राणादिष्वन्तर्भावात्प्राणादयः पञ्चैवेति केचित्।

मतान्तरमुत्थापयति स्वमतपरिशुद्धये—केचित्त्विति। तेषां लक्षणान्याह—नाग इत्यादिना। उद्गिरणं छर्दिः। उन्मीलनशब्दो निमीलनस्याप्युपलक्षणपरः। पोषणं पुष्टिः। अन्यत्प्रसिद्धम्। उत्थापितं मतं प्रत्याचष्टे—एतेषामिति। केचिच्छब्द औपनिषदविषयः। एतेषां नागादीनां प्राणादिष्वन्तर्भावादित्ययमर्थः। उद्गिरणं ह्यूर्ध्वमुखस्य वायोः क्रिया। ऊर्ध्वमुखस्य वायुरुदान इत्युक्तम्। तथा चोदानेनैवोद्गिरणस्यापि सिद्धौ नागस्य तत्कर्तुरुदानेऽन्तर्भावान्न ततः पृथक्त्वम्। उन्मीलनस्याङ्गचेष्टान्तर्गतत्वात्तस्याश्च व्याननिमित्तकत्वादुन्मीलनकर्तुः कूर्मस्य व्यानेऽन्तर्भावः। समानेनाशित-

---

पुनः प्रश्न हुआ कि प्राण किसमें अवस्थित होता है, उत्तर दिया गया, अपान में, अपान वायु की क्रिया ठीक ढंग से होते रहने तक ही शरीर में प्राण का संचार होता है। पुनः प्रश्न हुआ कि अपान किसमें अवस्थित होता है, उत्तर दिया गया, व्यान में, व्यान द्वारा नियन्त्रण होने से ही प्राण और अपान उचित रीति से शरीर के भीतर सक्रिय होते हैं, यदि व्यान द्वारा प्राण का नियन्त्रण न हो तो केवल उसका ऊर्ध्वश्वास ही होगा और अपान का यदि नियन्त्रण न हो तो केवल उसका अधोगमन ही फलतः होगा, असमय में ही मनुष्य का जीवन समाप्त हो जायगा। पुनः प्रश्न हुआ कि व्यान किसमें अवस्थित होता है, उत्तर दिया गया, उदान में। उदान वायु एक कील जैसा होता है, उक्त तीनों वायु उससे बँधे रहने से नियमित रहते हैं, अन्यथा तीनों की अनियमित क्रिया हो जाने पर असमय में ही शरीरपात हो सकता है। पुनः प्रश्न हुआ कि उदान किसमें आश्रित है, उत्तर दिया गया समान में। समान वायु से जठराग्नि का उद्दीपन यदि न हो तो भुक्त, पीत का परिपाक न होने पर अन्य वायुओं का पोषण न होने से शरीर के असक्त हो जाने पर मनुष्य की असामयिक मृत्यु हो सकती है, अतः स्पष्ट है कि प्राण आदि चार वायु समान वायु द्वारा ही स्वस्थ रह कर यथोचित रूप से क्रियाशील हो मनुष्य को जीवित रखते हैं।

अनुवाद—

कुछ लोग कहते हैं कि प्राण आदि से भिन्न पांच और वायु हैं जिसका नाम है नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय। उनमें नाग वायु वह है जिससे उद्गिरण—डकार, वमन आदि होता है, कूर्म वायु वह है जिससे उन्मीलन-आँखें खुलने और बन्द होने का कार्य होता है, कृकल वायु वह है जिससे भूख लगती है, देवदत्त वायु वह है जिससे जम्हाई आती है, धनञ्जय वायु वह है जिससे शरीर का पोषण होता है। इस सम्बन्ध में कुछ अन्य लोग यह कहते हैं कि इन वायुवों का प्राण आदि वायुवों के मध्य समावेश हो जाने से प्राण आदि पांच ही वायु हैं।

पीतादीनां पाकेन रसादिभावमापद्य सकलशरीरदेशेषु तत्प्रवेशने कृते सत्येव
क्षुधोत्पत्तेस्तत्कर्तुः कृकलस्य समानेऽन्तर्भावः। जृम्भणस्य निद्रालस्यादि-
हेतुकत्वान्निद्रालस्यादेश्च वातुलाद्यन्नोपजीवननिमित्तकत्वादन्नस्वीकरणस्य चापा-
नकर्मत्वादपान एव परम्परया जृम्भणहेतोर्देवदत्तस्यान्तर्भावः। अपाना-
ख्यस्यान्तर्मुखतया शरीरान्तःप्रविशतो वायोरन्नस्वीकरणहेतुत्वमैतरेयके
समाम्नायते—"तदपानेनाजिघृक्षत्तदावयत्" इति। रसलोहितमांसादिक्रमेण
शरीरेऽन्नपरिणामे सत्येव पोषणापरपर्यायायाः पुष्टेः सम्भवाद्रसादिनयनकर्तरि
समाने धनञ्जयस्यान्तर्भाव इति। तथा च प्राणादीनामेव यथायथ-
मुद्गारादिक्रियानिमित्ततयावस्थान्तरमापद्यमानानां नागादिसंज्ञाया अभ्युप-
पत्तौ तत्त्वान्तरकल्पनं तेषां गौरवमप्रामाणिकमिति भावः। श्रुतौ च पञ्चा-
नामेव प्राणादीनां तत्र तत्र श्रवणात्तद्विरुद्धा चेयं कल्पना। प्राणादयोऽपि
मुख्यस्यैकस्य प्राणस्य वृत्तिविशेषा एव न तत्त्वान्तरभूताः। "प्राणोऽपानो

व्याख्या—

वेदान्तसार की अपनी सुबोधिनी टीका में नृसिंह सरस्वती ने नाग आदि अन्य पांच वायुओं के अस्तित्व को कपिल के अनुयायियों का मत माना है और उसके समर्थन में 'गोरक्षसंहिता' से डेढ़ कारिका उद्धृत की है। जैसे—

उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने स्मृतः।
कृकलस्तु क्षुतिर्ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे ॥
न जहाति मृतं चापि सर्वव्यापी धनञ्जयः।

वेदान्तियों ने इनका पृथक् अस्तित्व नहीं माना है, उनका कहना है कि इन सभी का अन्तर्भाव प्राण आदि वायुवों में ही हो जाता है, जैसे नाग का कार्य उद्गिरण-वमन आदि ऊर्ध्वगामी उदान से सम्भव हो सकता है अतः उदान से नाग की भिन्नता स्वीकार करना निर्युक्तिक है। कूर्म का कार्य आँखों का उन्मीलन-खोलना और मूंदना शरीरावयव की क्रिया होने से शरीरक्रिया के जनक व्यान से सम्भव होने के कारण व्यान से पृथक् कूर्म का अस्तित्व मानने में कोई युक्ति नहीं है। कृकल का कार्य क्षुधा, मुक्त, पीत को पचाने वाले समानवायु से सम्पादित हो सकता है, अतः समान से पृथक् कृकल का अस्तित्व मानना अयौक्तिक है। देवदत्त का जंभाई रूप कार्य निद्रा, आलस्य आदि से सम्भूत है और निद्रा आदि वातकर अन्न आदि के भक्षण से होता है, अन्न का स्वीकार अपान का कार्य है, अतः अपान द्वारा वातुल अन्न के स्वीकार से उद्भूत निद्रा आदि से जन्य जंभाई रूप कर्म को अपानजन्य मान लेने से देवदत्त का अन्तर्भाव अपान में हो जाने से अपान से पृथक् उसका अस्तित्व मानने में कोई युक्ति नहीं है। धनञ्जय का कार्य पोषण समान वायु से मुक्त, पीत का परिपाक होने से उद्भूत रस, रक्त आदि से होता है अतः उस कार्य को समानजन्य मान लेने पर समान से पृथक् धनञ्जय का भी अस्तित्व नहीं सिद्ध हो सकता।

एतत्प्राणादिपञ्चकमाकाशादिगतरजोंशेभ्यो मिलितेभ्य उत्पद्यते। इदं प्राणादिपञ्चकं कर्मेन्द्रियैः सहितं सत्प्राणमयकोशो भवति। अस्य क्रियात्मकत्वेन रजोंशकार्यत्वम्। एतेषु कोशेषु मध्ये विज्ञानमयो ज्ञानशक्तिमान् कर्तृरूपः। मनोमय इच्छाशक्तिमान् कार्यरूपः। योग्यत्वादेवमेतेषां विभाग इति वर्णयन्ति। एतत्कोशत्रयं मिलितं सत्सूक्ष्मशरीरमित्युच्यते ॥ १३ ॥

व्यान उदानः समानोऽन" इति वृहदारण्यके वृत्तिमतः प्राणस्य निरुपसर्गानशब्दवाच्यस्य पृथङ्निर्देशात्। तथाच न्यायः—"पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदेशात्" इति। तथा मुख्यप्राणोऽपि वायोर्बाह्यस्य सूत्रात्मरूपस्य विकारो न शरीरमध्ये नभोवद्वृत्तिलाभमात्रेणावस्थितो बाह्यवायुरेव। नापि वागादीनां सामान्यवृत्तिरूपा वा क्रिया। "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुः" इतिश्रुतौ वायोरिन्द्रियाणां च प्राणात्पृथगेव निर्दिष्टत्वात्। तथाच न्यायः—"न वायुक्रिये पृथगुपदेशात्" इति। "अणुश्च" इत्यादिन्यायवशादिन्द्रियवत्सूक्ष्मत्वादिकमपि प्राणस्यानुसन्धेयमिति सङ्ग्रहः।

प्राणादीनामपि पूर्ववदुपादानविशेषं सङ्कीर्तयति–एतदिति। उक्तानामेव कर्मेन्द्रियाणां प्राणादिभिर्मिलितानां पूर्ववदवान्तरविशेषमाह—इदं प्राणा-

वास्तविकता तो यह है कि प्राण आदि पाँच वायु भी मौलिक रूप में पाँच नहीं हैं किन्तु शरीर के भीतर संचार करने वाला मुख्य वायु एक ही है, जिसे 'अन' कहा जाता है। 'अनितीति अनः' इस व्युत्पत्ति से अन का अर्थ है श्वासकर वायु, प्राण आदि इसी वायु की पाँच वृत्तियां हैं, वृत्तियों के पाँच होने से वायु को भी पांच माना जाता है और वृत्तियों के प्राण आदि नामो से उस एक वायु को ही व्यवहृत किया जाता है। यह बात बृहदारण्यक उपनिषद् (१।५।३) में इस प्रकार कही गई है 'प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानोऽनः' 'अन' संज्ञक वायु एक है, प्राण आदि पाँचों वृत्तियां 'अन' स्वरूप ही हैं तथा इन्द्रिय के समान सूक्ष्म हैं।

अनुवाद—

उक्त प्राण आदि पांच वायु आकाश आदि के मिलित रजोगुण से उत्पन्न होते हैं। प्राण आदि पाँचों वायु कर्मेन्द्रियों से मिल कर प्राणमय कोश होता है। यह क्रियात्मक होने से रजोभाग का कार्य है। इन कोशों में विज्ञानमय कोश ज्ञानशक्ति से सम्पन्न कर्ता तथा मनोमय कोश इच्छाशक्ति से सम्पन्न करण एवं, प्राणमयकोश क्रियाशक्ति से सम्पन्न कार्य है। शास्त्रकार योग्यता के आधार पर उनके इस प्रकार के विभाग का वर्णन करते हैं। यह तीनों कोश मिलकर सूक्ष्म शरीर कहा जाता है।

व्याख्या—

वाक् आदि कर्मेन्द्रियों के विषय में यह कहा जा चुका है कि उनकी उत्पत्ति

दीति। प्राणादिपञ्चकस्य रजोंशकार्यत्वे लिङ्गमाह—अस्येति। उक्तं कोशत्रयमनूद्य तेषां प्रतिनियतां व्यवस्थां दर्शयति—एतेषु कोशेष्वित्यादिना। "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः" इतिश्रुतेर्विज्ञानस्य चैतन्यं प्रत्यतिसन्निहितत्वाज्ज्ञानशक्तिमत्त्वम्। "कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा" इत्यादिश्रुतेः कामापरपर्यायाया इच्छाया मनोवृत्तित्वावधारणादिच्छाशक्तिमत्त्वं मनोमयकोशस्य। "स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः", "कस्मिन्नहमुत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति", "स प्राणमसृजत" इत्यादिश्रुतेः प्राणमयकोशस्य क्रियाशक्तिमत्त्वम्। योग्यत्वादित्यस्यायमर्थः। विज्ञानमयस्य तु कर्तृत्वमुपपादितं

आकाश आदि एक-एक भूत के व्यस्त-अमिश्र रजोभाग से क्रम से होती है, किन्तु प्राण आदि पाँच वायुवों की उत्पत्ति आकाश आदि भूतों के मिलित रजोभाग से एक साथ होती है, अतः प्राण आदि प्रत्येक में सभी भूतों के रजोभाग विद्यमान होते हैं, और इसीलिये आकाश आदि एक एक भूतमात्र के रजोभाग से उत्पन्न होने वाले सभी कर्मेन्द्रियों को प्राण आदि से कार्यक्षमता प्राप्त होती है।

वाक् आदि कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति क्रम से और प्राण आदि की उत्पत्ति एक-साथ क्यों! इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यतः वाक् आदि की उत्पत्ति आकाश आदि एक भूतमात्र के रजोभाग से होती है, पूर्वोत्पन्न भूत के रजोभाग से होने वाली उत्पत्ति में उत्तरभावी भूत के रजोगुण की अपेक्षा नहीं होती अतः आकाश आदि की उत्पत्ति क्रम से होने के कारण वाक् आदि की उत्पत्ति क्रम से होती है। प्राण आदि की उत्पत्ति में वाक् आदि की उत्पत्ति से अन्तर है, वह यह कि प्राण आदि की उत्पत्ति में सभी भूतों का रजोभाग अपेक्षित है, अतः सभी भूतों की उत्पत्ति हो जाने के बाद ही उनकी उत्पत्ति सम्भव है, और जब सब भूतों के रजोभाग एक साथ मिल जाते हैं तब किसी अन्य क्रमिक कारण की अपेक्षा न होने से उनकी युगपत् उत्पत्ति होना स्वाभाविक है।

प्राण आदि पाँच वायु और वाक् आदि पांच कर्मेन्द्रिय, ये दशों मिल कर प्राणमय कोश बन जाते हैं, इस कोश में प्राण की प्रधानता होने से इसे प्राणमय कहा जाता है, कोश के घटक प्राण आदि में आत्मबुद्धि होने से वास्तव आत्म-स्वरूप का आच्छादन होने के कारण इसे कोश कहा गया है, कोश के सभी घटक क्रियात्मक-क्रियाशील होते हैं, और क्रिया का जन्म रजस् से होता है, अतः कोश को रजोभाग का कार्य माना जाता है।

विज्ञानमय, मनोमय एवं प्राणमय इन तीनों कोशों में प्रत्येक की एक नियत व्यवस्था है। जैसे विज्ञानमय ज्ञानशक्ति से सम्पन्न है और इसीलिये कर्ता है क्योंकि ज्ञान से ही कर्तृत्व सम्पन्न होता है। मनोमय में इच्छाशक्ति है, इस शक्ति के कारण ही वह करण है क्योंकि इच्छा से हो कार्य के लिये सचेष्टता होती है। प्राणमय में क्रियाशक्ति है, इस शक्ति से ही वह प्राणन, अपानन आदि क्रियावों में परिणत होता है।

मनोमयस्य करणत्वं विवेकसाधनत्वात् । आत्मेन्द्रियविषयाणां सन्निकर्षे विद्यमानेऽपि यदन्वयव्यतिरेकाभ्यां ज्ञानभावाभावौ तन्मनोविवेकसाधनत्वात्करणपक्षपातीति युक्तं मनोमयस्य करणरूपत्वम् । तथाच श्रुतिः—"अन्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषं" इति, "तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति" इति च। न्यायश्च भवति—"नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वान्यथा" इति। तथा "तौ मिथुनं समैतां ततः प्राणोऽजायत" इतिश्रुतेः प्राणस्य वाङ्मनसयोर्मिथुनीभूतयोरुत्पत्तिश्रवणात्प्राणमयस्य कार्यरूपत्वं युक्तमिति । एवं सूक्ष्मशरीरस्यावयवान्सविशेषान्निरूप्यावयविनं निर्दिशति—एतत्कोशेति ।। १३ ।।

शास्त्र में कोशों का यह विभाग उनकी योग्यता के आधार पर वर्णित है जैसे विज्ञानमय कोश के घटक बुद्धि की विषयाकार वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य वेदान्त मत में अर्थग्राही ज्ञान है, यह बुद्धि के विषयाकार में परिणत होने की उसकी सहज शक्ति से ही सम्भव है, ऐसी बुद्धि से घटित होना ही इस कोश की योग्यता है जिसके आधार पर उसे अन्य दो कोशों से विभक्त किया गया है। इस बात का संकेत 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः—यह जो विज्ञानमय कोश है वह प्राणों और हृदय में विद्यमान अन्तर्ज्योति-स्वप्रकाश पुरुष है' इस बृहदारण्यक उपनिषद् (४।३।७) में प्राप्त है, क्योंकि विषयाकार बुद्धिवृत्ति में स्वप्रकाश पुरुष का प्रतिबिम्ब होने से ही बुद्धिघटित विज्ञानमय कोश को पुरुषस्वरूप बताना संगत हो सकता है।

मनोमय कोश के घटक मन का इच्छा के रूप में परिणाम होने से इच्छा के आश्रय मन से घटित होने के कारण मनोमय इच्छाशक्ति का आश्रय होता है, इस शक्ति के विना इच्छारूप में मन का परिणाम सम्भव नहीं हो सकता, इस तथ्य का भी संकेत बृहदारण्यक उपनिषद् (१।५।३) में 'कामःसंकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' इन शब्दों से प्राप्य है। मनोमय कोश में मन ही मुख्य करण है क्योंकि उसके सन्निधान से ही कोश के श्रोत्र आदि अन्य घटकों में अपनी अपनी उपलब्धिक्रियावों की करणता उपपन्न होती है, मन के असन्निधान में श्रोत्र आदि अपनी क्रिया के सम्पादन में असमर्थ ही रहते हैं जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद् (१।५।३) में कहा गया है—'अन्यत्रमना अभूवं नादर्शम्, अन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति मनसा ह्येव पश्यति, मनसा शृणोति—मनुष्य कहता है कि मेरा मन अन्यत्र था अतः मैंने नहीं देखा, मेरा मन अन्यत्र था अतः मैंने नहीं सुना, इस कथन से सिद्ध होता है कि मनुष्य मन से ही देखता है, मन से ही सुनता है, इस प्रकार मन के करण होने से उससे घटित मनोमय कोश करण होता है।

प्राणमय कोश में प्राण आदि पांच वायु और वाक् आदि पांच कर्मेन्द्रिय हैं, इन दशों घटकों में प्राण मुख्य है, उसके सक्रिय होने से ही अन्य घटक क्रियाशील होते हैं, अतः उसमें सहज क्रियाशक्ति है, वह मिथुनीभूत मन और वाक् से उत्पन्न होने

अत्राप्यखिलसूक्ष्मशरीरमेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशयवद्वा समष्टिरनेकबुद्धिविषयतया वृक्षवज्जलवद्वा व्यष्टिरपि भवति। एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं सूत्रात्मा हिरण्यगर्भः प्राणश्चेत्युच्यते, सर्वत्रानुस्यूतत्वाज्ज्ञानेच्छाक्रियाशक्तिमदुपहितत्वाच्च। अस्यैषा समष्टिः स्थूलप्रपञ्चापेक्षया सूक्ष्मत्वात्सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमयादिकोशत्रयं जाग्रद्वासनामयत्वात्स्वप्नोऽत एव स्थूलप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते।

"लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य", "अनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वेदेवाः" इत्यादिश्रुतिषु लिङ्गशरीरस्याप्येकत्वबहुत्वश्रवणात्तदेकत्वानेकत्वयोरप्यज्ञानवदेव व्यवस्थेत्यभिप्रेत्याह—अखिलसूक्ष्म इति। अनयोस्तु व्यष्टिसमष्ट्योरेकत्वं स्पष्टमेव पठ्यते। "वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिः" इति बृहदारण्यके। समष्टिलिङ्गशरीराभिमानिनश्चैतन्यस्य व्यवहारसिद्धान् व्यपदेशविशेषानाह—एतत्समष्टीति। व्यपदेशत्रये निमित्तमाह—सर्वत्रेत्यादिना। सर्वत्रानुस्यूतत्वात्सूत्रात्मा। ज्ञानशक्तिमदन्तःकरणोपहितत्वाद्धिरण्यगर्भः। क्रियाशक्तिमदधिदैवतप्राणरूपत्वात्प्राणस्तादृगध्यात्मप्राणरूपत्वाद्वा। यद्वा ज्ञानक्रिया-

---

के कारण, कार्यरूप है, जैसा कि 'तौ मिथुनं समैतां तत्प्राणोऽजायत—वे दोनों—वाक् और मन मिथुनभाव को प्राप्त हुये, उससे प्राण उत्पन्न हुआ' इस बृहदारण्यक उपनिषद् (१।५।१२) से स्पष्ट है, कोश के मुख्य घटक प्राण के क्रियाशक्तिमान् और कार्य होने से पूरे प्राणमय कोश को क्रियाशक्तिमान् और कार्यरूप माना जाता है।

ये तीनों कोश मिल कर सूक्ष्म शरीर की संज्ञा प्राप्त करते हैं। अतः सूक्ष्म शरीर विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय इन तीन रूपों में आत्मचैतन्य के स्वरूप का आच्छादन करने से उसके प्राकट्य में महान् बाधक है।

अनुवाद—

यहां भी अशेष सूक्ष्मशरीर एकाकार बुद्धि का विषय होने से वन अथवा जलाशय के समान समष्टिरूप है और अनेकाकार बुद्धि का विषय होने से वृक्ष अथवा जल के समान व्यष्टिरूप भी है। इस समष्टि से उपहित चैतन्य को सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ और प्राण कहा जाता है क्योंकि वह सर्वत्र अनुस्यूत होता है, तथा ज्ञान, इच्छा, क्रियाशक्तियों के आश्रय से उपहित होता है। इस सूत्रात्मा की उपाधि यह समष्टि स्थूल-दृश्य प्रपञ्च की अपेक्षा सूक्ष्म है इसलिये इसे सूक्ष्म शरीर एवं विज्ञानमय, मनोमय और प्राणमयरूप तीन कोश कहा जाता है, जागरणकाल की वासनावों से भरपूर होने से इसे स्वप्न कहा जाता है और इसी कारण इसे स्थूल प्रपञ्च के लय का स्थान भी कहा जाता है।

व्याख्या—

अज्ञान के समष्टि और व्यष्टि यह दो भेद बताये जा चुके हैं। ठीक उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर के भी दो भेद हैं समष्टि और व्यष्टि। समष्टि का अर्थ है समूह और

शक्तिमत्समष्टिप्राणेन्द्रियसमुदायात्मकं समष्टिलिङ्गशरीरं तदुपहितत्वाज्ज्ञान-शक्तिप्राधान्येन हिरण्यगर्भः क्रियाशक्तिप्राधान्येन प्राण इति च व्यपदेश इति योजना। तथाच श्रुतिवचनानि—"वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेण" इति, "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे", "हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं" इति, "कतम एको देव इति प्राण इति" चैवमादीनि। प्राण इति चोच्यते इति चशब्दात्कः प्रजापतिर्ब्रह्मेत्यादिव्यपदेशान्तराणि

व्यष्टि का अर्थ है व्यक्ति। सूक्ष्म शरीर के ये भेद याहच्छिक नहीं हैं किन्तु सयुक्तिक हैं। युक्ति है एकाकार तथा अनेकाकार बुद्धि द्वारा ग्रहण। एकाकार बुद्धि है 'सूक्ष्म-शरीरमेकम्--सूक्ष्मशरीर एक है' यह बुद्धि, जो सूक्ष्मशरीर की एकता बताती है। अनेकाकार बुद्धि है, सूक्ष्मशरीराणि बहूनि-सूक्ष्मशरीर बहुत हैं' यह बुद्धि, जो सूक्ष्मशरीर की अनेकता बताती है। किसी वस्तु का एक और अनेक दोनों होना सम्भव नहीं है, अत: इसे सम्भव बनाने के लिये सूक्ष्मशरीर के ऐसे दो रूपों की कल्पना अनिवार्य है जिनके द्वारा उसमें एकत्व, अनेकत्व दोनों की उपपत्ति हो सके, फिर सूक्ष्मशरीर के जो ऐसे दो रूप कल्पनीय हैं उन्हीं का नाम है समष्टि और व्यष्टि। समष्टि के रूप में सूक्ष्मशरीर एक है और व्यष्टि के रूप में सूक्ष्मशरीर अनेक है।

प्रश्न हो सकता है कि थोड़े-थोड़े सूक्ष्मशरीरों की कई समष्टियां हो सकती हैं, अत: समष्टि की दृष्टि से एकता कैसे उपपन्न हो सकती है? किन्तु इस प्रश्न का उत्तर बड़ी सरलता से इस प्रकार दिया जा सकता है कि थोड़े-थोड़े सूक्ष्मशरीर की समष्टियां तो अनेक हो सकती हैं पर वे समष्टियां शरीर नहीं कही जा सकतीं क्योंकि शरीर वही होता है जिससे आत्मा शरीरी बन सके, जिसे कोई अपना शरीर माने। थोड़े-थोड़े सूक्ष्मशरीरों की समष्टियां शरीररूप में आत्मचैतन्य की उपाधि नहीं हैं, क्योंकि उन समष्टियों को अपना शरीर मानने वाला कोई नहीं है अत: उनसे शरीरी का सम्पादन न होने से उन्हें शरीर नहीं कहा सकता, किन्तु समस्त सूक्ष्मशरीरों की समष्टि उपाधि बन कर सूत्रात्मा शरीरी का सम्पादन करती है, और सूत्रात्मा उसे अपना शरीर मानता है, अत: समस्त सूक्ष्मशरीरों की समष्टि ही एक सूक्ष्म शरीर होता है। व्यष्टिभूत सूक्ष्मशरीर उपाधि बन कर आत्मचैतन्य को शरीरी बनाता है अत: व्यष्टि को भी सूक्ष्मशरीर का भेद माना जा सकता है। व्यष्टियां अनेक हैं अत: व्यष्टिभूत सूक्ष्मशरीर का भी अनेक होना अपरिहार्य है। इस प्रकार उक्त रीति से सूक्ष्मशरीर के समष्टि व्यष्टिरूप दो भेदों की कल्पना पूर्णतया सयुक्तिक है।

सूक्ष्मशरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य को सूत्रात्मा कहा जाता है, वह इस-लिये कि जैसे माला के विभिन्न पुष्पों में एक सूत्र अनुस्यूत होता है, उसी प्रकार समष्टि घटक प्रत्येक सूक्ष्मशरीर में एक आत्मचैतन्य अनुस्यूत होता है, इस अनुस्यूति के कारण ही उसे सूत्र शब्द से घटित 'सूत्रात्मा' नाम से व्यवहृत किया जाता है।

समुच्चीयन्ते । एवमुपहितस्य व्यपदेशभेदानुक्त्वोपाधेरपि तानाह—अस्यैवे-त्यादिना । स्थूलप्रपञ्चो विराड्विज्ञानमयादिकोशत्रयं लिङ्गशरीरं सूक्ष्मशरीर-मिति सम्बन्धः । मध्यप्रदीपन्यायेनोत्तरत्रापि जाग्रद्वासनेत्यत्र कोशत्रयपदं सम्बध्यते । वासनामयत्वं चास्य श्रुतिराह—"तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा माहारजतं वासो यथा पाण्ड्वाविकं" इत्यादि, "सकृद्विद्युत्तं" इत्यन्तेन । स्वप्नत्वं चास्याव्याकृतविराजोः सन्ध्यस्थानत्वादुपपन्नं "सन्ध्यं तृतीयं स्वप्न-स्थानं" इति श्रुतेरविशेषात् । यतो वासनामयोऽत एवेति योजना । "अस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय स्वयं विहत्य" इत्याद्या, "स्वप्नेन शारीर-

उक्त चैतन्य को हिरण्यगर्भ भी कहा जाता है, वह इसलिये कि उक्त चैतन्य जिस समष्टिरूप उपाधि के गर्भ से अस्तित्व में आता है वह है सूक्ष्म शरीरों की समष्टि जो हिरण्य जैसे चमकीले मूल्यवान् बुद्धिपुञ्ज से घटित होने के कारण हिरण्य पद से व्यवहृत होने के पूर्णतया योग्य है ।

समष्टिभूत सूक्ष्मशरीर से उपहित आत्मचैतन्य को प्राण भी कहा जाता है, इसके दो कारण हैं, एक यह कि शरीर में प्राण की प्रधानता होने से शरीरोपाधिक को प्राणोपाधिक कहा जाता है, प्राणोपाधिक होने से ही वह प्राणशब्द से अभिहित होता है । दूसरा कारण यह है कि शरीर में सक्रियता तभी तक होती है जब तक उसमें प्राण सक्रिय रहता है और प्राण तभी तक सक्रिय रहता है जब तक शरीर के साथ आत्मा का जीवनौपयिक सम्बन्ध रहता है, अतः प्राण को भी प्राणन-सक्रिय करने से आत्मा प्राण शब्द से व्यवहार योग्य बनता है । यतः समष्टिभूत सूक्ष्मशरीर में रहने वाला आत्मा उससे उपहित आत्मचैतन्य ही है अतः उसे प्राण शब्द से व्यपदिष्ट किया जाता है ।

सूत्रात्मा का वृहदारण्यक उपनिषद् (३।७।२) में सूत्र शब्द से निर्देश किया गया है, जैसे—'वायुर्वै गौतम ! तत्सूत्रं, वायुना वै सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि सन्दृब्धानि भवन्ति, इस वाक्य में गौतम के प्रति याज्ञवल्क्य द्वारा सूत्रतत्त्व का प्रतिपादन किया गया है, वाक्य का अर्थ यह है—हे गौतम ! वह सूत्र वायु है—वायु के समान अदृश्य है, उस वायुसूत्र से यह लोक, परलोक तथा अन्य सभी भूत ग्रथित हैं ।

हिरण्यगर्भ नाम ज्यों का त्यों श्रुतियों में प्राप्य है जैसे—

ऋक्संहिता (१०।१२१।१) में 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' यह वचन उपलब्ध होता है, इसमें हिरण्यगर्भ की अग्र उत्पत्ति बताई गई है। हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति किसकी उत्पत्ति की अपेक्षा अग्र उत्पत्ति है ? इस प्रश्न के सम्बन्ध में यही कहना उचित प्रतीत होता है कि यह उत्पत्ति विराट् की उत्पत्ति की अपेक्षा अग्र है क्योंकि स्थूल शरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य को विराट् कहा जाता है, स्थूल शरीर की उत्पत्ति पञ्चीकृत स्थूल भूतों से होने के नाते अपञ्चीकृत सूक्ष्मभूतों से बनने वाले सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति के बाद होती है, अतः स्पष्ट है कि सूक्ष्म शरीर की

एतद्व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं तैजसो भवति तेजोमयान्तःकरणोपहितत्वात् । अस्यापीयं व्यष्टिः स्थूलशरीरापेक्षया सूक्ष्मत्वादिति हेतोरेव सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमयादिकोशत्रयं जाग्रद्वासनामयत्वात्स्वप्नोऽत एव स्थूलशरीरलयस्थानमिति चोच्यते ।

समष्टि से उपहित चैतन्यरूप हिरण्यगर्भ स्थूल शरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य से पहले अस्तित्व में आता है । इसीका निर्देश ऋक्संहिता के उक्त वाक्यखण्ड में किया गया प्रतीत होता है ।

श्वेताश्वतर उपनिषद् (३।४) में भी यही बात 'हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्-हिरण्यगर्भ को पहले उत्पन्न किया' इस रूप में कही गई है ।

प्राण नाम भी श्रुति में स्पष्ट उल्लिखित है जैसे—

वृहदारण्यक उपनिषद् (३।९।९) में 'कतम एको देवः—वह एक देवता कौन है (जिसमें सभी देवता अन्तर्भूत होते हैं) शाकल्य के इस प्रश्न के उत्तर में याज्ञवल्क्य ने वताया है 'प्राण इति, स ब्रह्म त्यद् इति'—वह एक देवता प्राण है और वह ब्रह्म रूप है जो मलग्रस्त मन के लिये परोक्ष है ।

सूत्रात्मा के उपाधि सूक्ष्मशरीर की समष्टि को भी सूक्ष्म कहा जाता है, किन्तु आपाततः यह कथन उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि व्यष्टिभूत सूक्ष्म शरीर की अपेक्षा समष्टिभूत सूक्ष्मशरीर में स्थौल्य होने से उन्हें स्थूल कहना युक्तिसंगत जान पड़ता है, अत एव ग्रन्थकार ने स्थूल प्रपञ्च की अपेक्षा उसे सूक्ष्म बताकर उसे सूक्ष्म कहे जाने के औचित्य का समर्थन किया है ।

ग्रन्थकार ने सूत्रात्मा चैतन्य को स्वप्न शब्द से व्यवहृत करते हुये उसे स्वप्न कहे जाने जाने का यह कारण वताया है कि उसकी उपाधि समष्टिभूत सूक्ष्म शरीर का घटक बुद्धि जागरणकाल के अनुभवों से उत्पन्न अनन्त वासनाओं का आयतन है अतः उससे घटित सूक्ष्मतम शरीर की समष्टि भी वासनामय है, स्वप्न भी वासना जन्य होने से वासनामय होता है । वासनामयत्व के साम्य से ही समष्टिभूत सूक्ष्म शरीर स्वप्न शब्द से व्यपदेश्य होता है अतः स्वप्न शब्द से व्यपदेश्य सूक्ष्मशरीर समष्टि से उपहित होने के नाते सूत्रात्मा को भी स्वप्न शब्द से अभिहित किया जाना उचित है । ग्रन्थकार ने यह भी कहा है कि स्वप्नरूप होने से ही उसे स्थूल प्रपञ्च के लय का स्थान भी कहा जाता है क्योंकि स्वप्न में स्थूल का लय सर्वविदित है ।

अनुवाद—

इसकी व्यष्टि से (पृथक् पृथक् एक-एक शरीर से) उपहित चैतन्य 'तैजस' होता है क्योंकि वह तेजोमय अन्तःकरण से उपहित होता है। इसकी भी यह व्यष्टि स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण सूक्ष्म शरीर शब्द से अभिहित होती है । सूक्ष्म शरीर होने से ही उसे विज्ञानमय आदि कोशत्रय कहा जाता है, जागरणकाल की वासनाओं के बाहुल्य से उसे स्वप्न और स्वप्न होने के नाते ही उसे स्थूल शरीर का लयस्थान भी कहा जाता है ।

एतौ सूत्रात्मतैजसौ तदानीं मनोवृत्तिभिः सूक्ष्मविषयाननुभवतः "प्रविविक्तभुक्तैजस" इत्यादिश्रुतेः। अत्रापि समष्टिव्यष्टयोस्तदुपहित-सूत्रात्मतैजसयोर्वनवृक्षवत्तदवच्छिन्नाकाशवच्च जलाशयजलवत्तद्गत-प्रतिबिम्बाकाशवच्चाभेदः । एवं सूक्ष्मशरीरोत्पत्तिः ॥ १४ ॥

मभिप्रहत्य" इत्याद्या च श्रुतिः स्थूलशरीरस्य स्वप्ने लयं दर्शयन्ती तत्समष्टे-र्महाप्रपञ्चस्यापि सन्धौ तं सूचयति। एवं समष्टिलिङ्गतदुपहितचैतन्ययोर्व्यप-देशानुक्त्वा व्यष्टिलिङ्गतदुपहितचैतन्ययोरपि तानाह—एतदिति । तैजस-व्यपदेश्यत्वे हेतुमाह—तेजोमया इति । तेजोमयत्वं वासनामयत्वं 'स्वयं

व्याख्या—

सूक्ष्म शरीर के दो भेद बताये गये समष्टि और व्यष्टि, उनमें 'समष्टि' सूत्रात्मा की उपाधि है और व्यष्टि—एक एक शरीर 'तैजस' का उपाधि है। व्यष्टि शरीर से उपहित चैतन्य को तैजस कहा जाता है, यह इसलिये कि व्यष्टि से उपहित चैतन्य व्यष्टि के प्रधान घटक अन्तःकरण से उपहित होता है और अन्तःकरण सभी सूक्ष्म भूतों के मिलित सत्त्वांश से उत्पन्न होने के कारण तेजोमय है।

ग्रन्थकार ने व्यष्टिभूत सूक्ष्मशरीर को सूक्ष्म कहे जाने का कारण यह बताया है कि यतः यह स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म होता है अतः इसे सूक्ष्म कहना उचित है, अन्यथा पूर्वोक्त सत्रह अवयवों का समुदाय रूप होने से एक एक अवयव की अपेक्षा स्थूल होने के कारण इसे सूक्ष्म कहने में कोई औचित्य नहीं है।

व्यष्टिभूत सूक्ष्म शरीर को ग्रन्थकार ने विज्ञानमय आदि कोशत्रय कहे जाने का कारण यह बताया गया है कि यतः वह सूक्ष्म शरीर है अत एव विज्ञानमयादि कोशत्रय रूप है क्योंकि सूक्ष्म शरीर का विज्ञानमय आदि तीन कोशों से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं है।

जागरणकाल में स्थूल शरीर द्वारा होने वाले अनुभवों से उत्पन्न वासनाएँ सूक्ष्मशरीर में संचित होती रहती हैं अतः वासनामय होने से उसे स्वप्न कहा जाता है और स्वप्न में स्थूल का लय होता है अतः उसे शरीर के लय का स्थान कहा जाता है।

अनुवाद—

सूत्रात्मा और तैजस ये दोनों उस सयय मन की वृत्तियों से सूक्ष्म विषयों का अनुभव करते हैं। यह बात 'प्रविविक्तभुक् तैजसः' (माण्डूक्य०) तैजस प्रविविक्त—सूक्ष्म विषयों का भोक्ता है, इस श्रुति से सिद्ध है। यहाँ भी समष्टि और व्यष्टि में वन और वृक्ष के समान किंवा जलाशय और जल के समान एवं उनसे उपहित सूत्रात्मा और तैजस में वनावच्छिन्न और वृच्छावच्छिन्न आकाश के समान किंवा जलाशयगत आकाशप्रतिबिम्ब और जलगत आकाशप्रतिबिम्ब के समान अभेद है। इस प्रकार सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति वर्णित हुई।

निर्माय स्वेन भासा" इति श्रुतौ भाःशब्देनान्तःकरणस्य वासनात्मनो व्याख्यातत्वात्। अस्यापीति स्पष्टार्थः। "यो वै प्राणः स वायुः" इतिश्रुतेः। समष्टिव्यष्टिलिङ्गयोस्तदवस्थयोरपि सन्ध्ययोरभेदं सिद्धवत्कृत्य तत्र तैजस-सूत्रयोर्भोगावशेषं निर्दिशति—एताविति। तदानीं स्वप्नावस्थायाम्। निद्रादि-दोषदूषितस्यादृष्टादिसमुद्बोधितसंस्कारविशेषसचिवस्यान्तःकरणस्य याः संस्कारानुरूपा वृत्तयस्तादृगन्तःकरणसंसृष्टचैतन्यस्थाविद्याशक्तिविजृम्भितविष-याकारास्ताभिः सूक्ष्मविषयान् जाग्रद्वासनामयानीषदस्फुटाननुभवत इत्यर्थः॥

न स्वप्नः स्मृतिरपरोक्षावभासितत्वात्। नापि प्रत्यक्षप्रमा सम्प्रयोगाद्य-भावात्। न च सुषुप्तिः स्पष्टं विषयानुभवात्। नापि जागरितं तदुचित-देशकालनिमित्तानामसम्भवात्। यथा हि "यथा केशः सहस्रधा भिन्नः" इत्यादिना केशसहस्रांशैर्नाडीरुपमीय "एताभिर्वा एतदास्रवति" इति स्वप्नाय तादृशनाडीप्रवेशं दर्शयति श्रुतिः। तया चातिसूक्ष्मासु नाडीषु स्वप्नं पश्यतो न नदीसमुद्रवनगिरिनगरीनिवेशोचितो देशोऽस्ति येन तत्र स्थितान्नद्या-दीन्पश्येत्। ननु "बहिः कुलायादमृतश्चरित्वा" इति श्रुतेर्बहिरेव स्वप्नान्पश्य-तीति चेन्न। तत्र बहिःशब्देन स्थूलशरीरोपरागाभावमात्रस्य विवक्षितत्वात्। अन्यथा तस्मिन्नेव शरीरे नियमेन पुनर्जागरणानुपपत्तेः। तथा च श्रुत्यन्तरं "कुरुष्वहमद्य शयानो निद्राभिप्लुतः स्वप्ने पञ्चालानधिगतश्चास्मिन्प्रतिबुद्धश्च" इति स्वप्नप्राप्तदेशान्तरात्पुनरागमनरहितस्यापि स्वप्नदेशस्थशरीरे जागरणं दर्शयति। अतो न तत्र जाग्रदुचितो देशः। नापि कालस्तदुचितः सम्भवति। तक्षदारुमृदाद्यभावेऽप्यकस्मादेव प्रासादादेर्निष्पत्तिदर्शनात्। जाग्रदवस्था-

व्याख्या--

यह बताया जाचुका है कि अज्ञानसमष्टि से उपहित चैतन्यरूप ईश्वर और अज्ञानव्यष्टि से उपहित चैतन्यरूप प्राज्ञ-जीव ये दोनों अपनी सुषुप्ति के समय अज्ञान की वृत्ति से आनन्द का अनुभव करते हैं। ईश्वर की सुषुप्ति है जगत् का प्रलय और प्राज्ञ की सुषुप्ति है निद्रा। अब यहाँ यह बताया जा रहा है कि सूक्ष्म शरीर की समष्टि से उपहित चैतन्यरूप सूत्रात्मा और सूक्ष्म शरीर की व्यष्टि से उपहित चैतन्यरूप तैजस ये दोनों अपने स्वप्न के समय मन की वृत्ति से सूक्ष्म विषयों का अनुभव करते हैं। सूत्रात्मा का स्वप्न है प्रलय और सृष्टि के मध्य की अवस्था और तैजस का स्वप्न है सुषुप्ति और जागरण के मध्य की अवस्था। सुषुप्ति और स्वप्न में अन्तर यह है कि सुषुप्ति के समय ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और अन्तःकरण इन सभी का लय हो जाता है, उस समय केवल अविद्या ही सक्रिय रहती है, किन्तु स्वप्न में ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय का ही लय होता है, अन्तःकरण का लय नहीं होता। यही कारण है जिससे सुषुप्ति में अविद्या की वृत्ति से आनन्द और अज्ञान का अनुभव होता है और स्वप्न में अन्तःकरण की वृत्ति से सूक्ष्म विषयों का अनुभव होता है।

स्थूलभूतानि तु पञ्चीकृतानि । पञ्चीकरणं त्वाकाशादिपञ्चस्वेकैकं द्विधा समं विभज्य तेषु दशसु भागेषु प्राथमिकान्पञ्चभागान्प्रत्येकं चतुर्धा समं विभज्य तेषां चतुर्णां भागानां स्वस्वद्वितीयार्धभागपरित्यागेन भागान्तरेषु संयोजनम् । तदुक्तम्—

'द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः ।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात्पञ्च पञ्च ते" इति ॥

यह भी पहले बताया जा चुका है कि वन और वृक्ष में तथा जलाशय और जल में कोई भेद नहीं है, वृक्ष ही समष्टिरूप में वन शब्द से और व्यष्टिरूप में वृक्ष शब्द से एवं जल ही समष्टिरूप में जलाशय शब्द से और व्यष्टिरूप में जल शब्द से अभिहित होता है । यह भी बताया जा चुका है कि यतः वन और वृक्ष में अभेद है अतः वनावच्छिन्न आकाश और वृक्षावच्छिन्न आकाश में भी अभेद है, वन से अवच्छिन्न आकाश ही वन के अन्तर्गत वृक्षों से अवच्छिन्न होता है और वन के अन्तर्गत वृक्षों से अवच्छिन्न आकाश ही वन से अवच्छिन्न होता है, एवं जलाशय और जल में अभेद होने से जलाशयगत आकाशप्रतिबिम्ब और जलगत आकाशप्रतिबिम्ब में भी अभेद है, जो आकाशप्रतिबिम्ब जलाशय में है वही जलाशय के भीतर विद्यमान जल में भी है एवं जो आकाशप्रतिबिम्ब जलाशय के अन्तर्गत जल में है वही जलाशय में भी है, दोनों में कोई भेद नही है । अब यहाँ यह बताना है कि ठीक यही बात समष्टि सूक्ष्मशरीर एवं व्यष्टि सूक्ष्मशरीर तथा उनसे उपहित सूत्रात्मा और तैजसरूप चैतन्य में भी है, सूक्ष्म शरीर ही एक समूह में गृहीत होने पर समष्टि शब्द से अभिहित होता है और पृथक् पृथक् व्यक्तिरूप में गृहीत होने पर व्यष्टि शब्द से अभिहित होता है अतः समष्टि और व्यष्टि शब्द से अभिहित होने वाले सूक्ष्म शरीर में कोई भेद नहीं है, और जब सूक्ष्म शरीर की समष्टि और व्यष्टि में कोई भेद नहीं है तब उनसे उपहित चैतन्य सूत्रात्मा और तैजस में भी कोई भेद होना सम्भव नहीं हो सकता, समष्टि स उपहित चैतन्यरूप सूत्रात्मा ही समष्टि के अन्तर्गत व्यष्टि से उपहित होता है और समष्टि के अन्तर्गत व्यष्टि से उपहित तैजस ही समष्टि से उपहित होता है । फलतः समष्टिभूत सूक्ष्मशरीर और व्यष्टिभूत सूक्ष्मशरीर में अभेद होने से उनसे उपहित सूत्रात्मा और तैजस में भी अभेद ही है ।

अनुवाद—

स्थूल भूत तो पञ्चीकृत होते हैं, पञ्चीकरण का अर्थ है आकाश आदि पांचों सूक्ष्म भूतों में प्रत्येक के दो दो समान भाग कर दश भाग बना देना, फिर उन दश भागों में पहले पांच भागों के प्रत्येक के चार समान भाग बनाकर उन चार भागों में एक एक भाग को अपने अपने दूसरे अर्ध भाग को छोड़कर अन्य चारभूतों के दूसरे अर्ध भाग में मिला देना । यही बात इस प्रकार कही गई है कि प्रत्येक भूत को दो भागों में विभक्त कर और प्रथम पांच भागो के प्रत्येक को चार चार भागों में विभक्त

पन्नानां वस्तूनां स्वप्नेऽभावं दर्शयित्वा नूतनानां वासनात्मकानां निर्माणं दर्शयति श्रुतिः—"न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान्पथः सृजते" इत्यादिना। तस्मान्मायामय एव स्वप्न इति द्रष्टव्यम्। तथाच न्यायः—"मायामात्रं तु कात्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्" इति॥

उक्तेऽर्थे प्रमाणमाह—प्रविविक्तभुगिति। आदिशब्दात् "तस्मादेष प्रविविक्ताहारतर इवैव भवति" इत्यादिश्रुत्यन्तरग्रहः। अत्रापीति स्पष्टार्थः। सूक्ष्मशरीरप्रपञ्चनमुपसंहरति—एवमिति॥ १४॥

पूर्वत्र प्रतिज्ञातानि स्थूलभूतानि प्रपञ्चयति—स्थूल इति। पूर्वोक्तानामेव भूतानां परस्परं व्यवहर्तृप्राणिनिकायव्यवहारनिर्वाहकतदीयधर्माधर्मापेक्षपरमेश्वरसान्निध्यादिनिमित्तापेक्षया विभागेन मिलितानां स्थूलतापत्तिः पञ्चीकरणमित्याह—पञ्चीकरणं त्विति। ननु कथमित्थं विभागेन पञ्चीकरणं

कर प्रत्येक चार भागों में एक एक भाग को अपने अपने दूसरे अर्धभाग से भिन्न अन्य चार भूतों के भागों में जोड़ देने से सभी भूत पञ्चभूतात्मक हो जाते हैं, (पञ्चदशी।६।२०१)।

व्याख्या—

स्थूल आकाश आदि स्थूल भूत हैं। स्थूलता आकाश आदि की एक ऐसी अवस्था है जिसमें पहुँचने पर उनके शब्द आदि गुणों का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है, न्याय वैशेषिक दर्शन में इसे महत् परिमाण कहा गया है जो अनेकाश्रित अवयव द्रव्यों के संयोग से उत्पन्न होने वाले अवयवी द्रव्य में प्रादुर्भूत होता है, जैसे दो दो परमाणुवों में आश्रित तीन द्व्यणुकों के संयोग से उत्पन्न होने वाले त्र्यणुक में एवं उत्तरोत्तर उत्पन्न होने वाले अन्यान्य द्रव्यों में महत् परिमाण की उत्पत्ति होती है, किन्तु वेदान्त दर्शन में अवयव-अवयविभाव मान्य नहीं है, अतः वेदान्तमतानुसार स्थूलता महत्परिमाण न होकर सूक्ष्मभूतों का ही परिणामविशेष रूप अवस्था है। इस अवस्था को प्राप्त भूत शुद्ध आकाश आदि रूप न होकर पञ्चीकृत होते हैं, प्रत्येक स्थूलभूत अन्य चार भूतों से मिश्रित होता है, प्रत्येक भूत में अन्य चार भूतों के मिश्रण को ही वेदान्त में पञ्चीकरण कहा जाता है, पञ्चीकरण का अर्थ ही है कि जो पञ्चात्मक नहीं है उसे पञ्चात्मक बना देना।

ग्रन्थकार ने विद्यारण्य स्वामी द्वारा रचित पञ्चदशी के (६।२०१) कारिका का साक्ष्य देते हुये पञ्चीकरण का वर्णन इस प्रकार किया है—

आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी ये पांच सूक्ष्म भूत हैं जो मूलाज्ञान से उपहित ब्रह्मचैतन्य से क्रम से उत्पन्न होते हैं, इनमें एक दूसरे का किञ्चित् भी मिश्रण नहीं होता, ये अपने आप में अकेले पूर्ण होते हैं, सूक्ष्म होने के नाते इनकी अमिश्र अवस्था में इनके गुणों का प्रत्यक्ष नहीं होता। इनसे सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति हो जाने के बाद इनका पञ्चीकरण होता है, वह इस प्रकार होता है—आकाश आदि

अस्याप्रामाण्यं नाशङ्कनीयं त्रिवृत्करणश्रुतेः पञ्चीकरणस्याप्युपलक्षणत्वात्। पञ्चानां पञ्चात्मकत्वे समानेऽपि तेषु च "वैशेष्यात्तद्वादस्तद्वाद" इतिन्यायेनाकाशादिव्यपदेशः सम्भवति। तदानीमाकाशे शब्दोऽभिव्यज्यते वायौ शब्दस्पर्शावग्नौ शब्दस्पर्शरूपाण्यप्सु शब्दस्पर्शरूपरसाः पृथिव्यां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाश्च ॥ १५ ॥

निरूप्यते तत्र प्रमाणाभावादित्याशङ्क्याह—अस्येति। "सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि" इतीक्षित्वा सा सदाख्या परमात्मदेवता सृष्टानां तिसृणां देवतानां तेजोबन्नात्मिकानां मध्य एकैकां देवतां त्रिवृतं त्रिवृतं त्रिरूपां त्रिरूपामकरोत्कृतवतीति त्रिवृत्करणश्रुतिः। सा पञ्चीकरणमप्युपलक्षयत्याक्षिपतीत्यर्थः। त्रिवृत्करणं नाम तेजोबन्नानां त्रयाणां मध्य एकैकं द्विधा

प्रत्येक भूत सर्वप्रथम दो दो समान भागों में विभक्त होता है, उसके बाद प्रत्येक भूत का एक एक अर्धभाग चार भागों में विभक्त हो जाता है, तदनन्तर प्रत्येक भूत के अर्ध भाग में अन्य चार भूतों के एक एक भाग का मिश्रण होता है, फलतः प्रत्येक स्थूल भूत में एक आधा भाग अपना होता है और दूसरा आधा भाग अन्य चार भूतों के एक एक भाग के योग से पूरा होता है। किन्तु यह ज्ञातव्य है कि अन्य चार भूतों के एक एक भाग का जो प्रत्येक भूत के अर्ध भाग में मिश्रण होता हैं वह दूध में पानी के समान होता है अतः जैसे दूध और पानी के मिलने पर उनमें पार्थक्य नहीं होता उसी प्रकार प्रत्येक भूत के अर्ध भाग एवं अन्य चार भूतों के एक एक भाग के मिश्रण से बने अर्ध भाग में कोई पार्थक्य नहीं होता किन्तु सबका असंलक्ष्य मिश्रण होकर प्रत्येक स्थूलभूत पञ्चभूतात्मक हो जाता है। जिस स्थूलभूत में जिस भूत के अर्ध भाग का मिश्रण होता है, उसे उस भूत के नाम से ही अभिहित किया जाता है क्योंकि उसका आधा भाग उस एक ही भूत का भाग होता है।

अनुवाद—

इस पञ्चीकरण के अप्रामाण्य की शङ्का नहीं करनी चाहिये क्योंकि पृथिवी जल और तेज के त्रिवृत्करण का प्रतिपादक श्रुति (छान्दोग्य० ६।३।२२) पञ्चीकरण को भी संकेतित करती है। पञ्चीकरण की प्रक्रिया से पाँचों भूतों के समान रूप से पञ्चात्मक होने पर भी 'जिसमें जिसका वैशेष्य—आधिक्य होता है उसका वही नाम होना उचित है' (ब्रह्मसूत्र २।४।२२) इस न्याय से एक एक पञ्चात्मक भूत का आकाश आदि एक एक नाम से व्यवहार होता है। पञ्चीकरण हो जाने पर आकाश में शब्द की, वायु मे शब्द और स्पर्श की, अग्नि में शब्द, स्पर्श और रूप की, जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस की तथा पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध की अभिव्यक्ति होती है।

समं विभज्य पुनरेकैकभागस्य द्विधा विभागं कृत्वा स्वस्वद्वितीयं परित्यज्यान्य-दीयस्थूलभागयोरेकैकस्य भागस्य संयोजनम् ।

अत्र केचित्प्रगल्भन्ते सम्प्रदायाध्वना पञ्चीकरणं यद्यपि स्थितं तथापि युक्तिदुष्टत्वाद्वाचस्पतिमतं शुभमित्यादिना । तत्र युक्तिं चेत्थमाचक्षते गगन-पवनयोः किल पृथिव्याद्यात्मत्वे रूपवत्त्वमहत्त्वाभ्यां चाक्षुषत्वं तयोः प्रसज्येतेति । तत्र त्रिवृत्करणपक्षेऽपि तेजसः पृथिव्यात्मत्वे काठिन्यद्रवत्वाभ्यां विशिष्टतयोपलम्भप्रसङ्ग इति दोषसाम्ये शङ्कितेऽर्धभूयस्त्वान्न दोष इति परिहारस्य पञ्चीकरणपक्षेऽपि समानत्वेन दूषणोद्धारे व्यवहारमार्गप्राप्त-पञ्चीकृतिर्मुधा पञ्चीकरणस्य कुत्राप्यश्रवणादिति । तत्रेदं वक्तव्यम् । किं पञ्चीकरणस्य व्यवहारमार्गसिद्धत्वादप्रामाण्यं किंत्वाश्रितत्वादाहोस्वित्त्रिवृत्क-रणश्रुतिविरोधादिति । आद्येऽष्टकाकरणादीनां शिष्टव्यवहाराणामप्रामाणिक-त्वापत्तिः । द्वितीयेऽपि किं साक्षाच्छ्रवणाभावो हेतुरुत श्रुतार्थापत्त्यभावोऽपि ।

व्याख्या—

उपनिषदों में ऐसा कोई वचन नहीं उपलब्ध होता जिससे यह सिद्ध हो सके कि आकाश आदि प्रत्येक भूत का पञ्चीकरण होता है, अतः यह शङ्का स्वाभाविक है कि भूतों का पञ्चीकरण एक कोरी कल्पनामात्र है, उसमें कोई प्रमाण नहीं है। किन्तु इस शङ्का के उत्तर में ग्रन्थकार का कहना है कि यह सत्य है कि भूतों के पञ्चीकरण का प्रतिपादन करने वाली कोई श्रुति उपलब्ध नहीं है किन्तु पृथिवी, जल और तेज के त्रिवृत्करण को बताने वाली श्रुति निर्विवादरूप से उपलब्ध है जो इस प्रकार है—'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नाम रूपे व्याकरवाणीति तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति' (छान्दोग्य० ६।३।२-३)

इस श्रुति का यह अर्थ स्पष्ट है कि जिस 'सत्' नामक देवता ने तेज, जल और अन्न अर्थात् अग्नि, जल और पृथिवी इन तीन भूतों की रचना की उसने विचार किया कि मैं जीवात्मा रूप से इन तीन देवतावों—अग्नि, जल और पृथिवी इन तीन प्रत्यक्ष भूतों में अनुप्रवेश कर इनके नाम और रूप स्पष्ट करूँ, इस विचार से उस देवता ने उन तीन देवतावों— प्रत्यक्ष भूतों में प्रत्येक को त्रिवृत-त्रिवृतात्मक बना दिया। स्पष्ट है कि प्रत्येक भूत का त्रिवृतीकरण इसी प्रकार हुआ होगा कि उन भूतों के उत्पादक देवता ने प्रत्येक भूत को पहले दो दो भागों में विभक्त किया होगा, फिर प्रत्येक भूत के एक एक अर्धभाग को ज्यों का त्यों रखकर अन्य अर्ध भाग को दो दो भागों में विभक्त किया होगा और फिर प्रत्येक भूत के अर्ध भाग में अन्य भूतों के एक एक भाग को मिला दिया होगा, इस प्रकार प्रत्येक भूत में तीनों भूतों का मिश्रण हो जाने पर जिस त्रिवृतीकृत भूत में जिस भूत का आधा भाग रहा होगा उसे उस भूत के नाम से अभिहित किया होगा और उसके आधे भाग के रूप को उस त्रिवृतात्मक भूत का रूप घोषित किया होगा।

नाद्यः साक्षादश्रुतस्य प्रत्याख्याने परमापूर्वादीनामपि प्रत्याख्यानप्रसङ्गात्। न द्वितीयः श्रुतार्थापत्तेर्विद्यमानत्वात्। तथाहि छान्दोग्ये तेजःप्रभृतीनां त्रयाणां सृष्टिश्रुतौ तावच्छ्रुत्यन्तरप्रसिद्धाकाशवायुसृष्टेरप्युपसंहरणीयत्वम्। वियदधिकरणे तेजोऽधिकरणे च निर्धारितमेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानप्रतिज्ञाहान्यादिभिर्हेतुभिः तथा च श्रुत्यन्तरैकवाक्यतया पञ्चानां भूतानां सृष्टिं प्रक्रम्य तेषां सूक्ष्मतयाऽव्यवहार्याणां व्यवहारसिद्धये त्रिवृत्करणं ब्रुवन्ती श्रुतिः पञ्चीकरणाभिप्राया चेन्न स्यात्तदा वाय्वाकाशयोः सूक्ष्मत्वानिवृत्तेरव्यवहार्यतापत्तौ सृष्टानां भूतानां व्यवहाराय त्रिवृत्करणोपदेशानुपपत्तिः केन वार्यते। न च वाय्वाकाशयोर्व्यवहार एव नास्तीति वाच्यम्। महान्वायुर्महन्नभ इति व्यवहारस्य सर्वजनीनत्वात्। ननु श्रुत्युक्तमित्येव त्रिवृत्करणं स्वीक्रियते न व्यवहारायेति चेन्न। त्रिवृत्करणवाक्ये स्वसम्बन्धिनः फलस्याभावात्फलवदात्मैक्यज्ञानार्थवादत्वे यथासृष्टिन्यायं त्रिवृत्करणं युक्तमर्धजरतीयस्यान्याय्यत्वात्॥

उक्त श्रुति से तेज, जल, अन्न—अग्नि, जल और पृथिवी इन तीन भूतों का त्रिवृत्करण अत्यन्त स्पष्ट रूप में अवगत होता है। अतः इस त्रिवृत्करण से यह संकेत स्वभावतः प्राप्त होता है कि जब उक्त तीन भूतों को उत्पन्न कर उनके उत्पादक देवता ने उनके नाम और रूप को स्पष्ट करने के लिए उनके त्रिवृत्करण को आवश्यक समझा तब उस देवता ने जब आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी इन पाँचों भूतों को उत्पन्न किया होगा तब उनके नाम और रूप को स्पष्ट करने के लिये उनके पञ्चीकरण को भी आवश्यक समझा होगा और पञ्चीकरण के पश्चात् ही उनके आकाश आदि पांच नाम और शब्द आदि गुणात्मक रूप का निर्धारण किया होगा।

अब प्रश्न यह हो सकता है कि जैसे छान्दोग्य में जहाँ तेज आदि तीन भूतों की उत्पत्ति का उल्लेख है वहाँ तीन भूतो के त्रिवृत्करण का वर्णन किया गया है वैसे ही तैत्तिरीय आदि मे जहाँ पाँच भूतों की उत्पत्ति का उल्लेख है वहां उनके पञ्चीकरण का वर्णन क्यों नहीं किया गया? किन्तु इस प्रश्न का समाधान अत्यन्त सरल है, वह इस प्रकार कि जब एक स्थान मे प्रत्यक्ष भूतो के त्रिवृत्करण का प्रतिपादन कर दिया गया तब उस दृष्टान्त से अन्यत्र पञ्चीकरण का बोध शब्द द्वारा प्रतिपादन न करने पर भी सरलता से सम्पन्न हो सकता है अतः शब्द द्वारा उसका अवबोधन एक निष्प्रयोजन प्रयास है। यदि यह शङ्का की जाय कि तेज आदि की उत्पत्ति के पूर्व आकाश और वायु की उत्पत्ति हुई है यह बात 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद् वायुः' इस श्रुति से सिद्ध है, अतः आकाश और वायु के द्विवृत्करण का प्रतिपादन कर उसके द्वारा पञ्चीकरण का संकेत क्यों नहीं किया गया, अथवा उक्त श्रुति से जब पाँचों भूतों की उत्पत्ति का उल्लेख किया गया तो स्पष्टरूप से उन पाँचों का पञ्चीकरण क्यों नहीं बताया गया? तो इसका उत्तर यह है कि उक्त पांच भूतो में आकाश और

ननु शाखान्तरे भूतद्वयसृष्टेः श्रुतत्वात्तत्परित्यागानुपपत्तेश्छान्दोग्यतैत्तिरीयादिश्रुत्योर्विरोधपरिहारायोपसंहारः क्रियते न तथा पञ्चीकरणं क्वचिच्छ्रुतमस्ति येन तन्न्यायोऽनुसरणीयः स्यादिति चेत्सत्यम्। तथापि न्यायानुसरणं युक्तम्। यथा त्रिसर्गश्रुतौ सृष्टानां भूतानां स्फुटतरव्यवहाररूपनामरूपव्याकरणोपायतया त्रिवृत्करणं श्रुतं तद्वद्भूतपञ्चकसर्गश्रुतावपि तथा नामरूपव्याकरणोपायः कश्चिदीश्वरस्येक्षितुर्युक्तः। स चोपायविशेषस्तस्यैवेश्वरस्य भूतयोनेः शाखान्तरे त्रिवृत्करणरूपः श्रुतस्तत्परित्यागेनान्यस्य कल्पनायां प्रमाणाभावात्तस्यैव पञ्चसर्गश्रुतावप्युपसंहारे प्राप्ते तस्य पञ्चीकरणार्थत्वमन्तरेण पञ्चानां भूतानां स्फुटतरव्यवहारोपायतानुपपत्तेर्युक्तं त्रिवृत्करणवाक्यस्य पञ्चीकरणोपलक्षणत्वमित्येतेन चरमः पक्षः प्रतिक्षिप्तः। त्रिवृत्करणश्रुतेः पञ्चीकरणार्थत्वनिरूपणे कृते तेन पञ्चीकरणस्य विरोधासम्भवात्। श्रुत्यभिप्रायश्चैवं वर्णितो विद्वत्तमाचार्यैः—"आकाशस्य सर्वावकाशतया सर्वाव्यतिरेकाद्वायोश्च सर्वचेष्टाहेतुत्वेन सर्वाविनाभूतत्वात्तयोस्तेजःप्रभृतिष्वन्तर्भावं सिद्धवत्कृत्य त्रिवृत्करणं प्रयोगसौकर्यार्थं श्रुतिर्वर्णयाम्बभूव" इति। तस्मादस्ति पञ्चीकरणं प्रामाणिकमित्यलमतिनिर्बन्धेन ॥

वायु अप्रत्यक्ष हैं अतः उनके द्विवृत्करण को एवं उनसे मिश्रित पाँचों भूतों के पञ्चीकरण को हृदयंगम कराना कठिन है किन्तु अग्नि, जल और पृथिवी ये तीन भूत प्रत्यक्ष हैं अतः इनके त्रिवृत्करण को बुद्धिग्राह्य बना देना सरल है, अत एव इनके त्रिवृत्करण को बताकर उसके द्वारा पञ्चीकरण को संकेतित किया गया, अतः त्रिवृत्करण की प्रत्यक्ष श्रुति से पञ्चीकरण का संकेत होने से पञ्चीकरण को अश्रौत किं वा अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

पञ्चीकरण की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में एक बात यह भी ध्यान में रखनी है कि तेज आदि तीन भूतों की उत्पत्ति आकाश और वायु की उत्पत्ति के बाद ही हुई है अतः तेज आदि में आकाश और वायु की अनुगति कार्यकारणभाव की मर्यादा के अनुसार सुगम है, इसलिये तेज आदि तीन प्रत्यक्ष भूतों का त्रिवृत्करण बता देने पर आकाश आदि पाँचों भूतों का पञ्चीकरण अनायास अवबोधित हो जाता है अतः शब्दतः उसका उल्लेख अनावश्यक है, इस तथ्य की चर्चा वेदान्तसार की विद्वन्मनोरञ्जनी व्याख्या में एक प्राचीन आचार्य के वचन को उद्धृत कर इस प्रकार की गई है कि—

'आकाशस्य सर्वावकाशतया सर्वाव्यतिरेकाद् वायोश्च सर्वचेष्टाहेतुत्वेन सर्वाविनाभूतत्वात्तयोस्तेजः प्रभृतिष्वन्तर्भावं सिद्धवत्कृत्य त्रिवृत्करणं प्रयोगसौकर्यार्थं श्रुतिर्वर्णयाम्बभूव'

आकाश सबको अवकाश देता है अतः आकाश का सभी में सन्निधान है, कहीं भी उसका व्यतिरेक-अभाव नहीं है, एवं वायु सभी को चेष्टायुक्त-गतिमान् करता है अतः उसकी भी उपस्थिति सर्वत्र है, उससे सूना कोई नहीं है, इस प्रकार तेज आदि

ननु पृथिव्यादीनां भूतानां चेत्सर्वभूतात्मकत्वं तथा सति व्यवहारसाङ्कर्यप्रसङ्ग इत्याशङ्कयाह—पञ्चानामिति। वैशेष्यात्विशेषभावात् भागाधिक्यात्तद्वादो नभः पवनस्तेजो जलं पृथिवीत्यादिव्यपदेशो भवतीति द्वितीयाध्यायसमाप्त्यधिकरणे न्यायेन निर्णयः कृतस्तेन न्यायेनाकाशादौ व्यवहारासाङ्कर्यं सिद्ध्यतीत्यभिप्रायः। इदानीं भूतानां पञ्चीकृतत्वे लिङ्गं चाह—तदानीमिति। तदानीं पञ्चीकरणानन्तरमाकाशे शब्दोऽभिव्यज्यते। स्फुटतयेति सर्वत्र योजनीयम्। एतदुक्तं भवति। आकाशादीनां पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरं प्रति कारणत्वेन स्वस्वकार्यापेक्षया व्यापकत्वात्कार्यांशसंवलितत्वेऽपि न कार्यगतगुणाश्रयतयाप्यभिव्यक्तिः किन्तु स्वस्वगुणाश्रयतयैव। तथा कार्याणां स्वकारणापेक्षयाल्पत्वात्तेषां कारणभागसम्मिश्रितानां कारणगुणाश्रयतयापि भवत्यभिव्यक्तिरिति। तथा च लोकेऽनुभवः। प्रचण्डशब्दो वायुः। प्रजल्पति ज्वाला। नदी संघुष्यति। स्फुट्यमानः पाषाणः क्रोशतीत्यादि। स्पर्शादीनां तेजः प्रभृतिषु सद्भावोऽविवाद एव। न चैवमनुभवो भ्रान्तिर्व्यवहारदशायां बाधादर्शनात्। तथा च प्रतिनियताश्रया अपि शब्दादयो गुणा यथायथं भूतान्तरेष्वप्युपलभ्यमाना भूतानां पञ्चीकृतत्वं गमयन्तीति ॥ १५॥

तीन भूतों में आकाश और वायु का अन्तर्भाव—सन्निधान स्वतः सिद्ध जैसा है, अतएव तेज आदि के त्रिवृत्करण के प्रयोग को सुकर मान कर श्रुति ने उसका वर्णन किया अतः आकाश आदि के पञ्चीकरण मे भी श्रुति का तात्पर्य स्पष्ट है।

पञ्चीकरण की प्रक्रिया को मान्यता प्रदान करने पर यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि जब प्रत्येक स्थूल भूत में पांचों भूतों का मिश्रण होता है तब प्रत्येक भूत में सभी के गुणों की अभिव्यक्ति होना उचित है, पर ऐसा नहीं होता, ग्रन्थकार ने कहा भी है कि पञ्चीकरण हो जाने पर आकाश में शब्द की, वायु में शब्द और स्पर्श की, तेज मे शब्द, स्पर्श और रूप की, जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस की तथा पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध की अभिव्यक्ति होती है, किन्तु पञ्चीकरण में इस बात का औचित्य नहीं सिद्ध होता, किन्तु इस प्रश्न का उत्तर यह दिया जा सकता है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन गुणों में पूर्व पूर्व गुण उत्तरोत्तर गुण की अपेक्षा उत्कट एवं सुग्रह होता है, जैसे जब कोई तीव्र शब्द कानों में पड़ता है तब उसी की अनुभूति होती है, अन्य गुणों का अनुभव शब्द के अनुभव से अभिभूत हो जाता है, जब कोई अत्यन्त उष्ण अथवा अत्यन्त शीत वस्तु शरीर से छू जाती है तब तीव्र औष्ण्य किंवा निरतिशय शैत्य के अनुभव से रूपादि के अनुभव अभिभूत हो जाते हैं, गुणों की इस स्वाभाविक स्थिति को ध्यान में रखकर ही विभिन्न भूतों में गुणों की अभिव्यक्ति के उक्त क्रम का प्रतिपादन किया गया है।

इसके अतिरिक्त एक बात और है, वह यह कि आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी इन पांच भूतों में पूर्व पूर्व भूत उत्तरोत्तर भूत के कारण हैं, अतः कार्य में कारण

एतेभ्यः पञ्चीकृतेभ्यो भूतेभ्यो भूर्भुवःस्वर्महर्जनस्तपः सत्य-मित्येतन्नामकानामुपर्युपरि विद्यमानानामतलवितलसुतलरसातलतला-तलमहातलपातालनामकानामधोऽधो विद्यमानानां लोकानां ब्रह्माण्डस्य तदन्तर्वर्तिचतुर्विधस्थूलशरीराणां तदुचितानामन्नपानादीनां चोत्पत्ति-र्भवति। चतुर्विधशरीराणि तु जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजाख्यानि। जरायुजानि जरायुभ्यो जातानि मनुष्यपश्वादीनि। अण्डजान्यण्डेभ्यो जातानि पक्षिपन्नगादीनि। उद्भिज्जानि भूमिमुद्भिद्य जातानि वृक्ष-वृक्षादीनि। स्वेदजानि स्वेदेभ्यो जातानि यूकामशकादीनि॥ १६॥

एवं भूतारोपं प्रपञ्च्य भौतिकारोपमाह—एतेभ्य इति। भूरादयः प्राणिनां कर्मज्ञानफलभोगस्थानविशेषा यथापाठक्रममुपर्युपरि वर्तमानाः सप्त भूमेरधोऽधश्च पाठक्रमेण वर्तमाना अतलादयः सप्तेत्येवं चतुर्दश लोकाः। एत एव स्वावरणभूतलोकालोकपर्वततद्बाह्यपृथिवी तद्बाह्यसमुद्रैः सहिता ब्रह्माण्डमित्युच्यते। अस्य च परिमाणं श्रुतौ सङ्कीर्तितं—"द्वात्रिंशतं वै देवरथाह्वयान्ययं लोकस्तं समन्तं पृथिवी द्विस्तावत्पर्येति तां समन्तं पृथिवीं द्विस्तावत्समुद्रः पर्येति" इति। शरीराणां चातुर्विध्यं स्पष्टयति—शरीराणीति। यथोद्देशक्रमं शरीराणि लक्षयति—जरायुजानीत्यादिना॥

गुणों के संक्रमण के स्वाभाविक नियमानुसार उत्तरोत्तर भूतों में पूर्व पूर्व भूत के गुण अव्यक्तरूप में अनुप्रविष्ट रहते हैं अतः जब भूतों का पञ्चीकरण होता है तब उत्तरोत्तर भूतों में प्रथमतः विद्यमान पूर्व पूर्व भूतों के गुण सजातीय गुण का सम्पर्क पाकर उद्भूत होकर अभिव्यक्त होने लगते हैं, कारण में कार्य गुणों का अनुप्रवेश नहीं होता अतः पूर्व पूर्व भूतों में उत्तरोत्तर भूतों के गुण प्रथमतः विद्यमान नहीं होते, इसलिये पञ्चीकरण होने पर उत्तरोत्तर भूत का जो भाग पूर्व पूर्व भूत में मिश्रित होता है उस भाग का गुण सजातीय गुण का सम्पर्क न पाने से उद्भूत न हो सकने के कारण पूर्व पूर्व भूतों में अभिव्यक्त नहीं हो पाता।

अनुवाद—

इन पञ्चीकृत भूतों से एक दूसरे के ऊपर विद्यमान भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः तपः, सत्यम् नाम के तथा एक दूसरे के नीचे विद्यमान अतल, वितल, सुतल, रसातल तलातल, महातल, पाताल नाम के लोकों की, ब्रह्माण्ड की, उसके अन्तर्गत चार प्रकार के स्थूल शरीरों की, और उनके पालन योग्य अन्न, पान आदि की उत्पत्ति होती है। चार प्रकार के शरीरों के नाम हैं जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज और स्वेदज। जरायु-गर्भ को वेष्ठित करने वाली चमड़े की थैली से उत्पन्न होने वाले मनुष्य, पशु आदि जरायुज हैं, अण्डों से उत्पन्न पक्षी, सर्प आदि अण्डज हैं, भूमि को फोड़कर उत्पन्न होने वाले ृग,

नतु वैशेषिकाः प्रत्यक्षाप्रत्यक्षवृत्तेरप्रत्यक्षत्वात्पञ्चात्मकत्वं न विद्यत इति वदन्तोऽप्रत्यक्षाभ्यां वाय्वाकाशाभ्यां सह पृथिव्यादिभिरारभ्यमाणानां शरीराणामप्यप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गान्न पाञ्चभौतिकं शरीरमित्याहुस्तत्कथं पञ्चभ्यो भूतेभ्यश्चतुर्विधभूतग्रामस्योत्पत्तिरुच्यत इति चेदत्राहुः । अस्ति हि शरीरे सर्वेषामपि भूतानां कार्यसम्प्रतिपत्तिरवकाशव्यूहनपचनक्लेदनकाठिन्यानां सर्वजनानुभवसिद्धत्वात् । अतस्तत्कारणतया पञ्चापि भूतान्येकस्मिन्देहे सन्तीति स्थिते यदि तेषां भूतानां देहावयवत्वाभावो वृत्तिलाभमात्रत्वैव स्यात्तदा तदपगमानपगमाभ्यां देहस्योपचयापचयौ न स्याताम् । दृश्येते च तयोः सतोरुपचयापचयावतस्तन्तुपटयोरिवावयवावयवित्वमेव पञ्चभूतदेहयो-र्युक्तम् । पार्थिवे कार्येऽपार्थिवानां भूतानां वृत्तिलाभमात्रत्वे तु तदुपगमा-पगमाभ्यां तस्योपचयापचयायोगात् । न हि वस्त्रस्यानारम्भकसलिलद्रव्या-र्द्रीकृतस्य तदवस्थायामुपचयस्तदपगमे वापचयोऽस्ति तदायामविस्तारयोस्त-दवस्थास्वदर्शनात् । तथाच जलदृत्योरपि पावकपवनोपगमापगमाभ्यां परि-माणान्यथात्वं न दृश्यते । तथा च यदि भस्त्रादाविव पार्थिवे देहे भूतान्तरस्य वृत्तिमात्रता स्यात्तर्हि भस्त्रादिदेहयोरविशेषेण व्यूहनादीनां सत्त्वमसत्त्वं वा तुल्यवत्प्रसज्येत । अदृष्टवदात्मनः संयोगतज्जन्यप्रयत्नादिकारणान्तरस्या-

वृक्ष आदि 'उत् ऊर्ध्वं भित्त्वा जायन्ते' इस व्युत्पत्ति से उद्भिज्ज हैं, स्वेद—पसीना, गन्दा पानी, गन्दे स्थान आदि से अदृष्टवश उत्पन्न होने वाले मच्छर आदि स्वेदज हैं।

व्याख्या—

शास्त्रों में बताया गया है कि अण्डे के समान गोल आकार का एक बड़ा प्रदेश होता है जो सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के अधीन होने से ब्रह्माण्ड कहा जाता है, इसकी संख्या सीमित नहीं होती । न्यायकुसुमाञ्जलिग्रन्थ के द्वितीय स्तवक में कहा गया है कि—'यथैकस्यामलाबुलतायां विततानि बहूनि फलानि तथैकस्यां परमात्मशक्तावनुस्यूतानि सहस्रशोऽण्डानीति श्रूयते—जैसे लौकी की एक लता में अनेकों फल लटकते हैं वैसे परमात्मा की एक शक्ति में सहस्रों ब्रह्माण्ड आश्रित होते हैं' ।

प्रत्येक ब्रह्माण्ड में चौदह लोक होते हैं जिनमें सात आकाश के ऊपरी भाग में और सात उसके निचले भाग में अवस्थित होते हैं, ऊपर अवस्थित लोकों के नाम हैं भूः, भुवः, स्वः, मह, जनः, तपः और सत्य, इनमें उत्तरोत्तर लोक पूर्व पूर्व लोक के ऊपर विद्यमान होते हैं, नीचे अवस्थित लोकों के नाम हैं अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल और पाताल, इनमें उत्तरोत्तर लोक पूर्व पूर्व लोक के नीचे विद्यमान होते हैं। पुण्य कार्य करने वाले प्राणी अपने कार्यों का फल भोग करने के लिये ऊपर के लोकों में जन्म पाते हैं और पाप कर्म करने वाले प्राणी अपने कर्मों के फल भोग के लिये नीचे के लोकों में जन्म पाते हैं, इन लोकों में भूलोक को कर्मभूमि कहा जाता है, इस लोक में ही पुण्य, पाप कर्मों की व्यवस्था है अन्य लोक इस लोक में कृत कर्मों के

ण्युभयत्र समानस्यापादयितुं शक्यत्वात्। न च प्रत्यक्षाप्रत्यक्षवृत्तेः शरीरस्याप्रत्यक्षत्वं शङ्कनीयम्। प्रत्यक्षाप्रत्यक्षावयववृत्तीनामवयविनामप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्। न च स्पर्शशून्यत्वादेकद्रव्यत्वाच्चाकाशस्यारम्भकत्वानुपपत्तिरिति वाच्यमारम्भवादस्यानङ्गीकारादेकस्यापि दुग्धावयविनो दध्यारम्भकत्वदर्शनात्। न च दुग्धावयवैरिव दध्यारभ्यत इति वाच्यम्। तथा सति दधिदुग्धयोर्गन्धरसादिवैषम्यं न स्याद्दुग्धस्येव सतः परिणामो दधीत्यभ्युपगमे स्याद्गन्धादिवैषम्यम्। स्पर्शशून्यमपि द्रव्यं यथा गुणारम्भकं दृष्टं तथा द्रव्यारम्भकमप्यस्तु। श्रुतिरपि शरीरस्य सङ्कीर्णद्रव्यारब्धतां श्रावयति—"अन्नमशितं त्रेधा विधीयत" इत्यादौ। याज्ञवल्क्योऽप्याह—

"पञ्च धातून्स्वयं षष्ठ आदत्ते युगपत्प्रभुः"। इति।

वस्तुतस्तु पञ्चानां भूतानां पञ्चात्मकत्वस्य दर्शितत्वादारम्भवादस्य निराकृतत्वाच्च नात्रोदयनाद्युक्तदोषशङ्कावकाशोऽपीति गमयितव्यं तस्मात्सिद्धं शरीरं पाञ्चभौतिकमिति ॥ १६ ॥

भोगलोक हैं, अतः भूलोक में ही मनुष्य अपने उत्थान वा पतन का अवसर प्राप्त करता है।

ब्रह्माण्ड में विद्यमान उक्त चौदहों लोक एक लोकालोक नामक पर्वत से चारों ओर घिरे रहते हैं, वह पर्वत अपने बाहर एक वृत्ताकार पृथिवी से घिरा होता है और वह पृथिवी अपने बाहर अनेक समुद्रों से घिरी होती है, ये सब मिलकर एक ब्रह्माण्ड कहे जाते हैं। ब्रह्माण्ड का यह वर्णन वेदान्तसार की रामतीर्थकृत विद्वन्मनोरञ्जनी टीका में जिन शब्दों में अङ्कित है वे इस प्रकार हैं—'एत एव स्वावरणभूतलोकालोकपर्वत, तद्बाह्यपृथिवीतद्बाह्यसमुद्रैः सहिता ब्रह्माण्डमित्युच्यते'।

बृहदारण्यक उपनिषद् (३।३।२) में भी कुछ इसी प्रकार की चर्चा की गई है जैसे—'द्वात्रिंशतं वै देवरथाह्न्योऽयं लोकस्तं समन्तं पृथिवी द्विस्तावत् पर्येति, तां समन्तं पृथिवीं द्विस्तावत्समुद्रः पर्येति'—यह लोक बत्तीस देवरथाह्न्य है अर्थात् इस लोक के ऐसे बत्तीस भाग हैं जिनमें एक एक भाग की यात्रा सूर्य प्रतिदिन अपने रथ से पूरी करता है, अतः एक पूरे लोक को पार करने में सूर्य को बत्तीस दिन की रथ यात्रा करनी होती है। श्रीमद्भागवत (५।२१।१२) के अनुसार सूर्य का रथ एक मुहूर्त में चौतीस लाख आठ सौ योजन की दूरी तय करता है। इस गतिक्रम से एक दिन में सूर्य संसार के जितने भाग की यात्रा पूरी करता है, उतना भाग एक देवरथ के नाम से संज्ञित होता है और ऐसे बत्तीस देवरथों का एक एक लोक होता है और इतने विशाल परिमाण वाले चौदह लोक एक ब्रह्माण्ड में आश्रित होते हैं। उक्त परिमाण के प्रत्येक लोक को उससे दूने विस्तार वाली पृथिवी चारों ओर से आवृत करती है और उस पृथिवी को चारों ओर से उसके दूने परिमाण वाला समुद्र आवृत करता है।

अत्रापि चतुर्विधसकलस्थूलशरीरमेकानेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशयवद्वा समष्टिर्वृक्षवज्जलवद्वा व्यष्टिरपि भवति। एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं वैश्वानरो विराडित्युच्यते सर्वनराभिमानित्वाद्विविधं राजमानत्वाच्च। अस्यैषा समष्टिः स्थूलशरीरमन्नविकारत्वादन्नमयकोशः स्थूलभोगायतनत्वाच्च स्थूलशरीरं जाग्रदिति च व्यपदिश्यते।

अत्रापीति स्पष्टार्थः। स्थूलसमष्ट्युपहितस्य चैतन्यस्य व्यपदेशभेदानाह—एतत्समष्ट्युपहितमिति। चकारात्पुरुषादिशब्दग्रहः। उच्यते। "यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते", "सैषा विराडन्नादी", "पुरुष एवेदं" इत्यादिश्रुतिभिरिति शेषः। तत्र हेतूनाह—सर्वनरेति। सर्वशब्दो विश्वपदपर्यायः। विश्वनराभिमानित्वाद्वैश्वानरः। विविधं राजमानत्वाद्विराट्। चकारात्पूर्णत्वात्पुरुष इति च द्रष्टव्यम्। उपहितस्य व्यपदेशानुक्त्वोपाधेरपि तानाह—अस्यैषेति। "अन्नं वै विराट्" इतिश्रुतेरन्नविकारत्वम्।

लोकों की इस विशालता को तथा उनमें उत्पन्न होने वाले प्राणियों के उक्त चार प्रकार के शरीरों के पालनार्थ अपेक्षित अन्न, पान आदि की रचना और उसके लिये अधिकृत ब्रह्मा की शक्ति को सोचकर बड़े बड़े बुद्धिमान मनुष्यों का भी मस्तिष्क चकरा उठता है, फिर कितने आश्चर्य की बात है कि इस भूलोक मे अपने पूर्वकर्मानुसार जन्मा हुआ मनुष्य अपने क्षुद्रतम ज्ञान, कर्म और अधिकार से कितना मदोन्मत्त हो जाता है।

ब्रह्माण्ड और उसके अन्तः स्थित लोकों आदि के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी, प्राप्त करने के लिये विभिन्न पुराणों और उनमें दिये गये वर्णन के संकेतक संहिता, ब्राह्मण आदि का अध्ययन आवश्यक है।

अनुवाद—

यहाँ भी चार प्रकार के सभी स्थूल शरीर एकाकार बुद्धि का विषय होने से बन और जलाशय के समान समष्टिरूप तथा अनेकाकार बुद्धिका विषय होने से उपहित चैतन्य को सभी नर शरीरों में अपनेपन का अभिमान करने से वैश्वानर तथा विविध रूपों में राजमान—भासमान होने से विराट् कहा जाता है, इस वैश्वानर चैतन्य की उपाधिभूत इस स्थूलशरीरात्मक समष्टि को अन्न का विकार—अन्नजन्य होने से और चैतन्य का आच्छादक—कोश होने से अन्नमय कोश कहा जाता है, स्थूल भोग का आस्पद होने से स्थूल शरीर और भोगलग्न होने से जाग्रत् कहा जाता है।

व्याख्या—

जिन चार प्रकार के शरीरों की चर्चा की गई, उनकी उत्पत्ति पञ्चीकृत स्थूल भूतों से होती है, वे स्वयं भी स्थूल—बड़े परिमाण से युक्त होने के नाते दृश्य होते हैं, अतः उन्हें स्थूल शरीर कहा जाता है। उनकी उत्पत्ति में अन्न—खाद्य वस्तुओं की

एतद्व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं विश्व इत्युच्यते सूक्ष्मशरीराभिमानमपरित्यज्य स्थूलशरीरादिप्रविष्टत्वात्। अस्याप्येषा व्यष्टिः स्थूलशरीरमन्नविकारत्वादेव हेतोरन्नमयकोशो जाग्रदिति चोच्यते।

स्थूलभोगाऽतिस्पष्टो भोगः। एवं समष्टिस्थूलतदुपहितचैतन्ययोर्व्यपदेशभेदं दर्शयित्वा व्यष्टिस्थूलतदुपहितयोरपि तमाह—एतद्व्यष्टीति। व्यष्टिस्थूलशरीरोपहितस्य विश्वशब्दवाच्यत्वे हेतुमाह—सूक्ष्म इति। सूक्ष्मशरीरं कारणशरीरं तदपरित्यज्य स्थूलशरीरादौ तदपेक्षया स्थूलशरीरं लिङ्गशरीरं तदादिर्यस्य परमस्थूलशरीरस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिस्तस्मिन्प्रवेष्टृत्वात्। तथा हि जीवस्य त्रय उपाधयः। सुषुप्त्यादौ बुद्ध्यादिसंस्कारोपरञ्जितमज्ञानमात्रमुपाधिः। स्वप्ने जाग्रद्वासनामयं लिङ्गशरीरमुपाधिः। जाग्रदवस्थायां तु सूक्ष्मशरीरसंसृष्टस्थूलशरीरमुपाधिः। तथा च पूर्वपूर्वोपाधिविशिष्टस्यैवोत्तरोत्तरोपाधिप्रवेशात्सर्वशरीरप्रवेष्टृत्वेन स्थूलभोगायतनाभिमानिनो विश्व इति संज्ञेति। यद्वा सूक्ष्मशरीरं लिङ्गशरीरं तदपरित्यज्य स्थूलशरीरं विराड्व्यष्टिस्तदादिर्यासां चक्षुरादिवृत्तीनां तत्तद्विषयाकाराणां च तत्प्रवेष्टृत्वादिति हेतुयोजना। स्थूलशरीरमपरित्यज्येति क्वचित्पाठे स्थूलशरीरे वर्तमानस्यैव सूक्ष्म-

---

प्रधानता होने से उन्हें अन्नमय कहा जाता है, चैतन्यरूप प्राणी उन शरीरों को ही 'अहं' मानने लगता है अतः उसका वास्तव स्वरूप चैतन्य उन शरीरों में छिप जाता है अत एव चैतन्य को छिपा देने के कारण उन्हें कोश कहा जाता है, उनकी अन्नमयता और कोशरूपता को दृष्टिगत कर उन्हें 'अन्नमयकोश' इस एक शब्द से व्यवहृत किया जाता है।

समस्त स्थूल शरीरों का समूह जिस चैतन्य द्वारा 'अहं' के रूप में ग्रहण किया जाता है वह समष्टिभूत स्थूल शरीर से उपहित चैतन्य वैश्वानर शब्द से व्यवहृत होता है क्योंकि उसे विश्वनरों में—सभी स्थूल शरीरों में आत्माभिमान होता है। वैश्वानर शब्द से संज्ञित चैतन्य को ही विराट् भी कहा जाता है क्योंकि वह जगत् के विविध रूपों में राजित-प्रतीत होता है।

जिन चार प्रकार के शरीरों को स्थूल शरीर कहा गया है उन्हें स्थूल कहने का एक यह भी कारण है कि वे स्थूल-अतिस्पष्ट भोग के आधार स्तम्भ हैं, उन शरीरों द्वारा ही विभिन्न विषयों की उपलब्धि होकर प्राणी को सुख, दुःख का भोग प्राप्त होता है।

स्थूल शरीर में अवस्थित इन्द्रियों से विभिन्न अर्थों की उपलब्धि होती है इस उपलब्धि का साधन होने से ही उन्हें जाग्रत् कहा जाता है क्योंकि जाग्रत् अवस्था में ही इन्द्रियां अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं।

अनुवाद—

स्थूल शरीर की व्यष्टि से उपहित चैतन्य को विश्व कहा जाता है, क्योंकि यह

सूक्ष्म शरीर में आत्माभिमान का त्याग किये विना ही स्थूल शरीर आदि में प्रविष्ट होता है—उनमें भी आत्माभिमान करने लगता है अतः विश्व—सबमें अर्थात् सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर आदि समस्त में आत्माभिमानी होने से वह 'विश्व' शब्द से संज्ञित होता है। इस विश्व चैतन्य की उपाधिभूत इस व्यष्टि को स्थूल शरीर, अन्न का विकार होने से ही अन्नमय कोश और जाग्रत् कहा जाता है।

व्याख्या—

यह बताया जा चुका है कि स्थूल शरीर के भी दो रूप हैं समष्टि और व्यष्टि। सभी स्थूल शरीरों के समूह का नाम है 'समष्टि' और एक एक स्थूल शरीर का नाम है 'व्यष्टि'। समष्टि से जो चैतन्यभाग उपहित होता है वह पूरी समष्टि को 'अहं' मानने लगता है, उसे 'इदं सर्वं' स्थूलशरीरम् अहम्—यह सारा स्थूल शरीर मैं हूँ' इस प्रकार का अभिमान होने लगता है। समस्त स्थूल शरीर में आत्माभिमानी इस चैतन्य को ही 'वैश्वानर' कहा जाता है। किन्तु जो चैतन्यभाग व्यष्टि-एक स्थूल शरीर मात्र से उपहित होता है, जिसे एकही स्थूल शरीर में 'अहमिदम्—यह स्थूल शरीर मैं हूँ' इस प्रकार का अभिमान होता है वह विश्व शब्द से संज्ञित होता है। उसकी 'विश्व' संज्ञा के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठ सकता है कि 'विश्व' शब्द का अर्थ तो 'सब' होता है, फिर एक स्थूल शरीर में आत्माभिमानी को 'विश्व' कहना कैसे संगत हो सकता है? किन्तु ग्रन्थकार ने इस प्रश्न का उत्तर यह कहकर दे दिया है कि व्यष्टिभूत स्थूल शरीर से उपहित चैतन्य यतः व्यष्टिभूत सूक्ष्म शरीर में आत्माभिमान का त्याग किये विना ही व्यष्टिभूत स्थूल शरीर में आत्माभिमान करता है, अतः वह 'विश्व' शब्द से संज्ञित होता है। आशय यह है कि यद्यपि विश्व शब्द सर्व का वाचक है किन्तु प्रस्तुत प्रसङ्ग में वह सूक्ष्म और स्थूल शरीर इन दो में ही संकुचित होकर प्रयुक्त है, अतः सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर दोनों में एक साथ आत्माभिमानी होने से व्यष्टि स्थूल शरीर से उपहित चैतन्य को 'विश्व' कहा गया है।

अथवा यह भी कहा जा सकता है कि जीव चैतन्य की तीन उपाधियाँ हैं, सुषुप्तिकाल में अज्ञानव्यष्टि, स्वप्नकाल में जाग्रत्काल के अनुभवों से जनित वासनायें तथा जाग्रत्काल में स्थूल शरीरव्यष्टि, इन तीनों उपाधियों को मिलाकर विश्व उपाधि—जीव की सब उपाधि कहा जाता है और जाग्रत्काल में जीव को इन तीन उपाधियों से युक्त होने के नाते 'विश्व' नाम से व्यवहृत किया जाता है। इस बात का उल्लेख रामतीर्थ ने वेदान्तसार की अपनी विद्वन्मनोरञ्जनी व्याख्या में इसी प्रकरण में बड़े स्पष्टरूप से किया है। जिसका आशय है कि जाग्रत्काल की उपाधि से युक्त जीव सुषुप्ति और स्वप्नकाल की उपाधियों से भी युक्त होने से विश्व उपाधि से युक्त होने के कारण विश्व नाम प्राप्त करता है, 'विश्व' संज्ञित जीव चैतन्य को स्थूल शरीर आदि में अनुप्रविष्ट कहा गया है। इस सन्दर्भ में कुछ विद्वानों का कहना है कि यतः स्थूल शरीर ही जीव की अन्तिम उपाधि है। अतः उसे उसी में अनुप्रविष्ट बताना उचित

तदानीमेतौ विश्ववैश्वानरौ दिग्वातार्कवरुणाश्विभिः क्रमान्नियन्त्रितेन श्रोत्रादीन्द्रियपञ्चकेन क्रमाच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धानग्नीन्द्रोपेन्द्रयमप्रजापतिभिः क्रमान्नियन्त्रितेन वागादीन्द्रियपञ्चकेन क्रमाद्वचनादानगमनविसर्गानन्दांश्चन्द्रचतुर्मुखशङ्कराच्युतैः क्रमान्नियन्त्रितेन मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्ताख्येनान्तरिन्द्रियचतुष्केण क्रमात्सङ्कल्पनिश्चयाहङ्कार्यचैत्तांश्च सर्वानेतान् स्थूलविषयाननुभवतो "जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञ" इत्यादिश्रुतेः ।

शरीरकारणशरीरयोरप्यनुगतत्वादिति हेत्वर्थोऽनुसन्धेयः । सर्वथा विश्वशरीरवर्तित्वाद्विश्व इत्युक्तं भवतीति भावः । अस्यापीति पूर्ववत् । एषेति व्यष्टिरुच्यते । पूर्ववद्विश्ववैश्वानरयोरपि जाग्रत्स्थित्यवस्थापन्नं भोगविशेषं सप्रकारं प्रपञ्चयति—तदानीमित्यादिना । दिगादिपञ्चदेवतानियन्त्रितेन श्रोत्रादीन्द्रियपञ्चकेन यथापाठक्रमं शब्दादिगन्धान्तान्स्थलविषयाननुभवत इति प्रत्येकं योजनीयम् । अग्न्यादिदेवतापञ्चकनियन्त्रितेन वागादिपञ्चकेन वचनाद्यानन्दान्तांस्तथा चन्द्रादिदेवताचतुष्टयनियन्त्रितेन मन आदिचतुष्केण सङ्कल्पादि-

---

होने से आदि शब्द का प्रयोग निरर्थक है पर यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि आगे 'अध्यारोप' का विशेषरूप से वर्णन के प्रकरण में अपने स्थूल शरीर से वाह्य पुत्र, कलत्र, वित्त, वाहन आदि में भी जीव के आत्माभिमान का वर्णन किया गया है अतः उन सबों में भी चैतन्य के उपाधित्व को दृष्टि में रखकर उनके सूचनार्थ आदि शब्द के उल्लेख की सार्थकता का समर्थन हो सकता है ।

व्यष्टिभूत स्थूल शरीर से ही जीव को स्थूल-स्पष्ट भोग की प्राप्ति होती है, इस लिये तथा उसकी उत्पत्ति भी स्थूल भूतों से होने के नाते उसे स्थूल शरीर कहा जाता है, उसकी उत्पत्ति और स्थिति में अन्नप्राचुर्य की अपेक्षा होने से तथा उसमें जीव के चैतन्यात्मक वास्तव स्वरूप के आवृत होने से उसे अन्नमय कोश कहा जाता है। उसमें विद्यमान इन्द्रियों से विषयों की उपलब्धि होने से उसे जाग्रत् भी कहा जाता है क्योंकि उसके जाग्रत् रहने पर ही इन्द्रियों से विषयों की अनुभूति होती है।

अनुवाद—

उस समय—जाग्रत्काल में ये विश्व और वैश्वानर श्रोत्र आदि पांच इंद्रियों से जो दिक्, बात, अर्क, वरुण, अश्विन् द्वारा क्रम से नियन्त्रित हैं, क्रम से शब्द, स्पर्श रूप, रस और गन्ध, एवं वाक् आदि पांच इंद्रियों से जो अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, यम, प्रजापति द्वारा क्रम से नियन्त्रित हैं, क्रम से वचन, आदान, गमन, विसर्ग और आनन्द, तथा मन, बुद्धि, अहंकार और चित्तनाम के चार अन्तःकरणों से, जो चन्द्र, चतुर्मुख, शङ्कर, प्रजापति द्वारा क्रम से नियन्त्रित हैं, क्रम से संकल्प, निश्चय, अहंकार और

चैत्यान्तांश्चतुरः। सर्वानेतानिति। यथायथं यथोक्तक्रमानुरोधेन सर्वानेतान्स्थूल-भोगान्विषयाननुभवत इत्यर्थः। अत्रापि प्रमाणमाह—जागरित इति। आदि-शब्दात् "स्थूलभुग्वैश्वानर" इति वाक्यशेषग्रहः ॥

इदमत्र बोद्धव्यम्। जाग्रदवस्थायां हि प्रमातृप्रमाणप्रमेयव्यवहारा भवन्ति तत्र प्रमाणैर्योऽर्थं प्रमिणोति स प्रमाता येन प्रमिणोति तत्प्रमाणं यत्प्रमीयते तत्प्रमेयमिति सर्वतन्त्रसिद्धान्तः। तत्र यः प्रमाता जीवश्चेतनः स विषयं प्रमिण्वन् कया प्रत्यासत्त्या प्रमिणोतीति विचारणीयम्। आत्ममन-इन्द्रियविषयाणां क्रमेण संयोगपरम्परयेति चेन्न। विषयसंयुक्ततत्संयुक्तेष्वपि संयोगपरम्परया युगपत्सर्वावभासप्रसङ्गात्। यावदिन्द्रियसम्बन्धस्तावदेव हि भासत इति नातिप्रसङ्ग इति चेन्नेन्द्रियसन्निकर्षस्यापीयत्तानवधारणात्। इन्द्रियसन्निकर्षानन्तरं योऽर्थः स्फुरति तावन्मात्रं सन्निकृष्यत इति चेन्न। इन्द्रियसन्निकर्षस्येयत्तावधारणात्स्फुरणस्य विषयनियमस्तस्मिन्सतीन्द्रिय-सन्निकर्षेयत्तावधारणमिति परस्पराश्रयात्। किञ्चोक्तसन्निकर्षस्य ज्ञानोत्पत्ति-मात्रे क्लृप्तत्वात्तदनन्तरं तस्यावस्थाने कल्पकाभावान्न ज्ञानस्य विषयेण सह सम्बन्धः स्यात्। तथा च मयेदं विदितमिति स्वात्मनि सम्बन्धानुसन्धाना-भावप्रसङ्गः। न चाश्रयद्वारा सम्बन्ध इति वाच्यं; ज्ञानस्य सर्वगतात्माश्रयत्वे युगपत्सर्वविषयसम्बन्धात्सर्वावभासप्रसङ्गः। देहावच्छिन्नात्मप्रदेशाश्रितत्वे देहस्य बाह्यविषयासम्बन्धान्न बाह्यं किञ्चिदपि भायात्। ननु सम्बन्धाभावेऽपि

चैत्त इन सब स्थूल विषयों का अनुभव करते हैं। यह बात (माण्डूक्य० २) के 'वैश्वानर जागरण काल में अवस्थित और बहिर्मुखबुद्धि होकर स्थूल विषयों का भोग करता है' इस आशय की श्रुति से प्रमाणित है जो इस प्रकार है 'जागरितस्थानो वहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग् वैश्वानरः' सात अङ्ग हैं द्युलोक, सूर्य, वायु, आकाश, अन्न, पृथिवी और आहवनीय अग्नि, उन्नीस मुख हैं पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच प्राण और चार अन्तःकरण।

व्याख्या—

पूर्व में सूक्ष्म शरीर का परिचय देते समय श्रोत्र आदि पांच ज्ञानेन्द्रिय वाक् आदि पांच कर्मेन्द्रिय और मन आदि चार आन्तर इन्द्रियों की चर्चा की गई है। जब जब पञ्चीकृत स्थूल भूतों से स्थूल शरीरों की उत्पत्ति होती है तब उनमें स्थूल शरीर का अनुप्रवेश होने पर उनकी अवयवभूत उक्त इन्द्रियां स्थूल शरीर के विभिन्न स्थूल भागों में अवस्थित हो जाती हैं, जैसे कर्णच्छिद्र में श्रोत्र, त्वक्-चर्म में स्पर्शन, आंखों में चक्षु, जिह्वा में रसन, नासिका के अग्रभाग में घ्राण, एवं कण्ठ आदि उच्चारण-स्थानों में वाक्, हाथों में पाणि, चरणों में पाद, मलनिर्गम के मार्ग गुद में पायु, मल-त्याग के साधनभाग में उपस्थ, तथा हृदय में मन आदि आन्तर इन्द्रियां।

उक्त इन्द्रियों में जो जो इन्द्रिय जिस जिस चैतन्यभाग में अस्तित्व प्राप्त

ज्ञानज्ञेययोरुद्दिष्टे विषये ज्ञानमतिशयं जनयतीति। नाव्यवस्थेति चेन्नानुद्दिष्टे-ष्वपि दुर्गन्धादिषु ज्ञानकृतातिशयदर्शनात्। अदृष्टवशात्किञ्चिदेव भासत इति चेन्न। तस्य दृष्टसामग्रीसम्पादकत्वेनान्यथासिद्धत्वादगतिकत्वाच्च। तस्मान्न किञ्चिदेतत्। अतो वक्तव्या जीवस्य विषयग्रहणव्यवहारे व्यवस्थेति। तदुच्यते। न तावदस्मन्मतेऽनुपपत्तिरस्ति यतो जीवस्य सर्वगतत्वासर्वगतत्वपक्षयोरप्यन्तःकरणकृता व्यवस्था सम्भवति। तथाह्यपरिच्छिन्नपक्षे तावदन्तःकरणमेव मनोबुद्ध्यादिशब्दवाच्यं प्रमातृत्वादिव्यवहारापादकम्। यतोऽविद्यावृततया सर्वत्राप्रकाशमानमप्यात्मचैतन्यमन्तःकरणसंसृष्टं सदवभासते दर्पणद्रव्यसंसृष्टरविरश्मिवत्। तच्चान्तःकरणमदृष्टादिसहायं विषयसंवेदनवेलायां तडागकुल्याक्षेत्रगतोदकप्रवाहवद्देहतद्बाह्यदेशतद्गतविषयानभिव्याप्यावतिष्ठते। तत्र च तिसृष्वप्यवस्थास्वात्मचैतन्यं तदात्मनैवाभिव्यज्यते। तत्र देहमध्यान्तःकरणभागावच्छिन्नं चैतन्यं प्रमातृसंज्ञां लभते। देहविषययोर्मध्ये दीर्घप्रभाकारेणेन्द्रियद्वारा निर्गतान्तःकरणभागावच्छिन्नं प्रमाणसंज्ञाम्। विषयमभिव्याप्य विषयाकारतयावस्थितान्तःकरणभागावच्छिन्नं प्रमेयसंज्ञाम्। इति प्रमातृप्रमाणप्रमेयव्यवस्थोपपत्तिः। एवमभ्युपगमे येन विषयेण सहेन्द्रियस्य सन्निकर्षो दूरे वान्तिके वावतिष्ठमानेन तत्रैव तदाकारमेवान्तःकरणं परिणमते नान्यत्र नान्याकारमिति च लभ्यते। तदनुरक्तचैतन्यात्मनश्चैकत्वान्मयेदं विदितमिति सम्बन्धावभासश्चोपपद्यते नान्यथा। परिच्छिन्नात्मपक्षेऽपि

करती है उस उस चैतन्यभाग से सम्बद्ध एक एक देवता होता है जो अपने सम्बद्ध चैतन्यभाग में अस्तित्वप्राप्त इन्द्रियों का नियन्त्रण करता है और उनके नियन्त्रण में रहकर ही इन्द्रियाँ अपने विषयों का अनुभव उत्पन्न करती हैं। श्रोत्र इन्द्रिय यतः विभिन्न दिग्भागों में उत्पन्न होने वाले शब्दों को उन दिग्भागों में पहुँचकर ग्रहण करती है अतः दिक्पाल देवतावों से उसका नियन्त्रण होता हैं। स्पर्शन शरीर के आच्छादक त्वक्-चर्म में फैले वायु से अनुभवयोग्य बनाये हुये शरीर से छू जाने वाले पदार्थों के स्पर्श का अनुभव उत्पन्न करता है अतः वायु देवता से उसका नियन्त्रण माना जाता है। चक्षु अर्क-सूर्य से प्रकाशन की क्षमता प्राप्त कर अभिमुखस्थ पदार्थों के दर्शन को जन्म देता है अतः उसे अर्क-सूर्य देवता से नियन्त्रित माना जाता है। वरुण देवता जल के स्वामी हैं, उनसे शक्ति प्राप्त कर रसन जल के रसगुण को ग्रहण करता है अतः उसे वरुण देवता से नियन्त्रित माना जाता है। अश्विन् देवता से शक्ति प्राप्त कर घ्राण पृथिवी के गुण गन्ध का ग्राहक होता है अतः उसे अश्विन् से नियन्त्रित माना जाता है।

इसी प्रकार शरीर में अग्नि का उष्म जब तक रहता है तभी तक वाक् बोल पाती है अतः अग्नि से शक्ति प्राप्त कर बोलने में समर्थ होने से ही वाक् अग्नि से नियन्त्रित मानी जाती है। ऐश्वर्यशाली देवता का नाम है इन्द्र, उससे पाणि में ऐश्वर्य-बल प्राप्त होने पर ही पाणि किसी पदार्थ के आदान, प्रदान में समर्थ होता है अतः

जीवत्वोपाध्यन्तःकरणस्य पूर्वोक्तप्रकारेणावस्थाभेदसम्भवे उपाध्यनुगामित्वादुपहितस्य स्वोपाध्यन्तःकरणं यद्यदात्मनावतिष्ठते तत्तदात्मना प्रत्यगात्मचैतन्यमप्यवभासमानं ग्राह्यग्रहणग्राहकभेदव्यवस्थामनुभवत्यग्निरिवायःपिण्डादिसमारूढ इत्यनवद्यम्। न चेयं कल्पना तार्किककल्पनावत्पुरुषबुद्ध्युत्प्रेक्षामूला किन्तु श्रुतिमूला। तथा च श्रुतयः—"स समानः सन्नुभौ लोकावनुसञ्चरति ध्यायतीव लेलायतीव सधीः स्वप्नो भूत्वैवं लोकमतिक्रामति", "नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः", "आसीनो दूरं व्रजति", "मनोमयो विज्ञानमय" इत्यादयः। उक्तं च भगवत्पादैः सर्वश्रुत्यर्थसङ्ग्रहे दक्षिणामूर्तिस्तोत्रे—

'नानाछिद्रघटोदरस्थितमहादीपप्रभाभास्वरं
ज्ञानं यस्य तु चक्षुरादिकरणद्वारा बहिः स्यन्दते।
जानामीति तमेव भान्तमनुभात्येतत्समस्तं जग-
त्तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये"॥

युक्तिरपि मनसो बाह्यविषयदेशगमनाभावे इन्द्रियसन्निकर्षपरम्परया देहान्तरे च विषयाकारतास्वीकारे बहिरेतावति दूरेयं विषयो मयोपलब्ध इति प्रतिसन्धानं न स्यात्। अनेकायामविस्तीर्णदेशतन्निष्ठरथगजाद्याकारभावस्यान्तर्हृदयेऽनुपपत्तेः। न च स्वप्नवदुपपद्यत इति वाच्यं; स्वप्नस्य मायामयस्योक्तत्वात्। जाग्रदपि मायामयमेवेति चेत्सत्यं तथापि स्वप्नाद्द्वयव-

---

उसे इन्द्र से नियन्त्रित माना जाता है। उपेन्द्र इन्द्र के बाद प्रादुर्भूत होने वाले विष्णु का नाम है, विष्णु में जगत् को व्याप्त करने की शक्ति होती है, पाद भी गतिद्वारा देश के बहुतर भाग में पहुँचता है, इस कार्य की क्षमता उसे उपेन्द्र से ही प्राप्त होती हैं अतः उसे उपेन्द्र से नियन्त्रित कहा जाता है। यम का कार्य है यमन करना, यमन का अर्थ है जो वस्तु जब जहाँ रहने के योग्य न रह जाय तब उसे वहाँ से बाहर कर देना, यही कार्य पायु द्वारा सम्पादित होता है, वह शरीर के भीतर निरर्थक हो जाने वाले मल को बाहर निकाल देता है, यह क्षमता उसे यम देवता से ही प्राप्त होती है अतः उसे यम देवता से नियन्त्रित माना जाता है। प्रजापति सन्तान को जन्म देने के लिये अधिकृत देवता है, स्त्री और पुरुष के उपस्थ द्वारा निर्गत रज और वीर्य के सम्मिश्रण से ही सन्तान का जन्म होता है और इस मिश्रण से ही स्त्री-पुरुष को सम्भोगानन्द की अनुभूति होती है, उपस्थ को इस सामर्थ्य का लाभ प्रजापति से ही सम्भव होता है, इसी लिये उसे प्रजापति देवता से नियन्त्रित माना जाता है।

चन्द्रमा की चारु चांदनी से चमत्कृत मन अनेक प्रकार के संकल्प विकल्प करता है। मन और चन्द्र का कार्यकारणभावात्मक सम्बन्ध भी है अतः चन्द्र से मनकी शक्ति का संवर्धन होने से मन को चन्द्र से नियन्त्रित माना जाता है।

चतुर्मुख ब्रह्मा ही सर्वप्रथम बुद्धि का जन्मस्थान है, उसमें बुद्धि का उन्मेष होने पर ही

हारभेदसिद्धये तयोः कियदप्यस्ति वैषम्यं सति प्रमातरि बाध्यमानत्वाबाध्यमानत्वाभिमानादिलक्षणम्। नन्वखण्डब्रह्माकारा वृत्तिरन्तरेव जायत इति चेद्, बाढं सा हि देहाद्यावरणमुपमर्दयन्ती जायते बाह्यविषया तु नैवमिति वैषम्यं स्यात्। किञ्च यदि विषयेन्द्रियसम्बन्धमात्रमन्तःकरणस्य विषयाकारताहेतुस्तदा दूरवर्तिविषयगतपरिमाणरूपसंख्यादीनामपि तदाकाराकारितेऽन्तःकरणे यथावदवभासप्रसङ्गः। न च दूरलक्षणाद्दोषात्तथा नावभासत इति वाच्यम्। तस्येन्द्रियसम्बन्धमात्रे प्रतिबन्धकत्वाभावात्। ननु तवापीन्द्रियसंसृष्टाकारता मनस इति स्थिते कथं दूरस्थविषयेयत्ताद्याकारता मनसो न भवेदिति चेन्मैवं मम तु मनसो बहिरस्वातन्त्र्याद्यावद्भिरवयवैरवयविभिर्वा चक्षुःसन्निकर्षस्तावन्मात्राकारमेव मनः परिणमत इति श्लिष्यते। तव तु पदार्थसन्निकृष्टेन्द्रिये सति तद्गतभूयस्त्वाल्पत्वदृढत्वविशेषानादरेऽप्यन्तस्तदाकारवृत्त्युदयोपपत्तेर्विषयेयत्तादेरपि स्फुरणं प्रसज्येतेति वैषम्यात्तस्मादस्ति प्रत्यक्षव्यवहारे बाह्यमनोवृत्तिर्विषयाकारेति स्थितम्। परोक्षव्यवहारे तु विशिष्टशब्दलिङ्गादिबलनिबन्धनात्तत्तदर्थाकारा धीरन्तरेव समुन्मिषति विषयसत्तामात्रस्यैव तत्र स्फुरणात्तद्गतविशेषादेरस्फुरणाच्चेति दिक्। तथा च स्वप्नावस्थायामात्मा बुद्ध्युपाधिः स्वप्नदर्शनहेतुकर्मक्षये जागरितमागच्छन्पूर्वगृहीतेषु करणेषु पुनः स्वस्वगोलकस्थानेषु तयैव बुद्ध्या प्रसारितेषु सत्सु स्वयं तद्बुद्ध्यनुगतस्तत्तद्गोलकादिदेशं गच्छन्स्वोपाध्यन्तःकरणेन्द्रियसचिवस्तत्तदिन्द्रियविषयाननुमेयांश्च स्थूलान् व्यावहारिकान्पदार्थाननुभवति। तदिदमस्य जागरितम्। तदुक्तं—"इन्द्रियैरर्थोपलब्धिर्जागरितं" इति।

उससे सर्वविध ज्ञान के आकर चार वेदों का तथा उसी की ईक्षण आदि बुद्धि वृत्तियों से जगत् का निर्माण हुआ है। अतः बुद्धि में विषयाकार परिणमनकी शक्ति उसी से प्राप्त होने के कारण उसे चतुर्मुख से नियन्त्रित कहा जाता है। अहंकार मनुष्य के संहार का मूल है, अहंकार से ग्रस्त मनुष्य पतनोन्मुख होकर विनष्ट हो जाता है और संहार के अधिष्ठाता देव हैं शङ्कर, अतः शङ्कर की संहारेच्छा से मनुष्य में संहारक अहंकार का उदय होने से अहंकार को शङ्कर से नियन्त्रित माना जाता है। अच्युत का अर्थ है च्युतिविरोधी, उनके अनुग्रह से संसार असमय में च्युत नहीं होने पाता, वह स्वयं भी निसर्गनित्य होने से च्युत नहीं होते, चित्त भी उनके अनुग्रह से चेतना शक्ति पाकर अपनी चेतना में आये पदार्थों को संस्कार के रूप में अवस्थित रखता है जिसके फलस्वरूप चित्तारूढ़ पदार्थों की च्युति नहीं होने पाती किन्तु यथाकाल उनकी स्मृति होती रहती है अत एव उसे अच्युत देवता से नियन्त्रित माना जाता है।

विश्व और वैश्वानर जाग्रत्काल में अपने उपाधिभूत स्थूल शरीरों में यथास्थान अवस्थित उक्त इन्द्रियों से उनके स्थूल विषयों का अनुभव करते हैं।

अत्राप्यनयोः स्थूलव्यष्टिसमष्ट्योस्तदुपहितविश्ववैश्वानरयोश्च वनवृक्षवत्तदवच्छिन्नाकाशवच्च जलाशयजलवत्तद्गतप्रतिबिम्बाकाशवच्च पूर्ववदभेदः। एवं पञ्चीकृतपञ्चभूतेभ्यः स्थूलप्रपञ्चोत्पत्तिः ॥ १७ ॥

अयमेव विश्ववैश्वानरात्मनः स्थूलभोग इति। अत्राप्यनयोः स्थूल इत्यादि पूर्ववत्। स्थूलप्रपञ्चाध्यासं सावस्थमुपपादितमुपसंहरति—एवमिति ॥ १७ ॥

अनुवाद—

यहाँ पर भी समष्टिरूप स्थूल शरीर और व्यष्टिरूप स्थूल शरीर में वन और वृक्ष तथा जलाशय और जल के समान एवं स्थूल शरीर की समष्टि और व्यष्टि से उपहित वैश्वानर और विश्व में वनावच्छिन्न आकाश और वृक्षावच्छिन्न आकाश तथा जलाशयगत प्रतिबिम्बाकाश और जलगत प्रतिबिम्बाकाश के समान पूर्ववत्—पहले ही की भाँति अभेद-ऐक्य है। उक्त रीति से पञ्चीकृत पञ्चभूतों से स्थूल प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है।

व्याख्या—

यह बताया जा चुका है कि वन और वनस्थ वृक्ष में कोई भेद नहीं होता क्योंकि एक एक वृक्ष को मिलाकर बना उसका समूह ही वन है और उस समूह का अङ्ग ही वृक्ष है। इसी प्रकार यह भी बता दिया गया है कि एक एक जलविन्दु का एकत्र अवस्थित समूह ही जलाशय है और जलाशय स्थित प्रत्येक जलबिन्दु ही जल है, अतः वन और वनस्थ वृक्ष में एवं जलाशय और जलाशयस्थ जल में कोई भेद नहीं है। इस प्रतिपादन से यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि जब वन और वनस्थ वृक्ष में भेद नहीं है तब वनावच्छिन्न आकाश और वृक्षावच्छिन्न आकाश में भी भेद नहीं हो सकता क्योंकि वनावच्छिन्न आकाश ही वनस्थ वृक्ष से अंशतः अवच्छिन्न होता है और वनस्थ वृक्ष से अवच्छिन्न आकाश ही अपने घटक वृक्ष द्वारा वन से अवच्छिन्न होता है। इसी प्रकार यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि जब जलाशय और तद्गत जल में कोई भेद नहीं है तब जलाशय और तद्गत जल में प्रतिबिम्बित आकाश में भी भेद नहीं हो सकता।

वन, वृक्ष, वनावच्छिन्न आकाश, वृक्षावच्छिन्न आकाश, जलाशय, जल, जलाशय में प्रतिबिम्बित आकाश, जलाशयगत जल में प्रतिबिम्बित आकाश के दृष्टान्त से यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि अज्ञानसमष्टि और अज्ञानव्यष्टि, अज्ञानसमष्टि से उपहित चैतन्य ईश्वर और अज्ञानव्यष्टि से उपहित चैतन्य प्राज्ञ, तथा सूक्ष्म शरीर-समष्टि, सूक्ष्मशरीरव्यष्टि और सूक्ष्मशरीरसमष्टि से उपहित चैतन्य सूत्रात्मा या हिरण्यगर्भ और सूक्ष्मशरीरव्यष्टि से उपहित चैतन्य तैजस में भी कोई भेद नहीं है। इन सभी दृष्टान्तों के आधार पर यहाँ यह बताया गया है कि स्थूलशरीरसमष्टि और स्थूलशरीर व्यष्टि में कोई भेद नहीं है तथा स्थूलशरीरसमष्टि से उपहित वैश्वानर और स्थूलशरीरव्यष्टि से उपहित विश्व में भी कोई भेद नहीं है।

एतेषां स्थूलसूक्ष्मकारणप्रपञ्चानामपि समष्टिरेको महान्प्रपञ्चो भवति यथाऽवान्तरवनानां समष्टिरेकं महद्वनं भवति यथा वाऽवान्तर-जलाशयानां समष्टिरेको महान् जलाशयः। एतदुपहितं वैश्वानरा-दीश्वरपर्यन्तं चैतन्यमप्यवान्तरवनावच्छिन्नाकाशवदवान्तरजलाशय-गतप्रतिबिम्बाकाशवच्चैकमेव।

स्पष्टरूप से यह ज्ञातव्य है कि अज्ञान, सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर ही समष्टि और व्यष्टि रूप में एक ही आत्मचैतन्य की उपाधि होकर उसकी तीन अवस्थावों का तथा उन अवस्थावों में उसके तीन नामों का निष्पादन करते हैं। जैसे अज्ञानसमष्टि से उपहित चैतन्य का नाम है ईश्वर, ईश्वर चैतन्य की यह अज्ञानसमष्टिरूप उपाधि उसकी सुषुप्ति अवस्था है। अज्ञान व्यष्टि से उपहित चैतन्य का नाम है प्राज्ञ, इसकी उपाधिभूत अज्ञानव्यष्टि जीव की सुषुप्ति अवस्था है, एवं सूक्ष्मशरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य का नाम है सूत्रात्मा या हिरण्यगर्भ, इसकी उपाधिभूत सूक्ष्मशरीर की समष्टि ईश्वर की स्वप्नावस्था है। सूक्ष्मशरीर की व्यष्टि से उपहित चैतन्य का नाम है तैजस, इसकी उपाधिभूत सूक्ष्मशरीर की व्यष्टि जीव की स्वप्नावस्था है। इसी प्रकार स्थूल शरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य का नाम है वैश्वानर या विराट् इसकी उपाधिभूत समष्टि ईश्वर की जाग्रत् अवस्था है और स्थूल शरीर की व्यष्टि से उपहित चैतन्य का नाम है 'विश्व' इसकी उपाधिभूत व्यष्टि जीव की जाग्रत् अवस्था है। फलतः जाग्रत् काल में ईश्वर का नाम है वैश्वानर या विराट्, स्वप्न काल में उसका नाम है सूत्रात्मा या हिरण्यगर्भ, सुषुप्तिकाल में उसका नाम है ईश्वर, एवं जाग्रत् काल में जीव का नाम है विश्व, स्वप्न काल में उसका नाम है तैजस और सुषुप्ति काल में उसका नाम है प्राज्ञ, ये तीन नाम और ये तीन अवस्थायें चैतन्य की विभिन्न उपाधिमूलक नाम और अवस्थायें हैं, इन अवस्थावों से परे भी एक अवस्था है जिसे तुरीय-चतुर्थ अवस्था कहा जाता है, यह चैतन्य की शुद्ध अवस्था है, उपाधिमुक्त अवस्था है अखण्ड ब्रह्म की अवस्था है, एतदवस्थ चैतन्य का न कोई नाम है और न कोई रूप है, यह आत्मन्, ब्रह्मन् आदि शब्दों से लक्षणा द्वारा ही गम्य है। इस अवस्था में चैतन्य का सच्चिदानन्द रूप स्वतः प्रकाशमान होता है, इस अवस्था को प्राप्त करना ही प्राणी का चरम लक्ष्य है।

अनुवाद—

जिस प्रकार अवान्तर वनों-छोटे छोटे वनों की समष्टि एक महान् वन होता है और अवान्तर जलाशयों-छोटे छोटे जलाशयों की समष्टि एक महान् जलाशय-महासमुद्र होता है, ठीक उसी प्रकार स्थूल, सूक्ष्म तथा कारणरूप अवान्तर प्रपञ्चों की समष्टि एक महान् प्रपञ्च होता है, इसी प्रकार जैसे विभिन्न अवान्तर वनों से अवच्छिन्न आकाश और अवान्तर जलाशयों में प्रतिबिम्बित आकाश एक ही होता है उसी प्रकार स्थूल, सूक्ष्म और कारण प्रपञ्चों से उपहित चैतन्य भी एक ही होता है।

आभ्यां महाप्रपञ्चतदुपहितचैतन्याभ्यां तप्तायःपिण्डवदविविक्तं सदनुपहितं चैतन्यं "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इति वाक्यस्य वाच्यं भवति विविक्तं सल्लक्ष्यमपि भवति। एवं वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः सामान्येन प्रदर्शितः ॥ १८ ॥

उक्तं प्रपञ्चत्रयं तदुपहितचैतन्यत्रयं च पूर्ववत्सदृष्टान्तमेकीभावमापादयति—एषामित्यारभ्य आभ्यामित्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन। स्पष्टार्थोऽयं ग्रन्थः। फलितमाह—आभ्यामिति। तत्पदार्थविषयमध्यारोपमुपसंहरति—एवमिति ॥ १८ ॥

व्याख्या—

वृक्ष की तीन स्थितियाँ होती हैं, एक एक वृक्ष, कतिपयवृक्षों का समूहरूप अवान्तर वन—छोटे छोटे वन तथा अवान्तर वनों का समूहरूप महावन, इसी प्रकार जल की भी तीन स्थितियाँ होती हैं, विन्दुरूप जल, अनेक जलविन्दुओं का समूहरूप अवान्तर जलाशय--छोटे छोटे जलाशय तथा छोटे छोटे जलाशयों का समूहरूप एक महा जलाशय। ठीक वृक्ष और जल की भाँति ही प्रपञ्च-सृष्टि की भी तीन स्थितियाँ हैं कारण प्रपञ्च-अज्ञान प्रपञ्च, सूक्ष्म प्रपञ्च-सूक्ष्मभूत और उनके समस्त कार्य तथा स्थूल प्रपञ्च-स्थूलभूत और उनके समस्त कार्य। इन सभी प्रपञ्चों का समूह एक महान् प्रपञ्च होता है। अतः जैसे वृक्ष अवान्तर वन और महावन में कोई भेद न होने से उन सबों से अवच्छिन्न आकाश एक ही होता है, एवं जलविन्दु, लघुजलाशय और महाजलाशय में भेद न होने से उन सबों में प्रतिबिम्बित आकाश एक ही होता है, उसी प्रकार कारण प्रपञ्च, सूक्ष्म प्रपञ्च और स्थूल प्रपञ्च में कोई भेद न होने से उन सबों से उपहित चैतन्य भी एक ही होता है, फलतः विश्व, तैजस, प्राज्ञ एवं वैश्वानर, सूत्रात्मा और ईश्वर में, कोई भेद न होने से इन सभी के उपाधियों से उपहित महाचैतन्य में भी कोई भेद नहीं है। सर्वोपाधियुक्त चैतन्य एक ही है।

अनुवाद—

महाप्रपञ्च—स्थुल, सूक्ष्म, कारण प्रपञ्चों का समूह और उससे उपहित चैतन्य से तप्त लोहपिण्ड के समान अविविक्त-उपाधियुक्त अद्वितीय चैतन्य 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म—यह सम्पूर्ण प्रपञ्च ब्रह्म ही है' (छान्दोग्य ३।१४।१) इस औपनिषद वाक्य का वाच्यार्थ है। और विविक्त—पृथक् प्रतीत होने पर लक्ष्य है। इस प्रकार वस्तु—सच्चिदानन्द अद्वय ब्रह्म में अवस्तु—अज्ञान एवं उसके कार्य प्रपञ्च के अध्यारोप-कल्पना का संक्षेप से प्रतिपादन किया गया।

व्याख्या—

उपाधिमुक्त विशुद्ध चैतन्य ही ब्रह्म है वही सत्-त्रिकालावाध्य, चित्—प्रकाशान्तर की अपेक्षा किये बिना प्रकाशमान और आनन्द—विषयसम्बन्ध के निरपेक्ष दुःख से सर्वथा

असंसृष्ट सुख है, उसकी कोई सीमा नहीं है, वह अनन्त है। अज्ञान और उससे कल्पित जगत् की सीमा बताने के लिये ऋग्वेद (१०।९०।३) में उसके चार भागों की कल्पना की गई है, जैसे—'एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः, पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि'। यह सब इसकी महिमा है, पुरुष इससे बहुत बड़ा है, सम्पूर्ण भूत उसका एक पाद-भाग है। उसके अन्य तीन भाग अमृत-अविनाशी हैं जो द्युलोक-प्रकाशात्मक लोक में अवस्थित हैं। तात्पर्य यह है कि पुरुष स्वप्रकाश अखण्ड चैतन्य रूप है, उसका कोई माप नहीं है, किन्तु अनादि अनिर्वचनीय अज्ञान ने उस निरंश को भी अपने सम्बन्ध से अंशवान् सा बना दिया है इस कारण उसमें चार अंशों की कल्पना की जा सकती है, जिस एक अंश के साथ अज्ञान का सम्बन्ध है उसी अंश में भूत, भविष्य, वर्तमान सम्पूर्ण जगत् की रचना होती है अतः सम्पूर्ण जगत् उसकी महिमा-एक सीमित विभूतिमात्र है, अज्ञान और तज्जन्य जगत् के नश्वर होने से उससे सम्बद्ध अंश पूर्ण पुरुष के अवशिष्ट तीन अंशों से भिन्न नश्वर सा लगता है, किन्तु अज्ञान आदि से अछूता तीन अंश सर्वथा अनश्वर है और वह द्युलोक-प्रकाश में अवस्थित है अर्थात् किसी से आवृत न होने से सतत प्रकाशमान है, किन्तु वह अंश जो अज्ञान और तन्मूलक विश्व से सम्बद्ध है वह अज्ञान और विश्व का बाध होने पर प्रकाशमान होता है।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (३।१४।१) यह श्रुति यह उद्घोष करती है कि यह सारा जगत् ब्रह्म ही है कि वा यह सारा जगत् ही ब्रह्म है। किन्तु श्रुति का जो यह अर्थ प्रतीत होता है वह उसका वाच्य मात्र है, वास्तव नहीं है, वास्तव अर्थ तो वह है जो उसका लक्ष्य है।

कहने का आशय यह है कि पद अथवा वाक्य का वाच्य अर्थ वह होता है जिसमें व्यवहार द्वारा पद या वाक्य का शक्ति ज्ञान होता है, व्यवहार सदा संसृष्ट अर्थ का होता है, शुद्ध अर्थ व्यवहार का विषय नहीं हो सकता, जैसे किसी ज्येष्ठ वयस्क पुरुष ने कनिष्ठ वयस्क पुरुष से कहा 'गामानय—गौ ले आवो'। कनिष्ठ वयस्क इस वाक्य को सुनने के बाद गौ ले आया। फिर ज्येष्ठ वयस्क ने कहा 'गां नय-गौ ले जावो,' 'अश्वमानय-घोड़ा लावो' कनिष्ठ वयस्क इन वाक्यों को सुनकर गो ले गया, घोड़ा ले आया। उन दोनों वयस्क पुरुषों के पास बैठे बालक ने इस व्यवहार का प्रत्यक्ष दर्शन किया और अनुमान द्वारा उसे 'गामानय' वाक्य की गौ लाने में, 'गां नय' वाक्य की गौ ले जाने में एवं 'अश्वमानय' वाक्य की घोड़ा ले आने में शक्ति का ज्ञान हुआ, साथ ही गो शब्द के आवाप—'गामानय' वाक्य में प्रवेश और उद्वाप—'अश्वमानय' वाक्य से निष्कासन से गोशब्द की शक्ति का ज्ञान गौ में हुआ। स्पष्ट है कि वाक्य का वाच्य कई अर्थों से संसृष्ट है और गोपद का वाच्य संसृष्ट अर्थ का एक घटक है। इसके अनुसार 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस वाक्य का उक्त अर्थ और इस वाक्य में प्रविष्ट प्रत्येक पद का प्रतीयमान अर्थ वाच्य है, किन्तु इस वाच्यार्थ के

इदानीं प्रत्यगात्मनीदमिदमयमयमारोपयतीति विशेषत उच्यते। अतिप्राकृतस्तु "आत्मा वै जायते पुत्र" इत्यादि-श्रुतेः स्वस्मिन्निव स्वपुत्रेऽपि प्रेमदर्शनात्पुत्रे पुष्टे नष्टे चाहमेव पुष्टो नष्टश्चेत्याद्यनुभवाच्च पुत्र आत्मेति वदति।

अधुना त्वम्पदार्थविषयमध्यारोपं बहुवादिमतोपन्यासेन दर्शयति—इदानीमिति। तत्रारुन्धतीप्रदर्शनन्यायेन मुञ्जादिषीकाग्रहणन्यायेन वा प्रत्यञ्चं

औचित्य का विचार करने पर यह अर्थ संगत नहीं प्रतीत होता, क्यों कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्तिरीय उपनिषद् २।१) के अनुसार ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है, और दृश्यमान जगत् 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' 'अतोऽन्यदार्तम्' 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' 'यस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इन वचनों के अनुसार जन्य, नश्वर, मिथ्या, ससीम और जड़ है, फिर उक्त वाक्य का यह वाच्यार्थ कि 'यह सारा जगत् ही ब्रह्म है' संगत कैसे हो सकता है। अतः इस वाक्य का संगत अर्थ पाने के लिये शक्ति का त्याग कर लक्षणावृत्ति का आश्रय लेना होता है, यह वृत्ति प्रकृत में भाग-त्याग किंवा जहदजहत् रूप होती है, इसके द्वारा उक्त वाक्य में प्रविष्ट पदों के वाच्यार्थ में से उस अंश का त्याग कर दिया जाता है जो सर्व शब्द और ब्रह्म शब्द के अर्थों की एकता में बाधक होता है, फलतः सर्व शब्द के वाच्यार्थ अज्ञान, अज्ञानमूलक प्रपञ्च से उपहित चैतन्य में से उपाधिमात्र का त्याग कर और ब्रह्म शब्द के वाच्यार्थ बृहत्त्व और बृंहणत्वविशिष्ट चैतन्य में से बृहत्त्व और बृंहणत्व इन कल्पित धर्मों का त्याग कर विशेष्यभाग चैतन्यमात्र को ग्रहण कर लिया जाता है। इस प्रकार लक्षणा द्वारा उपाधिमुक्त अद्वय चैतन्य उक्त वाक्यों का वास्तविक अर्थ अवगत होता है।

इस तथ्य को तप्त लौहपिण्ड के दृष्टान्त से समझाया गया है, बात यह है कि तप्त-ताप का आश्रय अग्नि होता है जो लौह नहीं है, जो लौह है वह ताप का आश्रय अग्नि नहीं है पर 'तप्त लौह पिण्ड' शब्द से तापाश्रय अग्नि और लौह एकीभूत होकर वाच्य होता है जो उचित नहीं है, अतः उस शब्द से लौह भिन्न अग्नि अथवा अग्नि भिन्न लौह लक्षणावृत्ति द्वारा ही ज्ञात होता है, ठीक यही स्थिति उक्त वाक्य से शुद्ध चैतन्य के अवगम की है।

अनुवाद—

अब प्रत्यगात्मा-जीवात्मा में यह मनुष्य इस वस्तु का आरोप करता है और यह मनुष्य इस वस्तु का आरोप करता है, इस प्रकार विशेष रूप से अध्यारोप का प्रतिपादन करना है। जैसे अतिप्राकृत-अत्यन्त मूढ मनुष्य 'आत्मा ही पुत्र के रूप में उत्पन्न होता है' इत्यादि श्रुति से तथा अपने समान अपने पुत्र में भी प्रीति के दर्शन से एवं पुत्र के पुष्ट और नष्ट होने पर अपने को ही पुष्ट और नष्ट हुआ अनुभव करने से कहता है कि 'पुत्र ही आत्मा है'।

देहादिविविक्तं चिदेकतानमात्मानं दिदर्शयिषुरतिमूढमतेर्मतं तावदाह—अतिप्राकृत इति। अतिप्राकृतस्तु पुत्र आत्मेति वदतीत्यन्वयः। कुत इत्यपेक्षायां श्रुतियुक्त्यनुभवाभासान् क्रमेण प्रमाणयति—आत्मा वेत्यादिना। स्वस्मिन्निवेति युक्तिकीर्तनं लोके हि पुत्रिण इष्टमिष्टं खाद्यादि स्वात्मवचनेनापि पुत्रेषु समर्पयन्तस्तेषु परमप्रेम कुर्वन्तस्तेषामात्मत्वमेव प्रकटयन्तीति भावः। नष्ट इत्याद्यनुभवोक्तिः॥

व्याख्या—

यह पहले कहा जा चुका है कि वेदान्तविद्या का अधिकारी पुरुष संसारानल से सन्तप्त होकर जब किसी ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाता है तब वह उसकी अन्तः-पीड़ा से करुणार्द्र होकर उसे अध्यारोप और अपवाद द्वारा जीव-ब्रह्म के ऐक्य का उपदेश देता है, तदनुसार अबतक यह बताया गया कि गुरु पहले शरणागत मोक्षार्थी शिष्य को सामान्य रूप से अध्यारोप की शिक्षा देते हुये यह बताता है कि सच्चिदानन्द अद्वय ब्रह्म ही एक सत्य वस्तु है उसके अज्ञान द्वारा ईश्वर, जीव और जगत् उसमें कल्पित है, और अब यह बताना है कि गुरु अध्यारोप का सामान्यतः ज्ञान देने के पश्चात् शिष्य को उसका विशेषरूप से ज्ञान प्रदान करता है और यह बताता है कि ब्रह्म में कल्पित जगत् में भटकता हुआ मनुष्य केवल ब्रह्म को ही नहीं जान पाता यह बात नहीं है किन्तु वह अपने जीवात्मस्वरूप को भी नहीं जान पाता और उसे न जान पाने के कारण उसमें अनेक प्रकार के आरोप कर उन आरोपों के पीछे धक्के खाता रहता है। उदाहरण के लिये सर्व प्रथम उस मनुष्य को लिया जा सकता है जो अतिप्राकृत है, त्रिगुणात्मक अविद्या रूप प्रकृति से उत्पन्न जगत् में मोहवश अत्यन्त लिप्त है, उसने सुन रखा है कि वेद का कहना है कि मनुष्य की अपनी आत्मा ही पुत्र के रूप में जन्म लेती है, जब तक उसे पुत्र नहीं पैदा होता तब तक वह अपने को भाग्य-हीन समझता है और सोचता है यदि पुत्र न होगा तो शरीर के निष्प्राण होते ही उसका अस्तित्व समाप्त हो जायगा, वह अपनी अर्जित सम्पदा का उपभोग न कर सकेगा, किन्तु जब पुत्र पैदा हो जाता है तब वह अपने को आगे भी सुरक्षित समझ लेता है और उसकी अपने आपके प्रति जो प्रीति होती है वह सारी की सारी उसके पुत्र में उतर आती है। वह फिर अपने जीवन की अपेक्षा पुत्र के जीवन को मूल्यवान् मानने लगता है, उसे गोद में लेकर गर्व और आनन्द का अनुभव करता है, उसे सुखी देखने के लिये अपना सर्वस्व लगा देने को तैयार रहता है, स्वयं भूखा, प्यासा नङ्गा रह कर भी अपने पुत्र को खिलाने, पिलाने और पहनाने का प्रबन्ध करता रहता है। यदि पुत्र खा, पी, पहन के पुष्ट होता है तो मनुष्य अपने को ही पुष्ट हुआ अनुभव करता है और यदि उसके दुर्भाग्यवश पुत्र कहीं अकाल कालकवलित हो गया तो वह अपने आपको ही मृत मान बैठता है, छाती पीट पीट के रोता है, शिर धुनता है,

चार्वाकस्तु "स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय" इत्यादिश्रुतेः प्रदीप्त-गृहात्स्वपुत्रं परित्यज्यापि स्वस्य निर्गमदर्शनात् स्थूलोऽहं कृशोऽह-मित्याद्यनुभवाच्च स्थूलशरीरमात्मेति वदति ।

मतान्तरमाह—चार्वाक इति। स्थूलशरीरमात्मेति वदतीत्यन्वयः। अत्रापि श्रुत्यादिप्रमाणं वदन्प्रागुपन्यस्तपक्षे दूषणं सूचयति—स वा एष इत्यादिना। एवमेवोत्तरेष्वपि पक्षेषु प्रमाणादिग्रन्थोत्थानं द्रष्टव्यम्। स वै य ओषधीनां रेतोरूपेण परिणतानां परिणामः प्रसिद्ध एव प्रत्यक्ष-पुरुषः शिरःपाण्याद्यात्मकोऽन्नरसमयोऽन्नरसविकारोऽन्नरसेनैवोपचीय-मानत्वादिति श्रुतेरर्थः। इह पुरुषशब्दस्य लोक आत्मनि प्रयोगात्तस्य च श्रुतावन्नरसमये देहे प्रयुक्तत्वाद्देह आत्मेति गम्यत इत्यभिप्रायः। परमप्रेम-गोचरत्वमात्मन्येव विश्रान्तमितरस्य सर्वस्यापि तच्छेषत्वेनैव प्रियत्वात्। "तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मादन्तरतरं यदयमात्मा" इति श्रुतेश्च। सा च प्रीतिः पुत्रादपि देहेऽधिकतरा निरतिशया च दृष्टा। अन्यथा दह्यमाने गृहादौ हन्तृषु चोपस्थितेषु पुत्रं परित्यज्य स्वस्य पलाय-नानुपपत्तेरिति युक्त्यर्थः। अहम्प्रत्यय आत्मानमवगाहत इति सर्ववादि-नामविवादः। स च कृशोऽहमित्यादिना देहावलम्बनोऽनुभूयतेऽतो देह एवात्मेत्यर्थः॥

जहाँ पुत्र के रहते जी जान से अपना वैभव बढ़ाने के लिये एड़ी चोटी का पसीना एक करता रहता था वहाँ पुत्र के मृत हो जाने पर मन मार बैठ जाता है; निराश, निर्जीव सा हो अपने शरीर के पतन की प्रतीक्षा करने लगता है, इस प्रकार अतिमूढ़ मानव अपने पुत्र में ही अपनी आत्मा का आरोप करता है, पुत्र से पृथक् अपने अस्तित्व की धारणा खो बैठता है ।

अनुवाद—

चार्वाक तो यह कहता है कि प्रत्यक्ष दृश्यमान यह स्थूल शरीर ही आत्मा है, क्यों कि वेद में लिखा है कि अन्न के रस से जो यह शरीर बनता है वही पुरुष-आत्मा है, दूसरा कारण यह कि जब कभी घर में आग लग जाती है, पूरा घर जलने लगता है, तब यह देखा जाता है कि मनुष्य अपने पुत्र को भी छोड़ कर जलते हुये घरसे स्वयं बाहर निकल भागता है और तीसरा कारण यह है कि शरीर के स्थूल-पुष्ट होने पर मनुष्य अपने को पुष्ट और शरीर के कृश-दुर्बल होने पर अपने को दुर्बल अनुभव करने लगता है ।

व्याख्या—

पुराण में ऐसी कथा प्राप्त होती है कि देव और दानव दोनों दो-माताओं से एक पिता द्वारा उत्पन्न सौतेले भाई हैं, दोनों एक दूसरे को दबा कर अपने को सुखी, समृद्ध और सारे जगत् का स्वामी बनने को परस्पर सङ्घर्षरत रहते हैं, दानवों के

मार्गदर्शक हैं शुक्र और देवताओं के मार्गदर्शक हैं बृहस्पति। दानव भौतिक दृष्टि से सदैव देवताओं से बलवान् पड़ते रहे हैं और देवता उनसे दुर्बल, अतः दानवों द्वारा देवताओं को पीड़ित देखकर उनके गुरु बृहस्पति ने विचार किया कि दानवों को ऐसी शिक्षा देनी चाहिये जिससे उनमें मृत्युभय की भावना उत्पन्न हो जिसके फलस्वरूप वे देवताओं के सम्मुख संग्राम में खड़ा होने का साहस न कर सकें, इस विचार से बृहस्पति ने चार्वाक बनकर दानवों के समाज में प्रवेश किया और धीरे-धीरे उन्हें अनात्मवाद की शिक्षा देना प्रारम्भ किया, कुछ ही दिनों में दानवों को यह बात हृदयंगम कराने में उन्होंने सफलता प्राप्त कर ली कि प्राणी का अस्तित्व उसके वर्तमान जीवन तक ही सीमित है क्योंकि उसके वर्तमान जीवित शरीर से पृथक् उसका कोई अस्तित्व नहीं है।

इसकी पुष्टि के लिये चार्वाक ने उन्हें यह भी बताया कि एकमात्र लौकिक प्रत्यक्ष ही भावात्मक पदार्थ का और पदार्थ की एकमात्र प्रत्यक्ष अनुपलब्धि ही उसके अभाव का साधक प्रमाण है, जो कुछ प्रत्यक्षगम्य है उसी का अस्तित्व है और जो प्रत्यक्षगम्य नहीं है उसका अभाव है; अनुमान, शब्द आदि कोई अन्य प्रमाण नहीं है अतः उनके आधार पर किसी पदार्थ को मान्यता नहीं दी जा सकती, पुण्य, पाप; स्वर्ग, नरक; बन्ध, मोक्ष; पुनर्जन्म, जप, तप, पूजा-पाठ, यज्ञ, श्राद्ध; देवी, देवता वञ्चकों की कोरी कल्पना मात्र है, अतः वर्तमान जीवन को सुखी, समृद्ध, सम्पन्न और प्रभावपूर्ण बनाने के लिये जो कुछ अपेक्षित हो वह सब करना चाहिये। जिस शिक्षा, जिस शासनव्यवस्था, जिस समाजसंरचना तथा जिस जीवनप्रणाली से मनुष्य का वर्तमान जीवन समुन्नत हो सके, उसके बल पौरुष का संवर्धन हो सके, भौतिक सम्पदा का विस्तार और पूरे संसार पर उसका दबदबा हो सके उसी शिक्षा, उसी शासन-व्यवस्था, उसी समाज संरचना और उसी जीवनप्रणाली को प्रतिष्ठित एवं विकसित करने का प्रयास होना चाहिये।

दानवों को अनात्मवाद की ये धारणायें रुचिकर लगीं, उनसे ऊपर उठने का उन्होंने कभी कोई प्रयत्न नहीं किया। उक्त धारणाओं से ग्रस्त होने के कारण वे आत्मा को जानने के उद्देश्य से प्रजापति के निकट अनेक वर्षों तक रहकर तथा उनके आत्मोपदेश को सुनकर भी आत्मज्ञान से वञ्चित ही रह गये।

छान्दोग्य उपनिषद् के आठवें अध्याय में सात से ग्यारहवें खण्ड तक एक आख्यायिका प्राप्त होती है जिससे दानवों का आत्म-विभ्रम प्रकट होता है। आख्यायिका इस प्रकार है —

प्रजापति ने कभी देवता और दानवों के समक्ष यह कहा कि 'आत्मा निष्पाप है. उसकी मृत्यु नहीं होती, उसे भूख, प्यास नहीं लगती, उसके सभी काम और सङ्कल्प सत्य होते हैं। अतः उसका अन्वेषण करना चाहिये, उसका साक्षात्कार करना चाहिये। जो उस आत्मा का अन्वेषण करता है, उसका साक्षात्कार कर लेता है, समस्त लोकों में उसकी पहुँच हो जाती है, उसके सारे मनोरथ पूरे हो जाते हैं। प्रजापति के मुख से

आत्मा का उक्त रूप और आत्मज्ञान का उक्त फल सुनकर सम्पूर्ण देवतावों की ओर से इन्द्र और समस्त दानवों की ओर से विरोचन, दोनों समित्पाणि होकर प्रजापति के निकट गये और बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य के साथ उनकी शुश्रूषा में रहे। जब प्रजापति ने उनके आने और इतने लम्बे ब्रह्मचर्यवास का कारण पूछा तब उन दोनों ने बताया कि जिस आत्मा की चर्चा उन्होंने देवता और दानवों के बीच की है उसके जानने के उद्देश्य से वे उनकी सेवा में उपस्थित हुये हैं। प्रजापति ने कहा कि जिस आत्मा की चर्चा उन्होंने की थी वह वही है जो आंख में दीख पड़ता है, वही मृत्यु से परे और भय से मुक्त ब्रह्म है। प्रजापति की इस उक्ति से दोनों ने यह समझा कि आंख में जो द्रष्टा की छाया दीख पड़ती है, वह छाया ही आत्मा है। वही पुरुष है, वही ब्रह्म है। दोनों ने अपनी इस समझ की पुष्टि के लिये पुनः पूँछा कि जैसे आंख में द्रष्टा की छाया दीख पड़ती है वैसे ही जल और दर्पण में भी द्रष्टा की छाया दीख पड़ती है, फिर इन तीनों छायावों में कौन आत्मा है? प्रजापति ने उत्तर दिया कि वे सभी आत्मा हैं, उनमें कोई भेद नहीं है। अपने कथन का आशय स्पष्ट करने के विचार से उन्होंने उन दोनों से कहा कि जल भरे घड़े में अपनी आत्मा को देखो और जो समझ में न आये, उसे मुझे बताओ। दोनों ने जल भरे घड़े में अपने आप को देखा किन्तु दोनों में यह कोई न बता सका कि उनकी समझ में क्या नहीं आया। प्रजापति ने पूँछा कि क्या देख रहे हो, दोनों ने कहा कि हम अपने आत्मा का नख से शिख तक सारा स्वरूप देख रहे हैं। प्रजापति ने पुनः कहा कि भली भाँति अलंकृत होकर, अच्छे कपड़े पहन कर, पूरा सजधज कर पानी भरे घड़े में अपने आप को देखो, दोनों ने वैसा ही किया, प्रजापति ने पुनः पूँछा कि अब क्या देख रहे हो? दोनों ने उत्तर दिया जिस प्रकार हम भलीभाँति अलंकृत हैं, अच्छे कपड़े पहने हैं, पूरे सजेधजे हैं, उसी प्रकार पानी भरे घड़े में दीख पड़नेवाले ये दोनों भी हैं। प्रजापति ने कहा बस, यही जिसे तुम आंख में, दर्पण में और पानी भरे घड़े में देखते हो वही अमृत, अभय ब्रह्म रूप आत्मा है। प्रजापति के इस कथन से आत्मा के बारे में सन्तुष्ट होकर दोनों ने अपने अपने घर को प्रस्थान दिया। प्रजापति ने सोचा कि उन दोनों में जो मेरे वचन के आपाततः प्रतायमान अर्थ को ही वास्तव अर्थ मान कर देह किंवा देह के प्रतिबिम्ब को ही आत्मा मान लेगा वह पराजित होगा।

दानवराज विरोचन ने प्रजापति के वचन के आपात अर्थ को ही वास्तव अर्थ मानकर अपने आप को तुष्ट कर लिया और दानवों के बीच जाकर उन्हें बताया कि देह की छाया ही आत्मा है, अतः आत्मा का पूजन और परिचरण करने के लिये देह का ही पूजन और परिचरण करना चाहिए। किन्तु देवराज इन्द्र को प्रजापति की उक्ति के आपात अर्थ को स्वीकार करने में डर लगा। उसने सोचा कि पानी भरे घड़े आदि में जो दीखता है वह तो देह का ही अनुकरण करता है, देह जब जैसा होता है, तब पानी भरे घड़े आदि में वैसा ही दीखता है, अतः निश्चित है कि देह का नाश होने पर

अपरश्चार्वाकः "ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्य ब्रूयुः" इत्यादिश्रुतेरिन्द्रियाणामभावे शरीरचलनाभावात् काणोऽहं बधिरोऽहमित्याद्यनुभवाच्चेन्द्रियाण्यात्मेति वदति ।

लोकायतानां चार्वाकविशेषाणां मतभेदानाह—अपरश्चार्वाक इत्यादिना बौद्धस्त्वित्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन । अन्वयादि पूर्ववत् । प्राणानां वागादीनां प्रजापतिगमनं तं प्रति प्रश्नकरणं चाचेतनत्वे न सम्भवतीत्यनुपपत्त्यां तेषां चैतन्यमवश्यम्भावीति श्रुतार्थापत्तिरिह मानं न श्रुतिरेवेति द्रष्टव्यम् । इन्द्रि-

---

देहच्छायारूप आत्मा का भी नाश अनिवार्य है, इसलिए निश्चित है कि प्रजापति ने जिस आत्मा की सर्वप्रथम चर्चा की थी, वह आत्मा देह की छाया न होकर कुछ और ही है, प्रजापति ने जो कहा उसका वास्तव अर्थ मैंने नहीं समझा । फलतः इन्द्र देवताओं के पास न जाकर प्रजापति के पास पुनः वापस गया और पूरा एक सौ एक वर्ष ब्रह्मचर्य पूर्वक उनकी शुश्रूषा में रहने के बाद उनके कृपापूर्ण उपदेश से उसे आत्मा के वास्तव स्वरूप का ज्ञान हुआ ।

हाँ, तो चार्वाक के अनुसार माता-पिता से खाये अन्न के रसों से बना और अपने खाये अन्न के रसों से पला मनुष्य का स्थूल शरीर ही आत्मा है, अतः सप्राण शरीर के जन्मकाल से शरीर के निष्प्राण न होने तक ही आत्मा का अस्तित्व है। दृश्यमान शरीर के पूर्व भी आत्मा का अस्तित्व नहीं था और न इसके मिट्टी-पानीमें सड़ गल जाने अथवा आग में जलकर राख हो जाने के बाद ही आत्मा का अस्तित्व रहेगा । सच तो यह है कि शरीर के निष्प्राण होते ही आत्मा का अस्तित्व समाप्त हो जाता है ।

चार्वाक की मान्यता यह है कि पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार प्रत्यक्ष भूतों का ही अस्तित्व है, इनके विविध संयोजन से ही यह विशाल विश्व अस्तित्व में आ सका है । इन भूतों के अंश जब जीवित शरीर के रूप में परिणत होते हैं तब उनमें उसी प्रकार चेतना आ जाती है जिस प्रकार कुछ विशेष पदार्थों के विचित्र सम्मिश्रण से उनमें मादकता या मारकता आ जाती है, और जब भूतों का शरीराकार संघटन किसी अंश का अलगाव होने पर टूटता है तब चेतना का उन्मेष बन्द हो जाता है ।

ग्रन्थकार ने "स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" इस श्रुति को उद्धृत कर यह सूचना दी है कि चार्वाक का यह देहात्मवाद अतिप्राचीन है जिसे चार्वाक ने अति प्राकृत पुत्रात्मवाद से ऊँचा उठाया है और 'मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ' ऐसे अनुभवों के आधार पर प्रतिष्ठित किया है ।

अनुवाद—

'वे प्राण पिता प्रजापति के निकट जाकर कहे' इस आशय की श्रुति, इन्द्रियों के अभाव में शरीर में क्रिया का अभाव एवं 'मैं काना हूँ, मैं बहरा हूँ इन अनुभवों के आधार पर दूसरे चार्वाक का यह कहना है कि 'इन्द्रियाँ आत्मा हैं' ।

याणामभावे उपरमे स्वापादौ देहचलनस्य चैतन्यकार्यस्यादर्शनात्तदनुपरमे च तद्दर्शनादन्वयव्यतिरेकाभ्यामिन्द्रियाण्येव चेतनानि न देह इति निश्चीयते। न च तेषां करणत्वेनापि ज्ञानान्वयव्यतिरेकोपपत्तौ तदाश्रयत्वकल्पनमयुक्तमिति वाच्यमाश्रयसिद्ध्युत्तरकालीनत्वात्करणत्वकल्पनायास्तस्य चाश्रयत्वस्य देहेऽव्याप्यसिद्धेर्नान्यथोपपत्तिः। अत इन्द्रियाण्येवात्मानः करणत्वादेश्चाहमालम्बनत्वमबाधितम्। देहे तु ममप्रत्ययबाधितत्वाद्धाक्तमिति भावः ॥

व्याख्या—

अति प्राचीन काल से चार्वाक मत के नाम से अनेक मत प्रसिद्ध हैं, उनमें से चार्वाक के नाम से चार मतों का उल्लेख प्रस्तुत ग्रन्थ में किया गया है। प्रथम मत के अनुसार मनुष्य का प्रत्यक्ष दृश्यमान स्थूल शरीर ही आत्मा है, जिसकी चर्चा अभी की गयी है, दूसरे मत के अनुसार शरीर नहीं किन्तु शरीरस्थ इन्द्रियाँ आत्मा हैं। इस मत का उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् (५।१-७) में एक आख्यायिका के रूप में किया है, जो इस प्रकार है।

प्राण-इन्द्रियों में मुख्यरूप से प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मन में एक बार अपनी श्रेष्ठता के सम्बन्ध में विवाद उठ खड़ा हुआ। प्राण ने सोचा कि शरीर में उसकी उत्पत्ति वाक् आदि से पहले होती है क्योंकि माता के गर्भ में जब शरीर की रचना प्रारम्भ होती है उसी समय उसमें प्राण का प्रवेश होता है, वाक् आदि इन्द्रियों का शरीर में प्रवेश तो तब होता है जब उनके ठहरने हेतु शरीर के विभिन्न अवयवों की रचना पूरी हो जाती है, अतः पहले उत्पन्न होने के कारण वह वाक् आदि से ज्येष्ठ औरश्रेष्ठ है।

वाक् ने सोचा कि उसी के व्यापार से मनुष्य वाग्मी होकर अपनी वाग्मिता—वाक्चातुर्य से अन्य जनों को अभिभूत एवं अपनी ओर आकृष्ट करता है। वाक् द्वारा ही मनुष्य समाज की रचना करता है और उसी के द्वारा वह समाज का घटक बन कर जीवित रहता है। उसके बिना मनुष्य अन्यों से प्रभावहीन एवं सम्पर्कहीन हो जाने से जीवित ही नहीं रह सकता। अपने व्यापार से सब पर बस जाने—छा जाने के कारण वह वसिष्ठ है अतः वही अन्य इन्द्रियों से श्रेष्ठ है। चक्षु ने सोचा कि वही शरीर को सुरक्षित रखने के लिए मुख्य साधन है, यदि वह निर्व्यापार हो जाय देखना बन्द कर दे तो पैर के ऊँचे नीचे पड़ने से मनुष्य गिर जायगा। उसके हाथ, पैर टूट जायगे, शिर फूट जायगा, गहरा आघात होने पर अपने जीवन से भी वह हाथ धो बैठेगा। उसके ठीक रहने पर ही मनुष्य ठीक ढंग से जीवित रह सकता है। उच्चावच गति को रोक कर ठीक ढंग से शरीर को स्थित रखने के कारण वह प्रतिष्ठा है, अतः वही श्रेष्ठ है।

श्रोत्र-कान ने सोचा कि यदि वह निर्व्यापार हो जाय, सुनना बन्द कर दे तो मनुष्य अपने हित, अहित की बात न जान सकेगा, कितना भी कोई वेद, पुराण आदि के उद्धरण देकर उसे उसके हिताहित का साधन बताये, वह सब उसके लिये व्यर्थ हो गा

फलतः अपने हित, अहित और उसके साधनों का ज्ञान न हो सकने से मनुष्य सुखी जीवन न बिता सकेगा। वेद, शास्त्रों के हिताहित वचनों को सुनकर हित के ग्रहण और अहित के परित्याग से सम्पत्ति का हेतु होने से वह सम्पद्-रूप है, अतः वही अन्य इन्द्रियों से श्रेष्ठ है।

मन ने सोचा कि अन्य इन्द्रियां मनुष्य के लिये विविध प्रकार के भोग्य विषयों का जो अनुभव अर्जित करती हैं उनका आश्रय वही होता है, यदि मन इन्द्रियों का सहयोग न करे तो इन्द्रियों द्वारा उत्पादित विषयप्रत्यय निराश्रय हो जाने से मनुष्य के भोग का सम्पादन न कर सकें, इस प्रकार अन्य सभी इन्द्रियों और उनकी उपलब्धियों का वह आयतन है अतः वही सबसे श्रेष्ठ है।

जब अपनी अपनी महत्ता बघारते रहने से उनका कलह बढ़ गया और अपनी अपनी उपयोगिता बताने के आधार पर किसी की श्रेष्ठता का निश्चय न हो सका, तो उक्त सभी इन्द्रियों ने अपने उत्पादक प्रजापति के पास पहुँच कर उनसे निवेदन किया कि वे ही यह निर्णय कर दें कि उनमें सबसे श्रेष्ठ कौन है? प्रजापति ने अपनी ओर से किसी को श्रेष्ठ बताने में अपनी निष्पक्षता के भङ्ग की आशङ्का से स्वयं किसी को श्रेष्ठ न कह कर यह कहते हुये विवाद के शमन का मार्ग निकाला कि उनमें जिसके शरीर से निकल जाने पर शरीर शव बन जाय, अस्पृश्य हो जाय, वही सर्वश्रेष्ठ है।

प्रजापति की बात मान कर सभी ने अपने-अपने प्रभाव की परीक्षा दी। वाक् ने एक वर्ष तक शरीर से निकलकर-मूक होकर देखा कि उसका योगदान न होने पर भी मनुष्य जीवित रहता है, जन्म से गूंगों की भाँति बिना बोले भी मनुष्य स्वस्थ रहता है, उसका शरीर शव नहीं होता, हार मान कर वाक् पुनः पूर्ववत् शान्तभाव से शरीर के भीतर रहकर अपनी क्रियायें करने लगा।

चक्षु ने भी वर्ष भर शरीर से बाहर रहकर देखने की अपनी क्रिया से विमुख होकर देखा कि उसके बिना भी मनुष्य का जीवन सुरक्षित रहता है, जन्मना अन्धों की भांति आंखें बन्द रहने पर भी मनुष्य का शरीर स्वस्थ रहता है अशुचि नहीं होता, उसकी सारी क्रियायें निर्बाध रूप से सम्पन्न होती रहती हैं, अतः उसने भी अपनी पराजय मान कर शरीर में यथापूर्व रहकर अपने कार्य करते रहने का निश्चय किया।

श्रोत्र ने भी वर्ष भर शरीर से पृथक् होकर, सुनने का कार्य छोड़ कर देखा कि उसका सहयोग न मिलने पर भी मनुष्य का जीवन समाप्त नहीं होता, जन्मना बहरे मनुष्य की भांति कान बन्द रख कर भी मनुष्य स्वस्थ और जीवित रह सकता है, न सुनने से उसके स्वास्थ्य की कोई क्षति नहीं होती, उसका शरीर शव नहीं बनता, अतः उसने भी अपनी हार मानी और शरीर में रहकर यथापूर्व क्रियाशील रहने का निश्चय किया।

मन ने भी वर्ष भर शरीर को त्याग दिया, अपनी मननक्रिया बन्द कर दी, पर देखा कि उसके सहयोग के अभाव में भी मनुष्य जीवित है, उसका शरीर पूर्ववत् स्वस्थ है,

अपरश्चार्वाकः "अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमय" इत्यादिश्रुतेः प्राणाभाव इन्द्रियादिचलनायोगादहमशनायावानहं पिपासावानित्याद्यनुभवाच्च प्राण आत्मेति वदति ।

छोटे बच्चे किसी बात की गांठ पकड़नेवाले मन के न होने से आपस में कहा सुनी, मार पीट कर लेने के बाद पुनः जैसे एकत्र हो हिलमिलकर खेलने कूदने लगते हैं, लड़ाई की घटना का उनके चित्त पर कोई प्रभाव नहीं रह जाता, वैसे ही वयस्क मनुष्य भी अमनस्क होकर, गांठ पकड़नेवाले मन से मुक्त होकर आनन्दमय जीवन बिता सकता है, उसका शरीर शव न होकर स्वस्थ रह सकता है, अतः उसने भी अपने को पराजित मान कर शरीर में पहले ही जैसे मननशील होकर रहने का निश्चय किया ।

अब प्राण को अपनी परीक्षा का अवसर मिला, किन्तु देखा यह गया कि जब प्राण शरीर से बाहर होने लगा तह अन्य सभी इन्द्रियों का भी शरीर के भीतर रह पाना असम्भव हो गया । जैसे कोई बलवान् अश्व अपने ऊपर आरूढ़ मनुष्य के चाबुक की चोट खाकर जब भागने को जोर मारता है तब वे सभी खूँटे जिनमें वह बँधा होता है, उखड़ जाते हैं उसी प्रकार जब प्राण शरीर से बाहर होता है तब अन्य इन्द्रियां भी उसके साथ ही बाहर हो जाती हैं और निष्प्राण शरीर निश्चेष्ट होकर शव एवं अशुचि हो जाता है । प्राण के इस अप्रतिम बल को देख कर अन्य सभी इन्द्रियों ने उसका लोहा मान लिया, उसकी श्रेष्ठता स्वीकार कर उसके संरक्षण में शरीर में अपनी क्रियावों के नियमित निर्वाह का निश्चय किया ।

ग्रन्थकार ने उक्त उपनिषद् के सम्बद्ध प्रकरण की श्रुति का एक अंशमात्र 'ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्य ब्रूयुः' को उद्धृत कर यह संकेत दिया है कि उक्त उपनिषद् में इन्द्रियों के चैतन्यसाध्य व्यापार के आधार पर चार्वाक का एक यह मत स्थापित हुआ कि 'इन्द्रियां ही आत्मा-चेतन हैं, न कि शरीर' क्योंकि इन्द्रियों के अभाव में, इन्द्रियों के निर्व्यापार हो जाने की दशा में शरीर निश्चेष्ट हो जाता है, जैसा कि सोये हुये मनुष्य के शरीर में प्रत्यक्ष है ।

कानापन, बहरापन आदि नेत्र, श्रोत्र आदि इन्द्रियों के विकार हैं, तदनुसार आँख कानी होती है, कान बहरे होते हैं, किन्तु इन इन्द्रियविकारों का अनुभव अहम् आत्मा में होता है क्योंकि मनुष्य यह न कह कर कि मेरी आँख कानी है, मेरे कान बहरे हैं, यह कहते देखा जाता है कि 'मैं काना हूँ', मैं बहरा हूँ' अतः उक्त अनुभव से स्पष्ट है कि नेत्र, श्रोत्र आदि इन्द्रियां ही आत्मा है ।

अनुवाद--

शरीर, इन्द्रिय से भिन्न, उनकी अपेक्षा अधिक निकटस्थ प्राणमय आत्मा है, इस आशय की श्रुति, प्राण के अभाव में इन्द्रिय आदि की गतिहीनता तथा 'मैं अशनाया-भूख और पिपासा-प्यास से पीड़ित हूँ' इत्यादि अनुभव के आधार पर दूसरे चार्वाक का कहना है कि 'प्राण आत्मा है' ।

मुख्यप्राणात्मवादिमतमुत्थापयति—अपर इति। अन्योऽन्नमयादात्मन इति योजना। स चान्नमयादन्तरोऽभ्यन्तर इत्यर्थः। प्राणाभावे प्राणस्य स्वस्थितिनिबन्धनान्नाद्यलाभेन कृशीभावे सतीन्द्रियाणां विद्यमानानामपि स्वस्वविषये प्रवृत्त्यदर्शनात्सति च तस्मिन्पुष्टे तद्दर्शनात्प्राण एवात्मा न प्राणाधीनस्थितिकानीन्द्रियाणीति। इन्द्रियाणां चैतन्यान्वयव्यतिरेकः करणत्वेनाप्युपपद्यत एव। तेषामेव कर्तृत्वे करणाभावप्रसङ्गः। किञ्चैकस्मिञ्छरीरे इन्द्रियाणां सम्भूय भोक्तृत्वं प्रत्येकं वा। द्वितीयेऽपि युगपत्क्रमेण वा। नाद्यः। रूपादौ चक्षुरादिभोग्ये जिह्वादीनां भोक्तृत्वादर्शनात्। न हि सम्भूयेन्द्रियाण्येकं कार्यं निर्वर्तयन्ति। तेषां प्रतिनियतासाधारणविषयभेदस्यान्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात्। न द्वितीयः। उक्तेन प्रकारेण यौगपद्यासम्भवात्। प्रत्येकं क्रमेण भोक्तृणीन्द्रियाणीति तृतीयेऽपि पक्षे तेषां प्रत्येकं स्वातन्त्र्ये कदाचिदनैकमत्ये सति विरुद्धादिक्क्रियैस्तैरधिष्ठितं शरीरं विदीर्येत। अस्वातन्त्र्ये यदधीनत्वं तेषां तस्यैवात्मत्वं युक्तं स्वामिभृत्यन्यायस्य शरीरैक्येऽनुपपत्तेः। प्राण एव तु मुख्यः सर्वेषामिन्द्रियाणामाश्रय

व्याख्या--

तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मानन्दवल्ली के प्रथम अनुवाक में अन्नरसमय स्थूल-शरीर को पुरुष-आत्मा बताने के बाद उसके दूसरे अनुवाक में 'तस्माद् एतस्मादन्नरसमयाद् अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः' कहकर अन्नरसमय शरीर से भिन्न, उसकी अपेक्षा अभ्यन्तरवर्ती प्राण को पुरुष-आत्मा बताया गया है। उपनिषद् की इस उक्ति को ग्रन्थकार ने चार्वाक के प्राणात्मवाद का आधार बताया है। ग्रन्थकार के कथनानुसार उक्त श्रुति के आधार पर ही चार्वाक के इस मत की कि 'प्राण आत्मा है' स्थापना हुई है।

प्राणात्मवाद के दूसरे आधार के रूप में ग्रन्थकार ने एक युक्ति की भी चर्चा की है, वह यह कि जब शरीर में प्राण नहीं रह जाता, तब इन्द्रियां गतिहीन हो जाती हैं, शरीर भी निष्क्रिय हो जाता है, इससे स्पष्ट है कि शरीर के भीतर गतिमान् होने वाला प्राण ही आत्मा है, क्योंकि यदि इन्द्रियां आत्मा होतीं अथवा शरीर आत्मा होता तो उनमें गति होने के लिये अन्य की अपेक्षा होती, क्योंकि आत्मा के सहयोग से ही अन्य को गतियां प्राप्त होती हैं, उसे स्वयं गतिमान् होने के लिये अन्य की अपेक्षा नहीं होती, वह तो अपने सहज सामर्थ्य से ही सब को गतिमान् बनाता है।

प्राणात्मवाद के तीसरे आधार के रूप में ग्रन्थकार ने भूख, प्यास के अनुभव का उल्लेख किया है, आशय यह है कि भूख, प्यास आदि प्राण की दुर्बलता है, भूख, प्यास लगने पर समय से अन्न, जल न मिलने पर मनुष्य के प्राण दुर्बल हो जाते हैं, चलना, फिरना, बोलना, चालना कठिन हो जाता है, किन्तु मनुष्य अपने प्राण को

अन्यस्तु चार्वाकः "अन्योऽन्तर आत्मा मनोमय" इत्यादि-श्रुतेर्मनसि सुप्ते प्राणादेरभावादहं सङ्कल्पवानहं विकल्पवानित्याद्यनुभवाच्च मन आत्मेति वदति ।

इति युक्तमतः स एवात्मा स्वापप्रबोधयोरविच्छिन्नस्वभावः। प्रत्येकमिन्द्रियाणामात्मत्वेऽन्यदृष्टेऽन्यस्मरणानुपपत्तेरिह च यश्चक्षुषा रूपमद्राक्षं स इदानीं गन्धं जिघ्रामीति प्रत्यभिज्ञा दृश्यते। तस्मान्नेन्द्रियाण्यात्मान इति भावः। अशनायापिपासयोश्च प्राणधर्मत्वं प्रसिद्धमन्नपानयोरलाभे प्राणविच्छेददर्शनात्। तादृग्धर्मकश्च प्राणोऽहम्प्रत्ययविषय इति प्राण आत्मेत्यनुभव इत्यर्थः ॥

मनआत्मवादिमतमुत्थापयति—अन्यस्त्विति। प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मेति यावत्। मनसि सुप्ते विलीने प्राणादेरभावाद्दृतिवच्छ्वासोच्छ्वासदर्शनस्य द्रष्टृदृष्ट्यध्यारोपितत्वादिन्द्रियाभावेऽपि स्वप्नस्मृत्योर्मनसि सम्प्रतिपत्तेर्मन एवात्मेत्यर्थः। यद्वा प्राणादेरभावादिति तद्व्यापारोपरमे सुषुप्त्यादौ

भूखा, प्यासा न मानकर अहम्-आत्मा को ही भूखा, प्यासा मानने लगता है और कहने लगता है कि मैं भूखा हूँ, प्यासा हूँ, भूख, प्यास से मरा जा रहा हूँ, जल्दी कुछ खिलावो, कुछ पिलावो। इस अनुभव के कारण चार्वाक का यह कहना है कि भूख, प्यास से पीड़ित होने वाला प्राण ही आत्मा है।

अनुवाद—

अन्य चार्वाक तो, 'प्राण से भिन्न, उसकी अपेक्षा भी समीपस्थ मयोमय आत्मा है' इस आशय की श्रुति, मन के सुप्त-निष्क्रिय हो जाने पर प्राण आदि का अभाव होने तथा 'मैं संकल्प, विकल्प से वेष्टित हूँ' इस अनुभव के आधार पर यह कहता है कि 'मन आत्मा है'।

व्याख्या—

तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मानन्दवल्ली के तीसरे अनुवाक में 'तस्माद् वा एतस्मात् प्राणमयाद् अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः' यह श्रुति उपलब्ध होती है, ग्रन्थकार ने इस श्रुति को चार्वाक के मनश्चेतनवाद का आधार बताया है, उनके अनुसार चार्वाक ने इस श्रुति को उपजीव्य मान कर अपने इस मत की स्थापना की कि मन प्राण से भी मनुष्य के अधिक सन्निहित है, जो अन्य की अपेक्षा मनुष्य के अधिक सन्निहित होता है, उसे ही वह अपनी आत्मा मानता है, अतः प्राण की अपेक्षा अधिक सन्निहित होने के कारण मन ही मनुष्य की आत्मा है, मनुष्य सोचता है कि उसके प्राण भले निकल जाँय, पर उसका मन न बिगड़े, क्योंकि मन बिगड़ जाने पर मनुष्य का जीवन संकटमय हो जाता है, बिगड़े मन से कोई उचित निर्णय न ले सकने के कारण उसका जीवन कुण्ठित हो जाता है, कुछ ही दिनों में उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है, इस प्रकार प्राण की

तस्याभावमुपचर्येदमुच्यते। तथा चेन्द्रियेषूपसंहृतव्यापारेषु प्राणे चोपसंहृतप्राणनापाननेतरवृत्तौ मनसैव केवलेन स्वप्नादेरुपलम्भान्मन एवात्मेत्यर्थः। मनसश्च सङ्कल्पादिधर्मवत्त्वं प्रसिद्धमित्यनुभवोक्तिः स्पष्टार्था।

अपेक्षा मन के अधिक सन्निहित और प्रिय होने से 'मन' को ही आत्मा मानने में अधिक औचित्य प्रतीत होता है।

मन को आत्मा मानने के आधार रूप में ग्रन्थकार ने चार्वाक सम्मत एक युक्ति का भी उल्लेख किया है, वह यह कि मनुष्य का मन जब सो जाता है, सुषुप्ति के समय जब मन निष्क्रिय हो जाता है तब प्राण आदि का भी अभाव हो जाता है, जागरण काल के समान सुषुप्तिकाल में प्राण आदि की उत्कृष्ट क्रियायें नहीं होतीं केवल श्वास, प्रश्वासमात्र सामान्य रूप से चलता रहता है, ऐसा क्यों होता है, इसीलिये कि सोते समय सङ्कल्पविकल्पात्मक मन मृत सा रहता है, उस समय वह किसी नये कर्तव्य का निश्चय नहीं कर पाता, अतः नये निश्चय आदि के अभाव में प्राण आदि को नूतन स्पन्दन का अवसर नहीं मिलता, इससे स्पष्ट विदित होता है कि मन ही आत्मा है, वही प्राण आदि को गतिमान् बनाता है।

मनश्चेतनवाद के तीसरे आधार के रूप में ग्रन्थकार ने सङ्कल्प, विकल्प के अनुभव का उल्लेख किया है, उनके अनुसार चार्वाक ने उक्त अनुभव के आधार पर भी मनश्चेतनवाद की स्थापना की है। आशय यह है कि संकल्प और विकल्प मन के धर्म हैं, किन्तु उनका अनुभव अहम्-आत्मा में होता है, अतः आत्मा में जिन धर्मों का अनुभव होता है उन धर्मों के वास्तव आश्रय को ही आत्मा मानना उचित है, इस औचित्य के आधार पर ही चार्वाक ने मन को आत्मा मानने की घोषणा की है।

पुत्र आदि बाह्य पदार्थ को आत्मा मानने का उल्लेख ग्रन्थकार ने 'अतप्राकृत' मत के रूप में यद्यपि किया है, किन्तु जिस ढंग से उन्होंने चार्वाक के इन मतों का उल्लेख किया है उस ढंग को देखते हुये यही मानना उचित प्रतीत होता है कि वह मत भी चार्वाक का ही मत है, जैसा कि कहा गया है कि दानवों को अभिभुत करने के उद्देश्य से देवगुरु वृहस्पति ने चार्वाक बनकर दानवों को अनात्मवाद का उपदेश दिया, उसके अनुसार यही मानना युक्तिसंगत जान पड़ता है कि चार्वाक रूप में वृहस्पति ने दानवों को अधिकाधिक बहिर्मुख करने का ही प्रयत्न किया होगा, अतः उन्होंने सर्वप्रथम, पुत्र, कलत्र, धन, धान्य आदि में ही आत्मा के समान प्रेम उत्पन्न कर उन्हीं में उनको उलझाया होगा, किन्तु दानवों का जो वर्ग उतनी दूर तक आत्मभावना के लिये तयार नहीं था, उसे उसकी योग्यता के अनुसार शरीरात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, प्राणात्मवाद और मनश्चेतनवाद उसके गले के नीचे उतारने का प्रयत्न किया होगा।

ग्रन्थकार यतः वेदों को अपौरुषेय, अनादि मानने के कारण उपनिषदात्मक वेद को भी अनादि मानते हैं अतः उन्होंने उक्त चार्वाकमतों के आधार के रूप में विभिन्न

बौद्धस्तु "अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमय" इत्यादिश्रुतेः कर्तुरभावे करणस्य शक्त्यभावादहं कर्ताहं भोक्तेत्याद्यनुभवाच्च बुद्धिरात्मेति वदति।

योगाचारमतमुत्थापयति—बौद्धस्त्विति। मनोमयादन्योऽन्तरोऽभ्यन्तर आत्मा विज्ञानमयः क्षणिकविज्ञानमय इति बौद्धाभिप्रायः। बुद्धिः क्षणिकविज्ञानमात्मेत्यत्रानुभवमाह—अहं कर्तेति। मनस एव कर्तृत्वं स्यात्किं विज्ञानेनेत्याशङ्क्य मनसः करणपक्षपातित्वान्न कर्त्रनुभवगोचरत्वमित्यभिप्रेत्य युक्तिमाह—कर्तुरभाव इति। मनसः कर्तृत्वे सर्वेन्द्रियाणां स्वस्वविषयैर्युगपत्सम्बन्धे युगपज्ज्ञानोदयप्रसङ्गः। कर्तुर्मनसः सर्वैरिन्द्रियैरधिष्ठातृत्वेन युगपत्सन्निहितत्वादपेक्षणीयान्तरानभ्युपगमाच्च। न चैवं दृश्यते तस्मान्मनसोऽन्यः कर्ता। मनस्तु विज्ञानक्रमहेतुः साधारणं करणमेवेत्यर्थः। एव वेदबाह्यवादानुपन्यस्य विज्ञानमयकोशपर्यन्तमात्मनः प्रत्यक्त्वमवगमितम्। न च क्षणिकविज्ञानस्यैवात्मत्वमध्यवसातुं शक्यं ज्ञानेच्छाप्रयत्नसंस्कारस्मृतीनामेकाश्रयत्वनियमात्तेषां च क्रमिकत्वात्क्षणिकविज्ञानाश्रयत्वानुपपत्तेः। ज्ञानादीनामेकाश्रयत्वाभावे तु वस्तुनि दृष्टे पूर्वदृष्टसजातीयत्वादिलिङ्गवशादिष्टसाधनताद्यनुमानपूर्वकं प्रवृत्त्याद्यभावः प्रसज्येत। अन्यदृष्टेऽन्यस्मरणानुपपत्तेः।

उपनिषद्वचनों को उद्धृत किया है, किन्तु जिन विद्वानों की दृष्टि में वेद भी काल की सीमा में ही बँधे हैं, उनका भी निर्माण और विकास कालक्रम से हुआ है, उनके अनुसार उक्त बचनों को चार्वाक के क्रमविकसित उक्त मतों के वर्णन रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

अनुवाद—

बौद्ध तो 'शरीर से लेकर मन पर्यन्त चार्वाक-उक्त आत्मावों से भिन्न उन सभी की अपेक्षा मनुष्य के सन्निहित विज्ञानमय आत्मा है' इस आशय की श्रुति, कर्ता के अभाव में करण शक्तिहीन हो जाते हैं इस युक्ति तथा 'मैं कर्ता हूँ' 'मैं भोक्ता हूँ' इस अनुभव के आधार पर यह कहता है कि 'बुद्धि आत्मा है'।

व्याख्या—

यह सत्य है कि मनुष्य को अपनी आत्मा सर्वाधिक प्रिय होती है, इस सत्य की कसौटी पर कसने पर यह तथ्य प्राप्त होता है, कि बुद्धि मनुष्य को शरीर से लेकर मन तक के सभी पदार्थों की अपेक्षा प्रिय है, 'मुद्राराक्षस' नाटक में राक्षसमन्त्री के 'बुद्धिस्तु मा गान्मम' इस आकाङ्क्षा से इस सत्य की पुष्टि होती है, मनुष्य की यह इच्छा रहती है कि भले उसका सर्वस्व चला जाय पर उसकी बुद्धि सुरक्षित रहे, 'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य—जिसको बुद्धि होती है उसी को बल होता है' यह उक्ति भी बुद्धि का महत्त्व प्रकट करती है, इन सब बातों के आधार पर बुद्धि-क्षणिक विज्ञान को ही आत्मा मानना उचित है।

प्राभाकरतार्किकौ तु "अन्योऽन्तर आत्मानन्दमय" इत्यादि-श्रुतेर्बुद्ध्यादीनामज्ञाने लयदर्शनादहमज्ञोऽहमज्ञानीत्याद्यनुभवाच्चाज्ञान-मात्मेति वदतः।

उक्तं च न्यायकुसुमाञ्जलौ—

"नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यो नैकं भूतमपक्रमात्।
वासनासंक्रमो नास्ति न च सत्यन्तरं स्थिरे" इति।

क्षणिकपक्षे बन्धमोक्षयोरपि वैयधिकरण्यमित्यादिबहुदुष्टत्वादनादरणीयः क्षणिकविज्ञानात्मपक्ष इत्यभिप्रेत्य वेदवादिपक्षमाश्रित्य विज्ञानादप्यन्तरमात्मानं निर्दिधारयिषुस्तावत्तत्रापि स्थूलदर्शिमतभेदमाह—प्राभाकर इत्यादिना।

बुद्धि को आत्मा मानने के पक्ष में ग्रन्थकार ने बौद्ध सम्मत एक युक्ति का भी उल्लेख किया है, वह यह है कि कर्ता के अभाव में करण शक्तिहीन रहते हैं, कर्ता के अनुपस्थित या तटस्थ रहने पर करण निष्क्रिय होते हैं। यदि बढ़ई उपस्थित न हो अथवा चुप चाप बैठा हो तो उसके पास में पड़ा कुठार कुछ नहीं कर सकता, उससे लकड़ी का कटना तभी सम्भव होता है जब बढ़ई हाथ में कुठार लेकर लकड़ी पर उसका प्रहार करता है, मनुष्यशरीर के भीतर अवस्थित बुद्धि ही वास्तव में कर्त्री है, उसी के कर्तृत्व से शरीर सक्रिय होता है, मनुष्य के हाथ, पैर उठते हैं, आँख कान आदि देखने सुनने का कार्य करते हैं, शरीर से लेकर मन तक के सारे पदार्थ मनुष्य के उपकरण हैं उनमें शक्ति का उन्मेष बुद्धि द्वारा ही सम्पन्न होता है, बुद्धि के इस महत्त्व को देखते हुये उसी को आत्मा के रूप में मान्यता प्रदान करना उचित जान पड़ता है।

बुद्धि को आत्मा के रूप में स्वीकार करने का अन्य कारण जिसे ग्रन्थकार ने बौद्ध की ओर से प्रस्तुत किया है वह है अहम्—आत्मा में बुद्धि के धर्मों का अनुभव, कर्तृत्व—कुछ कार्य करना, भोक्तृत्व–अपनी क्रिया के फल दुःख, सुख का भोग करना, यह सब बुद्धि का धर्म है। जिसे मनुष्य 'अहं कर्ता, अहं भोक्ता' इस प्रकार अपने आप में अनुभव करता है, इस अनुभव के आधार पर यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि अहम्—'आत्मा में जिन धर्मों की अनुभूति होती है उन धर्मों का आश्रय ही आत्मा है यतः आत्मा को अनुभूत होने वाले कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि धर्मों का वास्तव आश्रय आत्मा है अतः बुद्धि ही आत्मा है।

अनुवाद—

प्राभाकर–प्रभाकर के अनुयायी और तार्किक–तर्कशास्त्र के अध्येता तो "उक्त सभी से भिन्न और उन सभी की अपेक्षा अन्तरङ्ग आनन्दमय आत्मा है' इस आशय की श्रुति, अज्ञान में बुद्धि आदि के लय का दर्शन, मैं अज्ञ हूँ मैं अज्ञान का आश्रय हूँ इत्यादि अनुभव के आधार पर यह कहते हैं कि 'अज्ञान आत्मा है'।

प्राभाकरतार्किकावज्ञानमात्मेति वदत इत्यन्वयः। अज्ञानं क्षणिकविज्ञानादन्यत्तदधिकरणं द्रव्यरूपमात्मतत्त्वमिति वदत इत्यर्थः। विज्ञानमयादप्यन्तरे आत्मनि श्रुतिं प्रमाणयति—अन्योऽन्तर आत्मेति। विज्ञानमयादानन्दमयोऽन्य इति यावत्। न चानन्दमयः परमात्मेति त्वम्पदार्थमध्ये न तस्योदाहरणं युक्तमिति वाच्यम्। अन्नमयादिविकारप्रायपठितमयट्श्रुतिविरोधात्प्रियशिरस्त्वादिवचनविरोधाच्च। एतच्च भाष्यकारैः "आनन्दमयोऽभ्यासात्" इत्यस्मिन्नधिकरणे निर्णीतम्। तस्माद्युक्तमेव त्वम्पदार्थमध्य आनन्दमयश्रुत्युदाहरणमिति द्रष्टव्यम्। सुषुप्तौ बुद्ध्यादीनां ज्ञानसुखदुःखेच्छादीनामज्ञाने ज्ञानभिन्न आत्मनि लयदर्शनादभावदर्शनान्न ज्ञानमात्मेति युक्तिमाह—बुद्ध्यादीनामिति। सर्वज्ञानाभावस्य सुषुप्तौ सम्प्रतिपन्नत्वात्सुषुप्तिजागरितयोरप्यात्मैक्यप्रत्यभिज्ञानान्न ज्ञानमात्मा किन्तु तदन्य एवेति भावः। अनुभवमाह—अहमज्ञ इति। अहमज्ञो ज्ञानहीनोऽहं ज्ञानी ज्ञानवानित्यनुभवोऽपि ज्ञानात्मनोर्धर्मधर्मिभावे भेदं द्रढयतीत्यर्थः॥

व्याख्या—

प्रभाकर मीमांसादर्शन में एक स्वतन्त्र प्रस्थान के प्रवर्तक हैं, उनके मत को सिद्धान्तरूप में ग्रहण करने वाले विद्वान् प्राभाकर कहे जाते हैं, प्राभाकरों के अनुसार आत्मा अज्ञानरूप है, ज्ञान से भिन्न है, तार्किकों का भी यही कहना है कि आत्मा अज्ञानरूप—ज्ञान से भिन्न द्रव्यरूप है।

प्रभाकर और तार्किक 'आत्मा क्षणिक विज्ञान रूप है' इस बौद्ध मत को नहीं स्वीकार करते, इसके कई कारण हैं; एक यह कि 'अहम् जानामि—मैं जानता हूँ' इस प्रकार ज्ञान के आश्रय रूप में आत्मा का अनुभव होता है, यदि ज्ञान ही आत्मा होगा तो एक वस्तु में आधाराधेयभाव न होने से उक्त अनुभव की उपपत्ति न हो सकेगी, दूसरा कारण यह है कि क्षणिक विज्ञान के 'अहम्' इस प्रकार का आलयविज्ञान और 'इदं नीलम्, इदं पीतम्' इस प्रकार का प्रवृत्तिविज्ञान-प्रवंतक विज्ञान, इस प्रकार के दो भेद मानकर यदि क्षणिक आलय विज्ञान को क्षणिक प्रवृत्तिविज्ञानका आश्रय मानकर उक्त अनुभव की उपपत्ति करने का प्रयत्न किया जायगा तो भी इस मत का समर्थन करना सम्भव न होगा क्योंकि आलयविज्ञानरूप आत्मा के क्षणिक होने से पूर्वानुभूत का कालान्तर में स्मरण न हो सकेगा, क्योंकि अनुभवकर्ता क्षणिक होने से स्मरण काल में न रहेगा, और जो स्मरणकाल में रहेगा उसे स्मर्यमाण वस्तु का अनुभव नहीं है और नियम यह है कि जो जिस वस्तु का अनुभव करता है वही अनुभवजनित संस्कार के बल कालान्तर में उस वस्तु का स्मरण कर सकता है। इसके अतिरिक्त दूसरा दोष यह है कि आत्मा को क्षणिक मानने पर कृतहान और अकृताभ्यागम की आपत्ति होगी, कृतहान का अर्थ है किये हुये कर्म का फलभोग न होना और अकृताभ्यागम का अर्थ है, कर्म किये बिना ही कर्मफल का भोग प्राप्त करना। आत्मा के

क्षणिकत्वपक्ष में कर्मों का कर्ता फलभोगकाल में नहीं रह सकता अतः कृतहान दोष स्पष्ट है। जो कर्मों का फलभोग करता है क्षणिक होने से भोग के पूर्व न रहने से उसने कोई कर्म नहीं किया है किन्तु कर्मफल का भोग कर रहा है इसलिये इस मत में अकृताभ्यागम दोष भी अपरिहार्य है।

ऐसे अनेक दोषों के कारण प्राभाकर और तार्किकों ने आत्मा को अज्ञानरूप—ज्ञान से भिन्न माना है।

आत्मा को अज्ञान रूप मानने में एक युक्ति का भी उल्लेख किया गया है, वह यह है कि बुद्धि आदि का लय ज्ञान में न होकर ज्ञानभिन्न में होता है, क्योंकि उक्त दोनों के मत में बुद्धि आदि ज्ञानभिन्न आत्मा में उत्पन्न होने वाले धर्म हैं अतः उनके मतानुसार बुद्धि आदि का लय बुद्धि आदि के उत्पत्ति स्थान ज्ञानभिन्न में ही होना स्वाभाविक है।

आत्मा को अज्ञान रूप—ज्ञान भिन्न स्वरूप मानने के पक्ष में उसके समर्थक एक अनुभव का भी उल्लेख किया गया है वह है अहम्—आत्मा में अज्ञता और अज्ञान की आश्रयता का अनुभव, अज्ञता का अनुभव अहम्—आत्मा को ज्ञानभिन्न सिद्ध करता है क्योंकि 'ज्ञ' का अर्थ होता है ज्ञाता अतः अज्ञ का अर्थ होता है ज्ञाता से भिन्न, क्षणिक विज्ञान को आत्मा मानने वाले बौद्ध के मत में ज्ञान ही ज्ञाता है, अतः अहम्—आत्मा को ज्ञाता से भिन्न बताने वाले अनुभव से आत्मा की ज्ञानभिन्नता ही प्रतिफलित होती है। इसी प्रकार अज्ञान की आश्रयता का उक्त अनुभव भी आत्मा की ज्ञानभिन्नताका ही साक्षी है क्योंकि अज्ञान का अनुभव ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व ज्ञानप्रागभावकाल में होता है, अतः यह अनुभव भी क्षणिक विज्ञान में न होकर ऐसे ही पदार्थ में हो सकता है जिसमें ज्ञान का प्रागभाव रह सके, ज्ञान का प्रागभाव उसी में रह सकता है जो स्थायी हो क्यों कि जिसमें जिस वस्तु की उत्पत्ति होने वाली होती है उसी में उसका प्रागभाव रहता है, क्षणिक विज्ञानात्मवाद में जिस आलय विज्ञान में ज्ञान का जन्म होता है वह क्षणिक होने से पहले न रहने के कारण ज्ञानप्रागभाव का आश्रय नहीं हो सकता, अतः स्पष्ट है कि अज्ञान के आश्रय में अनुभूत होने वाला अहम्—आत्मा ज्ञान से भिन्न स्थायी पदार्थ है।

प्रश्न हो सकता है कि इस मत के आधार रूप में उद्धृत उक्त श्रुति में आनन्दमय आत्मा का उल्लेख है, उसमें अज्ञान शब्द का उल्लेख नहीं है फिर वह श्रुति अज्ञान को आत्मा बताने में साक्षी कैसे हो सकती है? किन्तु इसका उत्तर आनन्द शब्द के अर्थ पर दृष्टि डालने से अनायास प्राप्त हो जाता है जैसे 'आनन्दमय' का अर्थ हैं, आनन्द का आश्रय, आनन्द का आश्रय अज्ञान-ज्ञान से भिन्न ही वस्तु हो सकती है क्योंकि आनन्द-सुख सत्कर्म का उत्तरभावी फल है और ऐसा फल स्थायी कर्ता में ही सम्भव हो सकता है जिसका अस्थायी ज्ञान से भिन्न होना अनिवार्य है।

भाट्टस्तु "प्रज्ञानघन एवानन्दमय" इत्यादिश्रुतेः सुषुप्तौ प्रकाशाप्रकाशसद्भावान्मामहं न जानामीत्याद्यनुभवाच्चाज्ञानोपहितं चैतन्यमात्मेति वदति।

मतान्तरमाह—भाट्ट इति। भाट्टस्त्वज्ञानोपहितं चैतन्यमात्मेति वदतीत्यन्वयः। अज्ञानोपहितत्वमज्ञानसंवलितत्वं ज्ञानाज्ञानरूपत्वं तदपि द्रव्यबोधरूपत्वमिति यावत्। तत्र माण्डूक्यश्रुतिं प्रमाणयति—प्रज्ञानघन इति। प्रज्ञानघनः प्रज्ञानैकरसः। एवकारेण रसान्तरसम्बन्धं वारयति। आनन्दमय इत्यानन्दप्रचुरो नानन्दविकारः। प्राचुर्यार्थे मयडन्तनिर्देशादीषदानन्दस्वभावतापि द्रव्यांशकृतात्मनि गम्यत इति भावः। युक्तिमाह—सुषुप्ताविति। सुषुप्तौ प्रकाशाभावे सुषुप्तिरसाक्षिकेति सुखमहमस्वाप्समित्युत्थितस्य परामर्शो न स्यान्न तदेन्द्रियमनसां व्यापारोऽस्ति येन तज्जन्यज्ञानेनापि तत्परामर्शः स्यात्। नाप्यविद्या प्रकाशिका जडत्वात्। परिशेषादात्मैव बोधांशः प्रकाशक इति। प्रकाशसद्भावसिद्धिः। न किञ्चिदवेदिषमिति परामर्शा-

---

अनुवाद—

भाट्ट—भट्टमतानुयायी तो 'प्रज्ञानघन ही आनन्दमय है'। इस श्रुति से सुषुप्ति के समय प्रकाश-ज्ञान और अप्रकाश—अज्ञान दोनों के अस्तित्व एवं मैं अपने को नहीं जानता इस अनुभव के आधार पर यह कहता है कि 'अज्ञान से उपहित चैतन्य आत्मा है'।

व्याख्या—

मीमांसा सम्प्रदाय में एक दूसरे प्रस्थान के प्रवर्तक हैं कुमारिल भट्ट जो भट्ट तथा आचार्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनके मत का सिद्धान्तरूप में ग्रहण करने वाले विद्वान् भाट्ट कहे जाते हैं, उनका कहना है कि अज्ञान से उपहित चैतन्य ही आत्मा है इस मत के समर्थन में ग्रन्थकार ने भाट्टों के एक अभिमत युक्ति का उल्लेख किया है, जिसका अर्थ यह है कि 'जो प्रज्ञानघन होता है वही आनन्दमय होता है' अतः आनन्दमय को आत्मा बताने वाली पूर्वोक्त श्रुति का पर्यवसान इस प्रतिपादन में होता है कि जो प्रज्ञानघन है वह आत्मा है, प्रज्ञान का अर्थ है प्रकृष्ट रूप से घनीभूत ज्ञान। ज्ञान की घनता है चैतन्य की प्रमाणव्यापार से जन्य बुद्धियों से मुक्त होकर शुद्ध चैतन्य के रूप में अवस्थित होना, ज्ञान की यह घनता मनुष्य की सुषुप्ति के उस समय सम्पन्न होती है जब सभी प्रमाण विरतव्यापार होते हैं। जागरण की अपेक्षा स्वप्न में भी ज्ञान की घनता होती है क्योंकि उस समय केवल मनोव्यापारमूलक ही ज्ञानका उदय होता है, अन्य प्रमाणों के व्यापार से होने वाले ज्ञानों से उस समय भी आत्मा-चैतन्य मुक्त रहता है, इस घनता से सुषुप्तिसमय की घनता का उत्कर्ष बताने के लिये प्रज्ञानघन शब्द का प्रयोग किया गया है।

अपरो बौद्धः "असदेवेदमग्र आसीत्" इत्यादिश्रुतेः सुषुप्तौ सर्वाभावादहं सुषुप्तौ नासमित्युत्थितस्य स्वाभावपरामर्शविषयानुभवाच्च शून्यमात्मेति वदति ॥ १९ ॥

दात्मन्येव सुषुप्तावशेषविज्ञानाभाववत्त्वमपि कल्प्यतेऽतस्तत्राप्रकाशो द्रव्यांशश्चास्तीति भावः। ननु सुषुप्तावेवात्मनो ज्ञानाज्ञानरूपत्वं नावस्थान्तर इत्याशङ्कामनुभवाभिनयेन प्रत्याचष्टे—मामहमिति। अहमित्यात्मनि कर्तरि भासमानेऽपि मां न जानामीत्यनुपसंहृतविशेषस्य तस्यैव कर्मत्वमपि तस्मिन्नेव ज्ञाने भासत इत्यवस्थान्तरेऽपि द्व्यात्मक आत्मेत्यभिप्रायः। ज्ञानस्यात्मधर्मत्वेऽपि न ततोऽत्यन्तभेदस्तादात्म्याङ्गीकारात्। समवायस्य च समवायिभ्यां सह सम्बद्धत्वासम्बद्धत्वविकल्पासहत्वेनाप्रामाणिकत्वादिति भावः॥

उक्त श्रुति के अतिरिक्त एक युक्ति द्वारा भी इस मत के समर्थन की बात ग्रन्थकार ने कही है वह यह है कि सुषुप्ति के समय प्रकाश-ज्ञान और अप्रकाश-ज्ञान का अभाव, दोनों का अस्तित्व होता है क्योंकि उस समय जागरण काल में अनुभूत वस्तुओं का ज्ञान से संबन्ध यदि सर्वथा समाप्त हो जायगा तो ज्ञान का संरक्षण न मिलने से उन वस्तुओं की पूर्ण निवृत्ति हो जाने से सोकर उठने के बाद पुनः उनका अवबोध न होगा। अतः स्थायी चैतन्य के रूप में उस समय ज्ञान का अस्तित्व मानकर संस्कार द्वारा वस्तुओं को उससे जोड़ रखना आवश्यक है, इसी प्रकार सुषुप्ति के समय अप्रकाश–ज्ञान का अभाव मानना भी आवश्यक है अन्यथा उस समय भी जागरणकाल के समान ही मनुष्य के शरीर में विविध चेष्टाओं के उदय की आपत्ति होगी अतः ज्ञान के चैतन्य और बोध ऐसे दो भेद मान कर चैतन्य रूप ज्ञान का सद्भाव और बोधात्मक ज्ञान का अभाव मानना युक्तिसंगत है और इस युक्ति का फलितार्थ है कि अज्ञान–बोधात्मक ज्ञान के अभाव से उपहित चैतन्यात्मक ज्ञान ही आत्मा है।

ग्रन्थकार ने इस मत के समर्थक एक अनुभव का भी उल्लेख किया है, वह है, 'अहं मां न जानामि—मैं अपने को नहीं जानता' यह अनुभव, इसमें भासित होने वाला अहं है चैतन्य और 'मां न जानामि' इस रूप में भासित होने वाला अहमर्थ के ज्ञान का अभाव है अहमर्थ के बाह्यप्रत्यक्षमूलक ज्ञान का अभाव।

अनुवाद—

अन्य बौद्ध का कहना है कि 'यह जगत् पूर्वकाल में केवल असत् ही था' इस आशय की श्रुति से तथा सुषुप्ति के समय सबका अभाव होने से एवं सुप्तोत्थित मनुष्य को 'सुषुप्ति में मैं नहीं था' इस प्रकार अपने अभाव के अनुभव से यह सिद्ध है कि आत्मा शून्य है।

एतेषां पुत्रादीनामनात्मत्वमुच्यते। एतैरतिप्राकृतादिवादिभिरुक्तेषु श्रुतियुक्त्यनुभवाभासेषु पूर्वपूर्वोक्तश्रुतियुक्त्यनुभवाभासानामुत्तरोत्तरश्रुतियुक्त्यनुभवाभासैरात्मत्वबाधदर्शनात्पुत्रादीनामनात्मत्वं स्पष्टमेव। किञ्च प्रत्यगस्थूलोऽचक्षुरप्राणोऽमना अकर्ता चैतन्यं चिन्मात्रं

माध्यमिकमतमुत्थापयति—अपरो बौद्ध इति। इदं नामरूपात्मकं जगदग्रे सृष्टेः प्राक्काले ऽसच्छून्यमेवासीदिति बौद्धाभिप्रायेण श्रुतेरर्थः। युक्तिमाह—सुषुप्ताविति। तामेव स्वानुभवोपन्यासेन द्रढयति—अहमिति। अतः शून्यमात्मा सर्वाभावरूपो न द्रव्यबोधात्मक इति भावः॥ १९॥

एवं प्रत्यगात्मत्वाधिष्ठानं मतभेदेनोपन्यस्तं दूषयितुमारभते—एतेषामिति। तत्र तावत्पूर्वपूर्ववादिमतमुत्तरोत्तरवादिमतेन दूषितमिति पुत्रादिशून्यपर्यन्तस्यानात्मत्वं तैरेव वादिभिः स्फुटीकृतमित्याह—एतैरिति। ननु

व्याख्या—

इस ग्रन्थांश से बौद्ध दर्शन के माध्यमिक मत को प्रस्तुत किया गया है। माध्यमिक बौद्ध दर्शन का शून्यवादी सम्प्रदाय है जिसकी मान्यता है कि जो कुछ देखने सुनने या चर्चा में आता है उसकी कोई भावात्मक सत्ता नहीं है, शून्यता ही परमार्थ है, किसी भावात्मक पदार्थ के अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं है, फलतः आत्मा का भी भावरूप में अस्तित्व अप्रामाणिक है, वह भी सर्वथा शून्य है, न वह द्रव्य है और न वह ज्ञानात्मक गुण है, उसकी इस मान्यता में उस श्रुति का भी अनुमोदन मिल जाता है जो जगत् की प्रत्यक्ष अनुभूति के पूर्व केवल असत्-शून्य के ही होने का प्रतिपादन करती है।

इसके अतिरिक्त उसके समर्थन में कुछ युक्तियाँ भी हैं, जैसे एक युक्ति है सुषुप्ति के समय सबका अभाव हो जाना, यहाँ तक कि सुषुप्त आत्मा का भी अभाव हो जाना, जिसमें सोकर उठे मनुष्य को होने वाली अभावावस्था का अनुभव साक्षी है, गाढ़ निद्रा से उठा मनुष्य यह अनुभव करता है कि वह सोते समय असत् था, क्योंकि उस समय यदि उसका कोई कार्य होता तो उसकी उसे जानकारी होती, पर सुप्तोत्थित मनुष्य को यह निर्विवाद अनुभव होता है कि वह सोते समय था ही नहीं, यदि उसका कोई स्वरूप उस समय स्वीकृत हो सकता है तो यही कि वह शून्यात्मक है।

अनुवाद—

इन पुत्र आदि की आत्मभिन्नता बतायी जा रही है, इन अतिप्राकृत आदि वादियों द्वारा प्रस्तुत किये गये श्रुत्याभास, युक्त्याभास और अनुभवाभासों में पूर्व पूर्व में उक्त श्रुत्याभास, युक्त्याभास, अनुभवाभासों का बाद में कथित श्रुति, युक्ति, अनुभवाभासों से बाध होने से उनके साक्ष्य से बताये गये आत्मपदार्थों में आत्मत्व के बाधदर्शन से पुत्र आदि की अनात्मरूपता अत्यन्त स्पष्ट है। दूसरी बात यह है कि आत्मा **अस्थूल—स्थूल शरीर से भिन्न, अचक्षु—चक्षु आदि इन्द्रियों से भिन्न, अप्राण-प्राण से**

सदित्यादिप्रबलश्रुतिविरोधादस्य पुत्रादिशून्यपर्यन्तस्य जडस्य चैतन्यभास्यत्वेन घटादिवदनित्यत्वादहं ब्रह्मेति विद्वदनुभवप्राबल्याच्च तत्तच्छ्रुतियुक्त्यनुभवाभासानां बाधितत्वादपि पुत्रादिशून्यपर्यन्तमखिलमनात्मैव। अतस्तत्तद्भासकं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावं प्रत्यक्चैतन्यमेवात्मवस्त्विति वेदान्तविद्वदनुभवः। एवमध्यारोपः॥२०॥

कथं वावदूकविवाददर्शनमात्रेण पुत्रादीनां शून्यपर्यन्तानामनात्मत्वमवधारयितुं शक्यते श्रुतियुक्त्यनुभवानां प्रत्येकमुपन्यस्तत्वादित्याशङ्क्य सत्यमुपन्यस्तास्तैः श्रुत्यादयः किन्तु ते सर्व एवाभासाः पुत्रादिशून्यपर्यन्तातिरिक्तप्रत्यगात्मस्वरूपसमर्पकप्रबलश्रुतियुक्त्यनुभवविरोधादित्याह—किञ्चेति। न केवलं परस्परविगीतत्वादेव पुत्रादीनामनात्मत्वं किन्तु प्रबलश्रुत्यादिभिः पूर्वेषां श्रुत्यादीनां बाधितत्वादपीति योजना। तत्र "आत्मा वै पुत्रनामासि" इतिश्रुतेः प्रत्यक्श्रुत्या बाधः। प्रत्यक्त्वं नाम सर्वान्तरत्वम्। "स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय" इतिश्रुतेरस्थूलश्रुत्या बाधः। "ते ह प्राणाः प्रजापतिं" इत्यादिश्रुतिसामर्थ्यसिद्धमिन्द्रियात्मत्वस्याचक्षुरित्यादिना बाधः। "अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमय", "अन्योऽन्तर आत्मा मनोमय" इत्यनयोरप्राणोऽमना इत्याभ्यां बाधः। "अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमय" इत्यस्याः श्रुतेरकर्तेत्यनेन बाधः। अन्योऽन्तर आत्मानन्दमय" इत्यस्याश्चैतन्यमित्यनेन बाधः। "प्रज्ञानघन एवानन्दमय" इत्यस्याश्चिन्मात्रमित्यनेन बाधः। "असदेवेदं" इत्यस्याः सदित्यनेन बाध इति प्रत्येकं योजनीयम्। अत्रोदाहृतश्रुतीनामित्थमक्षरविन्यासाः क्रमेण द्रष्टव्याः। "कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्", "अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्", "अचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्", "अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः", "अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता", "न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाहम्", "चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः", "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्", "सत्यं स आत्मा" इति॥ आदि-

---

भिन्न, अमना—अन्तःकरण से भिन्न, अकर्ता-कर्ता से भिन्न, चैतन्य-प्रकाशात्मक, चिन्मात्र—केवल चित्स्वरूप और सत्-शून्य से भिन्न है, इस आशय की प्रबल श्रुतियों के विरोध से, पुत्र आदि से लेकर शून्य पर्यन्त दृश्यमान जड़ के चैतन्यभास्य होने से घट आदि के समान अनित्य होने से, 'मैं ब्रह्मरूप हूँ' विद्वानों के इस प्रबल अनुभव से उन उन श्रुति, युक्ति, अनुभवाभासों का बाध होने से भी पुत्र आदि से लेकर शून्य पर्यन्त समस्त अनात्मा ही है, अतः वेदान्त के विद्वानों का यह अनुभव है कि उन उन पुत्र आदि पदार्थों का भासक नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्यस्वभाव—प्रत्यक् चैतन्य ही आत्मरूप वस्तु है। यह अध्यारोप का प्रकार है।

व्याख्या—

अब यह बताना है कि पुत्र आदि जिन पदार्थों को विभिन्न वादियों ने आत्मा

शब्दात् "एष स आत्मा सर्वान्तरः", "अशरीरं शरीरेषु", "प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः", "केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः", "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह", "न करोति न लिप्यते", "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च", "कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव", "सन्तमेनं ततो विदुः" इत्याद्याः श्रुतयः संगृह्यन्ते ॥

इदमत्रानुसन्धेयम् । पुत्रात्मश्रुतिस्तु देहावलम्बिनीति तस्या गौणार्थत्वं स्पष्टमेव । "ते ह प्राणा" इतिश्रुतिरर्थवादत्वान्न स्वार्थपरा । अन्नमयाद्यानन्दमयान्तश्रुतेर्मुञ्जादिषीकावत्सर्वान्तरब्रह्मपुच्छशब्दवाच्यात्मप्रतिपत्त्युपायार्थत्वेनोपन्यस्तत्वान्न तस्याः स्वार्थपरत्वम् । प्रत्यगादीनां सिद्धान्त्युपन्यस्तश्रुतिवचनानां तु वक्ष्यमाणोपक्रमादिलिङ्गैरात्मयाथात्म्यपरत्वमिति युक्तं प्राबल्यमिति ॥

कहा है वे पदार्थ वस्तुतः आत्मा नहीं हैं, आत्मा उन सब से भिन्न है, यद्यपि यह सच है कि अतिप्राकृत आदि सभी वादियों ने अपने मतों को श्रुति, युक्ति और अनुभव के आधार पर प्रस्तुत करने की चेष्टा की है, तथापि यह स्पष्ट है कि पुत्र आदि को आत्मा सिद्ध करने लिये वादियों ने जिन श्रुति, युक्ति और अनुभवों को साक्षी रूप में प्रस्तुत किया है वे शुद्ध, श्रुति, युक्ति, अनुभव नहीं हैं किन्तु श्रुति, युक्ति, अनुभवाभास हैं, पुत्र आदि को आत्मरूप सिद्ध करने में वे वास्तव साक्षी नहीं हैं, आपाततः केवल ऐसा आभास होता है कि उनसे पुत्र आदि की आत्मरूपता का प्रतिपादन होता है, क्योंकि वादियों द्वारा पुत्र आदि को आत्मा सिद्ध करने के लिये जिन श्रुति, युक्ति, अनुभवों को प्रस्तुत किया गया है वे स्वयं एक दूसरे को काटती हैं अतः उनमें किसी श्रुति, युक्ति और अनुभव को उस मन्तव्य का समर्थक प्रमाण नहीं माना जा सकता जिसके समर्थन में उनका उपन्यास हुआ है, इस प्रकार वादियों द्वारा उपस्थापित श्रुति, युक्ति और अनुभव जब परस्पर विरोधी हैं, तब यह अत्यन्त स्पष्ट है कि उनसे पुत्र आदि को आत्मा नहीं सिद्ध किया जा सकता, अतः यह कहने में कोई संकोच नहीं हो सकता कि पुत्र आदि निश्चित रूप से अनात्मा हैं, उनमें किसी को भी आत्मा सिद्ध करने के लिये कोई प्रमाण प्राप्त नहीं है ।

यह ज्ञातव्य है कि पुत्र आदि आत्मा नहीं हैं, यह निष्कर्ष केवल इसी बात पर आधारित नहीं है कि पुत्र आदि की आत्मरूपता का समर्थन करने के लिये वादियों द्वारा जिन श्रुति, युक्ति और अनुभवों को साक्षी रूप में प्रस्तुत किया गया है, वे एक दूसरे का विरोध करती हैं, अपितु इस तथ्य पर आधारित है कि आत्मा को पुत्र आदि से भिन्न बताने वाले अनेक प्रमाण श्रुति, युक्ति और अनुभवों के रूप में उपलब्ध हैं जिनसे आपाततः पुत्र आदि को आत्मरूप बताते हुए प्रतीत होने वाले श्रुति आदि प्रमाणाभासों का बाध हो जाता है, जैसे—'आत्मा वै पुत्रनामासि' इस पुत्रात्मवादिनी श्रुति का 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्—कोई कोई वीर पुरुष प्रत्यक्—सर्वापेक्षया

पुत्रादिशून्यपर्यन्तं न नित्यं जडत्वाद्घटादिवत्। नित्यश्चात्मा तदनित्यत्वेऽकृताभ्यागमकृतविनाशप्रसङ्गात्। अतो न पुत्रादीनामात्मत्वमिति युक्तिमाह—अस्येति। जडत्वमुपपादयति—चैतन्यभास्यत्वेनेति। न चात्मनोऽपि चैतन्यभास्यत्वं कर्मकर्तृभावविरोधात्। कर्तृत्वं हि क्रियां प्रति गुणभावः कर्मत्वं तु प्राधान्यम्। तथा चैकस्यां क्रियायामेकस्यात्मनो युगपद्विरुद्धधर्माश्रयत्वे वैरूप्यप्रसङ्गः। नापि ज्ञानाश्रयत्वेनात्मनो भावः सम्भवति। ज्ञानभिन्नस्य ज्ञानकर्मत्वेनैवापरोक्षत्वनियमात्। नापि नित्यानुमेयोऽसन्दिग्धत्वात्। न हि कदाचिदात्मन्यहमस्मि नास्मि वेति संदेहः कस्यचिद्दृश्यते। परिशेषात्स्वयम्प्रकाश इति न तस्य चैतन्यभास्यता। श्रुतयश्च भवन्ति स्वप्रकाशसाधिकाः परप्रकाश्यतानुमानविरोधिन्यः। "न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः", "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्", "अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि", "अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः", "आत्मैवास्य ज्योतिः", "अप्राप्य मनसा सह", "यन्मनसा न मनुते" इत्येवमाद्याः ॥

निकटतम आत्मा को देखता है' इस श्रुति से बाध होता है, क्योंकि यह श्रुति सर्वापेक्षया निकटतम को आत्मा कहती है और पुत्र सर्वापेक्षया निकट नहीं है वह तो पिता के शरीर की अपेक्षा पिता से स्पष्ट ही दूर है, 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः—यह पुरुष जिसकी चर्चा की गयी, अन्नरसों से बना है' इस देहात्मवादिनी श्रुति का 'अस्थूलमनणवह्रस्वमदीर्घम्—आत्मा स्थूल नहीं है, अणु नहीं है, ह्रस्व-छोटा नहीं है, दीर्घ-लम्बा नहीं है' आत्मा में स्थौल्य आदि शरीरधर्मों का अभाव बताने वाली इस श्रुति से बाध होता है, 'ते ह प्राणाः प्रजापतिम्—उन इन्द्रियों ने प्रजापति से कहा' इन सब श्रुतियों के बल से समर्थित इन्द्रियात्मवाद का 'अचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्—आत्मा चक्षु, श्रोत्र आदि से भिन्न हैं एवं कर, चरण आदि से भिन्न है' आत्मा को ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय से भिन्न बताने वाली इस श्रुति से बाध होता है, 'अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः—पूर्व से भिन्न निकटस्थ प्राण आत्मा है' 'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः—पूर्व से भिन्न निकटवर्ती मन आत्मा है' इन प्राणात्मवाद और मनश्चैतन्यवाद का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों का 'अप्राणो ह्यमना शुभ्रः—आत्मा प्राण और मन से भिन्न तथा शुभ्र—निर्विकार है' आत्मा को प्राण और मन से भिन्न बताने वाली इस श्रुति से बाध होता है, 'अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः—पूर्व से भिन्न निकटवर्ती विज्ञान आत्मा है' कर्ता विज्ञान को आत्मा बताने वाली इस श्रुति का 'अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्त्ता-आत्मा अनन्त—अन्तहीन, बहुरूप और अकर्ता है—आत्मा को अकर्ता-कर्ता विज्ञान से भिन्न बताने वाली इस श्रुति से बाध होता है। प्राभाकर और तार्किक पक्ष से प्रस्तुत की गई 'अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः—पूर्व से भिन्न समीपस्थ आनन्दमय आत्मा को अज्ञानरूप बतानेवाली इस श्रुति

ननु न चायमात्माणुपरिमाणवांस्तथा सति सकलशरीरव्यापिचैतन्यानुपलम्भप्रसङ्गात्। नापि मध्यमपरिमाणो मध्यमपरिमाणवतः सावयवत्वेनानित्यत्वप्रसङ्गात् "एवं चात्माकार्त्स्न्यं" इतिन्यायनिरस्तत्वाच्च। नापि परममहत्परिमाण उत्क्रान्तिगत्यागतिश्रुतिविरोधात्। अतः किम्परिमाणोऽयं प्रत्यगात्मेति। उच्यते। स्वतस्तावदखण्डब्रह्मात्मस्वभावत्वात् "स वा एष महानज आत्मा" इत्यादिश्रुतेश्च परममहत्परिमाण एव। ब्रह्मात्मस्वभावत्वं चास्य प्रवेशश्रुतिभ्यः। "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" "स एवमेव सीमानं, विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत", "स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः", "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य", "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते", "एको देवो बहुधा सन्निविष्टः", "यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्। उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा", "पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः। पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्", "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव", "अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव" इत्येवमादिभ्यः।

"क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि..........।।",
"अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।।",
"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" ।।

का 'न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाऽहम्––मेरा कोई ज्ञाता नहीं है, मैं सदा चैतन्यरूप हूँ' आत्मा को चैतन्यरूप बताने वाली इन श्रुतियों से बाध होता है। भाट्टों द्वारा उपस्थापित 'प्रज्ञानघन एवानन्दमयः––आनन्दमय प्रज्ञानघन ही आत्मा है' अज्ञान से उपहित चैतन्य को आत्मा बताने वाली इस श्रुति का 'चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः––मैं सदा शुद्धचैतन्य रूप शिव हूँ' शुद्ध चैतन्यमात्र को आत्मा बताने वाली इस श्रुति से बाध होता है, शून्यवादी बौद्ध द्वारा प्रस्तुत की गई 'असदेवेदमग्र-आसीत्––सृष्टि से पूर्व केवल शून्य ही था' शून्य को आत्मा बताने वाली इस श्रुतिका 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्–सृष्टि से पूर्व केवल सत् ही था' आत्मा को सृष्टि से पूर्व भी सत् बतानेवाली इस श्रुति से बाध होता है।

प्रश्न हो सकता है कि श्रुति यदि प्रमाण है तो उसके सभी बचनों को प्रमाण मानना होगा, क्योंकि एक ऋचा को प्रमाण और दूसरे को अप्रमाण मानने में कोई युक्ति नहीं है अतः पुत्र आदि को आत्मा बताने वाली श्रुतियों को अन्य श्रुतियों से बाधित बताना संगत नहीं है, इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि जब एक श्रुतिवाक्य का अन्य श्रुतिवाक्य से बाध माना जायगा तो पुत्र आदि को आत्मा बताने वाली श्रुतियों से अन्य श्रुतियों का भी बाध मानना सम्भव होने से पुत्रात्मवाद, देहात्मवाद आदि का खण्डन नहीं किया जा सकता, अतः विवश होकर इस निष्कर्ष पर पहुँचना होगा कि श्रुतियों से आत्मा का कोई निश्चित स्वरूप नहीं सिद्ध किया जा सकता।

इत्यादिस्मृतिभ्यश्च। संसारित्वावस्थायामेव तस्योपाधिनिबन्धनं परिच्छिन्नपरिमाणम्। तच्च यथोपाध्यनुरूपत्वादनियतम्। तथा च दर्शयति श्रुतिः—

"अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः",
"आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः"॥,
"वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेय..........."॥,
"नैव स्त्री न पुमानेष नैव चायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते"॥

इत्यादिवचनैः। "स च प्रतिशरीरमभिन्न एव", "एको देवो बहुधा सन्निविटः", एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति", "एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति", "त्वमेकोऽसि बहुतनुप्रविष्टः", "इन्द्रस्यात्मानं शतधा चरन्तम्", "एकः सम्वहुधा विचारः" इत्यादिश्रुतिशतेभ्यः। तस्माद्देहेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्यव्याकृतविलक्षणस्तत्साक्षी चिद्धातुः सद्रूपः प्रत्यगात्मेति निश्चितोऽर्थः।

अनुभवप्राबल्यं दर्शयति—अहमिति "तं न पश्यन्त्यकृत्स्नो हि स प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति" इत्युपक्रम्य, प्राणाद्यात्मविज्ञानमकृत्स्नविषयतादोषेण निन्दित्वान्ते तु "आत्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति" इति कृत्स्नात्मस्वभावं वेदितव्यं निर्दिश्य "तदेतत्पदनीयस्य सर्वस्य यदयमात्मा" इति तदतिरिक्तस्य ज्ञातव्यस्यानवशेषं दर्शयन्ती श्रुतिस्तद्विज्ञानवत एव विद्वत्तां सूचयति। तथोत्तरत्रापि "तदाहुर्यद्ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या किमु तद्ब्रह्मावेत्" इत्याक्षिप्य 'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्" इति च विद्वदनुभवत्वं ब्रह्मात्मज्ञानस्य दर्शयति। अत इतोऽर्वाक्षु देशेषु प्रत्यगात्मत्वाभिमानो भ्रान्तिरिति भावः। प्रत्यगात्मविषयारोपमुपसंहरति—अत इति। वेदान्तविद्वदनुभव इति विशेषणेन मतान्तरेऽनुभवस्य मूलप्रमाणशैथिल्यं सूचयति। अध्यारोपप्रकरणमुपसंहरति—एवमिति॥ २०॥

इस प्रश्न के उत्तर में वेदान्ती विद्वानों का कहना है कि यह सत्य है कि श्रुति के सभी ऋचाओं के समानरूप से प्रमाण होने से आत्मा की परस्पर विरुद्ध विविधरूपता बताने वाले श्रुतिवचनों से आत्मा का निश्चित स्वरूप जान पाने में कठिनाई प्रतीत होती है, परन्तु थोड़ा विचार करने पर इस कठिनाई का अस्तित्व समाप्त हो जाता है, कहने का आशय यह है कि सभी श्रुतिवाक्यों के मोटे अर्थ को ग्रहण करने पर कठिनाई अवश्य है पर उसके तात्पर्यार्थ को ग्रहण करने पर कठिनाई नहीं रह जाती, जैसे यह कहा जा सकता है कि मनुष्य की आत्मा वही वस्तु है जो उसे सर्वाधिक प्रिय है क्योंकि वह अपनी आत्मा के लिये ही संसार की सारी कठिनाइयों को झेलता है, सब प्रकार उसी को तुष्ट करने के प्रयत्न में निरन्तर लगा रहता है, किसी भी वस्तु से प्रेम वह उसी के लिये करता है, अतः जो श्रुतिवाक्य सर्वान्तर को—अन्य सभी की

अपवादो नाम रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्ववद्वस्तुविवर्तस्यावस्तुनोऽज्ञानादेः प्रपञ्चस्य वस्तुमात्रत्वम्। तदुक्तम्—

"सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदाहृतः" इति ॥

तथाहि एतद्भोगायतनं चतुर्विधसकलस्थूलशरीरजातं भोग्यरूपान्नपानादिकमेतदायतनभूतभूरादिचतुर्दशभुवनान्येतदायतनभूतं ब्रह्माण्डं चैतत्सर्वमेतेषां कारणरूपं पञ्चीकृतभूतमात्रं भवति। एतानि

एवमध्यारोपं सप्रपञ्चं निरूप्यापवादमिदानीं निरूपयिष्यंस्तल्लक्षणमाह अपवादो नामेति। कार्यस्य कारणमात्रसत्तावशेषणं कारणस्वरूपव्यतिरेकेण

अपेक्षा प्रियतम को आत्मा बताता है, वही आत्मा के स्वरूप का निर्णायक वाक्य है, आत्मा के सम्बन्ध में कुछ चर्चा करनेवाले अन्य सभी वाक्य मोटे तौर पर चाहे जो भी कहते हों पर तात्पर्य की दृष्टि से वे सब उसी वाक्य के प्रतिपाद्य आत्मस्वरूप के बोधक हैं जो सर्वान्तिर को आत्मा बताता है, यह बात अरुन्धती तारा को दिखाने की प्रक्रिया से स्पष्ट अवगत हो सकती है, कहने का आशय यह है कि जैसे अरुन्धती को पहचानने वाला व्यक्ति जब किसी अन्य व्यक्ति को अरुन्धती की पहचान कराने को उद्यत होता है तब अरुन्धती के अतिसूक्ष्म तारा होने से सहसा उस पर नये व्यक्ति की दृष्टि आकृष्ट करना सम्भव न होने से वह उसके समीपस्थ अन्य सात स्थूल तारावों को ही अरुन्धती बताते हुए क्रम से वास्तव अरुन्धती की पहचान कराता है, तो जैसे उसका स्थूल तारा को अरुन्धती कहना आपाततः असत्य होता है किन्तु वास्तव अरुन्धती बोध कराने में सहायक होने से तात्पर्यतः असत्य नहीं होता, उसी प्रकार सर्वान्तिर को आत्मा बताने में सहायक होने से पुत्र आदि को आत्मा बताने वाले श्रुतिवाक्य भी तात्पर्यतः असत्य या अप्रमाण नहीं हो सकते, कहने का अभिप्राय यह है कि जो मनुष्य को सर्वाधिक प्रिय होने से उसकी आत्मा है उसका सहसा बोध करा देना सम्भव न होने से पुत्र, शरीर आदि प्रिय वस्तुओं से आरम्भ कर सर्वाधिक प्रिय तक जिज्ञासु की बुद्धि आकृष्ट की जाती है जिससे जिज्ञासु को आत्मा के वास्तव स्वरूप को समझने में किसी कठोर आयास का अनुभव नहीं होता।

अनुवाद—

अपवाद का अर्थ है रस्सी के विवर्त सांप का रस्सीमात्र होने के समान वस्तु के विवर्त-अज्ञान आदि अवस्तु भूत जगत् का वस्तुमात्र होना, जैसा कहा गया है कि किसी पदार्थ का अन्यथा प्रथमान तात्त्विक रूप विकार कहा गया है और अन्यथा प्रथमान अतात्त्विक रूप विवर्त कहा गया है। भोग का आश्रय चार प्रकार का सम्पूर्ण स्थूल शरीर, अन्न, पान आदि भोग्य, इनका आश्रय भू आदि चौदह लोक, इनका

शब्दादिविषयसहितानि पञ्चीकृतानि भूतानि सूक्ष्मशरीरजातं चैतत्सर्वमेतेषां कारणरूपापञ्चीकृतभूतमात्रं भवति। एतानि सत्त्वादि-गुणसहितान्यपञ्चीकृतान्युत्पत्तिव्युत्क्रमेणैतत्कारणभूताज्ञानोपहित - चैतन्यमात्रं भवति। एतदज्ञानमज्ञानोपहितं चैतन्यं चेश्वरादिकमेतदा-धारभूतानुपहितचैतन्यरूपं तुरीयं ब्रह्ममात्रं भवति ॥ २१ ॥

कार्यस्यासत्तावधारणं वापवाद इत्युक्तं भवति। एवंलक्षणोऽपवादः केन क्रमे-णेत्यपेक्षायां "विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च" इतिन्यायमाश्रित्योत्पत्ति-क्रमवैपरीत्येनापवादं क्रमेण दर्शयति—तथाहीत्यादिना।

प्रत्यक्षसिद्धं चतुर्विधभूतग्रामं चरमकार्यमङ्गुल्या निर्दिशति—एतद्भो-गायतनमिति। द्वितीय एतच्छब्दोऽन्नादिविषयः। आदिशब्दः पानादिसङ्-ग्रहार्थः। पृथिवी गन्धतन्मात्रात्मिका रसतन्मात्रात्मिकाम्मात्रं भवति। आपश्च ता रूपतन्मात्रात्मकतेजोमात्रं भवन्ति। तच्च तेजः स्पर्शतन्मात्रात्मकवायुमात्रं भवति। स च वायुः शब्दतन्मात्रात्मकाकाशमात्रं भवति। स चाकाशः स्व-कारणभूताज्ञानोपहितचैतन्यमात्रं भवतीति। एतदाधारेत्यत्रैतच्छब्दोऽज्ञान-तदुपहितचैतन्यविषयः। एतदाधारेत्यादिब्रह्मान्तानां पदानां कर्मधारयः। तथा च स्मृतिश्रुती भवतः—

शब्द आदि विषयों सहित ये पञ्चीकृत भूत और सूक्ष्म शरीर समूह ये सब इनका कारण अपञ्चीकृत भूतमात्र हो जाता है, सत्त्व आदि गुणों से सहित ये अपञ्चीकृत भूत उत्पत्ति से विपरीत इनके कारण अज्ञान से उपहित चैतन्यमात्र हो जाता है, यह अज्ञान इससे उपहित ईश्वर आदि चैतन्य इनका आधार अनुपहित चैतन्य स्वरूप चतुर्थ ब्रह्ममात्र हो जाता है। यह सब इनका कारण पञ्चीकृत भूतमात्र हो जाता है। आधार ब्रह्माण्ड,

व्याख्या--

प्रत्यक्ष दृश्यमान शरीर के चार प्रकार होते हैं, जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज। जरायु का अर्थ है गर्भ को ढकने वाला चमड़े का थैला, उससे जो शरीर उत्पन्न होता है उसे जरायुज कहा जाता है, मनुष्य, पशु आदि का शरीर इसी वर्ग में आता है, अण्डे से जो शरीर उत्पन्न होता है उसे अण्डज कहा जाता है, पक्षी, सर्प आदि का शरीर इस वर्ग में आता है, स्वेद पसीना आदि से जो शरीर उत्पन्न होता है उसे स्वेदज कहा जाता है, यूका, मत्कुण, मशक आदि का शरीर इस वर्ग में आता है, ऊपर की ओर भूमि को फाड़ कर जो शरीर उत्पन्न होता है उसे उद्भिज्ज कहा जाता है, इस वर्ग में पेड़, पौधे आदि का समावेश होता है, चारों प्रकार का यह स्थूल शरीर भोग का आश्रय होता है, भोग का अर्थ है सुख, दुःख का अनुभव, यह अनुभव स्थूल शरीर में ही उत्पन्न होता है स्थूल शरीर के अभाव में इस अनुभव का ज्ञान नहीं होता, इसीलिये इसे भोगायतन कहा जाता है।

आभ्यामध्यारोपापवादाभ्यां तत्त्वम्पदार्थशोधनमपि सिद्धं भवति। तथाहि अज्ञानादिसमष्टिरेतदुपहितं सर्वज्ञत्वादिविशिष्टं चैतन्यमेतदनुपहितं चैतन्त्रयं तप्तायःपिण्डवदेकत्वेनावभासमानं तत्पद-

---

अन्न, पान आदि भोग्य हैं क्योंकि इनके सेवन से ही भोग का उदय होता है, भोग्य का लक्षण ही यही है कि जिसके सेवन से सुख या दु:ख का अनुभव हो वह भोग्य है, भू आदि चौदहों लोक भोग्य और भोगायतन का आश्रय है क्योंकि इन लोकों में हो स्थूल शरीर एवं अन्न पान आदि की उत्पत्ति होती है। ब्रह्माण्ड इन सभी का अर्थात् अन्न, पाक आदि भोग्य पदार्थ, चार प्रकार के स्थूल शरीर और भू आदि चौदह लोक का आधार है, क्यों ब्रह्माण्ड में ही ये सब उत्पन्न तथा आश्रित होते हैं, पञ्चीकृत भूत इन सभी के कारण हैं, कारण से कार्य का पृथक् अस्तित्व नहीं होता अत: उक्त सभी पदार्थ वस्तुत: पञ्चीकृत भूतात्मक है, पञ्चीकृत भूत आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी इनके गुण शब्द आदि विषय इन सब का कारण है अपञ्चीकृत भूत--शुद्ध आकाश आदि, अत: शब्द आदि सहित पञ्चीकृत भूत वास्तव में अपने कारण अपञ्चीकृत भूत से भिन्न नहीं है। अपञ्चीकृत भूत शुद्ध आकाश आदि तत्त्व आदि गुणों से उत्पन्न होते हैं और सत्त्व आदि गुण अज्ञान से उपहित चैतन्य से उद्गत होते हैं अत: अपञ्चीकृत भूत अपने जनक सत्त्व आदि गुणों सहित इन सबके जनक अज्ञानोपहित चैतन्य मात्र है, सम्पूर्ण कार्यों का अज्ञान से उपहित चैतन्य मात्र में जो पर्यवसान होता है वह उत्पत्ति क्रम से विपरीत होता है अर्थात् जिस कार्य की उत्पत्ति जिस कारण से होती है उसी में उसका पर्यवसान होता है, पञ्चीकृत भूतों से उत्पन्न स्थूल शरीर, अन्न पान आदि, भू आदि चौदह लोक और ब्रह्माण्ड का पर्यवसान पञ्चीकृत भूतों में, शब्द आदि विषयों से सहित पञ्चीकृत भूत और समस्त सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति अपञ्चीकृत भूतों से होती है अत: उन सब का पर्यवसान उनके कारण अपञ्चीकृत भूतों में होता है, सत्त्व आदि गुणों सहित अपञ्चीकृत भूतों का जन्म अज्ञानोपहित चैतन्य से होता है अत: उन सबका पर्यवसान अज्ञानोंपहित चैतन्य में होता है, अज्ञान और ईश्वर आदि अज्ञानोपहित चैतन्य का उद्गम शरीर चैतन्य शुद्ध ब्रह्म से होता है अत: उनका पर्यवसान शुद्ध चैतन्य में होता है, निष्कर्षत: शुद्ध चैतन्य ही वस्तु है उससे भिन्न जो कुछ बुद्धि गत होता है वह सब शुद्ध चैतन्य का विवर्त है।

अनुवाद—

इस अध्यारोप और अपवाद में 'तत्' और 'त्वम्' पद के अर्थों का शोधन होता है, उन पदों के शुद्ध अर्थ की प्रतीति होती है, जैसे अज्ञान आद की समष्टि, इस सबसे उपहित सर्वज्ञत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य एवं अज्ञान आदि से अनुपहित चैतन्य ये तीनों तप्त अय:पिण्ड के समान एकीभूत होकर प्रतीयमान होने पर तत् पद का

वाच्यार्थो भवति । एतदुपाध्युपहिताधारभूतमनुपहितं चैतन्यं तत्पद-लक्ष्यार्थो भवति । अज्ञानादिव्यष्टिरेतदुपहितालपज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्य-मेतदनुपहितं चैतत्त्रयं तप्तायःपिण्डवदेकत्वेनावभासमानं त्वम्पद-वाच्यार्थो भवति । एतदुपाध्युपहिताधारभूतमनुपहितं प्रत्यगानन्दं तुरीयं चैतन्यं त्वम्पदलक्ष्यार्थो भवति ॥ २२ ॥

"जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते ।
ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते ॥
वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते प्रलीयते ।
अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निष्कले सम्प्रलीयते" ॥ इति,
"पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः" ॥ इति च ॥ २१ ॥

अध्यारोपापवादनिरूपणे फलितमाह—आभ्यामिति । ब्रह्मात्मचैतन्यस्या-द्वितीयप्रत्यग्रूपतानिरूपणार्थत्वादध्यारोपादिप्रपञ्चनस्य पदार्थशुद्धिरवान्तरफल-मिति सूचयितुं पदार्थशोधनमपीत्युक्तम् । तत्त्वम्पदयोः प्रत्येकं द्विविधोऽर्थो वाच्यो लक्ष्यश्चेति । तदुभयं विभज्य दर्शयति—तथाहीत्यादिना । समष्ट्यज्ञानं तदुपहित ईश्वरस्तदुभयाश्रयमनुपहितं स्वमहिम्नि प्रतिष्ठितमक्षरशब्दवाच्यं चिन्मात्रमित्येतत्त्रयं तप्तायःपिण्डवदविविक्तं तत्पदवाच्यार्थ इत्यर्थः । आदि-

---

वाच्यार्थ होता है, इन उपाधियों और इनसे उपहित का आधार होता है अनुपहित शुद्ध चैतन्य, वह तत् पद का लक्ष्यार्थ होता है ।

अज्ञान आदि की व्यष्टि, इससे उपहित अल्पज्ञत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य और इन सब से अनुपहित चैतन्य तप्त अय:पिण्ड के समान एक प्रतीत होने पर त्वम् पद का वाच्यार्थ होता है, इन उपाधियों और इनसे उपहित चैतन्य का आधारभूत अनुपहित प्रत्यग् आनन्दरूप तुरीय चैतन्य त्वम् पद का लक्ष्यार्थ होता है ।

व्याख्या—

'तत्त्वमसि' यह वेदान्त का एक महावाक्य है, इस वाक्य से तत्पदार्थ और त्वम् पदार्थ का ऐक्य बताया गया है, यह ऐक्य उन पदों के वाच्य अर्थों में सम्भव नहीं है अत: दोनों पदों से लक्षणा द्वारा एक अभिन्न अर्थ शुद्ध चैतन्य का बोध माना जाता है। इस वाक्य से तत् पद और त्वम् पद के अर्थों का बोध हो जाने पर साधक को अपने साथ ब्रह्म के ऐक्य का अनुभव होता है जिसका अभिलाप वह दूसरे महावाक्य 'अहं ब्रह्मास्मि—मैं ब्रह्म हूँ' से करता है । कहने का आशय यह है कि 'तत्त्वमसि' इस महा-वाक्य से तत्पदार्थ और त्वम् पदार्थ की एकता का बोध होता है, पर यह एकताबोध उन पदों के प्रसिद्ध अर्थ को ग्रहण करने से सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि त्वं पदार्थ के

पदात्समष्टिहिरण्यगर्भविराजौ गृह्येते। तत्राज्ञानादिर्व्यष्टिरित्यत्रादिपदात्सूक्ष्म-शरीरं स्थूलशरीरं च गृह्यते। एतदनुपहितं प्रत्यक्चितिमात्रम्। शेषं पूर्ववत्। उभयत्रापि यथायोगमव्याकृतं समष्टिस्वप्नजागरौ सुषुप्तिर्व्यष्टिस्वप्नजागरौ चेत्येवमवस्थात्रययुक्तमिति योजयितव्यम्। अज्ञानतत्कार्यसमस्तप्रपञ्चेषु सत्ता-स्फूर्तिप्रदत्वेनानुस्यूतं चित्सदानन्दाद्वयात्मकं वस्तु तत्पदलक्ष्यार्थः। देहेन्द्रिय-मनोबुद्धिप्राणाहंकृतितद्धर्मजाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थाभ्यो विलक्षणस्तत्साक्षी चिद्धातुस्त्वम्पदलक्ष्यार्थ इत्याह—एतदुपाध्युपहितेति ॥ २२ ॥

घटक अल्पज्ञत्व आदि धर्मों में तथा तत्पदार्थ के घटक सर्वज्ञत्व आदि धर्मों में एकता नहीं है और जब तक धर्मों में एकता नहीं होती तब तक उन धर्मों से विशिष्ट धर्मी में एकता नहीं हो सकती, किन्तु जब लक्षणा द्वारा त्वम् और तत् पद के अर्थों में से धर्म को त्याग कर केवल धर्मी का ग्रहण होता है तब दोनों पदों के अर्थ के घटक चैतन्य रूप धर्मी में भेद न होने से त्वम्पदार्थ और तत्पदार्थ में एकता का बोध निर्बाध रूप से सम्पन्न हो जाता है, इस एकताबोध के लिये तत् पद और त्वम् पद के शक्तिलभ्य अर्थ में से विशेषण अंश को त्याग कर विशेष्यमात्र का जो ग्रहण होता है उसे ही उन पदों के अर्थों का शोधन कहा जाता है, यह शोधन अध्यारोप और अपवाद से सिद्ध होता है।

कहा जा चुका है कि वस्तु में अवस्तु की कल्पना अध्यारोप है और अवस्तु का परित्याग कर वस्तुमात्र का ग्रहण अपवाद है, यह भी कहा जा चुका है कि चैतन्य लक्षण शुद्ध ब्रह्म ही वस्तु है, उसका अज्ञान और उस अज्ञान से अन्य समस्त बातें अवस्तु हैं। चैतन्य में अज्ञान की कल्पना अनादि है और अज्ञानमूलक जगत् की कल्पना अपेक्षाकृत सादि है। यह भी बताया जा चुका है कि अज्ञान के समष्टि और व्यष्टि दो भेद हैं, समष्टि अज्ञान से उपहित चैतन्य में सर्वज्ञत्व आदि धर्मों का आरोप होता है और व्यष्टि अज्ञान से उपहित चैतन्य में अल्पज्ञत्व आदि धर्मों का आरोप होता है, चैतन्य यतः परम महान् है और अज्ञान उसकी अपेक्षा लघु है अतः पूरे चैतन्य का अज्ञान से आच्छादन न होने के कारण चैतन्य अज्ञान से अनुपहित भी रह जाता है, इस प्रकार मनुष्य की बुद्धि के समक्ष दो त्रिक उपस्थित होते हैं, एक है अज्ञान समष्टि, उससे उपहित सर्वज्ञत्व आदि धर्मों से विशिष्ट चैतन्य तथा अनुपहित चैतन्य, दूसरा है अज्ञानव्यष्टि, उससे उपहित अल्पज्ञत्व आदि धर्मों से विशिष्ट चैतन्य तथा अनुपहित चैतन्य। मनुष्य को जब तक उक्त दोनों त्रिकों में यह बोध नहीं हो जाता कि इनमें क्या आरोपित है और क्या सत्य है तब तक प्रत्येक त्रिक एक पिण्डीभूत अर्थ के समान एक अर्थ जैसा प्रतीत होता है, जैसे लोह का एक गोलाकार भाग जब देर तक अग्नि के सम्पर्क में आता है तब अग्नि के समान ही तप्त हो जाता है, उस समय उसे देखने वाले को लोहे का गोला, अग्नि और ताप ये तीन पदार्थ अलग अलग नहीं प्रतीत होते किन्तु तीनों एकीभूत होकर प्रतीत होते हैं किन्तु जब अग्नि का सम्पर्क और

अथ महावाक्यार्थो वर्ण्यते। इदं तत्त्वमसीतिवाक्य सम्बन्ध-त्रयेणाखण्डार्थबोधकं भवति। सम्बन्धत्रयं नाम पदयोः सामानाधि-करण्यं पदार्थयोर्विशेषणविशेष्यभावः प्रत्यगात्मलक्षणयोर्लक्ष्यलक्षण-भावश्चेति। तदुक्तम्—

पदार्थप्रतिपत्तिपूर्वकत्वाद्वाक्यार्थप्रतिपत्तेरादावध्यारोपापवादाभ्याम वा-न्तरवाक्यावष्टम्भेन पदार्थं परिशोध्येदानीं महावाक्यार्थं निरूपयितुमुपक्रमते—अथेति। वाक्याद्वाक्यार्थप्रतिपत्तिक्रममादौ सङ्गृह्णाति—इदमिति। उक्त-मेव विभजते—सम्बन्धत्रयं नामेति। उक्ते विभागे नैष्कर्म्यसिद्धिवचनं संवादयति—तदुक्तमिति। भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे तात्पर्य-सम्बन्धः सामानाधिकरण्यमिति ॥

तन्मूलक ताप की निवृत्ति हो जाती है तब लोहे के शुद्ध गोले का बोध होता है, ठीक यही स्थिति उक्त दोनों त्रिकों की है, पहला त्रिक अलग अलग अवगत न होकर जब एकीभूत होकर प्रतीत होता है तब वह तत् पद से अभिहित होता है एवं दूसरा त्रिक जब अलग अलग प्रतीत न होकर एकीभूत होकर प्रतीत होता है तब त्वम् पद से अभिहित होता है, तत् पद से अभिहित एकीभूत त्रिक ईश्वर है और त्वम्पद से अभिहित एकीभूत त्रिक जीव है, इस प्रकार ईश्वर और जीव का अस्तित्व अध्यारोप-मूलक है। जब उक्त दोनों त्रिकों में से आरोपित भाग को पृथक् कर दिया जाता है केवल अनारोपित भाग को ग्रहण किया जाता है तब आरोपित भाग के अपवाद से अनारोपित चैतन्य मात्र के शेष रह जाने पर तत् पदार्थ और त्वम् पदार्थ के बीच किसी प्रकार का पार्थक्य नहीं रह जाता। इस प्रकार प्रथम त्रिक एकीभूत होकर प्रतीत होने की दशा में तत्पद से वाच्य और अध्यारोपित का त्याग करने पर बच जाने वाला चैतन्यमात्र तत्पद का लक्ष्य होता है। इसी प्रकार द्वितीय त्रिक एकीभूत होकर ज्ञात होने की दशा में त्वम्पद से वाच्य और आरोपित को अपवाद कर देने पर शेष रह जाने वाला शुद्ध चैतन्य त्वम् पद का लक्ष्य होता है। दोनों पदों के लक्ष्य अर्थों में कोई भेद नहीं होता।

अनुवाद—

अब महावाक्य के अर्थ का वर्णन किया जाता है। 'तत्त्वमसि' यह वाक्य तीन सम्बन्धों द्वारा अखण्ड अर्थ का बोधक होता है, वे तीन सम्बन्ध हैं तत्, पद और त्वम् पदों का सामानाधिकरण्य—एक अर्थ में दोनों पदों का तात्पर्य, दोनों पदों के अर्थों में विशेषणविशेष्यभाव—जैसे तत्पदार्थ विशेष्य और त्वम् पदार्थ विशेषण, तथा प्रत्यग् आत्मा–शुद्ध चैतन्य और लक्षणावृत्ति से प्रयुक्त तत् एवं त्वम् पद शुद्ध-चैतन्य का लक्ष्यलक्षणभाव, जैसे शुद्ध चैतन्यरूप प्रत्यगात्मा लक्ष्य और उक्त दोनों पद

"सामानाधिकरण्यं च विशेषणविशेष्यता ।
लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम्" इति ॥

सामानाधिकरण्यसम्बन्धस्तावद्यथा सोऽयं देवदत्त इत्यस्मिन्वाक्ये तत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकसशब्दस्यैतत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकायं-शब्दस्य चैकस्मिन्पिण्डे तात्पर्यसम्बन्धः। तथा च तत्त्वमसीति वाक्येऽपि परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकतत्पदस्यापरोक्षत्वादिविशिष्ट-चैतन्यवाचकत्वम्पदस्य चैकस्मिंश्चैतन्ये तात्पर्यसम्बन्धः।

विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव वाक्ये सशब्दार्थ-तत्कालविशिष्टदेवदत्तस्यायंशब्दार्थैतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्य चान्योन्य-भेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावः। तथात्रापि वाक्ये तत्पदार्थ-परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य त्वम्पदार्थापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावः। लक्ष्यलक्षणसम्बन्धस्तु

सामानाधिकरण्यलक्षणमभिप्रेत्य तस्योदाहरणं तत्त्वम्पदयोरनुवर्तयति— सामानाधिकरण्यसम्बन्धस्तावदिति। तत्कालोऽतीतकालः। एतत्कालो वर्तमानकालः। परोक्षत्वादीत्यादिशब्दान्नियन्तृत्वादिग्रहः। अपरोक्षत्वादीत्यादिपदान्नियम्यत्वादिग्रहः॥

लक्षण किंवा लक्षक, जैसा कि कहा गया है—पद, अर्थ और प्रत्यगात्मा का सामानाधिकरण्य, विशेषण विशेष्यभाव और लक्ष्यलक्षणसम्बन्ध।

सामानाधिकरण्य सम्बन्ध का अर्थ है किसी एक अर्थ में दो पदों का तात्पर्य, जैसे 'सोऽयं देवदत्तः—यह वही देवदत्त है' इस वाक्य में 'स' शब्द तत्काल तद्देश-विशिष्ट देवदत्त का वाचक है और 'अयं' शब्द एतत्काल एतद्देश विशिष्ट देवदत्त का वाचक है किन्तु इस वाक्य में दोनों पदों का तात्पर्य देशकाल का भेद होने पर भी एक देवदत्तपिण्ड को बताने में है, ठीक इसी प्रकार 'तत्त्वमसि—तुम वही हो' इस वाक्य में परोक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य के वाचक तत् पद का और अपरोक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य के वाचक त्वम् पद का धर्मभेद होने पर भी एक चैतन्य धर्मी का बोध कराने में तात्पर्य है। एक अर्थ का बोध कराने में दो पदों के इस तात्पर्य को ही दो पदों का सामानाधिकरण्य कहा जाता है।

'सोऽयं देवदत्तः' इसी वाक्य मे 'स' शब्द का अर्थ तत्काल तद्देश विशिष्ट देवदत्त और 'अयं' शब्द का अर्थ एतत्काल एतद्देश विशिष्ट देवदत्त, एक दूसरे के भेद के व्यावर्त्तक हैं अतः दोनों में परस्पर विशेष्यविशेषणभाव होता है, ठीक इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में तत्पद का अर्थ परोक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य और त्वम् पद काअर्थ अपरोक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य एक दूसरे के भेद के व्यावर्त्तक हैं अतः इन अर्थों में भी परस्पर विशेष्यविशेषणभाव है।

यथा तत्रैव वाक्ये सशब्दायंशब्दयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धतत्कालैतत्काल-विशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धदेवदत्तेन सह लक्ष्यलक्षणभावः। तथात्रापि वाक्ये तत्त्वम्पदयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टत्व-परित्यागेनाविरुद्धचैतन्येन सह लक्ष्यलक्षणभावः। इयमेव भागलक्षणे-त्युच्यते ॥ २३ ॥

व्यवच्छेदकं विशेषणं व्यवच्छेद्य विशेष्यं तयोर्भावो विशेषण विशेष्य-भावः। स एव सम्बन्धः सम्बन्धवदुभयनिरूपणीयत्वादित्यभिप्रेत्य विशेषण-विशेष्यभावसम्बन्धं सदृष्टान्तमाह—विशेषण इति। सोऽयम्पदार्थयोर्मध्ये कस्य वा विशेषणता कस्य वा विशेष्यता किं तद्विशेषणकृत्यमित्यपेक्षायां द्वयोरपि पदार्थयोः परस्परापेक्षया विशेषणविशेष्यभावो भेदभ्रमापोहश्च विशेषणकृत्यमित्यभिप्रेत्याह—अन्योन्यभेदव्यावर्तकतयेति ॥

अभिधेयाविनाभूतप्रवृत्तिर्लक्षणा। सा त्रिविधा जहल्लक्षणाऽजहल्ल-क्षणा जहदजहल्लक्षणा चेति। वाच्यार्थमशेषतः परित्यज्य तत्सम्बन्धिन्य-र्थान्तरे वृत्तिर्जहल्लक्षणा। वाच्यार्थापरित्यागेन तत्सम्बन्धिनि वृत्तिरजहल्ल-क्षणा वाच्यार्थैकदेशपरित्यागेनैकदेशवृत्तिर्जहदजहल्लक्षणा। तत्र प्रकृतवाक्ये लक्ष्यलक्षणसम्बन्धं सोदाहरणमाह—लक्ष्यलक्षणसम्बन्ध इति। पदवाच्या-

---

लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध भी जैसे 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में 'स' और 'अयम्' इन दोनों शब्दों का अथवा उन दोनों के अर्थों का परस्परविरोधी तत्काल, तद्देश और एतत्काल एतद्देश का परित्याग कर देने से विरोधहीन एक देवदत्त के साथ है उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में भी 'तत्' और 'त्वम्' इन दोनों पदों का अथवा दोनों पदों के अर्थों का विरोधी परोक्षत्व, अपरोक्षत्व आदि का परित्याग कर देने से विरोध-हीन शुद्ध चैतन्य के साथ है, इस लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध को ही भागलक्षणा कहा जाता है क्योंकि इससे शब्दार्थ के विशेषण भाग का त्याग होकर केवल विशेष्य भाग ही लक्षित होता है।

व्याख्या—

अद्वैतवादी वेदान्तियों ने 'तत्त्वमसि' इस वाक्य को तत् और त्वम् दोनों पदों द्वारा भिन्न अर्थ का बोधक न मानकर एक अखण्ड चैतन्य का बोधक माना है, जिसके फलस्वरूप वेदान्त के मार्ग पर चलनेवाले साधक को उस वाक्य से अखण्ड चैतन्यरूप ब्रह्म के साथ अपनी एकात्मता का बोध होता है जो आगे चलकर 'अहं ब्रह्मास्मि—मैं ब्रह्म हूँ' इस अनुभूति में परिणत होता है। इस मान्यता के सम्बन्ध में यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि 'तत्—वह' तो उसे कहा जाता है जो परोक्ष होता है, दूरस्थ होता है और 'त्वम्—तुम' उसे कहा जाता है जो अपरोक्ष होता है—आँख के सामने होता है, समीपस्थ होता है, फिर इन शब्दों से एक अभिन्न अर्थ का बोध कैसे हो

र्थयोः परस्परविरुद्धत्वान्नान्योन्यं विशेषणविशेष्यभाव उपपद्यते। तथा च तत्समर्पकयोरपि पदयोः सामानाधिकरण्यवशात्प्रतीयमानस्यैकवाक्यार्थस्यानुपपत्तिरिति लक्षणाया प्रसक्तायां वक्ष्यमाणप्रकारेण जहदजहल्लक्षणयोः प्रकृतासङ्गतौ पदवाच्यगतविरुद्धांशप्रहाणेनाविरुद्धांशलक्षणया सामानाधिकरण्ये सति वाक्यादखण्डार्थप्रतिपत्तिरिति भावः। अंशान्तरपरित्यागेनांशान्तरलक्षणायाः शास्त्रप्रसिद्धां संज्ञां सङ्गिरते— इयमेवेति। जहदजहल्लक्षणेदंशब्दार्थः। अयं भावः। तत्त्वम्पदयोः सामानाधिकरण्यं तावच्छ्रूयते न तत्तयोर्भिन्नार्थत्वे सम्भवति स्तम्भकुम्भपदयोस्तददर्शनात्। नाप्येकार्थाभिधायकत्वेन वैश्वदेव्यामिक्षेतिवत्तद्धितादेरेकार्थसमर्पकस्य कारणस्येहादर्शनात्। तथाहुः—

"आमिक्षां देवतायुक्तां वदत्येवैष तद्धितः।
आमिक्षापदसान्निध्यात्तस्यैव विषयार्पणम्"॥

इति परिशेषादेकार्थलक्षकत्वेनैवेति॥ २३॥

सकता है क्योंकि परोक्ष और अपरोक्ष मे एकता नहीं हो सकती। इस प्रश्न को वेदान्तियों ने 'सोऽयं देवदत्तः' इस लौकिक वाक्य के दृष्टान्त से समाहित किया है, उनका कहना यह है कि इस लौकिक वाक्य के 'स' और 'अयं' शब्द भी स्वभावतः भिन्न अर्थ के वाचक हैं क्योंकि 'स' शब्द से अतीतकाल और दूरदेशस्थ का बोध होता है एवं 'अयम्' शब्द से वर्तमानकाल तथा सन्निहित देशस्थ का बोध होता है और इन दोनों की भिन्नता स्पष्ट है, फिर भी इस वाक्य के दोनों शब्द एक अभिन्न देवदत्त के बोधक होते हैं, यह इसलिये कि 'स' और 'अयम्' इन दोनों शब्दों का सामानाधिकरण्य है, दोनों शब्दों का तात्पर्य एक अभिन्न अर्थ को बताने में है। दूसरी बात यह कि दोनों शब्दों के अर्थों में विशेष्यविशेषणभाव है क्योंकि 'स' शब्द के अर्थ में 'अयम्' शब्द के अर्थ का अभेद बोधन होने से 'स' शब्द के अर्थ में 'अयम्' शब्द के अर्थ के भेद की व्यावृत्ति हो जाती है, फलतः 'स' शब्द के अर्थ में 'अयम्' शब्द के अर्थ के भेद का व्यावर्त्तक होने से 'अयम्' शब्द का अर्थ विशेषण और 'स' शब्द का अर्थ व्यावर्त्त्य होने से विशेष्य होता है, यह विशेष्यविशेषणभाव दोनों शब्दों के अर्थों मे पारस्परिक है क्योंकि 'अयं' शब्द के अर्थ में 'स' शब्द के अर्थ का अभेद बोध होने पर उसमें 'स' शब्दार्थ के भेद की व्यावृत्ति होती है अतः 'स' शब्द का अर्थ 'अयं' शब्द के अर्थ में अपने भेद का व्यावर्त्तक होने से विशेषण और 'अयं' शब्द का अर्थ व्यावर्त्त्य होने से विशेष्य होता है। किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि यह विशेष्यविशेषणभाव परस्परभेद की व्यावृत्ति के अधीन है और यह व्यावृत्ति दोनों शब्दों के अर्थों में अभेदबोध के अधीन है जो उन शब्दों के वाच्यार्थ को ग्रहण करने पर सम्भव नहीं है अतः इसकी उपपत्ति के लिये उन शब्दों किंवा उनके वाच्य अर्थों तथा उनके द्वारा बोधनीय अभिन्न अर्थ में लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध अपेक्षित होता है जिसके कारण वे दोनों शब्द अपने वाच्य अर्थ के उन अंशों का जिनमें एकता सम्भव नहीं है, त्याग

अस्मिन्वाक्ये नीलमुत्पलमिति वाक्यवद्वाक्यार्थो न सङ्गच्छते। तत्र तु नीलपदार्थनीलगुणस्योत्पलपदार्थोत्पलद्रव्यस्य च शौक्ल्यपटा-

---

ननु तत्त्वम्पदयोः सामानाधिकरण्यं विनापि लक्षणयैकार्थ्यमुपपत्स्यते नीलमुत्पलमितिवदित्याशङ्क्याह— अस्मिन्निति । अखण्डार्थत्वस्य विवक्षितत्वादित्यभिसन्धिः । ननु नीलोत्पलवाक्येऽपि स्यादखण्डार्थता नेत्याह—

कर केवल उस अर्थ का बोधन करते हैं जो दोनों शब्दों का समान अर्थ है। जैसे जो देवदत्त व्यक्ति अतीतकाल और दूरदेश में देखा गया होता है वही व्यक्ति जब वर्तमान-काल और निकट स्थान में देखा जाता है तब देश काल का भेद होने पर भी उस व्यक्ति में भेद न होने से उसकी अभिन्नता बताने के लिये 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य का प्रयोग किया जाता है और इस वाक्य से श्रोता को देशकाल का भेद होते हुये भी विभिन्न देश, काल में स्थित एक व्यक्ति का बोध होता है।

इस दृष्टान्त वाक्य से वेदान्तियों ने यह स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि जो स्थिति 'सोऽयं देवदत्तः' इस लौकिक वाक्य की है वही स्थिति उपनिषद् के 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य की भी है इस वाक्य के 'तत्' और 'त्वम्' पद भी उक्त लौकिक वाक्य के 'स' और 'अयं' शब्द के समान सामानाधिकरण्य—एक अभिन्न अर्थ में तात्पर्य, विशेष्यविशेषणभाव—परस्पर से एक दूसरे के भेद की व्यावृत्ति का बोधन और लक्ष्य-लक्षणभाव—अपने वाच्यार्थ के विरोधी अंश का त्याग और अविरोधी अंश के ग्रहण द्वारा एक अभिन्न अखण्ड चैतन्यरूप अर्थ के बोधक होते हैं।

अपने वाच्य अर्थ के एक अंश का त्यागकर अन्य एक अंशमात्र का बोध कराने वाली इस पदवृत्ति को ही भागलक्षणा, भागत्यागलक्षणा, जहदजहल्लक्षणा आदि शब्दों से व्यवहृत किया जाता है।

प्रश्न होता है कि 'नीलम् उत्पलम्' इस वाक्य से जैसे अर्थ का बोध होता है वैसे ही अर्थ का बोध 'सोऽयं देवदत्तः' इस लौकिक वाक्य से तथा 'तत्त्वमसि' इस उपनिषद्वाक्य से भी माना जा सकता है फिर इन वाक्यों में भागत्यागलक्षणा मानने की क्या आवश्यकता है, इसी प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत वाक्यखण्ड से दिया गया है, जिसका अनुवाद इस प्रकार है।

अनुवाद—

'तत्त्वमसि' वाक्य में 'नीलमुत्पलम्' इस वाक्य के समान वाक्यार्थ संगत नहीं हो सकता, क्योंकि 'नीलमुत्पलम्' इस वाक्य की बात यह है कि उस वाक्य के घटक नीलपद का अर्थ है नीलगुण जो उत्पल के शुक्ल आदि गुण का व्यावर्त्तक होने से उत्पल को परिच्छिन्न करने से उत्पल का विशेषण हो सकता है और उत्पल शब्द का अर्थ है उत्पलद्रव्य, नीलघट आदि का व्यावर्त्तक होने से नील को परिच्छिन्न करने से नील

दिभेदव्यावर्तकतयान्योन्यविशेष्यभावसंसर्गस्यान्यतरविशिष्टस्यान्यतरस्य तदैक्यस्य वा वाक्यार्थत्वाङ्गीकारे प्रमाणान्तरविरोधाभावात्तद्वाक्यार्थः सङ्गच्छते। अत्र तु तदर्थपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य त्वमर्थापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावसंसर्गस्यान्यतरविशिष्टस्यान्यतरस्य तदैक्यस्य च वाक्यार्थत्वाङ्गीकारे प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधाद्वाक्यार्थो न सङ्गच्छते। तदुक्तम्-

"संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र सम्मतः।
अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः" इति ॥ २४ ॥

तत्रेति। शौक्ल्यादिव्यावर्तकनीलगुणस्य पटादिव्यावर्तकोत्पलद्रव्यस्य च गुणगुणिभावेन विरोधाभावात्तत्संसर्गैक्यस्य वा तदन्यतरविशिष्टस्यान्यतरस्य वा वाक्यार्थत्वान्नाखण्डार्थत्वं मुख्यैक्यस्य तत्राविवक्षितत्वादित्यर्थः। प्रकृतवाक्ये नीलोत्पलवाक्याद्वैषम्यमाह—अत्रत्विति। यद्यपि तत्त्वम्पदार्थयोः स्वरूपतो न प्रत्यक्षत्वं तत्पदार्थस्याद्वितीयत्वात्त्वम्पदार्थस्य च द्रष्टृत्वाद्द्रष्टुर्दृश्यत्वानुपपत्तेस्तथा च तद्भेदस्याप्यप्रत्यक्षता तथापि तत्त्वम्पदयोः परोक्षापरोक्षार्थाधिगतसङ्गत्योः श्रवणसमयेऽपरिशोधितपदार्थस्य पुंसो भवति विरोधस्फूर्तिरिति तदपेक्षया प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधादित्युक्तम्। तथा च तत्त्वम्पदयोः शबलांशे

का विशेषण हो सकता है। अतः नील और उत्पल का परस्पर विशेष्यविशेषणभाव उक्त वाक्य का अर्थ हो सकता है। इसी प्रकार नील और उत्पल में संसर्ग होने से नीलविशिष्ट उत्पल अथवा उत्पल विशिष्ट नील भी उसका अर्थ हो सकता है, एवं गुण-गुणी में अभेद होने से नील शब्द के वाच्यार्थ और उत्पल शब्द के वाच्यार्थ का ऐक्य भी उसका अर्थ हो सकता है, क्योंकि इन तीनों अर्थों में किसी भी अर्थ को स्वीकार करने में किसी प्रमाण का विरोध नहीं है, किन्तु 'तत्त्वमसि' वाक्य में तत्पद का अर्थ परोक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य और त्वम् पद का अर्थ अपरोक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य एक दूसरे में परस्पर भेद का व्यावर्त्तक होने से एक अभिन्न अर्थ में तात्पर्य रखता है, और अभिन्न में विशेष्यविशेषणभाव तथा संसर्ग नहीं होता, अतः विशेष्यविशेषणभाव अथवा एक से विशिष्ट अपर किंवा 'तत्–त्वम्' इन दोनों पदों से बोध्य अर्थों के ऐक्य को उक्त वाक्य का अर्थ मानने में प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विरोध होने से 'नीलमुत्पलम्' इस वाक्यार्थ के समान 'तत्त्वमसि' इस वाक्य का अर्थ संगत नहीं होता। जैसा कि पञ्चदशी में कहा गया है—

'तत्त्वमसि' वाक्य में 'तत्, त्वं' पद के अर्थों का संसर्ग अथवा विशिष्ट—एक पदार्थ से विशिष्ट अपरपदार्थ को वाक्यार्थ मानना विद्वानों को स्वीकार नहीं है किन्तु अखण्ड एकरूप चैतन्य ही विद्वानों को उक्त वाक्य के अर्थरूप में स्वीकार्य है।

व्युत्पन्नयोर्विरुद्धार्थविषयकत्वेनैक्यनिष्ठत्वाभावान्न विवक्षितं सामानाधिकरण्यमुपपद्यत इति भावः। एतदुक्तं भवति। न तावत्तत्त्वमर्थयोर्नीलोत्पलवद्गुणगुणिभाव उभयोरपि द्रव्यत्वात्। नापि कुण्डलसुवर्णवत्कार्यकारणभावो नित्यत्वादविकृतत्वाच्च। नापि भूम्यूषरादिवदंशांशिभावो निरवयवत्वात्। नापि क्रियातद्वद्भावो बाणादिवन्निष्क्रियत्वात्। नापि गोत्वशाबलेयादिवज्जातिव्यक्तिभावो द्रव्यत्वादेव। अत एव न विशेषविशेषिभावोऽपि।

व्याख्या—

'अस्मिन् वाक्ये' से आरम्भ कर 'विदुषां मतः' तक के ग्रन्थभाग से ग्रन्थकार ने यह बताया है कि 'नीलम् उत्पलम्' इस वाक्य से जिस प्रकार के अर्थ का बोध होता है उस प्रकार के अर्थ का बोध 'तत्त्वमसि' इस वाक्य से नहीं हो सकता, क्योंकि 'नीलम् उत्पलम्' इस वाक्य से जिन तीन अर्थों के बोध की सम्भावना बतायी गयी है, उनमें से किसी भी अर्थ को उक्त वाक्य का अर्थ मान लेने में किसी अन्य प्रमाण का विरोध नहीं होता, जैसे नीलगुण और उत्पल द्रव्य के विशेष्यविशेषणभाव को उक्त वाक्य का अर्थ मानने में किसी प्रमाण का विरोध नहीं है क्योंकि नील अपने आश्रय उत्पल द्रव्य का अन्य उत्पल द्रव्यों से व्यावर्तक होने के कारण उत्पल का विशेषण हो सकता है और उसका आश्रय उत्पल द्रव्य नील द्वारा अन्य उत्पल द्रव्यों से व्यावर्त्त्य होने के कारण नील का विशेष्य हो सकता है, इसमें कहीं से कोई बाधा नहीं होती।

नील विशिष्ट उत्पल को अथवा उत्पल विशिष्ट नील को भी उक्त वाक्य का अर्थ मानने में कोई बाधक नहीं है क्योंकि यदि उक्त वाक्य से गुण, गुणी के परस्पर भेद पक्ष में समवाय सम्बन्ध से नील विशिष्ट उत्पल का अथवा समवेतत्व सम्बन्ध से उत्पल विशिष्ट नील का बोध आनुभाविक हो तो समवाय सम्बन्ध से नील विशिष्ट उत्पल को अथवा समवेतत्व सम्बन्ध से उत्पलविशिष्ट नील को उक्त वाक्य का अर्थ स्वीकार करने में कोई प्रतिबाधक नहीं है। इसी प्रकार गुण-गुणी के भेद-पक्ष में लक्षणा से नीलपदबोध्य नीलगुणवान् और उत्पल के एवं गुणगुणी के अभेद पक्ष में नीलगुण और उत्पल के ऐक्य को भी उक्त वाक्य का अर्थ मानने में कोई बाधा नहीं है। परन्तु उक्त वाक्य के दृष्टान्त से तत्पदार्थ और त्वम्पदार्थ के विशेष्य-विशेषणभाव को, तत्पदार्थ से विशिष्ट त्वम्पदार्थ किंवा त्वम्पदार्थ से विशिष्ट तत्पदार्थ को अथवा तत्पदार्थ और त्वम्पदार्थ के ऐक्य को 'तत्त्वमसि' वाक्य का अर्थ नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसा मानने में प्रत्यक्ष आदि अन्य प्रमाणों का विरोध है, जैसे त्वम् पद के अर्थ जीव में विशेषणात्मक तत्पदार्थ ईश्वर का भेद 'न त्वम्पदार्थे तत्पदार्थो न विशेषणम्' इस रूप में प्रत्यक्ष सिद्ध है, क्योंकि भेद के प्रत्यक्ष में प्रतियोगी की प्रत्यक्ष योग्यता अपेक्षित नहीं होती किन्तु आश्रय की प्रत्यक्ष योग्यता अपेक्षित होती है, त्वम् पद के जीवरूप प्रत्यक्ष अर्थ में तत्पद के ईश्वररूप अप्रत्यक्ष अर्थ के भेद का

अत्र गङ्गायां घोषः प्रतिवसतीतिवाक्यवज्जहल्लक्षणापि न

वस्तुतस्तु विज्ञानघनमात्रत्वावधारणान्नेति नेतीत्यशेषप्रत्याख्यानेन निर्ध-र्मकत्वावधारणाच्च न केनापि प्रकारेण तत्त्वमस्यादिवाक्यानां संसृष्टार्थनिष्ठ-त्वशङ्कावकाशं लभते । न चेदं वाक्यं त्वमिन्द्रोऽसीतिवत्स्तुतिपरं नव-कृत्वोऽभ्यासवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । न हि स्तुतिः पुनः पुनः परिचोदनापूर्वकं क्वचिदभ्यस्यते । अत एव नार्थवादोऽनन्यशेषत्वाच्च । न ह्यस्मिन्प्रकरणेऽन्य-त्किञ्चित्प्रधानवाक्यमुपलभ्यते यच्छेषत्वेनेदमर्थवादरूपं भवेत् । नापि राजपुरुषे राजायमितिवदौपचारिकमप्रमितभेदयोरैक्यस्यौपचारिकत्वानुपपत्तेः । नापि विपर्ययः संशयो वात्र सम्भवति श्रुतेः स्वतः प्रामाण्यात् । तस्मात्तत्त्वमस्यादि-वाक्यमखण्डार्थनिष्ठमकार्यकारणद्रव्यमात्रनिष्ठत्वे सति समानाधिकरणवाक्य-त्वात्सोऽयं देवदत्त इति वाक्यवदिति । तदेवं पदयोरखण्डार्थनिष्ठत्वेन सामाना-धिकरण्यं वाच्यार्थांशे विरोधाद्विना लक्षणं न सङ्गच्छत इत्युक्तम् ॥ २४ ॥

प्रत्यक्ष हो सकता है इस प्रत्यक्ष का विरोध होने से ही तत्पदार्थ और त्वम्पदार्थ के विशेष्यविशेषणभाव को 'तत्त्वमसि' वाक्य का अर्थ नहीं माना जा सकता । तत्पदार्थ और त्वम्पदार्थ दोनों के नित्यद्रव्य होने से उनमें गुणगुणिभाव, कार्यकारणभाव, जातिव्यक्तिभाव आदि न होने के कारण किसी प्रकार का सम्बन्ध सम्भव न होने से एकविशिष्ट अपर को भी उक्त वाक्य का अर्थ नहीं माना जा सकता । उक्त रीति से त्वम्पदार्थ में तत्पदार्थ के भेद का प्रत्यक्ष होने से उसके विरोध के कारण तत्पदार्थ और त्वम्पदार्थ के ऐक्य को भी उक्त वाक्य का अर्थ नहीं माना जा सकता ।

'संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र संगतः' कहकर विद्यारण्य ने संसर्ग को और विशिष्ट को 'तत्त्वमसि' वाक्य का संगत अर्थ होने की सम्भावना का निषेध किया है, इस निषेध की उपपत्ति उन दोनों में किसी प्रकार का संसर्ग न होने से ही सम्भव होती है, आशय यह है कि अभिहितान्वयवाद के भिन्न-भिन्न पदों से उपस्थाप्य अर्थों के अन्वय-संसर्ग का बोध पदों की परस्परापेक्षारूप आकांक्षा से किंवा वाक्य की विशिष्ट आनुपूर्वीरूप आकांक्षा के बल होता है इस मत में विभिन्न पदों से उपस्थाप्य अर्थों का संसर्ग वाक्यार्थ होता है और अन्विताभिधानवाद में— एकपदार्थ से संसृष्ट अपर पदार्थ का ही वाक्य से अभिधान होता है इस मत में एक-पदार्थ संसृष्ट अपर पदार्थ ही वाक्यार्थ होता है, विद्यारण्य का कहना है कि उक्त दोनों ही अर्थ विद्वानों को 'तत्त्वमसि' वाक्य के अर्थ रूप में मान्य नहीं हैं, किन्तु अखण्ड एकरूप चैतन्य ही उक्त वाक्य के अर्थरूप में मान्य है और वह तत् और त्वम् पदों में भाग त्यागलक्षणा माने बिना सम्भव नहीं है ।

अनुवाद—

'गङ्गायां घोषः प्रतिवसति—गङ्गा में घोष-आभीरग्राम स्थित है' इस वाक्य के समान 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में जहल्लक्षणा—शक्यार्थ का सर्वथा त्याग कर

सङ्गच्छते। तत्र तु गङ्गाघोषयोराधाराधेयभावलक्षणस्य वाक्यार्थस्याशेषतो विरुद्धत्वाद्वाक्यार्थमशेषतः परित्यज्य तत्सम्बन्धितीरलक्षणाया युक्तत्वाज्जहल्लक्षणा सङ्गच्छते। अत्र तु परोक्षापरोक्षचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्य भागमात्रे विरोधाद्भागान्तरमपि परित्यज्यान्यलक्षणाया अयुक्तत्वाज्जहल्लक्षणा न सङ्गच्छते। न च गङ्गापदं स्वार्थपरित्यागेन तीरपदार्थं यथा तत्पदं त्वम्पदं वा स्वार्थपरित्यागेन त्वम्पदार्थं वा लक्षयत्वतः कुतो जहल्लक्षणा न सङ्गच्छत इति वाच्यम्। तत्र तीरपदाश्रवणेन तदर्थाप्रतीतौ लक्षणया तत्प्रतीत्यपेक्षायामपि तत्त्वम्पदयोः श्रूयमाणत्वेन तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनरन्यतरपदेनान्यतरपदार्थप्रतीत्यपेक्षाभावात्॥ २५॥

अशक्य अर्थ का बोध करानेवाली लक्षणा भी नहीं संगत होती, क्योंकि अभिधा से गङ्गा और घोष का आधाराधेयभाव ही उक्त वाक्य का अर्थ सम्भव है जो नितान्त विरुद्ध है अतः उस वाक्यार्थ का पूर्णतया परित्याग कर गङ्गासम्बन्धी तीर में गङ्गापद की लक्षणा युक्त होने से उस वाक्य में जहल्लक्षणा संगत होती है, किन्तु 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में परोक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य और अपरोक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य के ऐक्य को वाक्यार्थ मानने में उक्त दोनों पदों के अर्थों के विशेषणभागमात्र के ऐक्य में विरोध है, विशेष्यभाग के ऐक्य में विरोध नहीं है, अतः अविरुद्ध भाग का भी त्याग कर अन्य अर्थ में लक्षणा के अयुक्त होने से इस वाक्य में जहल्लक्षणा संगत नहीं हो सकती।

यहाँ यह कहना उचित नहीं प्रतीत होता कि जैसे गङ्गापद अपने अर्थ का परित्याग कर तीरपदार्थ का लक्षक होता है वैसे तत्पद स्वार्थ का त्याग कर त्वम्पदार्थ का एवं त्वम्पद स्वार्थ का त्याग कर तत्पदार्थ का लक्षक हो सकता है अतः जहल्लक्षणा क्यों नहीं संगत हो सकती? क्योंकि 'गङ्गायां घोषः' इस वाक्य में तीर पद का श्रवण न होने से अभिधा से तीररूप अर्थ की प्रतीति न होने के कारण लक्षणा से उस अर्थ की प्रतीति अपेक्षित होती है किन्तु 'तत्त्वमसि' वाक्य में तत् पद और त्वम् पद दोनों का श्रवण होता है, अतः अभिधा से ही दोनों पदों के अर्थ की प्रतीति सम्भव होने से लक्षणा द्वारा एक पद से अन्य पदार्थ की प्रतीति की अपेक्षा नहीं होती।

व्याख्या—

'गङ्गायां घोषः प्रतिवसति' यह एक लौकिक वाक्य है जिससे आपाततः यह अर्थ प्रतीत होता है कि 'गङ्गा में घोष—अहीरों का ग्राम होता है' किन्तु यह अर्थ

तत्र भागलक्षणामेव परिशेषयितुं लक्षणान्तरं व्युदस्यति—अत्रेत्यादिना। घोष आभीरनिवासः। कुत इत्यपेक्षायां गङ्गापदे जहल्लक्षणा सम्भवति वाच्यार्थस्य तत्राशेषस्यानन्वयेन परित्याज्यत्वादित्याह—तत्र गङ्गाघोषयोरिति प्रकृते वाच्यार्थस्याशेषपरित्यागायोगान्न जहल्लक्षणा सङ्गच्छत इत्याह—अत्र त्विति। ननु विशेषणांशत्यागेऽपि विशेषणाभावे विशिष्टाभावन्यायेन विशिष्टस्वार्थपरित्यागाज्जहल्लक्षणैव तत्त्वम्पदयोरपि गङ्गापदवत्स्यादित्याशङ्क्य वैषम्येण प्रत्याचष्टे—न चेति। यथा पदादेव वाक्यार्थान्वयिपदार्थप्रतीतौ लक्षणावैयर्थ्यं तथा विशेष्यांशपरित्यागेऽपि लक्षणावैयर्थ्यं तत्त्वम्पदार्थातिरिक्तस्य तत्सम्बन्धिनो वाक्यार्थान्वयिनोऽर्थस्याप्रसिद्धेरिति भावः॥ २५॥

संगत नहीं है क्योंकि गङ्गा का अर्थ है प्रवहमान भागीरथी और प्रवहमान जलधारा में घोष का टिकना असम्भव है, अतः यह माना जाता है कि उक्त वाक्य में गङ्गा-पद अपने वाच्य अर्थ का बोधक नहीं होता किन्तु तीर का बोधक होता है और गङ्गा-पद से तीर का बोध अभिधा से नहीं हो सकता क्योंकि तीर में गङ्गापद का प्रयोग न होने से तीर में गङ्गापद की अभिधा नहीं मानी जाती, अतः लक्षण से गङ्गापद से तीर का बोध माना जाता है, इस लक्षणा में गङ्गापद के शक्य अर्थ का सर्वथा परित्याग हो जाने से इसे जहल्लक्षणा कहा जाता है, किन्तु यह लक्षणा 'तत्त्वमसि' वाक्य के तत् पद और त्वम् पद में नहीं मानी जा सकती, क्योंकि उक्त वाक्य से विवक्षित अखण्ड एक चैतन्य का बोध तभी हो सकता है जब उन दोनों पदों की चैतन्यमात्र में लक्षणा मानी जाय और इस लक्षणा को जहल्लक्षणा नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें उन पदों के पूरे अर्थ का त्याग नहीं किन्तु परोक्षत्व, अपरोक्षत्व आदि विशेषण अंशमात्र का ही त्याग होता है।

यदि यह कहा जाय कि तत् पद के पूरे वाच्यार्थ का परित्याग कर त्वम् पदार्थ में उसकी लक्षणा मानने से अथवा त्वम् पद के पूरे अर्थ का त्यागकर तत् पद के अर्थ में उसकी लक्षणा मानने से भी उक्त वाक्य से अर्थबोध के उक्त में सम्भावित बाधा का निरास हो सकता है। अतः इस वाक्य में भी जहल्लक्षणा सम्भव है तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि किसी पद की लक्षणा उसी अर्थ में होती है जो अर्थ किसी पद से अभिधा द्वारा बोध्य नहीं होता, जैसे 'गङ्गायां घोषः प्रतिवसति' इस वाक्य के किसी पद से अभिधा द्वारा तीर का बोध न होने से उसमें गङ्गापद की लक्षणा मानी जाती है, वह स्थिति 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में नहीं है क्योंकि इसमें तत् और त्वम् दोनों पद विद्यमान हैं अतः दोनों अर्थों का बोध अभिधा से सम्भव होने के कारण एक पद की अन्य पद के अर्थ में लक्षणा नहीं मानी जा सकती। इसके अतिरिक्त दूसरा कारण यह है कि 'तत्त्वमसि' वाक्य में तत् पद और त्वम् पद का सामानाधिकरण्य है, दोनों पद एक अभिन्न अर्थ के बोधनार्थ प्रयुक्त हैं, और यह तभी उपपन्न हो सकता है जब एक अभिन्न अर्थ के बोध में दोनों का सहयोग हो, किन्तु जब किसी

अत्र शोणो धावतीतिवाक्यवदजहल्लक्षणापि न सम्भवति। तत्र शोणगुणगमनलक्षणस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात्तदपरित्यागेन तदाश्रयाश्वादिलक्षणया तद्विरोधपरिहारसम्भवादजहल्लक्षणा सम्भवति। अत्र तु परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्वस्य विरुद्धत्वात्तदपरित्यागेन तत्सम्बन्धिनो यस्य कस्यचिदर्थस्य लक्षितत्वेऽपि तद्विरोधपरिहारासम्भवादजहल्लक्षणा न सम्भवत्येव। न च तत्पदं त्वम्पदं वा स्वार्थविरुद्धांशपरित्यागेनांशान्तरसहितं त्वम्पदार्थं तत्पदार्थं वा लक्षयत्वतः कथं प्रकारान्तरेण भागलक्षणाङ्गीकरणमिति वाच्यम्। एकेन पदेन स्वार्थांशपदार्थान्तरोभयलक्षणाया असम्भवात्पदान्तरेण तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनस्तत्प्रतीत्यपेक्षाभावाच्च ॥ २६ ॥

एक पद की अन्य पदार्थ में लक्षणा मानी जायगी तब लक्षक पद और वाचक पद दोनों का एक ही अर्थ हो जायगा, अतः एक ही पद से अर्थ का बोध हो जाने से उसमें पदान्तर का सहयोग अपेक्षित न होने से उक्त पदों में सामानाधिकरण्य की उपपत्ति न होगी।

अनुवाद—

'शोणो धावति' (लाल रंग भागता है) इस वाक्य के समान तत्त्वमसि वाक्य में अजहल्लक्षणा भी सम्भव नहीं है, क्योंकि वहां पर लाल गुण के गमन रूप वाक्यार्थ के विरुद्ध होने से मुख्यार्थ का परित्याग न करके लाल गुण के आश्रय अश्वादि में लक्षणा करके मुख्यार्थ के विरोध का परिहार किया जाता है, अतः मुख्यार्थ का परित्याग न होने से अजहल्लक्षणा सम्भव है। किन्तु यहाँ परोक्षत्वविशिष्ट चैतन्य और अपरोक्षत्वविशिष्ट चैतन्य के ऐक्यरूप मुख्यार्थ के विरुद्ध होने से उसका परित्याग न करके उससे सम्बद्ध यदि किसी अर्थ को लक्षित किया जाय तो विरोध का परिहार सम्भव न होने से अजहल्लक्षणा मान्य नहीं हो सकती।

यदि यह कहा जाय कि—तत्पद अपने वाच्यार्थ के विरुद्धांश का परित्याग कर अविरुद्धांश के सहित त्वम्पद के वाच्यार्थ को लक्षित करा सकता है अथवा त्वम्पद अपने वाच्यार्थ के विरुद्धांश का परित्याग कर अविरुद्धांश के सहित तत्पद के वाच्यार्थ को लक्षित करा सकता है अतः प्रकारान्तर से भागलक्षणा का आश्रय क्यों लिया जाय तो यह ठीक नहीं है क्योंकि एक ही पद से अपने वाच्यार्थ के एक अंश और दूसरे पद के वाच्यार्थ दोनों में लक्षणा के असम्भव होने से तथा दूसरे पद के द्वारा उसके वाच्यार्थ की प्रतीति होने पर लक्षणा द्वारा फिर उसकी प्रतीति कराने की अपेक्षा न होने से पूर्वोक्त कथन कोई महत्त्व नहीं रखता।

अजहत्स्वार्थामप्यत्र व्युदस्यति—अत्र शोण इति। शोणपदे स्ववाच्य-शोणगुणापरित्यागेन तदाधारलक्षणावत्तत्पदे त्वम्पदे च स्ववाच्यापरित्यागेन तत्सम्बन्धिनो यस्यकस्यचिदनिर्दिष्टविशेषस्यार्थान्तरस्य प्रतीत्यै लक्षणाङ्गी-करणेऽपि वाच्यार्थयोर्विरोधस्यापरिहारान्नाजहल्लक्षणाप्यत्र युज्यत इत्यर्थः। प्रकारान्तरेणाजहल्लक्षणामुट्टङ्क्य निराचष्टे—न चेति। सकृच्छ्रुतस्यैकस्य पदस्य युगपदुभयलक्षकत्वासम्भवादित्यर्थः। अत्रापि पूर्वोक्तं दूषणं प्रसञ्जयति—पदा-न्तरेणेति ॥ २६ ॥

व्याख्या—

तत्त्वमसि इस वाक्य में 'शोणो धावति' (लाल रंग भाग रहा है) इस वाक्य की तरह अजहल्लक्षणा भी अभीप्सित अर्थ के बोधन में समर्थ नहीं है, क्योंकि 'शोणो धावति' इस वाक्य के शोण पद का वाच्य अर्थ लाल रंग है और वह गुण है, अत: उसका भागना संभव नहीं है, क्योंकि द्रव्य ही क्रिया का आश्रय होता है अत: अद्रव्य शोण गुण का भागना कथमपि सम्भव नहीं हो सकता। फलत: वाक्य का मुख्य अर्थ बाधित है, यदि लक्षणा के द्वारा शोण गुण का परित्याग न करते हुए शोण गुण के आश्रय अश्वादि का ग्रहण किया जाय तो मुख्यार्थ के विरोध का परिहार होने में कोई बाधा नहीं है। इसलिये शोण पद के वाच्यार्थ का परित्याग न होने के कारण यहाँ अजह-ल्लक्षणा का होना सङ्गत है। किन्तु 'तत्त्वमसि' वाक्य में अजहल्लक्षणा संभव नहीं है क्योंकि जब तक परोक्षत्व और अपरोक्षत्वरूप विरुद्ध अंश का परित्याग न किया जाय तब तक यहाँ पर तत्पद के वाच्यार्थ परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य एवं त्वम्पद के वाच्यार्थ अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य की वाक्य से विवक्षित एकता सिद्ध नहीं हो सकती। विरुद्ध अंश के परित्याग के बिना उससे सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ को अजह-ल्लक्षणा के द्वारा बोधित करने पर भी विरोध का परिहार असंभव है और जब विरोध का परिहार ही संभव न हुआ तो लक्षणा का आश्रयण ही व्यर्थ होगा, अत: 'तत्त्वमसि' वाक्य में अजहल्लक्षणा संभव नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि तत्पद के वाच्यार्थ परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य और त्वम्पद के वाच्यार्थ अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य के विशेषण अपरोक्षत्व, आदि में विरोध है किन्तु चैतन्य रूप विशेष्य अंश में विरोध नहीं है अत: तत्पद अपने परोक्षत्वादि-वैशिष्ट्य इस विरुद्ध अंश को छोड़कर अविरुद्ध चैतन्यांश से सहित त्वम्पद के वाच्यार्थ अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य को अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्याभिन्न चैतन्य रूप में अजहल्लक्षणा द्वारा लक्षित कर सकता है अथवा त्वम्पद के वाच्यार्थ अपरोक्षत्वादि-विशिष्ट चैतन्य और तत्पद के वाच्यार्थ परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य के विशेषण परोक्ष-त्वादि अंशों में विरोध है, किन्तु चैतन्य रूप विशिष्ट अंश में विरोध नहीं है इसलिए त्वम्पद अपने अपरोक्षत्वादिवैशिष्ट्य इस विरुद्ध अंश को छोड़कर अविरुद्ध चैतन्यांश के सहित तत्पद के वाच्यार्थ परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य को परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्याभिन्न

तस्माद्यथा सोऽयं देवदत्त इति वाक्यं तदर्थो वा तत्कालै-तत्कालविशिष्टदेवदत्तलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद्विरुद्धतत्कालै-तत्कालविशिष्टत्वांशं परित्यज्याविरुद्धं देवदत्तांशमात्रं लक्षयति तथा तत्त्वमसीतिवाक्यं तदर्थो वा परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यै-कत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद्विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादि-

---

चैतन्यरूप में अजहल्लक्षणा द्वारा लक्षित कर सकता है, तो यह ठीक नहीं है क्योंकि यह शब्द के स्वभाव के विरुद्ध है, शब्द आदि का स्वभाव यह बताया गया है कि 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभाव:' शब्द, ज्ञान, और कर्म एक बार अपने एक व्यापार से विरत होकर फिर उसी व्यापार से अर्थान्तर का उपस्थापक नहीं होते, जैसे 'गङ्गायां घोष:'' इस वाक्य का गङ्गा शब्द अपने अभिधा व्यापार से एक बार जब प्रवाहविशेष का बोधन करके विरत हो जाता है तब वह फिर उसी अभिधा व्यापार से तीरादि अन्य अर्थ का बोधक नहीं होता, वैसे ही कोई भी शब्द अपनी अभिधा, लक्षणा आदि वृत्तियों के द्वारा अपने अर्थ का बोध कराकर विरत हो जाता है तब फिर वह उसी व्यापार से अन्यार्थ का बोध नहीं कराता, ऐसी स्थिति में तत् पद या त्वम्पद जब लक्षणा के द्वारा चैतन्यांश को लक्षित करता है तो फिर दूसरे पद के वाच्यार्थ को लक्षित कराये यह असंभव है। इसी अर्थ का संकेत अन्य लोग इस शब्द से करते हैं—'सकृच्छ्रुतस्यैकस्य पदस्य युगपदुभयलक्षकत्वासम्भवात्' अर्थात् एक बार श्रुत पद एक साथ दो दो अर्थों को लक्षित नहीं कराता।

तत्त्वमसि वाक्य में अजहल्लक्षणा मानने में दूसरी असङ्गति यह है कि तत्पद या त्वम्पद चैतन्यांश का लक्षक भले हो किन्तु वाक्यावयव दूसरे पद के वाच्यार्थ का वह लक्षक कैसे हो सकता है क्योंकि तद्वाक्य के घटक पद के वाच्यार्थ का उपस्थापन जब अन्य पद करता हो तो उस अर्थ में अन्य पद की लक्षणा की आवश्यकता ही क्या है। दूसरे पद का श्रवण होने से उसके वाच्यार्थ का बोधन तो उसके अभिधा व्यापार से हो ही जाता है ऐसी स्थिति में पुन: लक्षणा के द्वारा उसकी प्रतीति की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। निष्प्रयोजन लक्षणा मान्य नहीं होती। अत: उपर्युक्त वाक्य के अर्थ का बोधन अजहल्लक्षणा के द्वारा संभव नहीं है।

अनुवाद—

अत: जैसे 'सोऽयं देवदत्त:' यह वाक्य या उसका अर्थ भूतकाल विशिष्ट देवदत्त ही वर्तमानकालविशिष्ट देवदत्त है इस वाक्यार्थ के एक अंश में विरोध होने से, भूतकालविशिष्टत्व और वर्त्तमानकालविशिष्टत्व रूप विरुद्ध अंश को छोड़कर अविरुद्ध देवदत्त मात्र को लक्षित करता है, वैसे ही 'तत्त्वमसि' यह वाक्य या उसका अर्थ परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य और अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य के एकतारूप वाक्यार्थ के एक अंश में विरोध होने से परोक्षत्वादि विशिष्टत्व और अपरोक्षत्वादि विशिष्टत्व रूप विरुद्धांश को छोड़कर अविरुद्ध अखण्ड चैतन्य मात्र को लक्षित कराता है।

विशिष्टत्वांशं परित्यज्याविरुद्धमखण्डचैतन्यमात्रं लक्षयतीति ॥२७॥

परिशेषाद्भागलक्षणामन्तरेण नाखण्डवाक्यार्थसिद्धिरतस्तथैव लक्षणयैकार्थपर्यवसायित्वेन पदयोः सामानाधिकरण्यमित्युपसंहरति—तस्मादिति । सोऽयमिति पदद्वयं वाक्यशब्दार्थो देवदत्तपदस्य सामानाधिकरण्यसिद्धैक्यस्पष्टीकरणार्थत्वाल्लक्षणाविचारानुपयोगात् । यद्यपि पदधर्मो लक्षणा तथाप्यभिहितान्वयमतवत्पदार्थस्यापि लक्षकत्वमभ्युपगम्य पदार्थो वेत्युक्तम् । अन्यत्समानम् ॥

अत्र केचिदाहुः—पदद्वये लक्षणानुपपन्ना । सोऽयं देवदत्त इत्युक्ते सशब्देनातीतदेशकालपरित्यागेन लक्षिते देवदत्तस्वरूपे वर्तमानदेशकालवैशिष्ट्यमयम्पदेन प्रतिपाद्यते तथा च पूर्वोत्तरदेवदत्तस्वरूपाभेदसिद्धेरिति । तदयुक्तम् । विशिष्टस्य केवलाद्भिन्नत्वात् । यथा केवलो विशिष्टाद्भिन्नस्तथा विशिष्टोऽपि केवलाद्भिन्न एव । तथा च विशिष्टविषयस्यायंशब्दस्यापि विना लक्षणां न तत्स्वरूपनिष्ठत्वं सम्भवति । तदभावे च सोऽयम्पदयोः सामानाधिकरण्येन देवदत्तैक्यप्रतिपादकतेत्यास्तां तावत् । अपरे पुनराहुर्न पदवाच्यार्थयोः परस्परविरोधाल्लक्षणाश्रीयते किन्तु वाच्यार्थैक्ये तात्पर्याभावादिति । तन्न । तात्पर्याभावावगमस्यापि विरोधस्फूर्त्यधीनत्वात् । अन्यथा वेदवाक्यप्रतिपादितेऽर्थे संवादिविसंवादिप्रमाणान्तराविषये तात्पर्यानवगमायोगात् । तस्मात्सुष्ठूक्तं वाक्यार्थस्यांशे विरोधादिति ॥ २७ ॥

व्याख्या—

'तत्त्वमसि' इस महावाक्य के अर्थबोध में क्रमशः जहल्लक्षणा और अजहल्लक्षणा की संभावना न होने के कारण परिशेषाद् भागलक्षणा (जहल्लक्षणा) के विना महावाक्य से अखण्डार्थ की प्रतीति नही हो सकती यह सोदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है ।

जैसे 'सोऽयं देवदत्तः' यह वाक्य अथवा इसका वाक्यार्थ भूतकालविशिष्ट देवदत्त ही वर्तमान काल विशिष्ट देवदत्त है, इस वाक्य के अर्थ के भूतकालवर्तमानकालवैशिष्टय रूप एक अंश में विरोध होने के कारण भूतकालवैशिष्टय तथा वर्तमानकालवैशिष्ट्य रूप विरुद्धांश का परित्याग कर अविरुद्धांश देवदत्त मात्र को जहदजहल्लक्षणा द्वारा प्रस्तुत करता है, वैसे ही 'तत्त्वमसि' यह महावाक्य अथवा इसका वाच्यार्थ परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य और अपरोक्षत्वविशिष्ट चैतन्य के एकत्व रूप वाक्यार्थ के परोक्षत्वापरोक्षत्वादि रूप एक अंश में विरोध होने के कारण परोक्षत्वादिवैशिष्ट्य और अपरोक्षत्वादिवैशिष्ट्य रूप विरुद्धांश का परित्याग कर अविरुद्धांश अखण्ड चैतन्य को जहदजहल्लक्षणा द्वारा प्रस्तुत करता है ।

काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट के 'सा लक्षणारोपिता क्रिया' (का० २।९) इस पदावली के अनुसार 'लक्षणा' शब्द में कल्पित होनेवाली वृत्ति (व्यापार) है, क्योंकि इसका विषय मुख्यार्थ से व्यवहित लक्ष्यार्थ है। वस्तुस्थिति तो यह है कि 'लक्षणा' साक्षात्संसर्ग से मुख्यार्थनिष्ठ ही होती है, किन्तु स्वाश्रयवाचकत्वरूप परम्परा सम्बन्ध से शब्द में कल्पित होती है, आचार्य भट्टवामन अपनी कृति में इस को इस प्रकार कह कर समर्थन करते हैं—

'सा हि आरोपिता मुख्यार्थव्यवहितलक्ष्यार्थविषयकत्वात् शब्दे कल्पिता। साक्षात्सम्बन्धेन मुख्यार्थनिष्ठा, परम्परासम्बन्धेन तु शब्दनिष्ठेत्यर्थः। क्रिया व्यापाररूपा चेति सूत्रार्थः।'

वे पुनः इसी बात को इस प्रकार व्यक्त करते हैं—'यद्यपि 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र गङ्गाशब्देन प्रत्यायितं स्रोतस्तथापि वाच्यधर्मो वाचके शब्दे आरोप्यते, अतः शब्दोऽपि लाक्षणिक इति भावः।

'गङ्गायां घोषः' इस वाक्य के गङ्गाशब्द से प्रस्तुत प्रवाह रूप अर्थ तीर को लक्षित करता है अतः 'लक्षणा' अर्थ का व्यापार है, शब्द का नहीं किन्तु वाच्यधर्म लक्षणा को वाचक शब्द में कल्पित कर उसे शब्द का भी व्यापार कहा जाता है।

यदि यह कहा जाय कि 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य के प्रयुक्त होने पर 'सः' शब्द लक्षणा द्वारा अतीत देशकाल को छोड़कर केवल देवदत्त का लक्षक होता है तथा 'अयम्' पद उसी देवदत्त को वर्तमान देशकाल से विशिष्ट बताता है, ऐसी स्थिति में 'सः' और 'अयम्' दोनों पदों की अभीप्सितार्थ की सिद्धि के लिए लक्षणा करना अनावश्यक है तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि केवल विशिष्ट से भिन्न होता है, अर्थात् 'सः' पद का लक्ष्य केवल देवदत्त जैसे अतीतदेशकाल विशिष्ट देवदत्त से भिन्न है वैसे ही वर्तमान देशकालविशिष्ट देवदत्त से भी भिन्न ही होगा, अतः विशिष्ट का वाचक 'अयम्' पद लक्षणा व्यापार के विना शुद्ध देवदत्त का बोधक नहीं हो सकता है, तथा जब तक 'सः' और 'अयम्' दोनों पद लक्षणा के द्वारा विशेषणांश का परित्याग करके देवदत्तमात्र को लक्षित नहीं करायेंगे तब तक दोनों पदों का सामानाधिकरण्य होने पर भी देवदत्त का ऐक्य सामानाधिकरण्यमात्र से सिद्ध नहीं हो सकता है।

यहाँ कतिपय लोगों का यह कहना कि वाच्यार्थ के ऐक्य में तात्पर्य का विरह होने से (अर्थात् वाच्यार्थ के ऐक्य में तात्पर्य का बोध न होने से) लक्षणा का आश्रयण करना पड़ता है न कि दोनों पदों में तथा उनके वाच्यार्थों में विरोध की प्रतीति होती है इसलिए, तो यह भी कथन उचित नहीं है क्योंकि तात्पर्य के अभाव का बोध भी विरोधस्फूर्त्ति होने पर ही होता है।

सच्ची स्थिति तो यह है कि 'तत्त्वमसि' इस वाक्य के द्वारा बोधित अर्थ किसी भी अनुकूल या प्रतिकूल प्रमाण का विषय नहीं हो सकता है, क्योंकि वेद स्वतः

अथाधुनाहं ब्रह्मास्मीत्यनुभववाक्यार्थो वर्ण्यते। एवमाचार्येणाध्यारोपापवादपुरःसरं तत्त्वम्पदार्थौ शोधयित्वा वाक्येनाखण्डार्थेऽवबोधितेऽधिकारिणोऽहं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावपरमानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्मास्मीत्यखण्डाकाराकारिता चित्तवृत्तिरुदेति। सा तु चित्प्रतिबिम्बसहिता सती प्रत्यगभिन्नमज्ञातं परं ब्रह्म विषयीकृत्य तद्गताज्ञानमेव बाधते तदा पटकारणतन्तुदाहे पटदाहवदखिलकारणेऽज्ञाने बाधिते सति तत्कार्यस्याखिलस्य बाधितत्वात्तदन्तर्भूताखण्डाकाराकारिता चित्तवृत्तिरपि बाधिता भवति। तत्र प्रतिबिम्बितं चैतन्यमपि यथा दीपप्रभादित्यप्रभावभासनासमर्था सती तयाभिभूता भवति तथा स्वयम्प्रकाशमानप्रत्यगभिन्नपरब्रह्मावभासनानर्हतया तेनाभिभूतं सत्स्वोपाधिभूताखण्डचित्तवृत्तेर्बाधितत्वाद्दर्पणाभावे मुखप्रतिबिम्बस्य मुखमात्रत्ववत्प्रत्यगभिन्नपरब्रह्ममात्रं भवति ॥ २८ ॥

प्रमाण है, अतः वेदप्रतिपाद्य अर्थ के समर्थन में वेद को न किसी प्रमाणान्तर की अपेक्षा है और न उसका प्रमाणान्तर से विरोध ही सम्भव है।

अनुवाद—

उपदेश वाक्य का निरूपण करने के अनन्तर अब 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) इस अनुभववाक्य के अर्थ का वर्णन किया जा रहा है। आचार्य जब अध्यारोप और अपवाद के माध्यम से तत् एवं त्वम् पदार्थ का शोधन कर 'तत्त्वमसि' वाक्य से अखण्डार्थ का बोध करा देते हैं तब अधिकारी शिष्य के अन्तःकरण में 'मैं नित्य शुद्ध बुद्ध और सत्यस्वभाव, परमानन्द अनन्त अद्वितीय ब्रह्म हूँ' इस प्रकार की अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति का उदय होता है। यह चित्तवृत्ति चित्प्रतिबिम्ब को धारण कर प्रत्यगात्मा से अभिन्न अज्ञात परब्रह्म को विषय बनाकर ब्रह्मविषयक अज्ञान का बाध करती है। उस समय जैसे पट के कारण तन्तुओं के जलने पर पट जल जाता है वैसे ही समस्त कार्यों के कारण अज्ञान का बाध होने पर उसके कार्य अखिल जगत् के बाध के साथ उसके अन्तर्गत अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति का भी बाध हो जाता है। चित्तवृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य भी जैसे दीप की प्रभा सूर्य की प्रभा को प्रकाशित करने में असमर्थ हो आदित्य की प्रभा से अभिभूत हो जाती है, वैसे ही उक्त चित्तवृत्ति भी स्वयंप्रकाश प्रत्यगात्मा से अभिन्न परब्रह्म के अवभासन में असमर्थ हो उस ब्रह्म प्रकाश से अभिभूत हो जाती है और वृत्ति का विषय ब्रह्म अपनी उपाधि अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति का बाध होने से दर्पण के मुखप्रतिबिम्ब के मुखमात्र हो जाने के समान प्रत्यगात्मा से अभिन्न परब्रह्ममात्र हो जाता है।

तदेवं "आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च" इतिन्यायेन जीवस्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यज्ञानानन्तानन्दपरिपूर्णब्रह्मात्मत्वोपदेशवाक्यार्थं सप्रपञ्चं निरूप्येदानीमवगतस्वरूपस्यानुभवावभासिवाक्यार्थं वर्णयितुमुपक्रमते—अथेत्यादिना। उपदेशवाक्यार्थनिरूपणानन्तर्यमथशब्दार्थः। अधिकारिणो विधिवदधीतवेदेत्यादिखण्डलोक्तलक्षणस्यासम्भावनाविपरीतभावनाख्यचित्तदोषरहितस्याध्यारोपादिन्यायेनाचार्योपदेशसमनन्तरमेव नित्यशुद्धबुद्धत्वादिविशेषणं ब्रह्माहमस्मीत्यखण्डाकारान्तःकरणवृत्तिरुदेति साक्षात्काररूपा न पुनः परोक्षार्थाकारितेत्यर्थः। न च शब्दस्य परोक्षज्ञानजनकत्वस्वाभाव्यान्न तेनापरोक्षा

व्याख्या—

ब्रह्म आत्मा है, इस रूप से ही ब्रह्म को ग्रहण करना आवश्यक है क्योंकि वेदान्तवाक्य इसी रूप में ब्रह्म को स्वीकार करते हैं और इसी रूप में उसका ग्रहण कराते हैं। जैसा कि बादरायण ने 'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च' (ब्रह्मसूत्र० ४।१।३) कहकर व्यक्त किया है। गुरु के उपदेश से जब शिष्य को 'तत्त्वमसि' वाक्य से जीव-ब्रह्म के ऐक्य का बोध हो जाता है तब उसे 'अहं ब्रह्मास्मि—मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अपनी ब्रह्मरूपता का अनुभव होता है जिसे वह 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्य से प्रकट करता है। प्रस्तुत ग्रन्थांश से इस अनुभव वाक्य के अर्थ का वर्णन किया गया है। अमरकोश में अथो तथा अथ के पाँच अर्थ बताये गये हैं मङ्गल, अनन्तर, प्रारम्भ, प्रश्न और कार्त्स्न्यं (पूर्णता)। अनुभववाक्य में उपात्त अथ शब्द का अर्थ है आनन्तर्य, तदनुसार प्रस्तुत ग्रन्थ में आये अथ शब्द का अर्थ है—तत्त्वमसि के इस उपदेश वाक्य के अर्थ का निरूपण करने के अनन्तर। जिसका विशद रूप है—आचार्य द्वारा अविषय, असङ्ग, निष्कल तथा आनन्दमात्र चैतन्य में शशशृङ्गकल्प अविद्या के कारण अहङ्कारादि शरीरपर्यन्त होनेवाले मिथ्यापदार्थज्ञान का अध्यारोप और अपवाद से निरास कर तत्, त्वम् पदार्थ का संशोधन कर 'तत्त्वमसि' वाक्य से जहदजहल्लक्षणा के द्वारा विरुद्धांश का परित्याग कर अखण्डार्थ चैतन्य का बोध होने के अनन्तर। आशय यह है कि जब गुरु द्वारा अध्यारोपापवाद न्याय से 'तत्त्वमसि' वाक्य के अर्थ का सुस्पष्टीकरण होने पर शिष्य को अखण्डार्थ का बोध हो जाता है तब विवेक वैराग्यादि साधनचतुष्टय सम्पन्न उस अधिकारी शिष्य के स्वच्छ अन्तःकरण में अखण्डब्रह्माकारा चित्तवृत्ति का आविर्भाव होता है। किन्तु शिष्य यदि विवेक, वैराग्य आदि से सम्पन्न नहीं होता तो गुरु का उपदेश गन्धर्वनगर की तरह निरर्थक होता है।

अधिकारी शिष्य के चित्त में मैं नित्य–अनित्यत्व रहित, शुद्ध-अविद्यादिदोष-शून्य, बुद्ध–स्वप्रकाशस्वरूप जड़तादिदोषरहित, मुक्त-सर्वोपाधिशून्य, सत्य-अविनाशि-स्वभाव, परमानन्द—कर्मजन्य, सातिशय, क्षयिष्णु तथा तुच्छ वैषयिक मनुष्यानन्दादि चतुर्मुख ब्रह्मानन्द-पर्यन्त से विलक्षण निरतिशयानन्दस्वरूप, अनन्त—देश-काल वस्तु से

चित्तवृत्तिरुदेतीति वाच्यम् । "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तर" इतिश्रुतेर्नित्यापरोक्षं ब्रह्मात्मस्वरूपं तस्मिन्परोक्षज्ञानं जनयतः शब्दस्याप्रामाण्यापत्तेः । किञ्च ज्ञानस्य परोक्षत्वापरोक्षत्वे न करणनिबन्धने किन्त्वर्थनिबन्धने एकस्यैव मनसः सुखादिविषयकापरोक्षज्ञानहेतुत्वस्यातीतार्थस्मृतिहेतुत्वस्य च दर्शनात् । तत्र सहकारिभेदात्तथाभाव इति चेत्तर्हीहाप्यस्ति सहकारिभेदः शब्दप्रतिपत्तुः शब्दार्थनैकट्यलक्षणः । निकटं ह्यत्यन्तमात्मनः स्वरूपं ब्रह्म न त्वस्वरूपमुपाध्यन्तराविष्टमिन्द्रवरुणादिरूपम् । तस्माद्दशमस्त्वमसीत्यादिवाक्यवत्तत्त्वमस्यादिवाक्यानामपरोक्षज्ञानजनकत्वं युक्तमिति भावः ॥

परिच्छिन्न घटादि से विलक्षण अपरिच्छिन्न, अद्वय—नानात्वरहित एक अखण्ड ब्रह्म के आकार को ग्रहण करनेवाली 'मैं ब्रह्म हूँ' इस रूप में जो अन्तःकरण की वृत्ति उत्पन्न होती है, वह अपरोक्ष ब्रह्म को विषय करने से अपरोक्ष अनुभव-साक्षात्काररूप होती हैं, वह किसी परोक्ष तत्त्व के आकार से आकारित नहीं होती ।

इस सन्दर्भ में किसी का यह कहना कि परोक्षज्ञान को ही उत्पन्न करना शब्द प्रमाण का स्वभाव है, अतः 'तत्त्वमसि' रूप शब्द प्रमाण से उत्पन्न चित्तवृत्ति अपरोक्ष नहीं हो सकती, ठीक नहीं है, क्योंकि श्रुति का स्पष्ट निर्देश है कि 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म, य आत्मा सर्वान्तरः' ब्रह्म साक्षात् अपरोक्ष है, आत्मा आन्तर-सर्वापेक्षया सन्निहित है । यह ध्यान देने की बात है कि किसी ज्ञान का परोक्ष या अपरोक्ष होना उसके करण-प्रमाण के अधीन नहीं है अपितु अर्थ के अधीन है । जैसे मन एक करण है वह धर्म, अधर्म आदि के परोक्षानुभव अनुमिति का हेतु होने के साथ सुखदुःखादि के अपरोक्ष अनुभव का भी हेतु होता है । वैसे ही शब्दप्रमाण भी परोक्ष तथा अपरोक्ष उभयविध ज्ञान का जनक होता है । जिस शब्द का अर्थ सन्निहित नहीं होता किन्तु परोक्ष होता है उसका ज्ञान परोक्ष होता है । आत्मा से अधिक निकट और कौन वस्तु हो सकती है अतः तद्विषयक शाब्दज्ञान का अपरोक्ष होना ही उचित है, इन्द्र वरुणादि देव परोक्ष हैं अतः तद्विषयक शाब्दज्ञान का परोक्ष होना उचित है ।

चित्तवृत्ति में चिदात्मा का प्रतिबिम्ब 'चिदाभास' या 'फल' कहा जाता है । चिदाभास से युक्त होने के कारण ही चित्तवृत्ति अज्ञान का सर्वनाश करने में समर्थ होती है, अन्यथा जड़ होने के कारण उसके द्वारा ऐसा कोई भी कार्य नहीं हा सकता है ।

फलतः अखण्डाकाराकारित वह चित्तवृत्ति चिदात्मा के प्रतिबिम्ब-चिदाभास से युक्त हो प्रत्यगात्मा से अभिन्न अज्ञात पर ब्रह्म को विषय बना ब्रह्मविषयक अज्ञानमात्र को नष्ट करती हैं । यहाँ 'परम्' पद से अज्ञानोपाधिक कार्य ब्रह्म का निषेध समझना चाहिए क्योंकि अज्ञानोपाधिक ब्रह्म को अपर ब्रह्म कहा जाता है । अज्ञातपद से

एवमुत्पन्नाखण्डाकारा चित्तवृत्तिः किं करोतीति तदाह—सा त्विति। वृत्तेर्जडत्वादज्ञानबाधनासम्भवमाङ्क्य तां विशिनष्टि—चित्प्रतिबिम्ब-सहिता सतीति। प्रत्यक्चितिव्याप्तेति यावत्। ब्रह्मणोविषयीकरणं नाम वृत्तेस्तदाभिमुख्यम्। ब्रह्मशब्दस्य कार्यब्रह्मविषयत्वं व्यावर्तयति—परमिति। तस्य प्रमेयत्वमाह—अज्ञातमिति। तस्य ताटस्थ्यं वारयति—प्रत्यगभिन्न-मिति। अज्ञानमेव बाधत इत्येवकारेण ब्रह्मणः प्रकाश्यत्वं व्यावर्त्यते। एवं-विधया चित्तवृत्त्या संसारमूलाज्ञाने बाधिते सत्यप्यस्या वृत्तेर्बाधकाभावान्मो-क्षोऽपि सप्रपञ्चः स्यादित्यत आह—तदेति। वृत्तेर्बाधकाभावेऽपि दग्धेन्धनान-लवत्स्वयमेव विनश्यति ततो न सप्रपञ्चो मोक्ष इत्यर्थः। तर्हि वृत्तिप्रतिबिम्बि-

---

ब्रह्म के प्रमेयत्व का अभिधान किया गया है, क्योंकि जो अज्ञात होता है, वही प्रमेय होता है, एवं 'प्रत्यगभिन्न' पद से उसके ताटस्थ्य का निषेध किया गया है।

यह प्रश्न हो सकता है कि क्या अन्तःकरण की अखण्डाकारा वृत्ति परब्रह्म को अपना विषय बनाने में समर्थ है? क्या ब्रह्म अन्तःकरणवृत्ति रूप प्रमाण का प्रमेय बनने योग्य है? ब्रह्म सबका साक्षी द्रष्टा और ग्रहीता है अतः वह विषयी भले ही बने किन्तु वह किसी प्रमाण या क्रिया का विषय कैसे बन सकता है। श्रुति स्पष्ट कहती है—'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्' (बृहदा० २।४।१३) 'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनोमतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' (केन० १।५) आचार्य शङ्कर का भी कहना है कि—'नहि शास्त्रमिदन्तया विषयभूतं ब्रह्म प्रतिपिपाद-यिषति, किं तर्हि प्रत्यगात्मत्वेन अविषयतया प्रतिपादयदविद्याकल्पितं वेद्यवेदितृवेदनादि-भेदमपनयति' (ब्र० सू० शा० भा० १।१।४) इस स्थिति में यह कहना कि अन्तः करण की वृत्ति ब्रह्म को विषय बनाती है, कैसे संगत हो सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि उक्त कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि ब्रह्म किसी प्रमाण या व्यापार का विषय है, किन्तु उस कथन का आशय यह है कि ब्रह्म में विषयता औपचारिक है, वास्तविक नहीं है, अतः अन्तःकरण की वृत्ति का ब्रह्म को ओर अभिमुख होना बताने में ही उक्त वक्तव्य का तात्पर्य है। आशय यह है कि गुरु के उपदेश के पहले जो चित्तवृत्ति बाह्य विषयों की ओर सदा अभिमुख रहती थी वह वृत्ति गुरु के उपदेश के बाद अखण्डाकाराकारित होकर प्रत्यगात्माभिन्न ब्रह्म की ओर अभिमुख हो जाती है। वृत्ति के इस ब्रह्माभिमुखीभाव को ही तो उसके द्वारा ब्रह्म को विषय करना कहा जाता है। ब्रह्म यदि वस्तुतः चित्तवृत्ति का विषय बनता तो वह उसे प्रकाशित करने में भी समर्थ होती। किन्तु ग्रन्थकार का कहना है कि चित्तवृत्ति केवल ब्रह्मविषयक अज्ञानमात्र को ही नष्ट करती है न कि ब्रह्म को प्रकाशित करने में भी समर्थ है। अतः अन्तःकरण की वृत्ति के द्वारा ब्रह्म का विषयीकरण वास्तव में सम्भव नहीं है। 'अज्ञानमेव बाधते' के एव पद से ब्रह्म की प्रकाश्यता का निरास

तस्य प्रत्यक्चैतन्यस्य का गतिरिति तामाह—तत्रेति। तत्र प्रतिबिम्बितं चैतन्यमप्यखण्डचित्तवृत्तेर्बाधितत्वात्प्रत्यगभिन्नपरब्रह्ममात्रं भवतीत्यन्वयः। स्वोपाधिविलये उपहितस्य स्वस्वरूपमात्रावस्थाने दृष्टान्तो दर्पणाभाव इति। उपाध्यनुगामिनो निरुपाधिप्रकाशनासामर्थ्ये दृष्टान्तमाह—यथा दीपप्रभेति। यद्वा परिच्छिन्नप्रकाशस्यापरिच्छिन्नानवभासने दृष्टान्तो यथा दीपेति॥ २८॥

किया गया है, क्योंकि ब्रह्म तो सबका प्रकाशक होने से अन्त:करणवृत्ति का भी प्रकाशक है। ऐसी स्थिति में जड़ अन्त:करणवृत्ति द्वारा ब्रह्म के प्रकाशन का प्रश्न ही निरर्थक है।

इस विषय में किसी टीकाकार का यह कहना कि—'सा चित्तवृत्तिर्न शुद्धब्रह्मविषयिणी किन्त्वज्ञानविशिष्टप्रत्यगभिन्नपरब्रह्मविषयिणी' वह अन्त:करणवृत्ति शुद्ध ब्रह्म को अपना विषय न बनाकर अज्ञानविशिष्ट प्रत्यगात्मरूप परब्रह्म को अपना विषय बनाती है, युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता है क्योंकि शास्त्रों में उपाधि विशिष्ट ब्रह्म को अपर ब्रह्म कहा गया है न कि परब्रह्म। जैसे—'किं पुनः परं ब्रह्म किमपरमिति ? उच्यते, यत्राविद्याकृतनामरूपादिविशेषप्रतिषेधादस्थूलादिशब्दैर्ब्रह्मोपदिश्यते तत्परम्। तदेव यत्र नामरूपादिविशेषेण केनचिद्विशिष्टमुपासनायोपदिश्यते तदपरम्।' (ब्र० सू० शा० भा० ४।३।१४)

इस शाङ्कर भाष्य से सुस्पष्ट है कि परब्रह्म अज्ञानविशिष्ट नहीं हो सकता है। यहाँ यह भी विचारणीय है कि उपाधिविशिष्ट ब्रह्म उपास्य होता है, तथा निरुपाधिक ब्रह्म ज्ञेय होता है—जैसे 'एवमेकमपि ब्रह्मापेक्षितोपाधिसम्बन्धं निरस्तोपाधिसम्बन्धं चोपास्यत्वेन ज्ञेयत्वेन च वेदान्तेषूपदिश्यते' (ब्र० सू० शा० भा० १।१।११) इस भाष्य के आधार पर ब्रह्म एक होने पर भी उपाधिसम्बन्ध की अपेक्षा होने पर उपास्य तथा उपाधिसम्बन्ध के निरस्त होने पर ज्ञेय रूप से वेदान्त ग्रन्थों में सूचित है। यह प्रकरण ब्रह्मज्ञानपरक है न कि उपासनापरक, ऐसी स्थिति में यहाँ निरुपाधिक परब्रह्म ही चित्तवृत्ति के विषयरूप में ग्रन्थकार को अभीष्ट है, अज्ञानोपाधिक ब्रह्म नहीं। वीर रामतीर्थ का भी यही अभिप्राय है—'ब्रह्मशब्दस्य कार्यब्रह्मविषयत्वं व्यावर्त्तयति परमिति'। कार्यब्रह्म सोपाधिक ब्रह्म का अपर नाम है।

अखण्डाकाराकारित अन्त:करणवृत्ति के द्वारा अज्ञान का नाश होते ही पट के कारण तन्तुओं के जल जाने पर जैसे पट जल जाता है, वैसे ही अखिल जगत् के कारण अज्ञान का नाश होते ही उसके कार्य अखिल जगत् का और उसके अन्तर्गत अखण्डब्रह्माकारा अन्त:करण वृत्ति का भी नाश हो जाता है। अतः यह कहना कि अन्त:करण की अखण्डाकाराकारितवृत्ति के द्वारा अज्ञान का नाश होने पर भी निखिल चराचर जगत् और उक्त चित्तवृत्ति तो बनी ही रहेगी तथा उन सबकी प्रतीति भी होती ही रहेगी तो ब्रह्मज्ञान या मोक्ष होने पर भी अद्वैत की निष्पत्ति संभव नहीं है,

उपयुक्त नहीं हो सकता क्योंकि निखिल चराचर जगत् का मूल कारण अविद्या या अज्ञान है अतः अखण्डाकाराकारित अन्तःकरण की वृत्ति द्वारा जब अज्ञान का नाश हो जाता है तब कारण का नाश होते ही उसके कार्य समग्र चराचर जगत् का भी नाश अनिवार्य है, अतः ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर अद्वैत की उपपत्ति में कोई बाधा नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि अन्तःकरण की वृत्ति तो अज्ञान एवं उसके कार्यों की विनाशक सामग्री है न कि अपने विनाश का भी कारण है, तो यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार आग इंधन को जलाकर अपने आप भी बुझ जाती है उसके बुझाने के लिये किसी अन्य की अपेक्षा नहीं होती वैसे ही अन्तःकरण की वृत्ति भी अज्ञान तथा उसके कार्य समग्र जगत् का नाश कर अन्य किसी नाशक की अपेक्षा न कर स्वयं ही अपने आपका भी नाश कर लेती है, उसके नाश के लिये किसी कारणान्तर की आवश्यकता नहीं होती। शास्त्रों में इसे ही दग्धेन्धनानलन्याय शब्द से व्यवहृत किया जाता है।

जैसे अनन्त ब्रह्माण्ड के प्रकाशक सूर्य को दीपक का स्वल्प प्रकाश प्रकाशित करने में असमर्थ हो सूर्य के समक्ष सूर्य के प्रकाश से अभिभूत हो जाता है उसके प्रकाश का पता ही नहीं चलता वैसे ही अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित चैतन्य (चिदाभास) भी स्वयं प्रकाशमान प्रत्यगात्माभिन्न परब्रह्म को प्रकाशित करने में असमर्थ होने के कारण उससे अभिभूत हो जाता है, एवं जैसे दर्पणगत मुखप्रतिबिम्ब दर्पण का नाश होने से मुखमात्र (बिम्बमात्र) हो जाता है, वैसे ही अपनी उपाधिभूत अन्तःकरण की अखण्डाकारा वृत्ति का विनाश होने से प्रत्यगात्माभिन्न परब्रह्ममात्र हो जाता है।

यदि यह कहा जाय कि जब अन्तःकरण की वृत्ति अज्ञान तथा उसके कार्य जगत्प्रपञ्च का नाश कर स्वयं भी नष्ट हो जाती है तब यह मानने में क्या बाधा है कि उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य (चिदाभास) जैसे अन्य पदार्थों को प्रकाशित करता है वैसे ही ब्रह्म को भी प्रकाशित करता है, तो यह कहना नितान्त उपहसनीय है, क्योंकि जब घट आदि जड़ पदार्थों से आकारित अन्तःकरण की वृत्ति होती है तब उसके दो व्यापार होते हैं, एक यह कि उससे उसके विषय घट के अज्ञान का नाश होता है और दूसरा यह कि उसमें सम्पन्न चिदाभास से घट का प्रकाशन होता है। इस प्रकार घट के प्रत्यक्ष में अन्तःकरण की वृत्ति और चिदाभास दोनों का उपयोग होता है, किन्तु ब्रह्मज्ञान की प्रक्रिया इससे भिन्न है, जैसे अन्तःकरण की ब्रह्माकार वृत्ति से ब्रह्मविषयक अज्ञान का नाश तो होता ही है, किन्तु उसमें जो चिदाभास होता है वह ब्रह्म को प्रकाशित करने में कथमपि समर्थ नहीं है, क्योंकि जो स्वयं परिमित प्रकाशवाला है, वह अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करनेवाले अपरिमित प्रकाशरूप ब्रह्म को प्रकाशित करने में कैसे समर्थ हो सकता है ? अतः वस्तुस्थिति

यह है कि जैसे दीपक का परिमित प्रकाश अपरिमित प्रकाशरूप सूर्य को प्रकाशित नहीं कर सकता प्रत्युत सूर्य के प्रकाश से अभिभूत हो जाता है, वैसे ही ब्रह्म चैतन्य का प्रतिबिम्ब चिदाभास जिसका अस्तित्व बिम्बभूत ब्रह्म चैतन्य पर ही आधारित है वह भी ब्रह्मचैतन्य को प्रकाशित करने में असमर्थ है, क्योंकि जब वह स्वयं अन्तःकरण-वृत्तिरूप उपाधि का अनुगन्ता है, तब स्पष्ट है कि वह निरुपाधिक ब्रह्म को कथमपि नहीं प्रकाशित कर सकता, हाँ, वह अपने आपको ब्रह्मचैतन्य में अन्तर्लीन कर सकता है, जो होता ही है।

यह ज्ञातव्य है कि चिदाभास की उपाधि अन्तःकरणवृत्ति जब अज्ञान और उसके कार्यसमूह का नाश कर स्वयं भी विनष्ट हो जाती है तब उसमें स्थित चैतन्य का प्रतिबिम्ब भी आश्रय के नष्ट होने से पृथक् नहीं रह सकता, उस समय केवल बिम्ब ब्रह्मचैतन्य ही रह जाता है। यह ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार दर्पण में पड़नेवाला मुख का प्रतिबिम्ब दर्पण के हटा लेने पर अलग नहीं रह जाता, किन्तु उस समय मुखमात्र ही शेष रह जाता है।

निष्कर्ष यह है कि उपहित चैतन्य की उपाधि का नाश होने पर अनुपहित शुद्ध स्वरूप चैतन्य मात्र ही स्थित रहता है, उस समय द्वैत के लेश की भी संभावना नहीं रह जाती। उपर्युक्त से यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मज्ञान की प्रक्रिया में चित्तवृत्ति का उपयोग तो होता है, क्योंकि वह ब्रह्मविषयक अज्ञान का नाश करती है, किन्तु वहाँ चिदाभास की कोई आवश्यकता नहीं होती। इस सन्दर्भ में यह बात विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है कि अन्तःकरणवृत्ति का ब्रह्म को विषय बनाना, ब्रह्म के अज्ञान का नाश होना, अज्ञाननाश से विश्वप्रपञ्च के साथ अन्तःकरणवृत्ति का नाश होना, चिदाभास का ब्रह्म को प्रकाशित करने में असमर्थ होने से ब्रह्म से अभिभूत होना और उपाधिभूत अन्तःकरणवृत्ति का नाश होने से ब्रह्म-मात्र का शेष रह जाना यह सारी क्रमिक प्रक्रिया केवल समझने एवं समझाने के लिए शास्त्रों में वर्णित है। वस्तुस्थिति यह है कि उक्त सारे कार्य युगपत् होते हैं। उनके होने में एक क्षण के सहस्रांश का भी विलम्ब नहीं होता। जीव को ब्रह्मत्व प्राप्त होने पर उसके निखिल उपाधियों के बन्धन तत्काल ही विनष्ट हो जाते हैं। उस समय अज्ञान, विश्वप्रपञ्च, अन्तःकरणवृत्ति और चिदाभास इन सबों का पता नहीं लगता। अखण्ड चिदानन्द समुद्र लहराने लगता है। पत्नी, पुत्र, पौत्रादि, सगे सम्बन्धी, सम्पत्ति, गृह, भूमि, देह, इन्द्रिय तथा अन्तःकरणादि का सारा झमेला समाप्त हो जाता है। राग, द्वेष, स्पर्धा, भय, विषाद, ईर्ष्या तथा कामादि विविध भयंकर शत्रु शशश्रृङ्ग की तरह अलीक हो जाते हैं। उस स्थिति का अनुभव तत्त्वदर्शी योगी के लिये भी दुर्लभ है। वह स्थिति अन्तरिन्द्रिय एवं बहिरिन्द्रिय से अगम्य है क्योंकि उनका नाश होने पर ही वह उदित होती है। व्युत्थान काल का अनुभव तो किसी प्रकार वाणी का विषय बन सकता है।

एवं च सति "मनसैवानुद्रष्टव्यं", "यन्मनसा न मनुते" इत्यनयोः श्रुत्योरविरोधो वृत्तिव्याप्यत्वाङ्गीकारेण फलव्याप्यत्व-प्रतिषेधप्रतिपादनात् । तदुक्तम्—

"फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम् ।
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता" ॥ इति ।

"स्वयम्प्रकाशमानत्वान्नाभास उपयुज्यते" इति च । जड-पदार्थाकाराकारितचित्तवृत्तेर्विशेषोऽस्ति । तथाहि । अयं घट इति घटाकाराकारितचित्तवृत्तिरज्ञातं घटं विषयीकृत्य तद्गताज्ञाननिरसन-पुरःसरं स्वगतचिदाभासेन जडं घटमपि भासयति । तदुक्तम्—

"बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावेतौ व्याप्नुतो घटम् ।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत्" इति ॥

यथा दीपप्रभामण्डलमन्धकारगतं घटपटादिकं विषयीकृत्य तद्-गतान्धकारनिरसनपुरःसरं स्वप्रभया तदपि भासयतीति ॥ २९ ॥

अनुवाद—

ब्रह्मानुभव की इस प्रकार की प्रक्रिया होने पर 'मन के द्वारा ही वह द्रष्टव्य है' और 'मन के द्वारा जिसको नहीं जाना जा सकता' इन दोनों श्रुतियों में विरोध नहीं है, क्योंकि उक्त श्रुतियों से ब्रह्म में वृत्तिव्याप्यत्व को अङ्गीकार कर फलव्याप्यत्व का प्रतिषेध प्रतिपादित है । कहा भी गया है—

शास्त्रकारों ने ब्रह्म के फलव्याप्यत्व का ही निषेध किया है ब्रह्मविषयक अज्ञान के नाश के लिए उसमें वृत्तिव्याप्यत्व तो अपेक्षित ही है । स्वयम्प्रकाश होने के कारण चिदाभास का कोई भी उपयोग नहीं है ।

अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति की अपेक्षा जडपदार्थाकाराकारित चित्तवृत्ति में विशेषता है । उदाहरण के लिए—यह घट है इस प्रकार की घटाकाराकारित चित्त-वृत्ति अज्ञात घट को विषय बनाकर घटविषयक अज्ञान को दूर करती है तथा अपने अन्दर रहनेवाले चिदाभास से जड़ घट को प्रकाशित भी करती है । कहा भी गया है—

बुद्धि और बुद्धि में वर्तमान चिदाभास दोनों ही घट को व्याप्त करते हैं, उनमें बुद्धि से अज्ञान का नाश होता है और चिदाभास से घट का स्फुरण होता है । जैसे दीपक का प्रभामण्डल अन्धकारस्थ घटपटादि को विषय बनाकर उनको आवृत करने वाले अन्धकार का निरास करता है और अपनी प्रभा से उन्हें प्रकाशित भी करता है ।

वाक्यजनिता ब्रह्मात्माकारा चित्तवृत्तिस्तगद्‌ताज्ञानमेव बाधते ननु तत्प्रकाशयतीति विशेषनिरूपणे फलितमाह—एवं चेति। अविरोधः सिद्ध इति शेषः। तत्रैवंशब्दसूचितमर्थं हेतुमाह—वृत्तिव्याप्यत्वा इति। विशिष्ट-शब्दादिप्रमाणबलात्तद्विषयाकारधीसमुन्मेषाभिव्यक्तत्वं वृत्तिव्याप्यत्वम्। बाह्येन्द्रियसन्निकृष्टार्थाकारबाह्यधीपरिणामावच्छिन्नचिदंशकृतप्राकट्याश्रयत्वं फलव्याप्यत्वमिति भेदः। उक्तेऽर्थे वृद्धसम्मतिमाह–स्वयम्प्रकाशेति। ननु ब्रह्म फलव्याप्यं साभासान्तःकरणव्यङ्‌ग्यत्वात्प्रत्यक्षत्वाद्वा घटादिवद्‌द्वा ब्रह्माकारा वृत्तिः सकर्मिकापरोक्षवृत्तित्वाद्घटादिवृत्तिवदित्याशङ्क्य पूर्वस्मिन्ननुमाने जडत्वमुपाधिरुत्तरस्मिंस्तु जडविषयत्वमुपाधिरित्यभिप्रेत्याह—जडपदार्थेति। प्रतिज्ञातमर्थं सदृष्टान्तमुपपादयति—तथा हीत्यादिना। इतिशब्दोऽनुभव-वाक्यार्थनिरूपणसमाप्त्यर्थः ॥ २९ ॥

व्याख्या—

ब्रह्मानुभव की उक्त प्रक्रिया द्वारा अज्ञात चैतन्य के वृत्तिव्याप्यत्व का अङ्गीकार तथा फलव्याप्यत्व का निषेध होने से 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' अर्थात् मन के द्वारा ही उसका दर्शन करना चाहिए (बृहदा० ४।४।१९) और 'यन्मनसा न मनुते' अर्थात् मन के द्वारा जिसको जाना नहीं जा सकता है (केन० १।५) इन दोनों श्रुतियों में परस्पर कोई विरोध नहीं है, क्योंकि शास्त्रों में ब्रह्म का चित्तवृत्ति के द्वारा व्याप्त होना तो स्वीकार किया गया है, किन्तु फल (चिदाभास) से उसके व्याप्त होने का निषेध किया गया है। विद्यारण्य ने भी यही बात कही है कि "ब्रह्म की फलव्याप्यता चिदाभास से प्रकाशित होने का शास्त्रकारों द्वारा निषेध किया गया है तथा "ब्रह्मविषयक अज्ञान के नाश के लिए वृत्तिव्याप्ति-चित्तवृत्ति के द्वारा ब्रह्म का विषयीकरण अपेक्ष्य है, किन्तु ब्रह्म के स्वयम्प्रकाश होने से उसको प्रकाशित करने के लिए चिदाभास की कोई आवश्यकता नहीं है (पञ्चदशी ७।९२)।

अखण्डाकाराकारित अन्तःकरण की वृत्ति की अपेक्षा जड़ घटादि पदार्थों के आकार को धारण करनेवाली चित्तवृत्ति में विशेषता-भेद है। जैसे घट के आकार को धारण करनेवाली घटाकाराकारित अन्तःकरण वृत्ति अज्ञात घटको विषय बनाकर घट-विषयक अज्ञान को दूर कर अपने अन्तर्गत रहनेवाले चिदाभास से जड़ घट को प्रकाशित भी करती है। कहा भी गया है—'बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम्। तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत्॥ (पञ्चदशी ७।९१) अर्थात् बुद्धि और बुद्धि में रहनेवाला चिदाभास दोनों ही घट को व्याप्त करते हैं, उनमें बुद्धि से घटविषयक अज्ञान नष्ट होता है और चिदाभास से घट का स्फुरण होता है। जैसे दीपक का प्रभामण्डल अन्धकार में स्थित घट, पटादि को विषय बनाकर उनको आवृत करनेवाले अन्धकार को हटाकर अपने प्रकाश से उन्हें प्रकाशित भी कर देता है।

किसी विषय का ज्ञान होने में क्रमशः दो स्थितियाँ होती हैं–प्रथम वृत्तिव्याप्ति, बाद में फलव्याप्ति। वृत्तिव्याप्ति को वेदान्तपरिभाषाकार इस प्रकार अङ्कित करते हैं—"यथा तडागोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मना केदारान् प्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणाकारं भवति, तथा तैजसमन्तःकरणमपि चक्षुरादिद्वारा घटादिविषयदेशं गत्वा घटादिविषयाकारेण परिणमते, स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते" ॥

अर्थात् जैसे तालाब का जल छिद्र से निकल कर नाली में बहता हुआ क्यारियों में प्रविष्ट हो तिकोनी या चौकोर क्यारियों के आकार को धारण कर लेता है वैसे ही तैजस अन्तःकरण भी नेत्र आदि इन्द्रियों के द्वार से निकल कर घटादि विषयों से सम्बद्ध होकर उन्हीं के आकार में परिणत हो जाता है, इसी परिणाम को वृत्ति कहते हैं।

जब इसी प्रकार अन्तःकरण अखण्डब्रह्म को प्राप्त कर उसी के आकार में परिणत हो जाता है तब इसी स्थिति को ब्रह्म का वृत्ति से व्याप्त होना कहा जाता है।

अन्तःकरण का विषयाकार परिणाम होने पर उससे अवच्छिन्न या उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य-चिदाभास के द्वारा विषय का प्रकाश होना फलव्याप्ति है। स्वामी रामतीर्थ ने अपनी टीका में इसे इस प्रकार व्यक्त किया है—'आत्मेन्द्रियसन्निकृष्टार्थाकारबाह्यधीपरिणामावच्छिन्नचिदंशकृतप्राकट्याश्रयत्वं फलव्याप्यत्वम्'।

फलतः ब्रह्मप्रत्यक्ष की उक्त प्रक्रिया के निरूपण से यह निश्चय हो जाता है कि ब्रह्मज्ञान के लिए वृत्तिव्याप्ति आवश्यक है, क्योंकि वृत्तिव्याप्ति के बिना ब्रह्मविषयक अज्ञान का निरास होना सम्भव नहीं है, किन्तु ब्रह्म में फलव्याप्ति के लिए कोई अवसर नहीं है क्योंकि स्वप्रकाश ब्रह्म का प्रकाश चिदाभास की अपेक्षा नहीं रखता।

ऐसी स्थिति में 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' (बृहदा० ४।४।१९) 'मनसैवेदमाप्तव्यम्' (कठ० २।१।११) 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया' आदि श्रुतियों द्वारा जहाँ आत्मा को मनोगम्य या बुद्धिगम्य कहा गया है वहाँ मन और बुद्धि से 'वृत्ति' को समझना चाहिए। और जहाँ 'यन्मनसा न मनुते' (केन० १।५) 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तैत्ति०२।९।१) इत्यादि श्रुतियों से आत्मा को मन तथा बुद्धि से अगम्य बोधित किया गया है वहाँ इन पदों से 'फल' को समझना चाहिए। इस प्रकार समझ लेने पर इन श्रुतियों का परस्पर आपाततः प्रतीयमान विरोध निरस्त हो जाता है।

साक्षी प्रत्यक्चैतन्य स्वप्रकाश होने पर भी घटादि अन्य पदार्थों की तरह अन्तःकरण वृत्ति से व्याप्त होता है। शास्त्रकारों ने ब्रह्म के फलव्याप्यत्व का ही निषेध किया है। बुद्धि और तद्गत चिदाभास दोनों ही घट को व्याप्त करते हैं। उनमें भी अन्तःकरण वृत्ति से (बुद्धिवृत्ति से) घटविषयक अज्ञान का नाश होता है और चिदाभास से घट का प्रकाश होता है। ब्रह्मविषयक अज्ञान के निरास के लिए वृत्तिव्याप्ति तो अपेक्षित है, किन्तु स्वप्रकाश ब्रह्म के प्रकाशन के लिए चिदाभास की आवश्यकता

एवंभूतस्वस्वरूपचैतन्यसाक्षात्कारपर्यन्तं श्रवणमनननिदिध्यासन-समाध्यनुष्ठानस्यापेक्षितत्वात्तेऽपि प्रदर्श्यन्ते। श्रवणं नाम षड्विधि-लिङ्गैरशेषवेदान्तानामद्वितीये वस्तुनि तात्पर्यावधारणम्। लिङ्गानि तूपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वताफलार्थवादोपपत्त्याख्यानि। तत्र प्रकरण-प्रतिपाद्यस्यार्थस्य तदाद्यन्तयोरुपपादनमुपक्रमोपसंहारौ। यथा छान्दोग्ये षष्ठाध्याये प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुन "एकमेवा-

---

नहीं है। जैसे अन्धकार में स्थित घटादि को देखने के लिए नेत्र और दीप दोनों की आवश्यकता तो होती है, किन्तु दीपक को देखने के लिए केवल नेत्र की आवश्यकता होती है, क्योंकि दीपक स्वप्रकाश है। अखण्डाकाराकारित वृत्ति में स्थित भी चिदाभास ब्रह्म में ऐक्य को प्राप्त कर लेता है, अतः घटादि की तरह ब्रह्म के प्रकाशन-रूप अतिशय में उपयुक्त नहीं होता। 'अप्रमेयमनादिं च' (अमृतबिन्दू० ९) इस मन्त्र में श्रुति द्वारा ब्रह्म में फलव्याप्ति के अभाव का वर्णन किया गया है और 'मनसैवेदमाप्तव्यम्' (कठ० २।१।११) इस मन्त्र में ब्रह्म में वृत्तिव्याप्ति का वर्णन किया गया है। अर्थात् उक्तार्थ में श्रुति प्रमाण है। 'तदपि भासयतीति' इस वाक्य में उपात्त इति शब्द अनुभव वाक्य के अर्थ के निरूपण के समापन का द्योतन करता है।

[आत्मसाक्षात्कार की सिद्धि के लिए श्रवणादि की आवृत्ति होनी चाहिए— 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' (ब्रह्मसूत्र० ४।१।१) क्योंकि 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' इत्यादि श्रुतियों में उसका बार-बार उपदेश किया गया है। इस न्याय के अनुसार जब तक ब्रह्मसाक्षात्काररूप अनुभव दाढर्च को न प्राप्त करे तब तक श्रवणादि साधनों का सतत अभ्यास आवश्यक है, अतः श्रवणादि का निरूपण प्रस्तुत किया जाता है—]

अनुवाद—

उक्त श्रुति, युक्ति और अनुभव द्वारा समस्त उपाधि के निरास होने पर प्रत्यगात्मा अभिन्न, परमानन्द, चिद्रूप के साक्षात्कार होने तक श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि का अनुष्ठान अपेक्षित होने से, वे प्रदर्शित किये जा रहे हैं।

छः प्रकार के लिङ्गों द्वारा समस्त वेदान्तों का अद्वितीय वस्तु में तात्पर्य का निश्चय करना श्रवण है। उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति ये छः लिङ्ग हैं।

उनमें प्रकरण प्रतिपाद्य अर्थ का उस प्रकरण के आदि और अन्त में उपपादन करना क्रमशः उपक्रम और उपसंहार है। जैसे छान्दोग्योपनिषद् में छठवें अध्याय में प्रकरण के द्वारा प्रतिपाद्य अद्वितीय वस्तु का "एकमात्र, अद्वितीय" इन शब्दों द्वारा आदि में और "यह सारा संसार सत्संज्ञक आत्मा से आत्मवान् है" इन शब्दों से प्रकरण के अन्त में प्रतिपादन किया गया है।

द्वितीयं" इत्यादौ "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं" इत्यन्ते च प्रतिपादनम्। प्रकरणप्रतिपाद्यस्य वस्तुनस्तन्मध्ये पौनःपुन्येन प्रतिपादनमभ्यासः। यथा तत्रैवाद्वितीयवस्तुनि मध्ये तत्त्वमसीति नवकृत्वः प्रतिपादनम्। प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः प्रमाणान्तराविषयीकरणमपूर्वता। यथा तत्रैवाद्वितीयवस्तुनो मानान्तराविषयीकरणम्। फलं तु प्रकरण-प्रतिपाद्यस्यात्मज्ञानस्य तदनुष्ठानस्य वा तत्र तत्र श्रूयमाणं प्रयोजनम्। यथा तत्र "आचार्यवान्पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य" इत्यद्वितीयवस्तुज्ञानस्य तत्प्राप्तिः प्रयोजनं श्रूयते। प्रकरणप्रतिपाद्यस्य तत्र तत्र प्रशंसनमर्थवादः। यथा तत्रैव "उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतम-विज्ञातं विज्ञातं" इत्यद्वितीयवस्तुप्रशंसनम्।

इदानीं "आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" इतिन्यायमाश्रित्यैवंविधसाक्षात्कार-रूपानुभवदार्ढ्यपर्यन्तमनुष्ठेयं श्रवणादिसाधनजातं निरूपयितुमारभते—एव-मित्यादिना। तथा च श्रुतिः—"तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याय मुनिः" इति पाण्डित्यबाल्यमुनिशब्दैः क्रमेण श्रवणमनननिदिध्यासनानि विधत्ते। तथा—

"तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः"॥

प्रकरण प्रतिपाद्य वस्तु का मध्य में 'तत्त्वमसि' इन शब्दों द्वारा नौ बार प्रतिपादन किया गया है।

प्रकरण प्रतिपाद्य अद्वितीय वस्तु का प्रमाणान्तर का अविषय बोधन करना अपूर्वता है। जैसे वहीं अद्वितीय वस्तु का अन्य प्रमाणों से अगम्य बोधन किया गया है।

प्रकरण प्रतिपाद्य आत्मज्ञान या आत्मज्ञान के लिए किए गये अनुष्ठान का वहाँ वहाँ श्रूयमाण प्रयोजन, फल कहलाता है। जैसे वहीं आचार्यवान् पुरुष आत्मा को जानता है उसके लिए तभी तक देर है जब तक वह शरीरात्मक बन्धन से छुटकारा नहीं पाता। उसके बाद वह ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेता है। इत्यादि शब्दों से अद्वितीय वस्तु के ज्ञान का प्रयोजन अद्वितीय वस्तु की प्राप्ति बताया जाता है।

प्रकरण प्रतिपाद्य विषय की जगह-जगह पर प्रशंसा करना अर्थवाद है। जैसे वहीं क्या तुमने वह उपदेश पूछा है, जिसके सुनने पर, बिना सुना हुआ भी सुना हो जाता है, अमत भी मत हो जाता है और अविज्ञात विज्ञात हो जाता है इन शब्दों द्वारा अद्वितीय वस्तु की प्रशंसा की गई है।

प्रकरणप्रतिपाद्यार्थसाधने तत्र तत्र श्रूयमाणा युक्तिरुपपत्तिः। यथा तत्र "यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यं" इत्यादावद्वितीयवस्तुसाधने विकारस्य वाचारम्भणमात्रत्वे युक्तिः श्रूयते।

इति श्वेताश्वतरीयो मन्त्रः समाधिमनुष्ठेयं सूचयति। "सहकार्यन्तरविधि पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत्" इतिन्यायेनायमर्थो निर्णीतः। श्रवणादीनां लक्षणमाह—श्रवणं नामेत्यादिना। "गतिसामान्यात्" इतिन्यायमाश्रित्य अशेषवेदान्तानामित्युक्तम् "न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि" इतिन्यायमाश्रित्य अद्वितीयवस्तुनीत्युक्तम्।

प्रकरण प्रतिपाद्य अर्थ की सिद्धि के लिए जगह-जगह पर वर्णित युक्ति, उपपत्ति है। जैसे वहीं हे सौम्य, मिट्टी के एकपिण्ड को जान लेने पर सम्पूर्ण मृण्मय वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है, विकार, वाणी से उदित होनेवाला नाम मात्र है, सत्य तो केवल मिट्टी ही है, इत्यादि में अद्वितीय वस्तु की सिद्धि के लिए, विकार के वाणीमात्र के आश्रित होने में युक्ति दी गई है।

व्याख्या—

उक्त श्रुति, युक्ति, तथा अनुभवों के द्वारा समस्तोपाधिमुक्त, प्रत्यगभिन्न, परमानन्द स्वरूप चैतन्य का साक्षात्कार न होने तक श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि का अनुष्ठान (अभ्यास) करना अपेक्षित है। अतः उनका वर्णन आवश्यक है। श्रवण—श्रवण का अर्थ है सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों का अद्वय ब्रह्मरूप वस्तु के प्रतिपादन में तात्पर्य का निर्णय, जो छः प्रकार के लिङ्गों से सम्पादित होता है। वेदलिङ्ग हैं उपक्रम, (प्रारम्भ) उपसंहार (समाप्ति) अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति।

किसी प्रकरण के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ का उस प्रकरण के प्रारम्भ में उपपादन (उपस्थापन) करना 'उपक्रम' है। एवं किसी प्रकरण के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ का उस प्रकरण के अन्त में उपपादन (उपस्थापन) करना उपसंहार' है।

जैसे छान्दोग्योपनिषद में छठे अध्याय में प्रकरण प्रतिपाद्य अद्वितीय ब्रह्मरूप वस्तु का 'एकमेवाद्वितीयम्' (१।२।१) एकमात्र अद्वितीय (सत् ही था) इन शब्दों से प्रारम्भ में, और 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् इस सत्संज्ञक आत्मा से आत्मवान् है इन शब्दों से अन्त में प्रतिपादन किया है, यही क्रमशः उपक्रम तथा उपसंहार है।

प्रकरण प्रतिपाद्य वस्तु का उस प्रकरण के मध्य में पुनः पुनः प्रतिपादन करना 'अभ्यास' है। जैसे वहीं पर (छान्दोग्योपनिषद के छठे अध्याय में ही) अद्वितीय वस्तु का प्रकरण के मध्य में 'तत्त्वमसि' वाक्य से नौ बार प्रतिपादन किया गया है।

लिङ्गानि कानीत्यपेक्षायां तानि विभजते—लिङ्गानि त्विति। उपक्रमोपसंहाराभ्यामाद्यं लिङ्गं लक्षयित्वोदाहरति—यथा छान्दोग्य इति। पुनः पुनरित्यस्य भावः पौनःपुन्यम्। तथैव छान्दोग्यषष्ठे मानान्तराविषयीकरणमाचार्यवान्पुरुषो वेदेति सूचितमिति शेषः। तदनुष्ठानस्य चेति सगुणविद्याभिप्रायेणोक्तम्। आचार्यवान्पुरुषो वेदेति साहचर्यादिहोदाहृतं न पुनः फलवचनं तत्। तस्य तावदिति तु फलवचनमिहोदाहरणमिति द्रष्टव्यम्। उदाहरणान्तरं स्पष्टार्थम्। तथा च न्यायो वाचारम्भणश्रुतेरुपपत्तिपरत्वनिर्णयपरः "तदन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य" इति॥

प्रकरण प्रतिपाद्य वस्तु का (श्रुति के अतिरिक्त) किसी अन्य प्रमाण के द्वारा विषय न बनाया जाना (अर्थात् किसी अन्य प्रमाण से बोधित न करना) 'अपूर्वता' (नवीनता) है। जैसे उसी प्रकरण में अद्वितीय वस्तु का किसी अन्य प्रमाण का विषय न होना (आचार्यवान् पुरुषो वेद) इस कथन से सूचित होता है।

प्रकरण से प्रतिपाद्य आत्मज्ञान अथवा आत्मज्ञान के लिये किये जाने वाले अनुष्ठान के प्रयोजन का उस-उस प्रकरण में श्रूयमाण होना 'फल' कहलाता है। जैसे वहाँ ही "आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" अर्थात् आचार्यवान् पुरुष ही आत्मा को जानता है, उसके लिये बस तभी तक विलम्ब है जब तक वह शरीर के बन्धन से मुक्त नहीं होता, उसके पश्चात् तो वह सत्सम्पन्न अर्थात् ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेता है, इन शब्दों से अद्वितीय वस्तु के ज्ञान का प्रयोजन उसकी प्राप्ति बताया गया है।

प्रकरण के प्रतिपाद्य विषय का उस प्रकरण में जगह-जगह प्रशंसा करना 'अर्थवाद' कहलाता है। जैसे वहीं पर "उतमादेपप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्" (६।१।३) अर्थात् क्या तुमने आचार्य से वह उपदेश पूछा है जिसके सुन लेने पर विना सुना हुआ भी सुना हुआ हो जाता है। विना विचार किया हुआ विचार किया हुआ हो जाता है, और विना जाना हुआ जाना हुआ हो जाता है, इन शब्दों से अद्वितीय वस्तु की प्रशंसा की गयी है।

प्रकरण के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ को प्रमाणित करने के लिये जगह-जगह वर्णित होने वाली युक्ति ही 'उपपत्ति' कहलाती है। जैसे वहाँ पर "यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (६।१।४) अर्थात् हे सौम्य जिस प्रकार मृत्तिका के एक पिण्ड को जान लेने पर सम्पूर्ण मृण्मय वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है, विकार (कार्य) तो वाणी से आरम्भ (उत्पन्न) होने वाला नाम मात्र होता है, सत्य तो केवल (कारणभूत) मृत्तिका ही होती है, इत्यादि वाक्यों से अद्वितीय वस्तु (की ही सत्यता) को उपपन्न करने के लिये विकार के केवल वाणी के आश्रित होने में युक्ति का उपस्थापन किया गया है।

एवं शाखान्तरेष्वप्युपक्रमोपसंहारादि निरूपणीयम् । तथा हि बृहदारण्यके तावत्—"आत्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति" इत्युपक्रमः । "पूर्णमदः" इत्युपसंहारः । "स एव नेति नेत्यात्मा" इत्यभ्यासः । "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" इत्यपूर्वत्वं सूचितम् । "अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि", "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" इत्यादि फलम् । "तद्यो यो देवानां" इत्याद्यर्थवादः । "स यथा दुन्दुभेः" इत्याद्युपपत्तिः ॥

तथा तैत्तिरीयके—"ब्रह्मविदाप्नोति परं" इत्युपक्रमः । "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" इत्युपसंहारः । "स यश्चायं" इत्यभ्यासः । "यो वेद निहितं गुहायां" इत्यपूर्वतासूचनम् । "अभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयं गतो भवति" इति फलश्रुतिः । "सोऽकामयत" इत्याद्यर्थवादः । "असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत् । अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः" इति, "को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" इत्युपपत्तिः ॥

आत्म साक्षात्कार के साधन श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि ये चार वेदान्त में वर्णित किये गये हैं । इनमें श्रवण, मनन, निदिध्यासन इन तीनों का वर्णन 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में प्राप्त होता है 'तस्माद् ब्राह्मण: पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद् बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनि:" (३।५।१) अर्थात् इसलिये ब्राह्मण को चाहिये कि आत्मज्ञानरूप पाण्डित्य को सम्पूर्णतया जान कर बाल्यभाव (ज्ञान बलभाव) से स्थित रहने की वाञ्छा करे, तदनन्तर बाल्य और पाण्डित्य को नि:शेषत्वेन ज्ञात कर वह मुनि (योगी) होता है ।

यहाँ पर "पाण्डित्य" शब्द से श्रवण, 'बाल्य' शब्द से मनन और मुनि शब्द से निदिध्यासन का उपस्थापन किया गया है । और यह निर्णय "सहकार्यन्तरविधि: पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत्" (ब्रह्मसूत्र ३।४।४७) बादरायण के इस सूत्र के आधार पर किया गया है ।

श्वेताश्वतर उपनिषद् के "तस्याभिध्यानद्योजनात्तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमाया-निवृत्ति:" इस मन्त्र से समाधि का विधान वर्णित है । अर्थात् उस परमात्मा के अभि-ध्यान से उसमें मनोयोग करने से और तत्त्व की भावना करने से विश्व रूप माया का विकास होता है ।

"गति सामान्यात्" (ब्रह्मसूत्र १।१।१०) अर्थात् समस्त वेदान्त वाक्यों से होने वाला ज्ञान एक रूप है, इस न्याय का आश्रय कर श्रवण की परिभाषा में "अशेष-वेदान्तानाम्" यह शब्द प्रयुक्त समझना चाहिये । तथा "न स्थानोऽपि परमस्योभय लिङ्गं सर्वत्र हि" (ब्रह्मसूत्र ३।२।११) अर्थात् "पर ब्रह्म में सविशेष और निर्विशेष दो स्वभाव न तो स्वत: हो सकते हैं और न उपाधि के कारण, क्योंकि सभी वेदान्त

तथा मुण्डके च—"अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यते" इत्युपक्रमः। "ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्" इत्युपसंहारः। "येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं", "तदेतदक्षरं ब्रह्म", "तमेवैकं जानथ आत्मानं" इत्याद्यभ्यासः। "न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा" इत्यारभ्य "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः" इत्यन्तेनापूर्वतासूचनम्। "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति", "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" इति फलश्रुतिः। "यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः" इत्याद्यर्थवादः। "कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञारूपा ह्युपपत्तिः। एवमैतरेयादिष्वपि शाखान्तरेषूपक्रमाद्यूहनीयम् ॥

वाक्यों में एकरूप निर्विशेष ब्रह्म ही कहा गया है, इस न्याय के अनुगुण 'अद्वितीय वस्तुनि' इस पद से निर्विशेष ब्रह्म को ही समझना चाहिए। एवं 'तात्पर्यावधारणम्' में अवधारण के अन्तर्गत विचार को भी ग्रहण करना चाहिए, अर्थात् सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों का अद्वितीय ब्रह्म में ही तात्पर्य है, यह निश्चय विचारपूर्वक करना चाहिए, उसमें अन्धश्रद्धा नहीं करनी चाहिए।

इसी प्रकार 'लीनमर्थं गमयतीति लिङ्गम्' इस व्युत्पत्ति के आधार पर जीव और ब्रह्म की एकरूपता जो लीन (छिपा हुआ) अर्थ है, उसका बोधक होने के कारण उपक्रमादि को लिङ्ग समझना चाहिए। सर्वदर्शनसंग्रह में बृहत्संहिता का एक पद्य उद्धृत है जिसमें इन लिङ्गों को इस क्रम से निर्दिष्ट किया गया है—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥

सदानन्द की लिङ्गों की गणना का मूल प्रेरणास्रोत संभवतः यह पद्य ही रहा हो।

मीमांसकों और वेदान्तियों का यह निश्चित सिद्धान्त है कि वेद में केवल वे ही विषय सन्निविष्ट हैं, जो प्रत्यक्ष और तर्क से गम्य नहीं हैं। वेद लोकसिद्ध विषयों का प्रतिपादन नहीं करता। "अज्ञातज्ञापकं शास्त्रम्" अर्थात् शास्त्र केवल अज्ञात का ज्ञापक होता है ज्ञात का ज्ञापक नहीं होता। उपनिषदों का प्रतिपाद्य अद्वितीय ब्रह्म लोकसिद्ध नहीं है। उपनिषदों से भिन्न किसी अन्य प्रमाण से वह ज्ञात नहीं हो सकता। "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" (बृहदा० ३।९।२६) इस वाक्य में पुरुष के औपनिषद विशेषण से उसकी एकमात्र उपनिषत्प्रमाणवेद्यता का प्रकाशन होता है। इस विषय में शाङ्करोक्ति इस प्रकार है—

"यत्तूक्तं परिनिष्पन्नत्वाद् ब्रह्मणि प्रमाणान्तराणि सम्भवेयुरिति, तदपि मनोरथमात्रम्। रूपाद्यभावाद्धि नायमर्थः प्रत्यक्षस्य गोचरः। लिङ्गाद्यभावाच्च नानुमानादीनाम्। आगममात्रसमधिगम्य एव त्वयमर्थो धर्मवत्। तथा च श्रुतिः—'नैषा तर्केण

मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ' (काठ० १।२।९) इति। 'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् इयं विसृष्टिर्यत आबभूव' (ऋ० सं० १।३०।६) इति चैते ऋचौ सिद्धानामपीश्वराणां दुर्बोधतां जगत्कारणस्य दर्शयतः। स्मृतिरपि भवति—'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्' इति। 'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते' (गीता २।२५) इति च। 'न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः। अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः' (गीता १०।२) इति चैवं जातीयका"। (ब्रह्मसूत्रशाङ्कर-भाष्य २।१।६) अर्थात् "पूर्वपक्षी के यह कहने पर कि ब्रह्म के सिद्ध वस्तु होने के कारण (श्रुति के अतिरिक्त) उसमें अन्य प्रमाण भी सम्भव हैं, यह उसका मनोरथ-मात्र है, क्योंकि रूप आदि का अभाव होने से वह प्रत्यक्ष प्रमाणवेद्य नहीं बन सकता है और लिङ्ग आदि का अभाव उसे अनुमानादि वेद्य नहीं होने देगा। वह तो धर्म के समान आगममात्र से वेद्य है। इस विषय में हे प्रेष्ठ नचिकेता, यह जो (शास्त्रजनित) आत्मबुद्धि है, वह न तो तर्क (बुद्धि के ऊहापोह) से प्राप्त करने योग्य है और न तर्क से दूर ही करने लायक है। यह आत्मविषयक बुद्धि तो तार्किक से अतिरिक्त किसी शास्त्रमर्मज्ञ आचार्य से उपदिष्ट हो सम्यक् ज्ञान का कारण होती है, यह श्रुति भी इसी बात का समर्थन करती है। उसे साक्षात् कौन जानता है, इस लोक में उसके यथार्थ स्वरूप को कौन कह सकता है, यह विविध सर्ग जिससे हुआ है। ये दोनों ऋचाएँ विश्व का कारण ब्रह्म सिद्ध योगियों के लिए भी दुर्गम है, ऐसा प्रदर्शित करती हैं। जो पदार्थ अचिन्त्य हैं, उन्हें तर्क की कसौटी पर कसना उचित नहीं है, यह आत्मतत्त्व अव्यक्त, अचिन्त्य तथा अविकार्य है, तथा देवगण और महर्षिगण मेरी उत्पत्ति को नहीं जानते, क्योंकि मैं सब देवों और महर्षियों का भी मूल कारण हूँ, ये सब स्मृतियाँ भी इसी तथ्य को प्रमाणित करती हैं। आगम से भिन्न किसी भी प्रमाण के तर्क और युक्ति का विषय न होने के कारण ही ब्रह्म की अपूर्वता उपपन्न होती है। वास्तव में ब्रह्म शास्त्र का भी विषय नहीं है, क्योंकि वह स्वयम्प्रकाश है। शास्त्र द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन विषयत्वेन नहीं अपितु प्रत्यगात्मा होने के कारण अविषयत्वेन ही किया जाता है। नृसिंह सरस्वती का कहना है कि—"तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" इत्यादि श्रुतिभिरुपनिषन्मात्रवेद्यत्वप्रतिपादनाद् ब्रह्मणोऽपूर्वत्वमित्यर्थः।" अर्थात् 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इत्यादि श्रुतियों द्वारा केवल उपनिषदों से ही वेद्य होने का प्रतिपादन किए जाने के कारण ब्रह्म की अपूर्वता है। अथवा ब्रह्म के स्वयं-प्रकाश होने के कारण अपने से अतिरिक्त किसी प्रमाण की अपेक्षा न होने के कारण ब्रह्म की अपूर्वता उपपन्न होती है।

इसी प्रकार फल की परिभाषा में "तदनुष्ठानस्य" इसका अभिप्राय "ज्ञानानु-कूलश्रवणाद्यनुष्ठानस्येत्यर्थः, श्रवणाद्यनुष्ठानस्योपस्थितत्वात्" (बालबोधिनी) अर्थात् 'तदनुष्ठानस्य' इस पद से आत्मज्ञान के अनुकूल श्रवणादि को ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि आत्मज्ञान में श्रवणादि ही साधनतया निश्चित हैं।

मननं तु श्रुतस्याद्वितीयवस्तुनो वेदान्तानुगुणयुक्तिभिरनवरत-

नृसिंह सरस्वती का कहना है कि—"श्रवणादिसाधनानां ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं प्रयोजनं ब्रह्मणो ज्ञानस्य तु तत्प्राप्तिः फलम्, 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति", "तरति शोक-मात्मवित्" इत्यादिश्रुतिभिरित्यर्थः" अर्थात् श्रवणादि साधनों का प्रयोजन है ब्रह्म और आत्मा के एकत्व का ज्ञान, और ब्रह्मज्ञान का फल है ब्रह्म की प्राप्ति। 'ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही हो जाता है' (मुण्डक० ३।२।९) और 'आत्मवेत्ता शोक को पार कर लेता है' (छान्दो० ७।१।३) इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं।

यहाँ स्वामी रामतीर्थ का कहना है कि—'तदनुष्ठानस्य चेति सगुणविद्याभि-प्रायेणोक्तम्। आचार्यवान् पुरुषो वेदेति साहचर्यादिहोदाहृतं न पुनः फलवचनं तत्। तस्य तावदिति तु फलवचनमिहोदाहरणमिति द्रष्टव्यम्'। अर्थात् 'तदनुष्ठानस्य च' यह भाग सगुण ब्रह्म की उपासना के अभिप्राय से अभिहित है। 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' यह भाग साहचर्य के कारण यहाँ पर उपस्थापित है, उसमें फल का कथन नहीं है। 'तस्य तावत्' से फल का कथन है, वही भाग यहाँ पर उदाहरणतया अभिप्रेत है, ऐसा मानना चाहिए।

'यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन·······' इत्यादि उदाहरण के द्वारा अद्वितीय आत्म-तत्त्व को उपपन्न करने के लिये युक्ति प्रस्तुत की गई है। इसका अभिप्राय यह है कि—मिट्टी के एक टुकड़े का स्वरूप 'यह वस्तुतः मिट्टी है' ऐसा ज्ञात हो जाने पर मिट्टी के बने हुए घड़े, सकोरे आदि सभी कार्यों का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि वे सभी परमार्थतः मिट्टी हैं। उनको घड़ा और सकोरा इत्यादि शब्दों से व्यवहार करना हमारी वाणी के अधीन है, अतः कार्य केवल एक नाममात्र है इसीलिए मिथ्या है, सत्य तो केवल मिट्टी ही है। इसी प्रकार ब्रह्म से उत्पन्न यह सम्पूर्ण कार्य जगत् परमार्थतः ब्रह्म ही है, ब्रह्म से पृथक् उसकी कोई सत्ता नहीं है। कार्य कारण के अभिन्न होने पर ही एक के विज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा उपपन्न हो जाती है। जगत् के ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण ब्रह्म की—अद्वितीय की उपपत्ति में कोई बाधा नहीं है। "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" (२।१।१४) यह ब्रह्मसूत्र का सूत्र इसी श्रुतिवाक्य में वर्णित युक्ति के आधार पर कार्य का कारण से अभेद उपपन्न करता है।

श्रवण का निरूपण कर क्रम प्राप्त मनन, निदिध्यासन और समाधि का स्वरूप प्रदर्शित किया जा रहा है—

अनुवाद—

श्रुत अद्वितीय वस्तु का वेदान्त के अनुकूल तर्कों से निरन्तर विचार करना मनन है। विजातीय शरीरादि की प्रतीति से रहित होकर अद्वितीय वस्तु की

मनुचिन्तनम् । विजातीयदेहादिप्रत्ययरहिताद्वितीयवस्तुसजातीय-प्रत्ययप्रवाहो निदिध्यासनम् । समाधिर्द्विविधः—सविकल्पको निर्विकल्पकश्चेति । तत्र सविकल्पको नाम ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयान-पेक्षयाद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरवस्थानम् । तदा मृन्मयगजादिभानेऽपि मृद्भानवद् द्वैतभानेऽप्यद्वैतं वस्तु भासते । तदुक्तम्—

"दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम् ।
अलेपकं सर्वगतं यदद्वयं तदेव चाहं सततं विमुक्तमोम्" इति ॥

मननं लक्षयति—मननं त्विति । केवलं पुरुषबुद्ध्युत्प्रेक्षितशुष्कतर्क-व्यावृत्त्यर्थं वेदान्तानुगुण इति विशेषणम् ।

"आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥"

इति स्मृतेः । अत्र धर्मशब्दो ब्रह्मणोऽप्युपलक्षणार्थः । अनवरतपदं मनन-स्यावश्यकत्वद्योतनार्थम् ॥

सजातीय प्रतीतियों को प्रवाहित करना निदिध्यासन है । समाधि दो प्रकार की होती है—सविकल्पक और निर्विकल्पक । उनमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के विभाग के अभाव की अपेक्षा न करके अद्वितीय वस्तु के आकार को धारण करनेवाली चित्तवृत्ति का अद्वितीय वस्तु में स्थिरीकरण सविकल्पक समाधि है । उस समय मृत्तिका के बने हुये हाथी आदि खिलोने का भान होने पर भी मृत्तिका के भान की तरह द्वैत के भान होने पर भी अद्वैत वस्तु का भान होता रहता है । कहा भी गया है—

जो चैतन्य स्वरूप है, आकाश के सदृश है, श्रेष्ठ है, सदा एक समान प्रकाशित है, जन्मरहित, एक, अक्षर, निर्लिप्त और अद्वितीय है, सर्वदा विमुक्त मैं वही ओंकार रूप हूँ ।

व्याख्या—

मनन का अर्थ है पूर्वोक्त छः लिङ्गों द्वारा समस्त वेदान्त वाक्यों का अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्य है, इस निश्चय रूप श्रवण के बाद वेदान्त के अनुकूल तर्कों से उस अद्वितीय ब्रह्म का सतत चिन्तन । मनन की इस परिभाषा से स्पष्ट है कि आत्मविद्या के मार्ग में मनुष्य के कपोलकल्पित उच्छृङ्खल तर्कों का कोई महत्त्व नहीं है । महत्त्व केवल उन तर्कों का है, जिनसे वेदान्त की मान्यता का विरोध न हो । इस सन्दर्भ में आचार्य शङ्कर का कहना है कि 'यदपि श्रवणव्यतिरेकेण

निदिध्यासनलक्षणमाह—विजातीयेति। चित्तस्य ज्ञेयात्मना निश्चलावस्थानं समाधिस्तं विभज्य लक्षयति—समाधिरित्यादिना। सविकल्पकः सम्प्रज्ञातसमाधिर्निर्विकल्पकोऽसम्प्रज्ञातसमाधिरिति साम्प्रदायिकी संज्ञा द्रष्टव्या। तत्रेत्युद्दिष्टसमाधिद्वयं सप्तम्यर्थः। ज्ञाता ज्ञानं ज्ञेयं चेति यो विकल्पो विभागोल्लेखस्तस्य लयोऽभावस्तदनपेक्षया ज्ञात्रादिविकल्पोल्लेखपूर्वकमिति यावत्। अद्वितीय इति च्छेदः। सविकल्पकसमाधिलक्षणार्थमुदाहरणेन प्रत्याययति—तदा मृदिति। यथा मृद्विकारे गजे कुम्भकारादिनिर्मिते गजोऽयमित्यस्यां बुद्धौ गजाकारोल्लेखेऽपि मृन्मात्रमेव सत्यं भासते गजाकारस्य मिथ्यात्वनिश्चयादेवं ब्रह्माकारायां वृत्तौ ज्ञात्राद्याकारे उल्लिख्यमानेऽपि ब्रह्मैव सत्यं भासते न ज्ञात्रादिविकल्प इत्यर्थः॥

मननं विदधच्छब्द एव तर्कमप्यादर्तव्यं दर्शयतीत्युक्तम्। नानेन मिषेण शुष्कतर्कस्यात्रात्मलाभः सम्भवति। श्रुत्यनुगृहीत एव ह्यत्र तर्कोऽनुभवाङ्गत्वेनाश्रीयते' (ब्रह्मसूत्र शा० २।१।६)

जिस श्रुति से श्रवण और उससे अतिरिक्त मनन का आत्मदर्शन के उपाय के रूप में प्रतिपादन है। वह तर्क को भी आदरणीय बताती है, किन्तु उससे यह नहीं माना जा सकता कि शास्त्रविरोधी शुष्क तर्क भी आदरणीय है। यहाँ तो श्रुति से समर्थित तर्क ही ब्रह्मानुभूति के सहायक रूप में अङ्गीकार्य है। श्रुति के द्वारा तत्त्वार्थनिश्चय के अनन्तर असम्भावना आदि दोषों के निरास के लिए जिस तर्क का अवलम्बन अपेक्षित है, वही वेदान्त के अनुकूल होता है। इस विषय में विद्यारण्य का कहना है कि—

'युक्त्या सम्भावितत्वानुसन्धानं मननं तु तत्' (पञ्चदशी १।५३)। मनु ने भी इसी अर्थ को सम्पुष्ट किया है, जैसे—

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥

जो पुरुष ऋषियों द्वारा किए गए धर्मोपदेश का वेद तथा शास्त्र के अविरोधी तर्कों से अनुसन्धान करता है, वही धर्म के यथार्थ रूप को जान पाता है, न कि दूसरा। यहाँ धर्मपद ब्रह्म का भी उपलक्षण है। सच तो यह है कि सर्वाधिष्ठान होने से 'धारणाद् धर्मः' इस व्युत्पत्ति से अनुसार ब्रह्म ही धर्म है। यह निर्विवाद है कि वेदान्त में श्रुत्यनुकूल तर्क ही आदरणीय होता है। जिसे वेदान्त में मनन की संज्ञा दी गई है।

निदिध्यासन—शरीर से लेकर बुद्धिपर्यन्त समस्त जड पदार्थ को विषय करने वाली विजातीय प्रतीतियों से पृथक् होकर अद्वितीय ब्रह्म की सजातीय (सदृश) प्रतीतियों को प्रवाहित करने को निदिध्यासन कहा जाता है। 'नि'+उपसर्गक ध्यै

कथं तत्र ब्रह्म भासत इत्यपेक्षायां पूर्वाचार्यसम्मत्युदाहरणेन तत्स्वरूपमाह—तदुक्तं दृशिस्वरूपमिति। दृशिस्वरूपं चैतन्यघनं "विज्ञानघन एव" इत्यादिश्रुतेः। गगनोपमं सर्वगतं "आकाशवत्सर्वगतश्च" इतिश्रुतेः। परं मायातीतं "अक्षरात्परतः पर" इत्यादिश्रुतेः। सकृद्विभातमेकदैव कृत्स्नमभिव्यक्तं "सकृद्दिवा हैवास्मै भवति" इत्यादिश्रुतेः। तुशब्दः पादपूरणार्थः। अजं जन्मादिविकारशून्यं "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" इत्यादिश्रुतेः। एकं सजातीयविजातीयशून्यं "एको देवः", "एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति" इतिश्रुतेः। अक्षरं कूटस्थं नित्यं "येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं" इतिश्रुतेः। अलेपकं "निरवद्यं निरञ्जनं" इतिश्रुतेः। सर्वगतं सर्वानुस्यूतं सन्मात्रं "यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं" इत्यादिश्रुतेः। यदद्वयं स्वगतभेदशून्यं "अशब्दमस्पर्शमरूपं" इत्यादिश्रुतेः। तदेव चाहमस्मि "अहं ब्रह्मास्मि" इतिश्रुतेः। अतोऽहं सततं सर्वदैव विमुक्तो न कदापि बद्धो "विमुक्तश्च विमुच्यत" इतिश्रुतेरिति श्लोकार्थः॥

धातु से सन् प्रत्यय तथा भाव में ल्युट् करने पर निदिध्यासन शब्द बनता है। आत्मा से भिन्न समस्त पदार्थ यहाँ तक कि मनुष्य की बुद्धि भी स्वप्रकाश न होने से जड़ है, अतएव सभी अनात्म पदार्थ आत्मा से विजातीय हैं। इसलिये उनकी प्रतीति आत्मप्रतीति से विजातीय है, ऐसी सभी प्रतीतियों का परित्याग कर आत्मविषयक सजातीय प्रतीतियों को अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित करना निदिध्यासन है। विद्यारण्य ने इसे निम्न शब्दों से अभिव्यक्त किया है—

ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत्।
एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते॥ (पञ्चदशी १।५४)

श्रवण और मनन के द्वारा जब आत्मा का स्वरूप निश्चित हो जाता है, उसमें किसी प्रकार का संशय नहीं रह जाता, तब चित्त को उस आत्मस्वरूप में लगाकर उसकी एकतान—एकाकार जो वृत्ति अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित की जाती है, उस प्रवहमान आत्मविषयक चित्तवृत्ति को ही निदिध्यासन कहा जाता है।

व्युत्थान संस्कार का अभिभव तथा निरोध संस्कार का प्रादुर्भाव होने पर जो चित्त का एकाग्रता-एकनिष्ठता रूप परिणाम होता है, उसे समाधि कहा जाता है। उसके दो भेद होते हैं—सविकल्पक और निर्विकल्पक। इनमें भी जिस समाधि में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के विकल्प (विभाग) के विलय (अभाव) की अपेक्षा न कर अद्वितीय ब्रह्म के आकार को ग्रहण करनेवाली चित्तवृत्ति अद्वितीय ब्रह्म में स्थिर हो जाती है, वह सविकल्पक समाधि है। इस समाधि में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की

त्रिपुटी का तिरोहित होना आवश्यक नहीं है। उस समय चित्तवृत्ति आत्मस्वरूप से उपरञ्जित होकर उसी में स्थिरता प्राप्त कर लेती है, किन्तु मैं ज्ञाता हूँ, आत्मा ज्ञेय है, तथा ज्ञान की प्रक्रिया चल रही है, इस क्रम का भान होता रहता है।

उस स्थिति का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार का कहना है कि जिस प्रकार कुलाल निर्मित मृत्तिका के हाथी के द्रष्टा को हाथी का भान होने पर भी उसे वह मिथ्या ही समझता है, सत्य नहीं समझता, सत्य तो वह उसके उपादान मृत्तिका को ही समझता है, ठीक उसी प्रकार अद्वैतदर्शी को उसकी चित्तवृति में ज्ञाता, ज्ञान, तथा ज्ञेय का भान होने पर भी वह उनके पृथक् अस्तित्व को मिथ्या ही समझता है, सत्य नहीं समझता, सत्यता तो वह केवल अद्वैत की ही ग्रहण करता है।

सविकल्पक समाधि में रमे हुये साधक को यह भान होता है कि जो निर्लिप्त असङ्ग होने से अविद्यादि दोषों से रहित, सर्वत्र व्याप्त सब में अनुस्यूत अद्वितीय सर्वविध द्वैत से मुक्त, सर्वदा विमुक्त ओंकार है, मैं वही हूँ। ओंकार रूप ब्रह्म सकृद् विभात है, एक बार ही प्रकाशित होता है। एक बार प्रकाशित हो जाने पर उसका प्रकाश कभी विलीन नहीं होता, एक रूप से वह सर्वदा प्रकाशित होता रहता है। उसके प्रकाश में कभी चढ़ाव-उतार नहीं होता, चन्द्रमा आदि के समान उसका प्रकाश कभी घटता बढ़ता नहीं। "एकदैव कृत्स्नमभिव्यक्तम्। सकृद्दिवा हैवास्मै भवति" (छा० ३।११।३)। यह श्रुति अत्यन्त स्पष्ट रूप से यह तथ्य प्रस्तुत करती है कि आत्मा एक बार में ही सम्पूर्ण रूप से अभिव्यक्त हो जाता है। इसके लिए सर्वदा दिन ही बना रहता है।

साधक का यह अनुभव कि उसका ब्रह्मरूप सर्वगत है। ब्रह्मा से लेकर स्थावर-पर्यन्त निखिल भूतों में व्याप्त है, श्रुति से भी समर्थित है, जैसे "यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः" (मुण्डक. २.२.५) यह श्रुति स्पष्ट कहती है कि अक्षर पुरुष में द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष और समस्त प्राणों के साथ मन ओतप्रोत है वही ओंकार ब्रह्म है।

ब्रह्म स्वरूप आत्मा सतत विमुक्त है, आज तक वह कभी बन्धन में नहीं पड़ा। साधक का यह अनुभव श्रीमद्भागवत में इस प्रकार वर्णित है कि—

बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः।
गुणस्य मायानुकूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम्॥ (११।११।१)

मैं बद्ध हूँ, मुक्त हूँ, यह व्यवहार गुणमूलक है, वस्तुमूलक नहीं है, जब रज या तम गुण का उद्रेक होता है, तब बद्धता की बुद्धि होती है और जब सत्त्वगुण का उद्रेक होता है तब मुक्त की बुद्धि होती है, वस्तुतः तो मैं कभी भी बद्ध या मुक्त नहीं होता, क्योंकि सभी गुण मायामूलक हैं और मैं वस्तुरूप में माया से परे हूँ, अतः न मेरा कभी बन्धन होता है और न कभी मोक्ष होता है।

निर्विकल्पकस्तु ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयापेक्षयाद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरतितरामेकीभावेनावस्थानम्। तदा तु जलाकाराकारितलवणानवभासेन जलमात्रावभासवदद्वितीयवस्त्वाकाराकारितचित्तवृत्त्यनवभासेनाद्वितीयवस्तुमात्रमवभासते। ततश्चास्य सुषुप्तेश्चाभेदशङ्का न भवति। उभयत्र वृत्त्यभाने समानेऽपि तत्सद्भावासद्भावमात्रेणानयोर्भेदोपपत्तेः ॥ ३० ॥

निर्विकल्पकसमाधिं लक्षयति—निर्विकल्पकस्त्विति। अत्राप्यद्वितीयेति च्छेदः। अतितरामेकीभावेनावस्थाने दृष्टान्तः—तदा जलेति। दृष्टान्तदर्शितमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति—अद्वितीयेति। ननु सुषुप्तावपि ज्ञातृज्ञेयज्ञानविभागानां लयसम्भवात्तत्र निर्विकल्पकसमाधिलक्षणमतिव्याप्नोतीत्यत आह—ततश्चेति। तत्र हेतुमाह—उभयत्रेति सुषुप्तौ बुद्धिरेव नास्ति, बुद्धेः कारणात्मनावस्थानस्य तल्लक्षणत्वात्। इह तु बुद्धिवृत्तेरद्वितीयवस्त्वाकाराकारिताया अवस्थानाङ्गीकारात्सुषुप्तेर्भेदोपपत्तेरित्यर्थः। नापि मुक्तावतिव्याप्तिस्तत्राविद्यातत्कार्यसंस्काराणामत्यन्तमुच्छेदात्। इह पुनर्व्युत्थानादिव्यवहारदर्शनेन तेषामनुवृत्तेरिष्टत्वात्। नापि जीवन्मुक्तौ प्रसङ्गस्तस्य व्युत्थानदशायामपि बाधितानुवृत्तिमात्रप्रपञ्चावभासेऽपि स्वस्वरूप एवावस्थानात्, साधकस्य बाधितानुवृत्तिमात्रप्रपञ्चावभासाभावादिति द्रष्टव्यम् ॥ ३० ॥

अनुवाद—

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के विभाग के अभाव की अपेक्षा से अद्वैताकार चित्तवृत्ति का अद्वितीय वस्तु में अत्यन्त एकीभाव से स्थित होना निर्विकल्पक समाधि है। उस समय जैसे जल में मिलकर जलीभूत नमक का भान न होकर जलमात्र का ही भान होता है, उसी प्रकार अद्वैताकार चित्तवृत्ति के अद्वैतरूप हो जाने से उसका भान न होकर अद्वैतमात्र का ही भान होता है। इसी कारण समाधि और सुषुप्ति में अभेद की शङ्का नहीं होती, क्योंकि दोनों में चित्तवृत्ति का भान न होने की समानता होने पर भी एक में उसका अस्तित्व और दूसरे में उसका अभाव होने से दोनों का भेद उपपन्न हो जाता है।

व्याख्या—

समाधि के दो भेदों का उल्लेख कर पहले सविकल्पक समाधि का निरूपण कर अब क्रमप्राप्त निर्विकल्पक-समाधि का निरूपण करना है। उसके दो भेद हैं—एक वह जिसमें ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी का तो लय हो जाता है परन्तु चिरकाल तक सविकल्पक समाधि के अनुभव से उत्पन्न उसके संस्कार शेष रहते हैं,

जिनके कारण एक अद्वैत तत्त्व का दर्शन हो जाने पर भी उस त्रिपुटी के पुनः भान की सम्भावना समाप्त नहीं होती। दूसरी वह है जिसमें उस प्रथम निर्विकल्पक समाधि के अभ्यासपाटव से सविकल्पक समाधि के अनुभव से उत्पन्न संस्कार लुप्त—सदा के लिए लुप्त हो जाता है। ज्ञाता आदि की त्रिपुटी के भान की सम्भावना समाप्त होकर एकमात्र अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति का प्रवाहमात्र रहता है। उसकी कोई स्फूर्ति नहीं होती, अपितु चिदानन्दरूप में उसका केवल अवस्थानमात्र होता है। प्रस्तुत ग्रन्थ द्वारा इस दूसरे निर्विकल्पक का ही स्वरूप प्रदर्शित करते हुए यह कहा गया है कि ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इस त्रिपुटी का विलय हो जाने पर अद्वैताकार चित्तवृत्ति का अद्वितीय वस्तु में अत्यन्त एकीभाव से स्थित होना निर्विकल्पक समाधि है।

इस समाधि के समय अद्वितीय वस्तु के आकार को ग्रहण करनेवाली चित्तवृत्ति का भान न होकर अद्वितीय ब्रह्ममात्र का भान ठीक उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार जल में मिल कर जल का आकार ग्रहण कर लेने पर नमक का भान न होकर जलमात्र का ही भान होता है। यही कारण है कि निर्विकल्पक समाधि और सुषुप्ति में अभिन्नता की शङ्का नहीं होती, क्योंकि दोनों में चित्तवृत्ति का भान नहीं होता। इस अंश में दोनों में यह समानता होने पर भी दोनों में यह अन्तर तो होता ही है कि निर्विकल्पक समाधि में चित्तवृत्ति का अस्तित्व तो होता है। किन्तु उसका भान नहीं होता, परन्तु सुषुप्ति में तो उसका अस्तित्व ही नहीं होता। स्पष्ट है कि नमक जब पानी में घुल-मिल जाता है। तब पानी में उसका अस्तित्व तो होता है, केवल पानी से अलग उसके अस्तित्व का दर्शन नहीं होता। ठीक यही स्थिति चित्तवृत्ति की है। वह भी अखण्ड ब्रह्म को जब ग्रहण करती है, तब पूर्णतया ब्रह्माकार हो जाती है। अतः ब्रह्माकार में उस समय भी उसका अस्तित्व तो रहता ही है, पर ब्रह्म से पृथक् उसका भान नहीं होता, केवल ब्रह्म का ही भान होता है। पञ्चदशीकार ने इस निर्विकल्पक समाधि का योगदर्शन की धर्ममेघसमाधि के साथ अतीव सुन्दर साम्य अत्यन्त रोचक रीति से प्रदर्शित किया है, जैसे—

अनादाविह संसारे सञ्चिताः कर्मकोटयः।
अनेन विलयं यान्ति शुद्धो धर्मो विवर्धते॥
धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधिं योगवित्तमाः।
वर्षत्येष यतो धर्मामृतधाराः सहस्रशः॥

(पञ्चदशी १।५९-६०)

इस अनादि विश्व में जो धर्माधर्म रूप करोड़ों कर्म अज्ञात काल से संचित रहते हैं, वे सब निर्विकल्पक समाधि से विनष्ट हो जाते हैं। उससे ऐसे शुद्ध धर्म की वृद्धि होती है, जिससे अज्ञानावरण का नाश तथा तत्त्वसाक्षात्कार का उदय होता है। इसे योगविद्या के विशिष्ट विद्वान् धर्ममेघसमाधि शब्द से अभिहित करते हैं, जिससे धर्मामृत की सहस्रों धारायें प्रवाहित होती हैं।

इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि विद्वन्मनोरञ्जनीकार ने सविकल्पक को सम्प्रज्ञात समाधि एवं निर्विकल्पक को असम्प्रज्ञात समाधि कहा है, किन्तु सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात ये दोनों संज्ञाएँ योग दर्शन की हैं। वह दर्शन परवैराग्य को धर्ममेघ समाधि कहता है और उसे असम्प्रज्ञात समाधि का साधन भी स्वीकार करता है किन्तु स्पष्ट है कि असम्प्रज्ञात समाधि निरालम्बन होती है अतः वह सालम्बन समाधि के अभ्यास से साध्य नहीं हो सकती। प्रस्तुत ग्रन्थ में जिस निर्विकल्पकसमाधि की चर्चा है, वह सालम्बन है, क्योंकि उसमें अद्वितीय वस्तु चित्तवृत्ति का आलम्बन होती है, अतः उसे असम्प्रज्ञात कहना उचित नहीं प्रतीत होता है।

निर्विकल्पक समाधि में अद्वितीय वस्तु चित्तवृत्ति का आलम्बन होती है। इसे पञ्चदशीकार ने इन शब्दों से व्यक्त किया है—

ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद् ध्येयैकगोचरम्।
निवातदीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते॥
यथा दीपो निवातस्थ इत्यादिभिरनेकधा।
भगवानिममेवार्थमर्जुनाय न्यरूपयत्॥

जब चित्त सविकल्पक समाधि में पृथक्-पृथक् लक्षित होने वाले ध्याता, ध्यान और ध्येय से क्रमशः अभ्यासप्रौढ़ि से ध्याता तथा ध्यान का परित्याग कर ध्येयमात्र को विषय बनाकर निवातस्थ दीपक की भाँति अचल हो जाता है, तब उस चित्त की अचलावस्था को समाधि कहा जाता है। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन के लिये निवातस्थदीप आदि अनेक उदाहरणों को प्रस्तुत कर निर्विकल्पक समाधि के स्वरूप का अवबोधन किया है।

इस प्रसङ्ग में इस बात को स्पष्ट रूप से अवगत कर लेना चाहिये कि ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय के विभाग का विलय समान रूप से सुषुप्ति एवं निर्विकल्पक दोनों में होता है, किन्तु यह भिन्नता बनी रहती है कि निर्विकल्पक समाधि में चित्तवृत्ति का अस्तित्व रहता है, सुषुप्ति में उसका अस्तित्व नहीं रहता, उस समय सुख, अज्ञान आदि का जो अनुभव होता है, वह चित्तवृत्तिरूप नहीं होता, अविद्या वृत्ति रूप होता है, क्योंकि सुषुप्ति के समय अविद्या में चित्त का लय हो जाने से चित्त का अस्तित्व नहीं होता तो फिर उस समय चित्तवृत्ति की सम्भावना ही कैसे हो सकती है, निर्विकल्पक में चित्त का लय नहीं होता किन्तु निग्रह होता है, अतः निर्विकल्पक में निगृहीत चित्त की वृत्ति हो सकती है।

यह प्रश्न हो सकता है कि समाधिकाल में वृत्तियों के उत्पादन के लिए तो कोई प्रयास होता नहीं तो फिर उस समय चित्त की वृत्ति कैसे सम्भव हो सकती है, इसका उत्तर यह है कि यह ठीक है कि निर्विकल्पक काल में चित्तवृत्ति के उत्पादन का कोई प्रयास नहीं होता, किन्तु समाधि के पूर्व किये गये प्रयासों से उस समय भी

अस्याङ्गानि यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः। तत्र अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। करचरणादिसंस्थानविशेषलक्षणानि पद्मस्वस्तिकादीन्यासनानि। रेचकपूरककुम्भकलक्षणाः प्राणनिग्रहोपायाः प्राणायामाः। इन्द्रियाणां स्वस्वविषयेभ्यः प्रत्याहरणं

उक्तनिर्विकल्पकसमाधिस्वरूपोपकारकाण्यङ्गान्याह—अस्येति। तत्र यमानाह—तत्रेति। वाङ्मनःकायैः परपीडावर्जनमहिंसा। सत्यं यथार्थभाषणम्। अस्तेयमदत्तादानरूपपरस्वहरणराहित्यम्। ब्रह्मचर्यमष्टाङ्गमैथुनवर्जनम्। तथा चोक्तं—

चित्तवृत्तियों की अनुवृत्ति निरवच्छिन्न रूप में चलती रहती है। उसमें साधक का अदृष्ट और निरन्तर अभ्यास से जन्य संस्कार यह दोनों सहायक होते हैं।

यह ज्ञातव्य है कि समाधिकाल में यद्यपि अखण्ड ब्रह्माकाराकारित चित्तवृत्तियों का भान नहीं, होता तथा उस समय उनके अस्तित्व में प्रमाण ढूँढने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि साधक जब समाधि से पृथक् होता है तब उसे मैं इतनी देर तक समाधि में था, यह स्मृति होती है, इस स्मृति से उस समय वृत्तियों का सद्भाव अनुमित हो जाता है।

सुषुप्ति में अन्तःकरण के अपने कारण अज्ञान में विलय होने से अन्तःकरण की वृत्तियों का अभाव तथा अज्ञान की ही वृत्तियों से सुषुप्तिकालिक भोग उत्पन्न होता है। ऐसी स्थिति में किसी विद्वान् का यह कहना कि सुषुप्ति में वृत्तियों का अभाव तथा अज्ञानवृत्तियों का अस्तित्व ये दोनों परस्पर विरोधी कथन हैं, तो यह कथन कोई महत्त्व नहीं रखता, क्योंकि चित्तवृत्तियों और अज्ञानवृत्तियों को एक समझना भ्रममात्र है।

इस प्रकार निर्विकल्पक समाधि का परिचय प्रस्तुत कर उसके अवयवों का परिचय कराने के लिए ग्रन्थकार का कहना है—

अनुवाद—

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा; ध्यान और समाधि उपर्युक्त निर्विकल्प समाधि के अङ्ग हैं। उनमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यम हैं। हाथ, पाद आदि को किसी विशेष स्थिति में स्थापन रूप पद्म स्वस्तिक आदि आसन हैं। प्राणवायु को निगृहीत करने के उपाय रेचक, पूरक और कुम्भक प्राणायाम हैं। इन्द्रियों को अपने विषयों से पृथक् करना प्रत्याहार है। अद्वितीय

प्रत्याहारः। अद्वितीयवस्तुन्यन्तरिन्द्रियधारणं धारणा। तत्राद्वितीयवस्तुनि विच्छिद्य विच्छिद्यान्तरिन्द्रियवृत्तिप्रवाहो ध्यानम्। समाधिस्तूक्तः सविकल्पक एव॥ ३१॥

"स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृतिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम्"॥ इति।
अपरिग्रहः समाध्यनुष्ठानानुपयुक्तस्य वस्तुमात्रस्यासङ्ग्रहः॥

वस्तु में अन्तरिन्द्रिय को प्रवृत्त करना धारणा है। अद्वितीय वस्तु में अन्तरिन्द्रिय की वृत्तियों का रुक-रुक कर प्रवाहित होना ध्यान है। समाधि तो उक्त सविकल्पक ही है।

व्याख्या—

उक्त निर्विकल्पक समाधि के अङ्गों को पातञ्जल योगसूत्र में योग का अङ्ग कहा गया है। 'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि' इस योग सूत्र के आधार पर कहा जा सकता है कि योगदर्शन की साधनप्रक्रिया अद्वैतवेदान्त को ग्राह्य है।

विविध ब्रह्माण्ड को ब्रह्म मान कर इन्द्रियों का दमन 'यम' कहा जाता है। 'सर्वं ब्रह्मैव' का ध्यान कर अहिंसादि यमों का पालन होने से इन्द्रियाँ साधक के वश में हो जाती हैं।

अहिंसा—

यम के अवान्तर भेदों में अहिंसा का प्रथम स्थान है, अतः उसका परिचय देना क्रमप्राप्त है—वचन, मन और शरीर से दूसरों को पीड़ित न करना अहिंसा है। 'वाङ्मनःकायैः परपीडावर्जनमहिंसा' (विद्वन्मनोरञ्जनी)। व्यासभाष्य में इसका स्वरूप इस प्रकार है—'अहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः' प्राणनाश जैसा सङ्कट होने पर भी तन, मन, वचन से समस्त जड़, चेतन प्राणियों के साथ शत्रुता न करना अहिंसा है।

सत्य—

व्यासभाष्य में सत्य का स्वरूप—"सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे, यथादृष्टं यथानुमितं यथाश्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति। परत्र स्वबोधसंक्रान्तये वागुक्ता, सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिवन्ध्या वा भवेदिति। एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता, न भूतोपघाताय। यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत् पापमेव भवेत्। तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टतमं प्राप्नुयात्। तस्मात्परीक्ष्य सर्वभूतहितं ब्रूयात्"।
(व्यासभाष्य २।३०)।

नियमानाह—शौच इति। शौचं बाह्याभ्यन्तरलक्षणम्। तदुक्तं—

"शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम्"॥ इति।

सन्तोषो यदृच्छालाभसन्तुष्टिरलाभे चाविषादः। तपः कामानशनं "तपो नानशनात्परं" इतिश्रुतेः। अनशनं च कामानशनमेव। केचित्तु "मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तप" इत्याद्युक्तलक्षणं तप इत्याहुः। सर्वथा तु नात्र चान्द्रायणादिः तपःशब्दार्थस्तस्य समाधिविरोधादिति द्रष्टव्यम्। स्वाध्यायः प्रणवजप उपनिषद्ग्रन्थावृत्तिश्च "ओमित्येवं ध्यायथ

प्रत्यक्ष, अनुमान, तथा आगम प्रमाण से क्रमिक जैसा देखा, जैसा अनुमान किया तथा जैसा सुना, वैसा ही मन और वाणी की क्रिया होना सत्य है। अपनी अनुभूति को दूसरे में स्थापित करने के लिये वाणी का प्रयोग भ्रमजन्य, प्रतारण करने वाला एवं उलझन में न डालने वाला हो, तो वह सत्य है।

यदि यथार्थ वाणी का प्रयोग भी किसी का अपकारक हो तो वह सत्य भी सत्य नहीं है, पाप है। पुण्य के सदृश भासित होने वाला यह सत्य मानव का अतिशय कष्टकारक होता है। सत्य वाणी सम्पूर्ण प्राणियों की भलाई के लिये तथा अपनी भलाई के लिये होनी चाहिये, न कि बुराई के लिये। अतः परिशीलन कर सर्वभूतों की हितकारक सत्य वाणी का प्रयोग करना चाहिये। अत एव स्मृति का यह वचन बड़ा मार्मिक है—

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयातसत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥

अस्तेय—

व्यासभाष्य में अस्तेय का रूप—'स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणम्, तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति'। शास्त्र के विधान के बिना दूसरों से द्रव्य ग्रहण करना 'स्तेय' है और दूसरों के द्रव्य को ग्रहण न करना अपितु उसका प्रतिषेध करना, केवल प्रतिषेध ही नहीं करना अपि तु मन से भी उसकी स्पृहा न करना 'अस्तेय' है। फलतः कायिक और वाचिक व्यापार मानस व्यापार पर आश्रित होते हैं, अतः चोरी न करना मात्र ही 'अस्तेय' नहीं है अपि तु परधन के ग्रहण की मन द्वारा वाञ्छा न करना ही वास्तविक 'अस्तेय' है। तात्पर्य यह है कि चोरी करने के शारीरिक व्यापार का मूल मन में होने वाली दूसरों की वस्तु लेने की स्पृहा है, अतः चोरी का प्रतिषेध रूप 'अस्तेय' वास्तविक में स्पृहारूप मानस क्रिया का ही प्रतिषेध है, क्योंकि स्पृहा के विरह में शरीर से चोरी होना असम्भव है।

प्राय: इसी अर्थ का पोषक विद्वन्मनोरञ्जनीकार का यह वचन है—'अस्तेयमदत्तादानरूपपरस्वहरणराहित्यम्' विना दी हुई परवस्तु का अपहरण न करना 'अस्तेय' है।

ब्रह्मचर्य—

विद्वन्मनोरञ्जनी में अष्टाङ्ग मैथुन के परित्याग को 'ब्रह्मचर्य' कहा गया है—'ब्रह्मचर्यमष्टाङ्गमैथुनवर्जनम्'।

अष्टाङ्गमैथुन की चर्चा इस प्रकार है—

ब्रह्मचर्यं सदा रक्षेदष्टधालक्षणं पृथक्।
स्मरणं कीर्त्तनं केलि: प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्॥
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृतिरेव च।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिण:॥
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम्॥ (दक्षसंहिता अ. ७)

'ब्रह्मचर्य' की उक्त परिभाषा से सहमत व्यासभाष्य की यह परिभाषा है—'ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयम:' गुप्तेन्द्रिय को वश में रखने वाले जितेन्द्रिय नर या नारी का उपस्थेन्द्रिय का नियन्त्रण 'ब्रह्मचर्य' है।

यहाँ उपस्थेन्द्रिय का नियन्त्रण उपलक्षण है, क्योंकि उपस्थेन्द्रिय के संयम मात्र से मानव ब्रह्मचारी नहीं होता, क्योंकि उपस्थ को वश में रखने वाला यदि कोई व्यक्ति ललनाओं को लगन पूर्वक देखता है, सम्भाषण करता है, एवं कामायतन—स्तन, जघन आदि अङ्गों का स्पर्श करने में रसानुभूति करता है तो वह ब्रह्मचारी कैसे है, अत: अष्टविध मैथुन का परित्याग 'ब्रह्मचर्य' है।

अपरिग्रह—

'विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रह:'

(योगभाष्य)

विश्व के विषयों के उपभोग में अनेक दोष दृष्ट हैं। सर्वप्रथम उनके उपार्जन का महान् क्लेश। उपार्जित के रक्षण में कम क्लेश नहीं होता। उपार्जित एवं रक्षित द्रव्य की समाप्ति या नाश बड़ा ही कष्ट कारक है। भोगों के भोगने के काल में उनके प्रति बड़ी ही आसक्ति होती है, उनके बिना रहना नहीं बनता, अत: विषयासक्ति अतिशय कष्टकारक होती है—इस आशय को ध्यान में रखते हुये विद्वन्मनोरञ्जनीकार ने भी 'अपरिग्रह' की परिभाषा इस प्रकार की है—'समाध्यनुष्ठानानुपयुक्तस्य वस्तुमात्रस्यासंग्रहोऽपरिग्रह:' समाधि के अनुष्ठान में अनुपयुक्त का संग्रह न करना अपरिग्रह है। साधक को अपने पास केवल वही वस्तुएँ रखनी चाहिये, जो साधन को आगे बढ़ाने में सहायक हों। अनुपयुक्त एवं साधन-विघटक सामग्री परित्याग करना 'अपरिग्रह' है। परिग्रह—दोषाधिक्य के कारण विषयों का संग्रह, कभी भी साधक के लिये हितकारक नहीं है।

आत्मानं", "उपनिषदमावर्तयेत्" इतिश्रुतेः। ईश्वरप्रणिधानं तस्य मानसै-रुपचारैरभ्यर्चनं "तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये" इतिमन्त्रलिङ्गात् ॥

अथासनादीनि कथयति - कर इति। स्वस्तिकादीनीत्यादिपदाद्भद्र-वीरासनादिग्रहः। रेचकः प्राणवायोः शनैर्वामनासापुटाद्दक्षिणनासापुटाद्वा सव्यापसव्यन्यायेन बहिर्निःसारणम्। पूरकस्तस्य तथैवान्तःप्रवेशनम्। कुम्भकस्तु पूरितस्य वायोरन्तरेव निरोध इति भेदः। समाधेर्ध्यानस्य भेदं द्योतयितुं विच्छिद्य विच्छिद्येत्युक्तम्। सुगममन्यत् ॥ ३१ ॥

शौच—

शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम् ॥ (याज्ञवल्क्य)

बाह्य एवं आन्तर के भेद से शौच दो प्रकार का होता है। मिट्टी एवं जल से 'बाह्य शुद्धि' तथा विचारों की शुद्धि 'आन्तर शुद्धि' है।

'शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम्' (योगभाष्य)

मृत्तिका, जल और गोबर आदि से शरीर एवं गृह की स्वच्छता, तथा पवित्र वस्तुओं को ही खाना पीना बाह्य 'शौच' है।

बाह्य मालिन्य से चित्त भी मलिन होता है, अतः बाह्य 'शौच' आवश्यक है। मद, मान, मात्सर्य, ईर्ष्या, असूया और खिन्नता आदि चित्त के मल हैं। इनकी निवृत्ति 'आन्तर शौच' है। 'बाह्य शौच' अन्तःकरण को शुद्ध करता है, उससे चित्त को प्रसन्नता उपलब्ध होती है, प्रसन्न मन एकाग्रता का जनक होता है, एकाग्रता से इन्द्रियां अधीन होती हैं, तथा उनकी अधीनता से आत्मसाक्षात्कार की योग्यता का समुदय होता है।

सन्तोष—

'सन्निहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा' (योगभाष्य)

जीवन यापन के लिए प्रारब्धानुसार प्राप्त साधन से अधिक की संग्रह करने की इच्छा न करना 'सन्तोष' है।

प्रायः इसी अर्थ का बोधन विद्वन्मनोरञ्जनीकार ने भी किया है—

'सन्तोषो यदृच्छालाभसन्तुष्टिरलाभे चाविषादः' प्रारब्धानुसार प्राप्त वस्तु में तोष करना एवं उसके न मिलने पर किसी प्रकार का विषाद न करना 'सन्तोष' है।

अनिच्छा एवं परेच्छा किसी भी प्रकार प्रारब्धाधीन अनुकूल या प्रतिकूल वस्तु का प्रापण 'यदृच्छालाभ' है। किसी अनुकूल पदार्थ की प्राप्ति में राग न करना,

बने रहने या बढ़ाने की इच्छा न करना तथा प्रतिकूल के प्रापण में द्वेष नहीं करना—उसके नष्ट होने की इच्छा न करना, एवं अनुकूल-प्रतिकूल दोनों को ही प्रारब्ध या ईश का विधान समझ कर सतत शान्त एवं प्रसन्न रहना ही यदृच्छालाभसन्तुष्टि है।

तप—

'तपो द्वन्द्वसहनं, द्वन्द्वश्च जिघत्साविपासे शीतोष्णे स्थानासने काष्ठमौनाकार-मौने च, व्रतानि चैव यथायोगं कृच्छ्रचान्द्रायणसान्तपनादीनि' (योगभाष्य २।३२)

अशना, पिपासा, शीत, उष्ण, खड़े रहना, बैठे रहना, इशारे से भी अपने अभिप्राय को प्रकट न करना, तथा वाणी का प्रयोग न करना आदि द्वन्द्वों से प्राप्त कष्टों को सहना तथा कृच्छ्र-चान्द्रायणादि व्रतों का अनुष्ठान 'तप' है।

विद्वन्मनोरञ्जनीकार ने अंशतः इस अर्थ के पालन का विरोध करते हुए कहा है—

'सर्वथा तु नात्र चान्द्रायणादिस्तपःशब्दार्थस्तस्य समाधिविरोधादिति द्रष्टव्यम्'

अर्थात् चान्द्रायणादि का समाधि से विरोध है, क्योंकि इनका अनुष्ठान धातुओं में विषमता को पैदा करता है, जिससे कि समुचित योगाभ्यास में बाधा होती है, क्योंकि युक्ताहारविहार का योग सिद्धावस्था को प्राप्त करता है।

किन्तु मनु ने तो पापों के विध्वंसक प्रायश्चित्त व्रतों को स्पष्टतया तप कहा है—

यत्किञ्चिदेनः कुर्वन्ति मनोवाङ्मूर्त्तिभिर्जनाः।
तत्सर्वं निर्दहन्त्याशु तपसैव तपोधनाः॥ (मनु० ११।२४१)
यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम्।
सर्वं तत्तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्॥ (मनु० ११।२३८)

स्वाध्याय—

'प्रणवादिपवित्राणां जपः मोक्षशास्त्राध्ययनं वा' (योगभाष्य)

ओङ्कार आदि पवित्र मन्त्रों का जप तथा उपनिषद् का अध्ययन 'स्वाध्याय' है।

स्वाध्याय के महत्त्व तथा आवश्यकता पर बल देते हुए योगभाष्य में यह चर्चा प्रस्तुत है—

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥ (योगभाष्य १।२८)

जप स्वाध्याय से ध्यान का अभ्यास अपेक्षित है। एवं मनोयोग से जप का अभ्यास होना चाहिए। इस दृष्टि से जप से योग का उत्कर्ष एवं योग से जप का उत्कर्ष होने से साधक के समक्ष परमात्मा प्रकाशित हो जाता है।

ईश्वरप्रणिधान—

'ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा' (योगभाष्य)

अन्तर्यामी परमेश की प्रकृष्ट प्रेरणा से किये गये शुभ या अशुभ, लौकिक या वैदिक अपने समस्त कर्मों को परमगुरु परमेश्वर को अर्पित करना 'ईश्वरप्रणिधान' है। इस विषय में श्रुति का दृष्टिकोण इस प्रकार है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ (श्वेता० ६।१८)

मैं मुमुक्षु सृष्टि के आदि में हिरण्यगर्भ ब्रह्म को रचने वाले एवं उसके लिए समस्त वेदों को प्रवर्तित करने वाले, हमारी बुद्धि के प्रकाशक देव की शरण ग्रहण करता हूँ।

ईश्वर के लिए समस्त कर्मों के त्याग रूप ईश्वरप्रणिधान की चर्चा अपरत्र इस प्रकार है—

'करोति यद्यत्सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्' (यो० वा० २।१ में उद्धृत) 'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्' (योग सू० २।४५)।

सर्वभाव से परमेश की शरण में चले जाने से समाधि सुलभ एवं सिद्ध हो जाती है।

आसन—

'आस्यतेऽनेन, आस्यतेऽत्र वाऽऽसनम्' हस्त, पादादि अवयवों को विशेष स्थिति में स्थिरतापूर्वक रखना 'आसन' है। आचार्य शङ्कर का इस विषय में यह निर्देश है—

सुखेनैव भवेद् यस्मिन्नजस्रं ब्रह्मचिन्तनम्।
आसनं तद्विजानीयान्नेतरत्सुखनाशनम् ॥ (अपरोक्षानुभूति ११)

जिस स्थिति में सुखपूर्वक सतत ब्रह्मचिन्तन में बाधा न पड़े उसे आसन कहना चाहिए। सुख का विरोधी आसन, आसन नहीं है। इस आशय को महर्षि पतञ्जलि ने भी स्वीकार किया है—

'स्थिरसुखमासनम्' (योग सू० २।४६) जिससे शरीर की स्थिति निश्चल एवं सुखद सिद्ध हो वह आसन है। इनके निर्देशानुसार प्रयत्नशैथिल्य अथवा अनन्त-शेष या गगन में चित्त को तल्लीन करने पर आसन की सिद्धि होती है—'प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्' (यो० सू० २।४७)।

आसन के सिद्ध हो जाने पर साधक शीतोष्णादि द्वन्द्व से अभिभूत नहीं होता—'ततो द्वन्द्वानभिघातः' (यो० सू० २।४८)

प्राणायाम—

भीतरी प्राणवायु को बाहर करना, बाहरी वायु को प्राणवायु रूपमें भीतर करना एवं प्राणवायु का भीतर ही अवरोध करना 'प्राणायाम' है इनके भेदचतुष्टय के क्रमशः उल्लेख होने पर प्राणायाम की परिभाषा सुस्पष्ट हो जाती है—

निष्क्राम्य नासाविवरादशेषं प्राणं बहिः शून्यमिवानिलेन ।
निरुध्य सन्तिष्ठति रुद्धवायुः स रेचको नाम महानिरोधः ॥
बाह्येस्थितं घ्राणपुटेन वायुमाकृष्य तेनैव शनैः समन्तात् ।
नाडीश्च सर्वाः परिपूरयेद् यः स पूरको नाम महानिरोधः ॥
न रेचको नैव च पूरकोऽत्र नासापुटे संस्थितमेव वायुम् ।
सुनिश्चलं धारयति क्रमेण कुम्भाख्यमेतत्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥

(भास्वती २।५०)

प्राणवायु को बाहर कर जितनी देर तक सुखपूर्वक रोका जाय, वह वायुरोध 'बाह्यवृत्ति' या 'रेचक' प्राणायाम है। प्राणवायु को अन्दर खींचकर जितनी देर तक ससुख रोका जाय, उसे भीतर ही रोके रहना 'आन्तरवृत्ति' या 'पूरक' प्राणायाम है। प्राणवायु को बाहर या अन्दर ले जाने का प्रयत्न न कर वह जहां पर हो वहीं पर उसकी गति को अवरुद्ध कर देना 'स्तम्भवृत्ति' या कुम्भक प्राणायाम है।

प्राणायाम का चौथा प्रकार उसकी पूर्ण परिपक्वावस्था ही है। तृतीय के समान यह एक बार के प्रयत्न से सिद्ध नहीं होता है, किन्तु अत्यधिक प्रयत्न करने पर इसकी सिद्धि होती है।

बाह्यवृत्ति तथा आन्तरवृत्ति प्राणायाम, अभ्यास के द्वारा जब दीर्घ सूक्ष्म हो जाय, तो इन दोनों का अतिक्रमण कर क्रमिक भूमियों पर जय प्राप्त होने से यह चौथा प्राणायाम सम्पन्न होता है। यह देश, काल, और संख्या से अवच्छिन्न नहीं होता है।

प्रत्याहार—

ध्यान काल में अपने-अपने विषयों से असम्बद्ध इन्द्रियों का अन्तःकरण के स्वरूप का अनुकरण करना 'प्रत्याहार' है।

'स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः'

(योगसूत्र० २।५४)

तात्पर्य है कि ध्यानकाल में जब चित्त ध्येय की आकृति को धारण कर लेता है तथा शब्दादि विषयों का परित्याग करता है तो चित्त का बाहरी विषयों से सम्बन्ध न होने से इन्द्रियाँ भी उन विषयों को नहीं ग्रहण कर सकती हैं किन्तु वह ध्येय को भी ग्रहण नहीं कर सकती हैं, क्योंकि उनका स्वभाव बाहरी विषयों को ही ग्रहण करना है, अतः उस समय समस्त इन्द्रियों की वृत्तियाँ बाह्य विषयों से असम्बद्ध होने के कारण चित्त में इस प्रकार विलीन हो जाती हैं मानो इन्द्रियों ने चित्तस्वरूप का अनुकरण कर लिया हो। ध्यानकाल में इन्द्रियों के चित्त में अवस्थित होने पर ध्येय का दर्शन, स्पर्श, श्रवण आदि चित्त के द्वारा ही सम्पन्न होते हैं, क्योंकि चित्त से पृथक् इन्द्रियों की कोई वृत्ति नहीं रह जाती है। इसी स्थिति को

प्रत्याहार कहते हैं। आचार्य शङ्कर ने प्रत्याहार के स्वरूप को इस प्रकार निर्दिष्ट किया है—

समस्त सांसारिक विषयों में आत्मभाव का अवलोकन कर चित्त को चिद् में मज्जित करना प्रत्याहार है मुमुक्षुओं को इसका अभ्यास करना आवश्यक है। प्रत्याहार की सिद्धि होने पर योगी की इन्द्रियाँ सर्वथा उसके अधीन हो जाती हैं।

धारणा—

जहाँ-जहाँ मन जाता है वहाँ-वहाँ ब्रह्म का ही दर्शन करना एवं उस ब्रह्म में ही मन को समाहित करना सर्वोत्तम धारणा है—

यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात्।
मनसो धारणं चैव धारणा सा परा मता॥
(अपरोक्षानुभूति १२२)

नृसिंह सरस्वती की दृष्टि में—'सर्वेषां बुद्धिसाक्षितया विद्यमानेऽद्वितीयवस्तुनि चित्तनिक्षेपणं धारणा'। समस्त मानवों की बुद्धि के साक्षीरूप में विद्यमान अद्वितीय ब्रह्म में चित्त को निक्षिप्त करना 'धारणा' है—

महर्षि पतञ्जलि के मत से—'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' (योग सू० ३।१)

चित्त को हृदय कमल आदि आध्यात्मिक देश या देवमूर्त्ति आदि बाह्य देश में वृत्ति के द्वारा स्थापित करना 'धारणा' है—

धारणा का यह रूप वेदान्त दर्शन को भी मान्य है, किन्तु वेदान्तदर्शन में ध्येय केवल ब्रह्म को ही कहा गया है।

ध्यान—'तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्' (योग० सू० ३।२)

तैलधारा के समान चित्तवृत्ति का अविच्छिन्न एकरस प्रवाह (ध्यान है)

योगसूत्र में वर्णित ध्यान ही वेदान्तसार में सविकल्पक समाधि के रूप में बोधित प्रतीत होता है। ध्यान की परिपक्वावस्था ही सविकल्पक समाधि है। वेदान्त-सार में ध्यान की आदि अवस्था का स्वरूप वर्णित है योगसूत्र में उसकी परिपक्वा-वस्था निर्दिष्ट है।

अपरोक्षानुभूति में ध्यान—

ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्त्या निरालम्बतया स्थितिः।
ध्यानशब्देन विख्याता परमानन्ददायिनी॥
(अपरोक्षानुभूति १२३)

समाधि—

यम आदि के साथ जिस समाधि को अंग कहा गया है वह सविकल्पक समाधि है। जिसका वर्णन इस रूप में किया जा चुका है कि—ज्ञाता, ज्ञान आदि विकल्पों के विलय की अपेक्षा किए विना अद्वितीय वस्तु में उसके आकार से

एवमस्याङ्गिनो निर्विकल्पकस्य लयविक्षेपकषायरसास्वादलक्षणाश्चत्वारो विघ्नाः सम्भवन्ति । लयस्तावदखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्तवृत्तेर्निद्रा । अखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्तवृत्तेरन्यावलम्बनं विक्षेपः । लयविक्षेपाभावेऽपि चित्तवृत्ते रागादिवासनया स्तब्धीभावादखण्डवस्त्वनवलम्बनं कषायः । अखण्डवस्त्वनवलम्बनेनापि चित्तवृत्तेः सविकल्पकानन्दास्वादनं रसास्वादः । समाध्यारम्भसमये सविकल्पकानन्दास्वादनं वा ॥ ३२ ॥

एवं साङ्गसमाधिमनुतिष्ठतो यदातिवृष्ट्यनावृष्टिराष्ट्रविप्लवव्याघ्रचौरज्वराद्युपद्रवविघ्नसम्भावना भवति तदा तन्निवृत्तिर्लोकावगतसाधनावलम्बनेन कार्या । यदा तु मनस्येव विघ्नाः प्रादुर्भविष्यन्ति तदा तन्निवारणोपायमुपदेष्टुकामस्तत्रत्यान्विघ्नान्निर्दिशति—अस्येति । लयादीन्विभज्य लक्षयति—लयस्तावदिति ॥ ३२ ॥

आकारित चित्तवृत्ति का अवस्थान सविकल्पक है। इस समाधि में ज्ञाता ज्ञान आदि द्वैत का भान रहने पर भी अद्वैत वस्तु का भान ठीक उसी प्रकार होता है जैसे—मिट्टी के बने हाथी का हाथी के रूप में भान होने पर भी मिट्टी का भान होता रहता है।

अनुवाद—

यम आदि उक्त अङ्गों से युक्त निर्विकल्पक समाधि में चार विघ्न होते हैं—लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद। अखण्ड वस्तु का अवलम्बन न कर चित्तवृत्ति के निद्राग्रस्त हो जाने का नाम है लय। अखण्ड वस्तु का अवलम्बन न कर चित्तवृत्ति द्वारा किसी अन्य वस्तु का अवलम्बन कर लेने का नाम है विक्षेप। लय और विक्षेप के न होने पर भी राग आदि की वासना से स्तब्धता आ जाने के कारण चित्तवृत्ति द्वारा अखण्ड वस्तु के अवलम्बन न करने का नाम है कषाय। अखण्ड वस्तु का अवलम्बन न करके भी चित्तवृत्ति द्वारा सविकल्पक समाधि के आनन्द का अनुभव करने लग जाने का नाम है रसास्वाद। अथवा समाधि के आरंभ समय में सविकल्पक के आनन्द का स्वाद लेने लग जाने का नाम है रसास्वाद।

व्याख्या—

समाधि के दो भेद बताये जा चुके हैं—सविकल्पक और निर्विकल्पक। इनमें सविकल्पक में अखण्ड वस्तु के भान के साथ विकल्प—अन्यवस्तु का भी भान होता है, किन्तु निर्विकल्पक में किसी विकल्प का भान नहीं होता। अतएव निर्विकल्पक अङ्गी होता है और सविकल्पक यम आदि के समान उसका अङ्ग होता है। निर्वि-

कल्पक की सिद्धि यम आदि सातों अङ्गों के सम्यक् अभ्यास से सम्पन्न होती है। यह ज्ञातव्य है कि यम आदि अङ्गों का सम्यक् अभ्यास रहने पर भी कभी-कभी कुछ ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनसे निर्विकल्पक की सिद्धि अवरुद्ध हो जाती है उन स्थितियों को निर्विकल्पक की सिद्धि में विघ्न माना गया है और उन्हें लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद इन चार नामों से अभिहित किया गया है। लय का अर्थ है चित्त वृत्ति का विलय। यह दो प्रकार से होता है, एक होता है पर्याप्त लम्बे समय तक यम नियम आदि आठों अङ्गों के साथ निर्विकल्पक समाधि के अभ्यास में पटुता आ जाने पर। यह पटुता जब प्राप्त होती है तब परमानन्द-स्वरूप ब्रह्म में चित्तवृत्ति का ठीक उसी प्रकार लय होता है जिस प्रकार अत्यन्त तप्त लौह खण्ड पर पड़ने वाले जल विन्दुका अथवा तैल समाप्त हो जाने पर दीप की ज्वाला का। यह लय साधक का लक्ष्य है किन्तु जब चित्तवृत्ति शब्द आदि बाह्य विषयों का ग्रहण न करते हुए साधक के आलस्य से परमानन्द ब्रह्म को भी ग्रहण करने से विमुख हो जाती है तब यह चित्तवृत्ति की एक प्रकार की स्तब्धता होती है। इसे ही चित्तवृत्ति की निद्रा कहा जाता है। यह लक्ष्यभूत प्रथम लय की प्राप्ति में बाधक होती है क्योंकि इसमें चित्तवृत्ति बाह्य विषयों को ग्रहण नहीं करती, यह अंश तो ठीक है किन्तु वह परब्रह्म को भी ग्रहण करने में आलस्य कर जाती है यह अंश अभीष्ट नहीं है। क्योंकि ऐसा होने पर साधक को सच्चिदानन्द अखण्ड ब्रह्म के अनुभवरूप लक्ष्य की सिद्धि नहीं होती। यह अवस्था साधक के मार्ग में बहुधा संभावित होती है। क्योंकि बाह्य विषयों से चित्तवृत्ति को विमुख करते रहने के दीर्घकालीन प्रयास में वह शान्त हो जाता है फलतः बाह्य विषयों से प्रत्याहृत चित्तवृत्ति को अखण्ड ब्रह्म में स्थापित करने में आलस्य कर जाता है और बाह्य विषयों से चित्तवृत्ति को पराङ्मुख करने में अपनी पूरी कृतकृत्यता मान बैठता है।

विक्षेप, निर्विकल्पक समाधि की सिद्धि में दूसरा बाधक है। इसमें होता यह है कि साधक जब संसार के विभिन्न विषयों में दौड़ लगाने वाली चित्तवृत्ति को समेटने का प्रयत्न करता है और संसार के एक एक विषय से पराङ्मुख करने का प्रयत्न करता है, पराङ्मुख की हुई चित्तवृत्ति को कहाँ प्रतिष्ठित करना है इस बात को भूल जाता है फलतः चित्तवृत्ति अखण्ड वस्तु को न पकड़कर किसी अन्य वस्तु को ग्रहण कर लेती है और ऐसा होने पर अखण्ड ब्रह्म के अनुभवरूप लक्ष्य की प्राप्ति अवरुद्ध हो जाती है इस प्रकार यह अवस्था स्पष्ट रूप से निर्विकल्पक की सिद्धि में बाधक है।

कषाय, निर्विकल्पक की सिद्धि में तीसरा बाधक है। लय और विक्षेप की अवस्था समाप्त हो जाने पर भी इस बाधक के उपस्थित होने की संभावना रहती है। इसमें होता यह है कि साधक शास्त्र में वर्णित श्रवण-मनन आदि साधनों के द्वारा चित्त को अन्तर्मुख तो बना लेता है किन्तु अनेक जन्मों से विविध प्रकार की वस्तुओं

में राग आदि के जो संस्कार चित्त में जमे रहते हैं उनके कारण चित्त परब्रह्म को ग्रहण करने में विफल हो जाता है। साधक दीर्घ प्रयास से संसार के विषयों से अलग होकर परब्रह्म की ओर उन्मुख होता है किन्तु वहाँ तक न पहुँच कर पहले ही जड़ होकर बैठ जाता है। चित्त की अवस्था उस पुरुष की अवस्था से आंकी जा सकती है जो राजा के दर्शन के लिए अपने घर से निकलकर राजभवन तक पहुँचता है किन्तु द्वारपाल के रोक देने पर वहीं ठहर जाता है न पीछे लौटता है और न आगे बढ़ पाता है वह किंकर्तव्यविमूढ सा हो जाता है। ठीक यही दशा कभी कभी साधक के चित्त की भी होती है। वह बाह्य विषयों से पराङ्मुख होकर अखण्डब्रह्म को ग्रहण करने के लिए उसकी ओर उन्मुख होता है किन्तु सांसारिक विषयों के अनेक जन्मार्जित कामादि संस्कारों के उद्बुद्ध हो जाने से वह वहाँ तक न पहुँच कर बीच में ही रुक जाता है। इस प्रकार चित्तवृत्ति द्वारा अखण्डब्रह्म का ग्रहण न होना ही कषाय है। यह भी निर्विकल्पक समाधि की लक्ष्य प्राप्ति में स्पष्ट बाधक है।

रसास्वाद, यह निर्विकल्पक की सिद्धि में चौथा बाधक है। साधक जब संसार के विषयों से चित्तवृत्ति को प्रत्याहृत कर उससे अखण्डवस्तु को ग्रहण करने का प्रयत्न करता है तो कभी कभी ऐसा होता है कि चित्तवृत्ति अखण्डब्रह्म को ग्रहण न कर सविकल्पक समाधि का ही रसास्वाद करने लगती है। उसकी यह अवस्था उस मनुष्य की अवस्था से उपमित हो सकती है जो किसी भूखण्ड में गुप्त रूप से निहित धनराशि को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, किन्तु उस धनराशि के रक्षक उस पर आक्रमण कर देते हैं वह उस आक्रमण से अपनी रक्षा का प्रयत्न करता है और यदि वह उस आक्रमण से अपनी रक्षा करने में समर्थ हो जाता है तो लक्ष्यभूत धनराशि के प्राप्त न होने पर भी उस आक्रमण से सुरक्षित रहने में ही अपनी कृतकृत्यता मानने लगता है। ठीक उसी प्रकार साधक जब अखण्डब्रह्म को ग्रहण न करने से शाश्वत आत्मानन्द का आस्वाद नहीं कर पाता किन्तु संसार के विषमय विषयों से पराङ्मुख होने से प्राप्त शान्ति को ही ब्रह्मानन्द मान बैठता है और उसी में ब्रह्मरस की अनुभूति करने लगता है।

साधक की यह अवास्तव रसानुभूति ही रसास्वाद नाम का विघ्न है जिससे निर्विकल्पक की सिद्धि बाधित हो जाती है। साधक को इस विघ्न का सामना निर्विकल्पक समाधि के आरम्भ के समय ही उपगत हो जाता है और सविकल्पक में जिस आनन्द का अनुभव उसे प्राप्त हो जाता है उसे वह छोड़ नहीं पाता है। वह उसीके आस्वाद में निमग्न होकर आगे का प्रयास नहीं कर पाता। निर्विकल्पक समाधि की सिद्धि के लिए आवश्यक है कि इन चारों विघ्नों के सम्बन्ध में सतत सावधान रहे।

अनेन विघ्नचतुष्टयेन विरहितं चित्तं निर्वातदीपवदचलं सदखण्ड-चैतन्यमात्रमवतिष्ठते यदा तदा निर्विकल्पकः समाधिरित्युच्यते। तदुक्तम्—

"लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः।
सकषायं विजानीयाच्छमप्राप्तं न चालयेत्॥
नास्वादयेद्रसं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्" इति,
"यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता" इति च॥३३॥

उक्तलयादिविघ्नचतुष्टयाभावेन चित्तस्य ज्ञेये वस्तुनि यन्नैश्चित्यं तद्दृष्टान्तेन निर्विकल्पकसमाधिलक्षणमित्याह—तदेति। विघ्ननिवृत्त्युपायं सम्मति-प्रदर्शनेनाह—तदुक्तमित्यादिना। लये सम्बोधयेत् उत्तम्भयेत्सोत्साहं मनः कुर्यादिति यावत्। विक्षिप्तं चित्तं धैर्यावलम्बनेन पुनः शमयेत्पुनरद्वितीयवस्तुनिष्ठं कुर्यादित्येतत्। सकषायं चित्तं विजानीयात्कलुषितं मे चित्तमिति विज्ञाय च समेऽद्वितीयचैतन्यात्मनि निवेशयेत्। पुनः शमप्राप्तं

अनुवाद—

इन चार विघ्नों से मुक्त चित्त निर्वात स्थान में स्थित दीप के समान अचल होकर जब अखण्ड चैतन्यमात्र को आलम्बन कर अवस्थित होता है तब निर्विकल्पक समाधि होती है। (तात्पर्य यह है कि अन्य विषयों का सर्वथा त्यागकर अखण्ड चैतन्य मात्र को आलम्बन करने वाली चित्त की बृत्ति ही चित्त की समाधि है)

कहा भी गया है कि—लय होने पर चित्त का सम्बोधन करना चाहिए। विक्षिप्त चित्त का शमन करना चाहिए। कषाययुक्त चित्त की जानकारी प्राप्त करनी चाहिए और शमप्राप्त चित्त को विचलित नहीं होने देना चाहिए, उस अवस्था में रस का अनुभव नहीं करना चाहिए और निःसङ्ग होकर प्रज्ञा से युक्त होना चाहिए।

यह भी कहा गया है कि—जैसे वायुशून्य स्थान में विद्यमान दीप कम्पित नहीं होता वही उपमा अखण्ड चैतन्य मात्र में अवस्थित चित्त की मानी गई है।

व्याख्या—

निर्विकल्पक समाधि की सिद्धि में चार-विघ्न बताये गए—लय, विक्षेप कषाय और रसास्वाद। जिनका परिचय कुछ ही पंक्तियों में दिया जा चुका है। साधक का चित्त जब इन चारों विघ्नों से मुक्त रहता है तव वह ठीक उसी प्रकार स्थिर होता है जैसे बात शून्य स्थान में विद्यमान दीप। इस प्रकार जब

तत्र चालयेत्तत्रैव प्रयत्नपूर्वकं स्थिरीकुर्यादित्यर्थः। रसं सविकल्पकानन्दं नास्वादयेत्तदानन्दमात्रेण कृतार्थतां न मन्वीत किन्तु प्रज्ञया विवेकबुद्ध्या निःसङ्गः सविकल्पकानन्देऽनासक्तो भवेदित्यर्थः। एवं विघ्नपरिहारे सति यन्निर्विकल्पकसमाध्यवस्थानं चित्तस्य तद्भगवद्वाक्योदाहरणेन दर्शयति—यथा दीप इति ॥ ३३ ॥

चित्त किन्हीं अन्य विषयों की ओर उन्मुख न होकर केवल चैतन्य लक्षण अखण्डब्रह्म को आलम्बन बना लेता है तब वास्तव में आलम्बनभूत अखण्ड चैतन्य से अतिरिक्त उसका कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाता। उस समय केवल अखण्ड चैतन्य ही शेष रहता है। चित्त की यह अखण्डचैतन्यशेषता ही निर्विकल्पक समाधि है।

उक्त चार विघ्नों का अस्तित्व और उन्हें दूर करने की विधि के बारे में मान्य विद्वानों ने भी अपनी अभिमति व्यक्त की है। उनका कहना है कि जब साधक चित्तलय नामक विघ्न से ग्रस्त हो जाता है और आलस्यवश शब्द आदि विषयों में उसकी वृत्ति न होने के साथ प्रत्यक् चैतन्य को ही अवभासित करने की विमुखता हो जाने से चित्त में स्तब्धता आ जाती है तब उसकी इस अवस्था का परिहार करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि चित्त का उद्‌बोधन किया जाय। चित्त के उद्‌बोधन का अर्थ है कि चित्त में आयी हुई निष्क्रियता का त्याग कर प्रत्यक् चैतन्य की ओर उसे उन्मुख किया जाय। जिससे उसकी वृत्ति अखण्ड चैतन्य रूप आलम्बन में प्रवाहित हो सके। जब चित्त में विक्षेप उत्पन्न हो, चित्त की वृत्ति अखण्ड चैतन्य को ग्रहण न कर अन्य वस्तु में प्रवाहित होने लगे तब उसकी उस विक्षिप्तावस्था का परिहार करने के लिए उसका शमन करना चाहिए। जिस विषय की ओर चित्त उन्मुख हो उस विषय के दोषों का विचार कर उसके प्रति चित्त में वैराग्य उत्पन्न करते हुए उसे अन्तर्मुख—अखण्ड चैतन्योन्मुख करने का प्रयत्न करना चाहिए।

जब चित्त कषायित हो राग आदि की वासना से स्तब्ध होकर अखण्ड चैतन्य का अवलम्बन न कर सके तब उसके सम्बन्ध में सावधानी के साथ यह विचार करना चाहिए कि चित्त में जो राग आदि की वासना है वह उचित नहीं है। क्योंकि उससे चित्त का आकर्षण सांसारिक विषयों की ओर बढ़ता है जिससे चित्त द्वारा अखण्ड चैतन्य को ग्रहण करने में बाधा होती है। अतः प्रत्यक् चैतन्य की ओर उन्मुख करने वाली वासना से विषयों की ओर चित्त को आवर्जित करने वाली राग आदि की वासना जघन्य है त्याज्य है।

चित्त को कषायमुक्त करने की एक और विधि है। वह यह है कि जब साधक को यह आभास हो कि उसका चित्त अखण्ड चैतन्य को प्राप्त नहीं कर सका

अथ जीवन्मुक्तलक्षणमुच्यते। जीवन्मुक्तो नाम स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मज्ञानेन तदज्ञानबाधनद्वारा स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मणि साक्षात्कृतेऽज्ञानतत्कार्यसञ्चितकर्मसंशयविपर्ययादीनामपि बाधितत्वादखिलबन्धरहितो ब्रह्मनिष्ठः।

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" ॥

इत्यादिश्रुतेः ॥ ३४ ॥

है तब उसे समझना चाहिए कि उसका चित्त कषाययुक्त है और कषाययुक्त चित्त में जिस बाह्य विषय को पकड लिया है उससे उसको विषयान्तर में जाने से रोकना चाहिए। उसे उसी विषय पर तब तक टिकाये रखना चाहिए जब तक उस विषय की ओर आकृष्ट करने वाली चित्त की राग आदि वासना का क्षय न हो जाय रागादि वासना का क्षय हो जाने पर चित्त अनायास ही आत्मोन्मुख हो जायगा।

चित्त जब रसास्वाद में लग जाता है अखण्ड चैतन्य तक न पहुँच कर सविकल्पक के ही रस की अनुभूति करने लग जाता है अर्थात् विषयों के दुःसह भार से मुक्त होने के कारण ही विचित्र तृप्ति का अनुभव करने लगता है तब उसे इस विघ्न से मुक्त करने के लिए प्रज्ञा से युक्त होना आवश्यक होता है। प्रज्ञा से युक्त होने का अर्थ है—अपने आत्मस्वरूप से ही तुष्ट होने के निश्चय से युक्त होना। अर्थात् यह सोचना कि विषय का बोझ चित्त से हट गया किन्तु उतने मात्र से कोई उपलब्धि नहीं हुई। उसे तो आत्मा के रसमय स्वरूप में मग्न करना है। इस प्रकार की प्रज्ञा को प्राप्त करना प्राज्ञता है। इसी के द्वारा चित्त को रसस्वरूप नामक विघ्न से मुक्त किया जा सकता है।

उक्त उपायों से चित्त जब लय आदि उक्त चारों विघ्नों से मुक्त हो जाता है तब ऐसे चित्त की उपमा उस दीप से दी जा सकती है जो निर्वात स्थान में निष्कम्प होकर प्रदीप्त है। जिसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि जैसे निर्वात दीप की ज्वाला अत्यन्त स्थिर होती है एक मात्र उपर की ओर अग्रसर होती रहती है ठीक उसी प्रकार निर्विघ्न चित्त किसी अन्य विषय की ओर उन्मुख न होकर एक मात्र अखण्ड चैतन्य में ही प्रवाहमान होता है।

अनुवादः—

अब जीवन्मुक्त का लक्षण कहा जायगा। जो साधक अपने से अभिन्न अखण्ड ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर उसके अज्ञान का बाध कर देता है और अपने से अभिन्न अखण्ड ब्रह्म का प्रत्यक्ष दर्शन कर अज्ञान और अज्ञान के सभी कार्य संचित कर्म,

एवंविधसमाध्यन्तसाधनानुष्ठानपरिपाके सति पूर्वोक्तप्रकारेण ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारे दृढ़ीभूतेऽविद्यातत्कार्यात्मकसर्वसंसारनिवृतौ जायमानायां काकतालीयन्यायेन यदि प्रारब्धकर्मक्षयात्तत्काम एव विदुषः शरीरपातस्तदा सद्य एव मुक्तिः स्यात्। यदा तु ज्ञानोत्पत्तिसमये प्रारब्धकर्म न क्षीयते तदा तत्क्षयपर्यन्तं शरीरस्यावस्थानाज्जीवन्नेव मुक्तसंसारो भवति। तस्य लक्षणं वक्तुं प्रतिजानीते—अथेति। अथशब्दः साधननिरूपणानन्तर्यार्थः। लक्षणमाह—जीवन्मुक्तो नाम इति। ब्रह्मनिष्ठत्वं वेदान्तवेद्यब्रह्मात्मनावस्थितत्वम्। ब्रह्मनिष्ठो जीवन्मुक्त इत्युक्ते परमार्थतो ब्रह्मनिष्ठत्वममुक्तस्याप्यस्तीत्यतो विशिनष्टि—अखिलबन्धरहित इति। परममुक्तवैधर्म्यसिद्धये प्रारब्धकर्ममात्रशेष इति विशेषणान्तरमध्याहर्तव्यम्। कथमसौ मुक्त इत्यपेक्षायामाह—अज्ञानतत्कार्य इति। अज्ञानं सदसद्भ्यामनिर्वचनीयमित्याद्युक्तलक्षणम्। तत्कार्यं स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चद्वयम्। सञ्चितं कर्म ज्ञानोत्पत्तेः प्रागुत्पन्नमनारब्धफलम्। संशयो देहाद्यतिरिक्तो ब्रह्मस्वरूप आत्मा भवति न वेति। अथवा ब्रह्मात्मविज्ञानान्मोक्षो भवेन्न वेत्यादिविचिकित्सा। विपर्ययो देहादिष्वात्माभिमानादिलक्षणः। आदिशब्दाद्बाह्यप्रपञ्चे सत्यत्वबुद्धिः। एतेषां बाधितत्वान्मुक्त इत्यर्थः। एतत्कदा स्यादित्याकाङ्क्षायामाह—स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मणि साक्षात्कृते सतीति। साक्षात्कारे साधनमाह—स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मज्ञानेनेति ॥

संशय, विपर्यय आदि का उन्मूलन कर सम्पूर्ण बन्धनों से रहित हो ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है वह जीवन्मुक्त होता है। उस परापर पुरुष का दर्शन होने पर द्रष्टा के हृदय की गाँठ खुल जाती है सब प्रकार के संशय नष्ट हो जाते हैं और उसके सभी कर्म क्षीण हो जाते हैं। इस अभिप्राय की श्रुति से जीवन्मुक्त का लक्षण विदित ही है।

व्याख्या:—

जीवन्मुक्त की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि जो समस्त बन्धनों से मुक्त होकर ब्रह्मनिष्ठ हो वह जीवन्मुक्त है। जीवन्मुक्त शब्द का अर्थ ही है जीते हुए मुक्त रहना कर्मों के बन्धन में न पड़ना। यह स्थिति तभी होती है जब मनुष्य चित्त के कर्तव्य भोक्तृत्व सुख दुःख आदि धर्मों को आत्मधर्म समझने का अभ्यास छोड़ देता है और यह तब होता है जब उसे अखण्ड ब्रह्म के साथ अपने आत्मा की अभिन्नता का ज्ञान होकर ब्रह्म के साथ उसके ऐक्य के अनादि अज्ञान का बाध होकर उसे अखण्ड ब्रह्म का सक्षात्कार हो जाता है। अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार होते ही अज्ञान और अज्ञान मूलक सम्पूर्ण प्रपञ्च की निवृत्ति हो जाती है। जिसके फलस्वरूप साधक चित्तधर्म के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। इसी बात को श्रुति इस प्रकार उद्घोषित करती है कि परावर पर अर्थात् आत्मा से भिन्न प्रतीत होने वाली सारी वस्तुएँ जिससे अवर हैं, न्यून हैं, जिसकी सत्ता से अतिरिक्त उनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है उस ब्रह्म से अभिन्न रूप में अपने आत्मा का दर्शन होने पर द्रष्टा के हृदय की गाँठ अर्थात् चित्

अयं तु व्युत्थानसमये मांसशोणितमूत्रपुरीषादिभाजनेन शरीरेणान्ध्यमान्द्यापटुत्वादिभाजनेनेन्द्रियग्रामेणाशनापिपासाशोकमोहादिभाजनेनान्तःकरणेन च पूर्वपूर्ववासनया क्रियमाणानि कर्माणि भुज्यमानानि ज्ञानाविरुद्धारब्धफलानि च पश्यन्नपि बाधितत्वात्परमार्थतो न पश्यति। यथेन्द्रजालमिति ज्ञानवांस्तदिन्द्रजालं पश्यन्नपि परमार्थमिदमिति न पश्यति। "सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव" इत्यादिश्रुतेः। उक्तं च—

"सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति
द्वयं च पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः।
तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः
स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चय" इति ॥ ३५ ॥

तत्त्वसाक्षात्कारानन्तरं मुक्त एव भवतीत्यत्र प्रमाणमाह—भिद्यत इति। हृदयग्रन्थिरहङ्कारश्चिज्जडात्मकत्वाद्ग्रन्थिरिव ग्रन्थिः। सर्वसंशया दृष्टादृष्टार्थविषया विचिकित्साः। अस्यात्मनः कर्माणि जीवन्मुक्तिपक्षे प्रारब्धातिरिक्तानि सञ्चितानि क्रियमाणानि च। तथा च न्यायः—"तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्" इति। परममुक्तिपक्षे प्रारब्धसहि-

---

अचित् का अध्यास मूलक तादात्म्य उसके समस्त संशय जो ब्रह्म दर्शन के पूर्व मनुष्य के हृदय में स्वभावतः उत्पन्न होते रहते हैं नष्ट हो जाते हैं उसके समस्त कर्म संचित भुज्यमान और क्रियमाण नष्ट हो जाते हैं। कर्म का समग्र बन्धन समाप्त हो जाता है।

अनुवादः—

जीवन्मुक्त व्युत्थान के समय समाज से पृथक् रहने की स्थिति में माँस, रक्त, मूत्र, पुरीष आदि के आश्रय शरीर से; अन्धता, मन्दता, अपटुता, आदि के आश्रय इन्द्रिय समूह से; भूख, प्यास, शोक, मोह आदि के आश्रय अन्तःकरण से पूर्व काल की वासना के अनुसार कर्म करता है और जिन कर्मों की निवृत्ति ज्ञान से नहीं ऐसे परार्थ कर्मों का फल भोग करता है और उन सभी का अनुभव करते हुए भी उनके बाधित होने से उन्हें परमार्थ दृष्टि से नहीं देखता। उसकी यह स्थिति ठीक उसी प्रकार है जैसे इन्द्रजाल को जानने वाला पुरुष इन्द्रजाल को देखते हुए भी "यह सत्य है" इस रूप में उसे नहीं देखता। श्रुति कहती है कि चक्षुष्मान् अचक्षु की तरह होता है। और श्रोत्रवान् भी श्रोत्रहीन की तरह होता है। कहा भी गया है कि जो सुषुप्ति अवस्था के समान जाग्रत् अवस्था में भी द्वैत को नहीं देखता, अथवा द्वैत को देखते

तान्यपि क्षीयन्ते। कदा ? तस्मिन्निष्प्रपञ्चे ब्रह्मात्मनि दृष्टे सति साक्षात्कृते सति। कथम्भूते ? परावरे सर्वात्मके। अत्र सर्वात्मकत्ववचनं तद्व्यतिरिक्तस्याभावपरम्। चौरः स्थाणुरितिवद्बाधायां सामानाधिकरण्यस्य विवक्षितत्वात्। यद्वा परो हिरण्यगर्भः सोऽवरो न्यूनो यस्मात्तस्मिन्परावर इत्याथर्वणीयश्रुत्यर्थः। आदिपदात् "यस्तु सर्वाणि भूतानि", "यस्मिन्सर्वाणि भूतानि" इति च मन्त्रद्वयमीशावास्यगतं परिगृह्यते। श्रुतेश्चेति। चकारात् "यथैधांसि समिद्धोऽग्निः", "यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहं", "ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति" इत्यादिस्मृतयः समुच्चीयन्ते। न च जीवन्मुक्तौ प्रमाणाभावः। "तद्यथाहि निर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेते", "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" इत्यादिश्रुतेः "प्रजहाति यदा कामान्", "प्रकाशं च प्रवृत्तिं च" इत्यादिस्मृतेश्च प्रमाणत्वादिति द्रष्टव्यम् ॥ ३४ ॥

ननु जीवन्मुक्तो देहेन्द्रियादिभिर्व्यवहरति न वा। आद्ये तस्य बद्धान्न विलक्षणता। द्वितीये देहस्यानुपयोगात्सद्यःपातप्रसङ्ग इत्याह—अयं तु इति। आरब्धफलानि भुज्यमानानि पूर्वपूर्ववासनया क्रियमाणानि च कर्माणि साक्षितया कर्तृत्वभोक्तृत्वाभिमानहीनोऽन्यदृष्ट्या पश्यन्निव भासमानोऽपि परमार्थतः स्वदृष्ट्या न पश्यति ज्ञानेन कर्तृत्वाद्यभिमानमूलाज्ञानस्य बाधितत्वाद्बद्धाद्विलक्षण एवायमित्यर्थः। बलवत्प्रयुक्तबाणपाषाणा-

---

हुए भी उसे अद्वैत रूप में देखता है एवं कर्म करते हुए भी जो निष्क्रिय रहता है वही आत्मवेत्ता होता है अन्य नहीं, यही वेदान्त का निश्चय है।

व्याख्या:—

कोई साधक जब जीवन्मुक्त हो जाता है तब समाधि की अवस्था में रहने के समय उसे ब्रह्म से भिन्न किसी अन्य वस्तु का आभास नहीं होता। उस समय न कोई नया कर्म करता है और न किसी कर्मफल का भोग ही करता है किन्तु जब समाधि से व्युत्थित होकर लोकव्यवहार में आता है तब अपने शरीर अपनी इन्द्रियों और अपने अन्तःकरण से वही सब काम करता है जो सांसारिक बन्धनों में फँसा अज्ञानी मनुष्य करता है क्योंकि जैसे संसारी मनुष्य के शरीर में मांस, रक्त, मूत्र, पुरीष, आदि होता है उसी प्रकार जीवन्मुक्त का भी शरीर होता है। और जैसे अज्ञानी मनुष्य की इन्द्रियाँ अन्धता, मन्दता, अपटुता आदि दोषों से युक्त होती हैं उसी प्रकार जीवन्मुक्त की इन्द्रियाँ भी उक्त दोषों से ग्रस्त होती हैं। एवं जैसे अज्ञानी मनुष्य का अन्तःकरण भूख, प्यास शोक, मोह आदि से ग्रस्त होता है उसी प्रकार जीवन्मुक्त का भी अन्तःकरण होता है। एवं जिस प्रकार पूर्वानुभव और पूर्वकर्म की वासनाओं से अज्ञानी मनुष्य

दिवत्प्रवृत्तफलस्य कर्मणो यावद्भोगक्षयं निवारकाभावात्तदधीनस्य देहस्य न सद्यःपातप्रसङ्ग इति द्रष्टव्यम्। उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—यथेन्द्रजालमिति। बाधिततत्वबुद्धेरनुवृत्तेरित्यर्थः। जीवन्मुक्तो देहादिभिर्व्यवहरन्निव दृश्यमानोऽपि न परमार्थतो व्यवहरतीत्यत्र श्रुतिं प्रमाणयति—सचक्षुरचक्षुरिवेति। चक्षुरादिमानपि प्रपञ्चरूपाद्यदर्शनाच्चक्षुरादिहीन इव भवतीत्यर्थः। आदिपदात् "तदेजति तन्नैजति" इत्यादिश्रुत्यन्तरग्रहः। उक्तेऽर्थे पूर्वाचार्यसम्मतिमाह—उक्तं च सुषुप्तवदिति। जाग्रति जाग्रदवस्थायां द्वयं पश्यन्नपि यः सुषुप्तिं गतवद्विशेषतो न पश्यति स आत्मवित्। विशेषादर्शने हेतुः—अद्वयत्वत इति। द्वयस्य बाधितत्वादित्यर्थः। तथा कुर्वन्नपि न करोति यतो निष्क्रिय इति योजना। तथा च वसिष्ठः—"सुषुप्तवद्यश्चरति स मुक्त इति कथ्यते" इति॥ ३५॥

वासनाओं के अधीनस्थ होता है उसी प्रकार जीवन्मुक्त भी होता है किन्तु दोनों में अन्तर यह होता है कि अज्ञानी मनुष्य देह इन्द्रिय अन्तःकरण कर्म कर्मफलभोग आदि को वास्तविक समझता है, उसकी दृष्टि में उनका वास्तविक अस्तित्व नहीं होता। ऐसे जीवन्मुक्त को उस पुरुष के साथ उपमित किया जा सकता है जो इन्द्रजाल को इन्द्रजाल क्रिया समझकर देखता है। और इसीलिए उसे परमार्थ रूप में नहीं ग्रहण करता। ठीक यही स्थिति जीवन्मुक्त की होती है वह जगत् को मिथ्या समझते हुए उसका अस्तित्व स्वीकार करता है। सभी कर्मों और व्यवहारों को मिथ्या समझते हुए उन्हें सम्पन्न करता है। सब कुछ करते हुए उसका यह निश्चय अक्षुण्ण रहता है कि यह सब मिथ्या है। इनमें किसी की वास्तविक सत्ता नहीं है। श्रुति चक्षुष्मान् को अचक्षु, श्रोत्रवान् को श्रोत्रहीन कहते हुए यही सिद्ध करती है। जिसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि जो व्यक्ति आँखों से देखता है और कानों से सुनता है वह भी परमार्थ दृष्टि से न कुछ देखता है और न कुछ सुनता है क्योंकि देखने का साधन चक्षु सुनने का साधन श्रोत्र, देखी सुनी जाने वाली बात, और देखने सुनने की क्रिया सभी मिथ्या है। किसी की पारमार्थिकता नहीं है। यदि इनकी सत्यता हो सकती है तो केवल ब्रह्म के रूप में हो सकती है ब्रह्म से भिन्न रूप में यह सब कोरी कल्पना मात्र है। वेदान्त के प्रामाणिक आचार्यों का भी यह कथन है कि जो पुरुष जीव और ब्रह्म के ऐक्य का साक्षात् प्रत्यक्ष दर्शन कर सम्पूर्ण भेदबुद्धि को समाप्त कर देता है उसकी ब्रह्म दृष्टि इतनी दृढ़ हो जाती है कि जाग्रत् अवस्था में भी ठीक उसी प्रकार उसे द्वैत का दर्शन नहीं होता जैसे सुषुप्त अवस्था में समस्त इन्द्रियों का अतः करण में लय हो जाने से द्वैत का दर्शन नहीं होता। जीवन्मुक्त जब समाधि अवस्था से उतर कर लोक व्यवहार में प्रवेश करता है तब अविद्यामूलक प्रापञ्चिक संसार के आंशिक अनुवर्तन से शरीर रक्षा के लिए आंशिक कर्मों के करते समय यद्यपि द्वैत का दर्शन करता है किन्तु समाज संस्कार

अस्य ज्ञानात्पूर्वं विद्यमानानामेवाहारविहारादीनामनुवृत्तिवच्छु-भवासनानामेवानुवृत्तिर्भवति शुभाशुभयोरौदासीन्यं वा । तदुक्तम्—

"बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि ।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षण" इति ॥

"ब्रह्मवित्त्वं तथा मुक्त्वा स आत्मज्ञो न चेतर" इति ॥ ३६ ॥

नन्वसौ जीवन्मुक्त इति कथमन्यैर्ज्ञायत इति तदाह—अस्य ज्ञानात्पूर्वमिति । अशुभवासनानां साधकावस्थायामेव निवर्तितत्वाच्छुभवासनानामेवानुवृत्तिर्भवतीत्यर्थः । ननु शास्त्रविहितं शुभमेवाचरतो न साधकाद्भेद इत्यपरितुष्यन्निवाह—शुभाशुभयोरौदासीन्यं वा इति । औदासीन्यमुपेक्षा "हिंसानुग्रहयोरनारम्भौ" इति गौतमस्मरणात् ।

"निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम् ।
अक्षीणं क्षीणकर्माणं तं देवा ब्राह्मणं विदुः" ॥

इति व्यासवचनात् । "अमौनं मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मण" इति बृहदारण्यकश्रुतेश्च । तथा चौदासीन्यमेव मुक्तलक्षणं न विधिपरतन्त्रप्रवृत्तिमत्त्वं न वा निषेधातिक्रम इति भावः ।

विधिनिषेधशास्त्रपरवशत्वं चेन्मुक्तस्य न भवेत्तर्हि यथेष्टाचरणं प्राप्नोतीत्याशङ्क्यां नैष्कर्म्यसिद्धिवाक्येन प्रत्याचष्टे—तदुक्तं बुद्ध इति । सतत्त्वं

इतना प्रौढ़ होता है जिसके कारण उसे द्वैत का भी दर्शन अद्वैत के रूप में होता है और वह लोकसंग्रह की दृष्टि से नित्य नैमित्तिक आदि कर्मों को करता हुआ भी आत्मा वस्तुतः अकर्त्ता है इस दृढ़ निश्चय के कारण निष्क्रिय रहता है। जीवन्मुक्त की अवस्था में किए जाने वाले कर्मों का उसे फलभोग नहीं करना पड़ता है। वेदान्त शास्त्र के अनुसार ऐसा महापुरुष ही यथार्थ रूप में आत्मज्ञानी और जीवन्मुक्त होता है। जीवन्मुक्त के सम्बन्ध में वेदान्तवेत्ता आचार्यों को यही मान्यता है।

अनुवादः—

जीवन्मुक्त को ज्ञान होने के पूर्व जैसे आहार विहार आदि की अनुवृत्ति होती है या प्रथमतः विद्यमान आहार विहार आदिकी अनुवृत्ति होती है उसी प्रकार शुभ वासनाओं की ही अनुवृत्ति होती है। अथवा शुभ अशुभ दोनों के विषय में उसमें उदासीनता आ जाती है। ऐसा कहा गया है कि जिसने अद्वैत की सत्यता समझ ली है वह भी यदि यथेष्ट आचरण करे तो अपवित्र वस्तु के भक्षण के विषय में कुत्ते और तत्त्वज्ञानी में क्या भेद होगा। यह भी ज्ञातव्य है कि जीवन्मुक्त यदि संसारी मनुष्य के समान ही आचरण करता है तो इस बात को छोड़कर कि उसको ब्रह्मज्ञानी होने

याथात्म्यम्। मुमुक्षोरपि नास्ति यथेष्टचेष्टा विदुषो मुक्तस्य कुत एव सा। तदप्युक्तम्—

"यो हि यत्र विरक्तः स्यान्नासौ तस्मिन्प्रवर्तते।
लोकत्रयाद्विरक्तत्वान्मुमुक्षुः किमितीहते॥
क्षुधया पीड्यमानोऽपि न विषं ह्यत्तुमिच्छति।
मिष्टान्नध्वस्ततृड् जानन्नामूढस्तज्जिघत्सति॥
रागो लिङ्गमबोधस्य चित्तव्यायामभूमिषु।
कुतः शाड्वलता तस्य यस्याग्निः कोटरे तरोः"॥ इत्यादि॥३६॥

का अभिमान है दूसरे को नहीं है यह कैसे कहा जा सकता है कि वह आत्मवेत्ता है और दूसरा आत्मवेत्ता नहीं है।

व्याख्या:—

कुछ लोगों को जीवन्मुक्त के विषय में यह शंका रहती है कि मनुष्य यदि जीवन्मुक्त हो जाता है जब उसकी यह धारणा हो जाती है कि ब्रह्मज्ञान द्वारा उसका मूलाज्ञान नष्ट हो चुका है अतः शुभकर्मों से पुण्य और अशुभकर्मों से पाप के बन्धन में वह नहीं पड़ सकता तो यह पूरी संभावना होती है कि वह यथेष्ट आचरण करने लग जाय। पुण्य पाप की चिन्ता से मुक्त वह लोकगर्हित कर्म भी करने लगे और यदि जीवन्मुक्त पुरुष ऐसा करने लगेगा तो "यद्यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरः पुमान्" के अनुसार सामान्य जनों द्वारा उसका अनुसरण होने लगने से समाज का ढाँचा टूटने लगेगा। अतः जीवन्मुक्ति की मान्यता उचित नहीं है। इस शङ्का का समाधान करते हुए वेदान्तसारकार का कहना है कि जीवन्मुक्ति आत्मज्ञान से सम्पन्न होती है और आत्मज्ञान का उदय तब तक नहीं होता जब तक मनुष्य की निन्दनीय कर्मों से निवृत्ति होकर शुभ वासनाओं के अनुसार समीचीन कर्मों के निरन्तर अनुष्ठान का आभ्यास नहीं बनता उसके मानस में शान्ति क्षमा आदि सद्गुणों की प्रतिष्ठा से अशुभ वासनाओं का निवारण नहीं होगा। अतः स्पष्ट है कि पुरुष की अशुभ वासनाओं का निवारण जीवन्मुक्ति के साधन भूत आत्म ज्ञान के पूर्व ही हो जाता है। अतः आत्मतत्त्व ज्ञान के पूर्व आहार विहार आदि में संसारी मनुष्य की प्रवृत्ति विना किसी प्रयत्न से हुआ करती है उसी प्रकार आत्म-तत्त्वज्ञान के अनन्तर शुभ वासनाओं की अनुवृत्ति भी अनायास ही होती है। अशुभ वासनाओं की अनुवृत्ति नहीं होती क्योंकि वे तत्त्वज्ञान के पूर्व ही निवृत्त हो चुकी होती हैं। वास्तविकता तो यह है कि तत्त्वज्ञान के अनन्तर शुभ वासनाओं का भी कोई प्रयोजन न रह जाने से उसका भी अस्तित्व नहीं होता फलतः जीवन्मुक्त पुरुष शुभ अशुभ सभी कर्मों के प्रति उदासीन हो जाता है उसकी केवल वह सामान्य क्रिया

तदानीममानित्वादीनि ज्ञानसाधनान्यद्वेष्टृत्वादयः सद्गुणाश्चालङ्कारवदनुवर्तन्ते । तदुक्तम् —

"उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः ।
अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिण" इति ॥ ३७ ॥

ही होती है जो प्रारब्ध कर्मों के फल भोग की निष्पत्ति के लिये अपेक्षित होती है । अतः जीवन्मुक्त पुरुष द्वारा यथेष्ट आचरण होने की शङ्का निराधार है । इसी बात को वेदान्त शास्त्र के सामान्य विद्वानों ने इस रूप में भी व्यक्त किया है कि जिसे अद्वैत तत्त्व का अवबोध हो चुका है वह भी यदि यथेष्ट आचरण करने लगेगा तो तत्त्वज्ञानी और कुत्ते में अन्तर ही क्या होगा । जब कि दोनों की प्रवृत्ति अशुचि सेवन में समान रूप से होती रहेगी ।

सच बात यह है कि जीवन्मुक्त द्वारा यथेष्ट आचरण किए जाने की शङ्का का जो आधार बताया गया है, जीवन्मुक्ति में वही असम्भव है । क्योंकि जो जीवन्मुक्त हो जाता है उसे ब्रह्मज्ञानी होने का अभिमान ही नहीं हो सकता । क्योंकि अभिमान अज्ञान का फल है और उसका अज्ञान तत्त्वज्ञान द्वारा निवृत्त हो चुका है । जैसा कि विद्वानों ने कहा है कि आत्मज्ञ वही होता है जो अपने को ब्रह्मज्ञानी समझने की भावना से भी मुक्त हो जाता है और जिसे अपने को ब्रह्मज्ञानी समझने की भावना बनी रहती है, वस्तुतः वह ब्रह्मज्ञानी होता ही नहीं ।

इस सन्दर्भ में सुबोधिनीकार ने यह प्रश्न उठाया है कि यदि तत्त्वज्ञानी की यथेष्टाचरण में प्रवृत्ति होगी तो शास्त्रों में जो ऐसी अनेक बातें कही गई हैं कि जीवन्मुक्त माता और पिता का बध करके भी पापपङ्क में लिप्त नहीं होता, जीवन्मुक्ति में कर्तृत्वाभिमान न होने से लोक हत्या करके भी वह बन्धन में नहीं पड़ता, तत्त्ववेत्ता सैकडों सहस्रों अश्वमेध करके पुण्य और इतने ही ब्रह्महत्या आदि कर्म करके पाप से सम्पृक्त नहीं होता । यह सब कैसे सङ्गत हो सकता है ? सुबोधिनीकार ने इन प्रश्नों का समाधान यह कहते हुए प्रस्तुत किया है कि उक्त आशय के वचनों का तात्पर्य तत्त्वज्ञान की महिमा बताने में है न कि तत्त्वज्ञानियों द्वारा ऐसे कर्मों के किए जाने की संभावना की पुष्टि की है । उक्त वचनों का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि शुभाशुभ कर्मों से पुण्य और पाप का बन्धन होने का मूल कारण अज्ञान है । जो ब्रह्मज्ञान होने से निवृत्त हो जाता है । अतः ब्रह्मज्ञानी द्वारा यदि ऐसे कर्म कदाचित् सम्भव भी हों तो भी ब्रह्मज्ञानी इन कर्मों के परिणामों से प्रभावित नहीं हो सकता किन्तु सत्य यह है कि इन कर्मों में प्रवर्त्तक अज्ञान का नितान्त उन्मूलन हो जाने से तत्त्वज्ञानी की ऐसे कर्मों में प्रवृत्ति संभावित ही नहीं है ।

नन्वविद्याकार्यत्वाद्यथेष्टचेष्टाया अविद्यानिवृत्त्या तन्निवृत्तिवदमानित्वादीनामद्वेष्टृत्वादीनामप्यविद्याकार्यत्वाविशेषान्निवृत्तिरेव स्यान्नानुवृत्तिरित्याशङ्क्य नियोगवशादनुवृत्त्यभावेऽपि निवृत्तिशास्त्राविरुद्धस्वभावत्वान्न निवर्तेरन्निति दर्शयति—तदानीमिति। तत्रापि नैष्कर्म्यसिद्धिमुदाहरति तदुक्तमुत्पन्ना इति ॥ ३७ ॥

अनुवाद

जीवन्मुक्तावस्था में अमानित्व आदि ज्ञान के साधन और अद्वेष्टृत्व आदि सद्गुण (जीवन्मुक्त पुरुष में) अलंकार के समान अनुवर्तमान होते हैं कहा भी गया है कि आत्मज्ञान उत्पन्न हो जाने पर अद्वेष्टृत्व आदि गुण आत्मज्ञानी को अनायास ही उपलब्ध होते हैं वे साधनरूप नहीं होते।

व्याख्या

जीवन्मुक्त के सम्बन्ध में दूसरा प्रश्न यह उठता है कि यह ठीक है कि ब्रह्मज्ञान से अज्ञान का उन्मूलन हो जाने के कारण अशुभ कर्मों में जीवन्मुक्त की प्रवृत्ति नहीं होगी किन्तु उसके समान ही यह भी उचित है कि मान, दम्भ, हिंसा, आदि निवृत्त होने में क्षमा, ऋजुता, सर्वभूतहितचिन्तन आदि में भी उसकी प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि अज्ञान ही शुभाशुभ सभी प्रवृत्तियों का मूल है और वह जीवन्मुक्त में ज्ञानोदय के पहले ही समाप्त हो जाता है। तो फिर शास्त्रों में जीवन्मुक्त पुरुष में जो इन प्रवृत्तियों का वर्णन मिलता है उसकी उपपत्ति कैसे हो सकती है ? वेदान्तसारकार ने इस प्रश्न का भी समाधान अत्यन्त समीचीन रीति से प्रस्तुत किया है उनका कहना यह है कि मान, दम्भ हिंसा आदि से विरति और क्षमा, ऋजुता आदि सद्गुणों का उपादान ये सब ज्ञान के साधन हैं। प्राणियों से द्वेष न करना, सभी के हित का चिन्तन करना ये सद्गुण भी ज्ञान के ही उपाय हैं। जीवन्मुक्त पुरुष में जो इनका अनुवर्त्तन होता है वह जीवन्मुक्त के अलंकार रूप में होता है इनके लिए उसे संकल्प और प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती। उसमें यह सब अनायास अनुवर्तमान होते रहते हैं। यदि ये सब प्रयत्न से अर्जनीय होते तो प्रयत्न के मूलभूत अज्ञान के न होने से उनके अनुवर्तन के विषय में शंका होना उचित होता किन्तु इनसे सहज अनुवर्तन में उक्त शंका के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता अपने इस समाधान की पुष्टि में वेदान्तसारकार ने वार्तिककार के एक वचन को उद्धृत किया है जिसका अभिप्राय यह है कि जिस पुरुष को आत्म तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो जाता है, द्वेष आदि दुर्गुणों के अभाव रूप सद्गुण बिना प्रयत्न से ही उसमें प्रवृत्त होने लगते हैं। ये गुण उसमें साधन रूप से नहीं प्रस्तुत होते अपितु सहजरूप से शोभाधायक होकर उसे प्राप्त होते हैं।

किं बहुनायं देहयात्रामात्रार्थमिच्छानिच्छापरेच्छाप्रापितानि सुखदुःखलक्षणान्यारब्धफलान्यनुभवन्नन्तःकरणाभासादीनामवभासकः संस्तदवसाने प्रत्यगानन्दपरब्रह्मणि प्राणे लीने सत्यज्ञानतत्कार्यसंस्काराणामपि विनाशात्परमकैवल्यमानन्दैकरसमखिलभेदप्रतिभासरहितमखण्डब्रह्मावतिष्ठते। "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति", "अत्रैव समवलीयन्ते", "विमुक्तश्च विमुच्यत" इत्यादिश्रुतेः ॥ ३८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यसदानन्दविरचितो
वेदान्तसारः समाप्तः ॥

इदानीमुक्तं जीवन्मुक्तमनूद्य तस्य परममुक्तिं दर्शयति–किं बहुना इति। देहयात्रा देहस्थितिः। तन्मात्रार्थं न त्विन्द्रियप्रीत्यर्थम्। सुखदुःखलक्षणानि सुखदुःखसाधनानि। आरब्धफलानि भोग्यानि। अनुभवन्नसङ्गतया भुञ्जानः। कथं भुञ्जान इत्युच्यते अन्तःकरणाभासादीनां विषयाकारवृत्तीनां साक्षितयावभासकः सन्निति यावत्। तदवसाने प्रारब्धफलभोगावसाने जात आश्रयाभावात्प्राणे ब्रह्मणि लीने सति पूर्वसिद्धज्ञानेनैव प्रारब्धकर्माक्षिप्ताज्ञानतत्संस्काराणामपि विनाशात्सञ्चितकर्मणां ज्ञानेन दाहात्क्रियमाणैश्चासंश्लेषात्पुनर्देहान्तरहेत्वभावात्परमकैवल्येत्यादिनोक्तब्रह्मस्वरूप एवावतिष्ठते विद्वानित्यर्थः॥

निर्गुणब्रह्मसाक्षात्कारवतः प्राणा नोत्क्रामन्ति किन्तु प्रत्यग्ब्रह्मण्येव तप्तायःपीताम्बुवल्लीयन्त इत्यत्र प्रमाणमाह—न तस्येति। मुक्तेरसाध्यत्वे काठकश्रुतिं प्रमाणयति—विमुक्तश्च विमुच्यत इति। पूर्वमपि मुक्त एव सन्नविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपोपाध्यविवेकनिबन्धनस्य संसाराभासस्य नित्य-

---

अनुवाद

बहुत कहने से क्या लाभ। यह (जीवन्मुक्त) शरीर को जीवित रखनेमात्र के लिये इच्छा-अनिच्छा और दूसरे की इच्छा से प्राप्त हुए सुख-दु:खरूप प्रारब्ध कर्मों के फलों का अनुभव करता है। अन्तःकरणाभास आदि का अवभासक होता है और उसके (प्रारब्धकर्म के) अवसान होने पर प्रत्यगानन्दरूप परब्रह्म में प्राण का लय हो जाने पर अज्ञान, अज्ञान-कार्य और उसके संस्कारों का भी विनाश हो जाने से अत्यन्त कैवल्य एक मात्र आनन्दरस मय सम्पूर्ण भेदों की प्रतीति से शून्य अखण्ड ब्रह्म होकर अवस्थित हो जाता है। श्रुति कहती है कि—उसके (जीवन्मुक्त) प्राण का उत्क्रमण नहीं होता। इसी में (शरीर के रहते ही ब्रह्म में ही) सम्यक्

शुद्धबुद्धमुक्तसत्यपरमानन्दाद्वयब्रह्मरूपोऽहमस्मीत्यपरोक्षज्ञानाद्विलयापेक्षया विमुच्यत इत्यर्थः। वस्तुतस्तु न बन्धो न वा मोक्षः। तथा च श्रुतिः—

"न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बन्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता"॥

इत्याद्या॥ ३८॥

विद्यासीतावियोगक्षुभितनिजसुखः शोकमोहाभिपन्न-
श्चेतःसौमित्रिमित्रो भवगहनगतः शास्त्रसुग्रीवसख्यः।
हत्वास्ते दैन्यवालिं मदनजलनिधौ धैर्यसेतुं प्रबध्य
प्रध्वस्ताबोधरक्षःपतिरधिगतचिज्जानकिः स्वात्मरामः।
वेदान्तसारविवृतिं रामतीर्थाभिधो यतिः।
चक्रे श्रीकृष्णतीर्थश्रीपदपङ्कजषट्पदः॥

इति श्रीकृष्णतीर्थपूज्यपादशिष्यश्रीरामतीर्थयतिविरचिता
विद्वन्मनोरञ्जनीनाम्नी वेदान्तसारटीका समाप्ता॥

प्रकार से लीन हो जाते हैं। विमुक्त होकर मूलाज्ञान से छुटकारा पाकर विमुक्त हो जाता है। सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

व्याख्या

वेदान्तसारकार का कहना है कि इस छोटे से ग्रन्थ में वेदान्तशास्त्र के प्रतिपाद्य विषयों के सम्बन्ध में संक्षेप से अब तक जो कुछ कहा गया उससे अतिरिक्त और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। केवल यही निष्कर्ष रूप में ज्ञातव्य है कि मनुष्य अनेक जन्मार्जित सुकृतों का उदय होने पर जब आत्मोन्मुख होता है और वेद वेदाङ्ग के अध्ययन से सम्पूर्ण वेदार्थ का सामान्य ज्ञान अर्जित कर लेता है और काम्यनिषिद्ध कर्मों का त्याग नित्य नैमित्तिक प्रायश्चित्त और उपासना का सम्पादन कर चित्त को निष्पाप और निर्मल बना लेता है और नित्य-अनित्य वस्तुओं का विवेक ऐहिक आमुष्मिक फलों से वैराग्य, शम-दम-तितिक्षा-उपरति, समाधि श्रद्धा और मुक्त होने की इच्छा रूप साधनों से सम्पन्न हो श्रवण-मनन-निदिध्यासन के द्वारा अध्यारोप-अपवाद के माध्यम से आत्मतत्त्वज्ञान अर्जित कर जीवन्मुक्त हो जाता है तब स्वप्रकाश आत्मानन्द के अनुभव में उसे एकनिष्ठता प्राप्त हो जाती है। उस समय किसी प्रकार के सांसारिक भेद की भावना उसके मन में नहीं रह जाती। आत्मतत्त्वज्ञान से मूलाज्ञान का स्वरूपतः नाश हो जाने पर भी उसका किञ्चित् संस्कार शेष

रह जाता है जिसके प्रभाव से उसे प्रारब्ध कर्मों का भोग करना होता है और उसके लिये शरीर को जीवित रखने के लिए कुछ सामान्य क्रियायें करनी होती हैं किन्तु वह उस अवस्था में भी विशुद्ध ब्रह्म के रूप में ही अवस्थित रहता है। उस समय उसकी अवस्था दूसरे की दृष्टि में सामान्य मानव के रूप में होते हुए भी वस्तुतः उसको ब्रह्मीभूत अवस्था होती है। केवल उसके वर्तमान शरीर का पतन मात्र ही उसमें प्रतीक्षणीय रहता है। वह वस्तुतः मूलाज्ञान के निवृत्त होने से सभी बन्धनों से सर्वात्मना मुक्त रहता है। वर्तमान देह के साथ सम्बन्ध टूटने पर पुनः किसी नये देह के साथ इसके सम्पर्क की सम्भावना नहीं रहती। वह अपने विद्यमान शरीर में अवस्थित होते हुए भी पूर्ण विशुद्ध ब्रह्म के रूप में ही अवस्थित हो जाता है।